म. ग्रं. सं. ठाणें
वि. प्र.
सं. सं.

नं. ३७९ रु.

मराठी ग्रंथ संग्रहालय, ठाणें.
(ठाणें जिल्हा वाचनालय) वाचनालय/नौपाडा.
बृहदारण्यकवार्तिकसार
के —
विषय — वेदांती (तें) ठेव

36
29C

बृहदारण्यकवार्तिकसार.

क)

बृहदारण्यकवार्तिकसार

अनुवादक—म० म० पं० श्रीहरिहरकृपालु द्विवेदी

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
पञ्चम ब्राह्मणका आरम्भ	११३१	१
चतुर्थ ब्राह्मणके साथ पञ्चम ब्राह्मणकी सङ्गति	११३१	२
द्रष्टाके कर्मोंसे सृष्टिका कथन	११३४	१
'यत्सप्तान्नानि' इत्यादि श्रुति और उसका व्याख्यान ...	११३९	३
त्र्यन्नरूप आत्माकी उपासनाका कथन	११४८	१
अन्तःकरणकी सत्तामें अनुमान	११५१	१
'त्रीण्यात्मनेऽकुरुत' इत्यादि श्रुतियोंका व्याख्यान ...	११५५	१
अधिदैवान्नका निरूपण	११६१	१
इन्द्रत्वादि गुणसे युक्त वायुकी उपासनाका फल	११६२	१
'अथैतस्य' इत्यादि श्रुतिका व्याख्यान	११६२	३
चन्द्रमामें कालात्मक विराट्का कथन	११६५	६
'अथातः सम्पत्ति०' इत्यादि श्रुतिका व्याख्यान	११६९	१
उपासनाका फल	११७९	१
अन्नत्रयके ज्ञाताका जीवित अवस्थामें कर्तव्य	११८०	१
'अथातो व्रतमीमांसा' इत्यादि श्रुतियोंका निरूपण	११८०	५
वागादिके 'प्राण' नाममें हेतु-प्रदर्शन	११८५	१
षष्ठ ब्राह्मणका आरम्भ	११८८	१
सामान्यसे विशेष पृथक् नहीं है	११९१	१

बृहदारण्यकवार्तिकसार

अनुवादक—म० म० पं० श्रीहरिहरकृपालु द्विवेदी

विषय-सूची

विषय				पृष्ठ
द्वितीयाध्यायके प्रतिपाद्य विषयका निरूपण	...	...		१२०२
द्वितीयाध्यायके ब्राह्मणोंकी संख्या और तत्प्रतिपाद्य विषय...		...		१२०२
आख्यायिकारूपसे प्रवृत्त श्रुतिका तात्पर्य	...	...		१२०३
'इसबालाकि०' इत्यादि श्रुतियों द्वारा पूर्वपक्ष और सिद्धान्तरूपसे प्राणादिकी आत्मताका अपोहन	...	...	...	१२०७
अजातशत्रुका अन्वयव्यतिरेक द्वारा गार्ग्यको ब्रह्मावबोधन			...	१२१४
'नैतावता विदितम्' इत्यादि श्रुतिका अर्थ	...		...	१२१६
'स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चैतद्यत्' इत्यादि श्रुतिका अर्थ			...	१२१६
विज्ञानमय भोक्ता है, प्राण भोक्ता नहीं है	...		...	१२१७
उक्तार्थमें युक्तियोंका प्रदर्शन	...	...	...	१२१७
विज्ञानमयके भोक्तृत्वमें शङ्का	...	...	...	१२१८
उक्त शङ्काका निराकरण	...	...	...	१२१८
विज्ञानमयकी भोक्तृतामें पुनः शङ्का	...	...	...	१२१६
उक्त शङ्काका समाधान	...	...	...	१२२०
विज्ञानमयकी भोक्तृताका ज्ञान करानेके लिए उपायान्तर		...	...	१२२२
भोक्ता (विज्ञानमय) का निर्देश	...	...	...	१२२३
देहके भोक्तृत्वका निराकरण	...	...	...	१२२४
इन्द्रियोंकी भोक्तृताका निरास	...	...	...	१२२६
सुख-दुःखानुसन्धानरूप भोग चेतनमें ही है न कि जड़ोंमें			...	१२३१
अद्वैतवादमें अन्वयव्यतिरेकका उपयोग		...	...	१२३१
अध्यस्त ज्ञानसे भी भ्रान्तिनिवृत्तिका कथन		...	...	१२३३
अतः विज्ञानमय आत्मा ही भोक्ता है, ऐसा निष्कृष्टार्थ-कथन			...	१२३४
विज्ञानमयशब्दका निर्वचन	...	...	...	१२३५
'विज्ञानमयः पुरुषः' इसमें स्थित पुरुषशब्दका निर्वचन			...	१२३८
स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूत्' इत्यादि श्रुतिका अर्थ			...	१२३८
विज्ञानमय आत्मा कर्तृत्वादिस्वभाववाला है या नहीं ?	...		...	१२३६
कर्तृत्वादिधर्मातीत आत्मामें कर्तृत्वादिप्रतीति औपाधिक है			...	१२४२
जागरण, स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थाओंका निरूपण	...		...	१२४२
'स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभू०' इत्यादि श्रुतिका अर्थ			...	१२४३
सुषुप्तिमें वागादि इन्द्रियोंको लेकर जीवकी ब्रह्मरूप आकाशमें सुप्तिका कथन				१२४४
बुद्धिरूप उपाधिका नाश होनेपर निर्विकारात्मचैतन्य ही शेष रहता है				१२४५
श्रुतिस्थ हृदय और आकाश शब्दोंका अर्थ-निर्वचन	...		...	१२४६

बृहदारण्यकवार्तिकसार

अनुवादक—म० म० पं० श्रीहरिहरकृपालु द्विवेदी

विषय-सूची

विषय				पृष्ठ
शयनशब्दार्थका निरूपण	...	...	...	१२४६ – ३
'तानि यदा गृह्णात्य०' इत्यादि श्रुति और उसका निरूपण			...	१२५१ – ३
'स यत्रैतत्' इत्यादि श्रुति और उसका निरूपण	...		...	१२५४ – ३
अन्यमतखण्डनपूर्वक आत्मामें असङ्गत्वका निरूपण	...		...	१२५८ – १
'अथ यदा सुषुप्तो' इत्यादि श्रुति और उसका निरूपण			...	१२६२ – ५
आत्माकी अद्वितीयताका कथन	...		...	१२६६ – ३
'स यथोर्णनाभि०' इत्यादि श्रुति और उसका निरूपण			...	१२७५ – ७
'यह आत्मा कहाँसे आया' इस प्रश्नका समाधान	...		...	१२७६ – १
शक्तिमें प्रवर्तकत्वका निरास	...	...	...	१२८४ – १
आत्मामें संसारित्व और असंसारित्वका विचार	...		...	१२६० – ५
जीवेश्वरके भेदका निरास	...	...	...	१२६७ – १
भ्रान्तिसे अन्य वस्तु अन्यकी तरह भासती है, इसमें राजपुत्रका दृष्टान्त				१३०३ – ३
अद्वैत वस्तुकी सिद्धिसे प्राप्त कर्मकाण्डके अप्रमाण्यका परिहार			...	१३०६ – १
उपनिषत्के प्रामाण्यका उपपादन	...		...	१३१५ – १
उपनिषत् कर्मकाण्डके प्रामाण्यका विघात नहीं करती			...	१३२० – १
अद्वैतमें प्रत्यक्षादिके साथ विरोध नहीं है	...		...	१३२८ – ३
द्वितीयाध्यायके द्वितीय ब्राह्मणका आरम्भ	...		...	१३३८ –
पूर्व ब्राह्मणके साथ द्वितीय ब्राह्मणकी सङ्गति	...		...	१३३८ – २
'यो ह वै शिशुं' इत्यादि श्रुतिका निरूपण	...		...	१३४० – ३
उक्त श्रुतिस्थ शिशु आदि शब्दोंका निर्वचन	...		...	१३४१ – ३

बृहदारण्यकवार्तिकसार

अनुवादक—म० म० पं० श्रीहरिहरकृपालु द्विवेदी

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ
वासनाओंमें लिङ्गधर्मत्वका प्रतिपादन	...	...	१३७७ – १
'यथा माहारजनम्' इत्यादि श्रुतिका सविस्तर व्याख्यान		...	१३८० – १
'अथात आदेश' इत्यादि श्रुतिका व्याख्यान	...	...	१३८४ – ७
मूर्तादि सकल पदार्थोंका ब्रह्ममें निषेध	...	...	१३८६ – १
उक्तार्थका शङ्का-समाधान द्वारा विशद वर्णन	...	...	१३९० – १
'नेति नेति' इत्यादिवाक्यका विधि द्वारा जीवब्रह्मैक्यरूप अर्थका प्रतिपादन			१४०१ – १
द्वितीयाध्यायके चतुर्थ ब्राह्मण का आरम्भ	...	...	१४११ – १
पूर्व ब्राह्मणके साथ उक्त ब्राह्मणकी सङ्गतिका प्रदर्शन		...	१४११ – २

बृहदारण्यकवार्तिकसार

अनुवादक—म० म० पं० श्रीहरिहरकृपालुद्विवेदी

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-पंक्ति
'मैत्रेयीति होवाच' इत्यादि श्रुति और उसका व्याख्यान ...	१४१७ – १
वित्तसाध्य कर्मसे मोक्षाभावका प्रतिपादन	१४१९ – १
कर्मसंन्यासकी द्विविधताका प्रतिपादन	१४२३ – १
मुख्यामुख्य प्रीतिका प्रतिपादन	१४२८ – ८
'आत्मा द्रष्टव्यः' इस सूत्रका निर्वचन	१४३३ – ४
ब्रह्मकी अविधेयताका सविस्तर निरूपण	१४३९ – १

बृहदारण्यकवार्तिकसार

अनुवादक—म० म० पं० श्रीहरिहरकृपालुद्विवेदी

विषय-सूची

विषय				पृष्ठ–पंक्ति
ईश्वर द्वारा वेदकी श्वासवत् अनायास सृष्टि है, इसका प्रतिपादन	...			१४६०–१
'स यथा सर्वासामपा२' इत्यादि श्रुतिका व्याख्यान	...	...		१४६७–३
स्वाभाविक और आत्यन्तिक प्रलयका प्रतिपादन	...	...		१४६६–१
'स यथा सैन्धवखिल्य' इत्यादि श्रुतिका व्याख्यान	...	...		१५०७–३
खिल्यशब्दार्थका निर्वचन	...	...	...	१५११–२
'सा होवाच मैत्रेय्य०' इत्यादि श्रुतिका व्याख्यान	...	...		१५२०–३

बृहदारण्यकवार्तिकसार

अनुवादक—म० म० पं० श्रीहरिहरकृपालुद्विवेदी

विषय-सूची

विषय				पृष्ठ–पंक्ति
निदिध्यासनसे ब्रह्मचक्रकी अभिव्यक्तिका कथन	...	...		१५६१ – १
ब्रह्मचक्रकी कल्पनाका खण्डन	...	...	...	१५६२ – १
ब्रह्मविद्याकी स्तुतिके लिए आख्यायिकाका कथन			...	१५६३ – १
'इदं वै तन्मधु' इत्यादि आख्यायिकाप्रतिपादक श्रुतियोंका कथन			...	१५६५ – १
उक्त श्रुतियोंका वार्तिकसारकार द्वारा व्याख्यान	...		...	१५६८ – १
द्वितीयाध्यायके वंशप्रतिपादक षष्ठ ब्राह्मणका आरम्भ			...	१५८५ – १
वंशकथनका प्रयोजन	...	...	...	१५८६ – १०
तृतीय अध्यायका आरम्भ				१५८६ – १
द्वितीय अध्यायके साथ तृतीय अध्यायकी सङ्गति	...		...	१५८६ – ३

११३१

अथ पञ्चमं ब्राह्मणम्

जीवतः कर्मकर्तृत्वलक्षणोऽनर्थ ईरितः ।
मृतस्याऽविदुषः कर्मफलानर्थ इहोच्यते ॥ १ ॥
पूर्वजन्मन्यनुष्ठाय कर्मोपास्ती अनात्मवित् ।
जगत् सप्तान्नरूपेण सृजत्युत्तरजन्मनि ॥ २ ॥

सङ्गतिका प्रदर्शन करनेके लिए पूर्वकथितका अनुवाद करके सप्तान्न ब्राह्मणका तात्पर्य कहते हैं—'जीवतः' इत्यादिसे ।

चतुर्थ ब्राह्मणमें जीवित अवस्थामें ऐहिक या आमुष्मिक फलके लिए विहित और निषिद्ध कर्मके कर्ताका कर्तृत्वलक्षण अनर्थ कह चुके हैं । अब पञ्चम ब्राह्मणमें मृत अविद्वान्के कर्म और ज्ञानके फलरूप अनर्थको कहते हैं । श्लोकमें 'कर्म' शब्द उपलक्षण है, अर्थात् कर्मशब्दसे वक्ष्यमाण ज्ञानका भी संग्रह समझ लेना चाहिए । पूर्व जन्ममें जीवका जैसा शुक्ल, कृष्णादि कर्म और ज्ञान होता है, उसीके अनुसार मरणके बाद पुनः अन्य शरीरके साथ उसका सम्बन्ध होता है और उसीके अनुसार जाति, आयु और भोग आदि फल भी मिलते हैं । सांसारिक उत्तम राज्य आदिके भोग भी परिणाममें विरस, विनाशी और बन्धनके हेतु होनेसे वेदान्तियोंके मतसे अनर्थ ही कहे जाते हैं ॥ १ ॥

'पूर्वजन्म०' इत्यादि । आत्माको न जाननेवाले संसारी पुरुष द्वारा अनुष्ठित पूर्व जन्मके कर्म और उपासना भेदज्ञानपूर्वक ही हैं, क्योंकि भेदज्ञानके बिना कर्मानुष्ठान या उपासना नहीं हो सकती। अन्ततः उपास्य और उपासकका भेद उपासनाके लिए आवश्यक ही होता है। 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति नासौ वेद' इत्यादि श्रुतिसे उपासनज्ञान आविद्यिक है, यह निश्चित होता है । इन दोनोंका अनुष्ठान करके जीव भावी जन्ममें सप्तान्नरूपसे जगत्की सृष्टि करता है ।

शङ्का—विशिष्ट ज्ञान-क्रियासे युक्त सूत्रात्मा जगत्की सृष्टि कर सकता है, क्योंकि वह अप्रतिबद्ध ज्ञान-क्रियारूप शक्तिसे विशिष्ट है । जीवात्मा तो उक्त ज्ञान-क्रियारूप शक्तिसे शून्य है, अतः वह सृष्टि कैसे कर सकता है ? यदि वह स्रष्टा होता, तो अपने प्रतिकूल पदार्थोंकी सृष्टि क्यों करता ?

समाधान—जैसे सूत्रात्मा पूर्व जन्ममें विहित और अविहित ज्ञान और कर्म करता है और उसके प्रभावसे इस कल्पमें जगत्का स्रष्टा होता है, वैसे ही

जीव भी उक्त ज्ञान और कर्म द्वारा जगत्का स्रष्टा माना जाता है; पूर्वार्जित कर्मका भोग करनेके लिए ही आगेकी सृष्टि होती है; इसलिए जीवका अदृष्ट भी सृष्टिमें निमित्त है; अतएव भोगारम्भक अदृष्टके न रहनेपर भी प्रलय होता है; ऐसा माना जाता है। 'भुजि' (भोजनरूप) क्रिया जैसे भोक्ताके लिए होती है, वैसे ही (सृष्टि) भी भोक्ताके लिए ही होती है।

शङ्का—सर्ग (सृष्टि) भोक्ताके लिए है, यह ठीक है, किन्तु वह भोक्ताके अदृष्टसे हुआ है; यह कहनेकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—जैसे जीवको दूसरेके शरीरसे सुख-दुःखका परिज्ञान नहीं होता, किन्तु अपने शरीर आदिसे ही होता है, क्योंकि अपना शरीर ही अपने अदृष्टसे बना है, अन्य शरीर नहीं, इस नियमके देखनेसे यह माना जाता है कि जो जिसके अदृष्टसे बना है, उसके द्वारा ही उसको उपभोग (सुख-दुःखका साक्षात्कार) होता है, दूसरेके द्वारा नहीं होता। जगत्के द्वारा जीवोंको उपभोग होता है, इसलिए जीवोंके अदृष्टसे ही जगत् बना है, यह मानना चाहिए।

शङ्का—यदि उक्त न्यायसे जीवोंके अदृष्टसे संसार बना है, तो शरीर, इन्द्रिय आदिके समान जगत् असाधारण हो जायगा; सर्वसाधारण नहीं हो सकेगा, किन्तु पृथिवी, जल आदि साधारण देखे जाते हैं।

समाधान—संपूर्ण कर्मोंके फल दो प्रकारके होते हैं—एक साधारण और दूसरा असाधारण। जैसे वर्षा और धूप, दिन तथा रात्रि आदि साधारण हैं, क्योंकि अनेक जीवोंके लिए तृप्तिकर वर्षा, सन्तापकर ग्रीष्मकी धूप, निद्रासुखके लिए रात्रि और कर्म करनेके लिए दिन होता है। 'रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः' इत्यादि धर्मशास्त्र भी साधारण सर्गमें प्रमाण है। नावमें बैठे हुए अनेक प्राणियोंके दैवदुर्विपाकसे नाव डूब जाती है और 'कुपितकपिकपोलान्तर्गतोदुम्बरदरीमशकंवत्' (क्रुद्ध वानरकी गालमें गये हुए गूलरके फलमें जो मच्छर हैं, वे सब दुर्दैवसे मर जाते हैं) इत्यादि दृष्टान्तोंसे अनेक प्राणियोंके अदृष्टसे साधारण कार्य भी होता है यह मानना पड़ेगा और शरीर, इन्द्रिय आदि असाधारण कार्य तो प्रसिद्ध ही हैं।

सारांश यह है कि अदृष्टसे तीन प्रकारके कार्य होते हैं—साधारण, असाधारण और उभयात्मक। साधारण नृत्यादि हैं, क्योंकि अनेक जीव एक समयमें उसे देख सकते हैं और तज्जन्य आनन्दका अनुभव करते हैं। असाधारण अपने पुत्रके अवलोकनसे जनित सुख है और उभयात्मक रमणीय बगीचा आदिके दर्शनसे

चतुर्थब्राह्मणप्रोक्तं यद्यपि ज्ञानकर्मणोः ।
फलं तथापि वैषम्यमस्ति जीवेशरूपतः ॥ ३ ॥
उत्कृष्टज्ञानकर्मभ्यां वैराजं पदमाप्य यत् ।
जगत् सृजति तत्प्रोक्तं चतुर्थब्राह्मणे पुरा ॥ ४ ॥
निकृष्टज्ञानकर्मभ्यां मनुष्यादिपदं गतः ।
स्वभोग्यं सृजते यत्तत्पञ्चमेऽस्मिन्नुदीर्यते ॥ ५ ॥
सृष्ट्वा क्रीडत्यविभ्रान्त ऐन्द्रजालिकवद्विराट् ।
स्वमदृष्टचेव विभ्रान्तः सृष्ट्वा क्लिश्नाति मानवः ॥ ६ ॥

होनेवाला सुख है । अतः यह सिद्ध हुआ कि साधारणरूपसे, असाधारणरूपसे तथा उभयरूपसे कर्मफलभोगके लिए ही जगत् है । यह सर्ग अदृष्टवश एक-एक प्राणी द्वारा भी बना है । इसी अभिप्रायसे मधुविद्याके प्रसङ्गमें इस सिद्धान्तको कहेंगे कि सब सबके कर्ता हैं और कार्य भी हैं ॥ २ ॥

'चतुर्थ०' इत्यादि। यद्यपि चतुर्थ ब्राह्मणमें ज्ञान और कर्मोंके फलोंका निरूपण हो चुका है, तथापि पञ्चम ब्राह्मणमें फिर उन्हींका निरूपण करते हैं, इसलिए पुनरुक्त दोष होगा, इस शङ्काका निराकरण—'जीवेशरूपतः' इस शब्दसे करते हैं अर्थात् चतुर्थ ब्राह्मणमें ईश्वरके ज्ञान और कर्मके फलोंका निरूपण किया गया है और इस पञ्चम ब्राह्मणमें जीवके ज्ञान और कर्मोंके फलोंका निरूपण किया जायगा; अतः पूर्वकी अपेक्षा इसमें यह भेद है, इसलिए उक्त दोषकी प्राप्ति नहीं है ॥ ३ ॥

वैषम्यको ही स्फुट करते हैं—'उत्कृष्ट०' इत्यादिसे ।

उत्कृष्ट याने अतिप्रशस्त ज्ञान (प्राणादिकी उपासनासे होनेवाला तथा सम्पूर्ण पदार्थोंको विषय करनेवाला अप्रतिबद्ध यथार्थ ज्ञान) और अश्वमेधादि याग-जन्य अदृष्ट—इन दोनोंके द्वारा विराट्के स्थानको प्राप्त कर जिसने जगत्की सृष्टि की है, वह पहले, चतुर्थ ब्राह्मणमें, कहा गया है, अतः उसको यहाँ नहीं कहते; इसलिए पुनरुक्त दोषकी प्रसक्ति नहीं है । किन्तु उक्त ज्ञान और कर्मकी अपेक्षासे निकृष्ट ज्ञान और कर्म द्वारा मनुष्यभावको प्राप्त हुआ जीव, जो कि अपने भोगके अनुकूल अनेक पदार्थोंकी सृष्टि करता है, उसीको इस पञ्चम ब्राह्मणमें कहते हैं ॥ ४, ५ ॥

साधन-वैषम्य कहकर फल-वैषम्य कहते हैं—'सृष्ट्वा' इत्यादिसे ।

येन यद् दृश्यते तत्तु तेन सृष्टं स्वकर्मणा ।
दृश्यस्य भ्रान्तिरूपत्वाद्दर्शनं सृष्टिरुच्यते ॥ ७ ॥

जैसे ऐन्द्रजालिक (जादूगर) सर्प आदि और दूसरेका सिर काटना आदि विविध दुःखप्रद वस्तुएँ उत्पन्न करके उन्हें दूसरोंको दिखलाता है और वे भयप्रद कर्मोंको सत्य समझकर दुःखी होते हैं; किन्तु जादूगर उन कर्मोंको मिथ्या समझकर स्वयं दुःखी नहीं होता, वह तो उन कर्मोंसे दूसरेको व्यर्थ दुःखी देखकर खेलता है, खेलके सुखका अनुभव करता है, वैसे ही विराट् अविश्रान्त तथा भ्रमशून्य होकर मायाके सदृश विविध क्लेशप्रद पदार्थोंकी सृष्टि कर उससे आमोद-प्रमोद ही करता है, स्वयं अणुमात्र भी क्लेश नहीं करता । वस्तुतः अभ्रान्तमें क्लेशका कारण भी तो कोई नहीं है और भ्रान्त जीव उन वस्तुओंको यथार्थ मानकर स्वयं क्लेशका अनुभव करता है । जैसे स्वप्नमें व्याघ्रको देखकर भयभीत होता है, वस्तुतः व्याघ्र और उसके दर्शनके उस कालमें मिथ्या होनेपर भी उनको सत्य समझकर ही दुःखी होता है । यदि उस कालमें यह प्रतीत हो जाय कि यह स्वप्न है, अतएव मिथ्याज्ञान है तो दुःख नहीं होता, अगर होता है तो थोड़ा होता है, ऐसा प्रायः स्वप्नमें देखा जाता है, इसीलिए ज्ञानियोंको इष्टवियोग आदिसे उतना दुःख नहीं होता जितना कि अज्ञानियोंको होता है। 'आहेदं मिथिलादाहे न मे किञ्चन दह्यते' इत्यादि वचन भी इस अर्थके ही पोषक हैं। 'मानव' शब्द संसारी जीवमात्रका उपलक्षण है । मनुष्योंका ही शास्त्रमें अधिकार है, इसलिए मानव कहा ।

शङ्का—ईश्वर साक्षात् तथा विराट्के द्वारा जगत्का स्रष्टा है; यह श्रुति, स्मृति तथा पुराण आदिसे ज्ञात है । तथा युक्तिसे भी तार्किक कहते हैं—सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तियुक्त ईश्वरसे ही सृष्टि होती है, सम्भव भी यही है; अतः आप जीवोंसे सृष्टि कैसे कहते हैं ? जीव तो स्वयं सर्गके अन्तर्गत है। कार्य ही तो अपना कारण नहीं हो सकता। ईश्वरसृष्ट प्रपञ्चसे अतिरिक्त दूसरा प्रपञ्च प्रत्यक्षसिद्ध भी नहीं है, जिससे कि अमुक प्रपञ्च ईश्वरसृष्ट है और अमुक जीवसृष्ट है, यह कह सकें । एक ही ईश्वर द्वारा सृष्ट प्रपञ्च देखते हैं, उसको जीवसृष्ट कैसे कहते हो ? ॥६॥

समाधान—'येन' इत्यादिसे ।

जो जिसको देखता है, उसके कर्मसे वह बना है, ऐसा माना

सृष्टं जगद्विराजेदं सदेवपशुमानुषम् ।
मर्त्येनाऽपि जगत्सृष्टं सविराण्नरदेवतम् ॥ ८ ॥

जाता है; दृश्य भ्रान्तिस्वरूप है। दर्शन ही वस्तुतः सृष्टि है। जो पुरुष प्रातिभासिक शुक्तिरजत आदि देखता है; उसीके अदृष्टसे शुक्तिशकलमें प्रातिभासिक रजतकी उत्पत्ति मानी जाती है। प्रतिभासमात्रस्वरूप होनेसे वह भानके समय तक ही रहता है और भाननिवृत्तिके साथ ही निवृत्त हो जाता है। जगत् यद्यपि वैसा नहीं है, किन्तु कल्पान्तस्थायी है; तथापि जगत्के दो आकार हैं—एक ईश्वरसृष्ट, जो सर्वसाधारण तथा उक्त काल तक स्थायी है। दूसरा आकार हेयोपादेयत्वादि है, यह जीवसृष्ट है और स्वाप्निक दृश्यके समान प्रातिभासिक है। हेयत्व आदिके ज्ञानके कालमें ही हेयत्व आदिके आकारसे जगत् रहता है, इसलिए इस आकारसे जगत् जीवकर्तृक माना जाता है। इस विषयका दृष्टिसृष्टिवादमें विशेषरूपसे निरूपण किया गया है, यहां विस्तारके भयसे इस विषयमें विस्तार नहीं किया जाता ॥ ७ ॥

'सृष्टम्' इत्यादि। यद्यपि देवता, पशु, मनुष्य आदिसे युक्त जगत् स्वरूपतः तो विराट्से बना है तथापि भोग्याकार, उपादेयत्वाकार आदिसे विशिष्ट कार्यकारणात्मक विराड्, नर और देवताके सहित सम्पूर्ण जगत् जीवका बनाया है।

भाव यह है कि सुवर्ण द्रव्यका स्वरूप विराट्ने बनाया है। वह स्वतः किसीको सुख या दुःख नहीं देता। जीवने उसमें उपादेयस्वभावकी सृष्टि की है इस कारण पानेवालेको सोना सुख देता है और न पानेवालेको दुःख देता है; जिनकी उसमें उपादेयताबुद्धि नहीं है; जैसे वीतराग अथवा पशु आदि, उनको सोना न सुखप्रद होता है और न दुःखप्रद ही होता है। इसी प्रकार हर एक विषयमें दृष्टि देनी चाहिए। समष्टिस्वरूप विराट् स्वयं तत्तत् आकारोंमें स्वप्नके समान नानाविध देवता, पशु, मनुष्य आदिको देखता है और व्यष्ट्यात्मा मनुष्य आदि अपनेको यथार्थ संसारी मानकर दुःखादि भोगते हैं और उसकी निवृत्तिके लिए विराडादि देवताओंकी कल्पना कर उनकी उपासना करते हैं। वस्तुतः उपासक उपास्यसे व्यतिरिक्त तत्त्व नहीं है, केवल भ्रान्तके समान वह उसे अतिरिक्त मानता है और पशु आदिको अपनेसे निकृष्ट मानकर अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिए उसने उनको अपने सुखका साधन बना लिया है। और देवताओंकी, उपासना आदिके

तेन तेनेक्षितः स्वप्नस्तत्तत्कर्मानुसारतः ।
सुखदुःखे तस्य तस्य यथा दत्ते तथा जगत् ॥ ९ ॥

द्वारा, प्रसन्नता चाहता है, उसीके लिए याग, दान, होम आदि श्रौत-स्मार्त्त कर्मोंका अनुष्ठान करता है। उनके कोपका परिहार करनेके लिए निषिद्ध कर्मोंका त्याग करता है। वही कर्मी कहा जाता है ॥८॥

उक्त रीतिसे जगत् जीव द्वारा बना है, इसका उपपादन करके जीवसृष्ट ही जगत् जीवके सुख-दुःखका निदान है, ऐसा दृष्टान्तके साथ कहते हैं—**'तेन तेने०'** इत्यादिसे।

अपने-अपने कर्मोंके अनुसार मनुष्य जैसा-जैसा सुस्वप्न अथवा दुःस्वप्न देखता है, वह सुस्वप्न या दुःस्वप्न मनुष्यको वैसा सुख अथवा दुःख देता है।

तात्पर्य यह है कि जीवकी जागर, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ भोगार्थ ही हैं। भोगका मूल अदृष्ट है। जाग्रत् अवस्थामें सुख आदिका भोग जैसे धर्मादिके अधीन है अर्थात् जिसका जैसा धर्म्मादिका प्राचुर्य होता है, उसको वैसा सुखादिका प्रचुर भोग प्राप्त होता है, वैसे ही स्वाप्निक सुखादि भी अदृष्टमूलक हैं। अदृष्टके भेदसे ही सुस्वप्न और दुःस्वप्न हुआ करते हैं। भेद केवल इतना ही है कि जाग्रत्कालिक सुखादि और उसके साधन चिरस्थायी होते हैं और स्वाप्निक सुख और उसके साधन चिरस्थायी नहीं होते। उसमें भी मूल कारण धर्माधर्म ही हैं। जिसका दुःखमय जीवन बितानेके योग्य अदृष्ट है, किन्तु मध्यमें राज्यका उपभोग करने योग्य स्वल्प शुभ अदृष्ट भी है और उसके विकासका समय भी वही है, परन्तु एक समयमें दोनों हो नहीं सकते, इसलिए क्षणिक राज्य-सुखोपभोगके लिए योग्य शुभ अदृष्टवश उसको स्वप्नमें ही राज्य मिल जाता है। 'अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' इत्यादि श्रुतिसे यह तो स्पष्ट ही है कि माया तत्-तत् कर्मोंके अनुसार स्वप्नमें भी सृष्टि करती है। वह मनुष्यकी स्वाप्निक सृष्टि है; इसलिए क्षणस्थायी है और यह हिरण्यगर्भकी स्वाप्निक सृष्टि है, इसलिए चिरस्थायी है। इसी प्रकार सुखमय जीवनादृष्टके बाहुल्यकी दशामें स्वल्प दुरदृष्टवश दुःखोपभोग भी होता है। उक्त रीतिसे दोनोंका एक समयमें अस्तित्व हो नहीं सकता; इसलिए मध्यमें स्वल्प दुःख भोगनेके लिए माया स्वप्नमें राज्य आदि इष्टके वियोग आदिको उत्पन्न करती है, जिससे मनुष्यको

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जीवानां स्रष्टृता समा ।
सप्ताऽन्नान्यत्र मूढोऽतः सृजतीत्यभिधीयते ॥ १० ॥
एकं व्रीहियवाद्यन्नं सर्वसाधारणं तु तत् ।
द्वे दर्शपूर्णमासाख्ये देवानामेव ते मते ॥ ११ ॥
क्षीरमेकं पशूनां तत् मनोवाक्प्राणरूपकम् ।
अन्नत्रयं चिदात्मार्थं तेन व्यवहरत्ययम् ॥ १२ ॥

उस कालमें दुःख भोगना पड़ता है; वस्तुतः अज्ञानवश ही दोनों भोग होते हैं, इसलिए सांसारिक सुख भी स्वाप्निक सुखके समान हेय ही है ।

'ब्रह्मादि०' इत्यादि। सब जीव समानरूपसे हिरण्यगर्भसे लेकर अतिलघु प्राणी और स्तम्ब तक जङ्गम-स्थावर सृष्टि करते हैं अर्थात सबके अदृष्टसे संसारका आरम्भ है—सब प्राणी अपने अपने अनुकूल हेयोपादेयत्वादि आकारकी सृष्टि करते हैं। उभयाकार जगत् है, यह पूर्वमें कह चुके हैं; इसी तात्पर्यसे स्रष्टृता सबमें समान है, ऐसा कहा। अब संसारी मूढ़ जीव सात अन्नोंकी सृष्टि करता है, यह विशेष कहते हैं ॥ १० ॥

'एकम्' इत्यादि। सात अन्नोंमें एक अन्न व्रीहि, यव आदि लोकमें प्रसिद्ध है, जिसको सब प्राणी प्रतिदिन खाते हैं। वह सर्वसाधारण अन्न है, क्योंकि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सब प्राणी उसे खाते हैं। और दो दर्शपौर्णमास नामक अन्न देवताओंके लिए हैं। इन दोनों अन्नोंका देवता ही भक्षण करते हैं, दूसरे प्राणी भक्षण नहीं करते, इसलिए ये दोनों उन्हींके अन्न हैं ॥ ११ ॥

'क्षीरमेकम्' इत्यादि। क्षीर (दूध) पशुओंका अन्न है। क्षीर तो मनुष्योंका भी अन्न है, क्योंकि उत्पन्न बालक पशुके बच्चेके सदृश क्षीरका ही पान करता है; अनन्तर व्रीहि, यव आदिका भक्षण करता है, पशु भी तो अनन्तर तृणादि खाता ही है, फिर दूध पशुओंका ही अन्न है, यह कैसे कहा? इसका उत्तर श्रुतिकी व्याख्याके समय कहेंगे। मन, वाक् और प्राण—ये तीनों अन्न चिदात्माके हैं। ये तीनों अन्न फल हैं और कर्म द्वारा पूर्वोक्त चार अन्न—इन तीनों फलोंके साधन हैं। यागादि कर्मोंके द्वारा प्रशस्त मन, वाक् और प्राण प्राप्त होते हैं। मन आदि तीनोंसे चिदात्मा व्यवहार आदि कर्म करता है ॥ १२ ॥

नन्वन्नान्यत्र भुज्यन्ते कुसूलस्थितधान्यवत् ।
कस्मात्तेषां क्षयो न स्यादिति चेत्तदुदीर्यते ॥ १३ ॥
भुञ्जानः पुरुषो भूयः करोति ज्ञानकर्मणी ।
शास्त्रीये अप्यशास्त्रीये अनुच्छिन्नं ततो जगत् ॥ १४ ॥
एवं प्रबन्धरूपेण साध्यसाधनलक्षणम् ।
अविद्यावृतदृष्टीनां जगन्नित्यमिवेक्ष्यते ॥ १५ ॥
इह जन्मनि कर्तृत्वं भाविजन्मनि भोक्तृता ।
पुनस्तत्राऽपि कर्तृत्वं तत ऊर्ध्वं च भोक्तृता ॥ १६ ॥

शङ्का—**'नन्व०'** इत्यादि । जब प्राणी प्रतिदिन अन्न खाते हैं, तब कुसूल-स्थ (कोठेमें स्थित) अन्नके समान उनका क्षय क्यों नहीं होता ? जैसे कोठीमें जो धान्य आदि रहता है, उसका नित्य खर्च करनेसे उसकी समाप्ति हो जाती है; इसीलिए पुनः कोठी अन्नसे भरनी पड़ती है ॥ १३ ॥

समाधान—**'भुञ्जानः'** इत्यादि । पूर्वकृत कर्मफलोंका उपभोग करता हुआ पुरुष फिर भी ज्ञान-कर्म करता ही है, चाहे वह शास्त्रीय हो या अशास्त्रीय । कुछ किये बिना तो कोई भी भोक्ता नहीं हो सकता; पूर्व कर्मोंके फलके उपभोगके समय जिन कायिक, वाचिक, मानसिक शास्त्रीय या अशास्त्रीय कर्मोंको प्राणी करता है, वे ही जन्मान्तरके लिए अन्नका उत्पादन करते हैं, अतः उत्तरोत्तर अन्नके उत्पादनसे कभी भी अन्नका निश्शेष क्षय नहीं हो सकता ॥१४॥

'एवं प्रबन्ध०' इत्यादि । उक्त प्रकारसे फलके उपभोगके समयमें कर्मानुष्ठान आवश्यक होनेसे पूर्व-पूर्व कर्म साधन हैं और उत्तरोत्तर फल (अन्न) साध्य है । इन साध्य-साधनोंका पूर्वोत्तरभावसे प्रवाह घटीयन्त्रके समान विच्छिन्न नहीं होता; प्रत्युत भोगक्षयसे अन्नका उपचय ही अधिक होता जाता है; अतएव जिनका दर्शन अविद्यासे आवृत है अर्थात् जो तात्त्विक ज्ञानसे शून्य हैं; उनकी दृष्टिसे जगत् नित्य ही प्रतीत होता है; ज्ञानीके कर्म बन्धक नहीं होते । 'प्रवृत्तयोऽप्यात्ममयप्रकाशान् नघ्नन्ति नघ्नन्तिमदेहमासान्' इस श्लोकके अनुसार तत्कृत कर्म बन्धक नहीं होते, इसलिए उनकी दृष्टिसे संसार निःसार तथा अनित्य है; क्योंकि उनके लिए आगे अन्न नहीं बनता ॥ १५ ॥

'इह जन्मनि' इत्यादि । इस जन्ममें याने वर्तमान जन्ममें जैसा कर्म-

तत्र कर्तृत्वविस्तारः पूर्वब्राह्मण ईरितः ।
इह भोक्तृत्वविस्तार इत्यविद्या द्विधोदिता ॥ १७ ॥

श्रुतिः ॥ यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत्पिता । एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत् । त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत् । तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न । कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽ-

---

कर्तृत्व है, उससे आगेके जन्ममें वैसा ही कर्मफल-भोक्तृत्व होता है । फिर उत्तर जन्ममें फलके भोगके समय जो कर्तृत्व होगा, उसीसे उसके आगेके जन्ममें भी भोक्तृत्व होता है; इस प्रकार कर्तृत्व और भोक्तृत्वका प्रवाह निरन्तर चलता ही रहता है ॥१६॥

• 'तत्र कर्तृत्व०' इत्यादि । पूर्व ब्राह्मणमें कर्तृत्व आदिका निरूपण विस्तारसे किया गया है और इस ब्राह्मणमें भोक्तृत्वका विस्तारसे निरूपण होगा, इस तरह कर्तृत्व और भोक्तृत्वके भेदसे अविद्या दो प्रकारकी कही गई है ॥ १७ ॥

'यत्सप्तान्नानि' इत्यादि श्रुतिका अर्थ—यहाँ पिताशब्दसे संसारी जीव और मेधाशब्दसे ज्ञान विवक्षित है । यद्यपि ग्रन्थके अर्थकी अवधारणशक्तिको मेधा कहते हैं; अतएव अमरकोशमें 'धीर्धारणावती मेधा' धीविशेषका वाची मेधाशब्द देखा जाता है; तथापि जगत्की सृष्टिके लिए उक्त मेधाका उपयोग नहीं हो सकता, इसलिए प्रकृतमें उसका ज्ञानमात्र अर्थ ही अभीष्ट है, चाहे वह शास्त्रीय हो या लौकिक । उत्कृष्ट और अपकृष्ट पदार्थोंके लिए साधनरूपसे दोनों अपेक्षित हैं । एवं 'तप' शब्दसे कर्ममात्रका ग्रहण इष्ट है; कृच्छ्र, चान्द्रायण आदिका ग्रहण इष्ट नहीं है । निष्कर्ष च यह हुआ कि पिता जीवात्माने ज्ञान और कर्मसे सात अन्नोंकी सृष्टि की है । मन्त्रका अर्थ प्रायः आवृत रहता है; इसलिए उसके अर्थको स्फुट करनेके लिए उत्तर ब्राह्मण स्वयं प्रवृत्त होता है । पिताने जिन सात अन्नोंकी सृष्टि की है, उनका विभाग और स्पष्टीकरण इस प्रकार है—धान, जौ आदि नामसे प्रसिद्ध जिस अन्नको प्रतिदिन प्राणी खाते हैं, वह सब प्राणियोंके लिए साधारण अन्न है । उन सात अन्नोंमें से दो अन्न देवताओंको दिये और तीन अन्न अर्थात् वाक्, मन और प्राण अपने लिए रक्खे । पशुको एक अन्न (क्षीर) दिया । इसीमें (पशुके अन्न दूधमें)

द्यमानानि सर्वदा । यो वैतामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन । स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति श्लोकाः ॥ १ ॥

सब संसार प्रतिष्ठित है । जो सांस लेते हैं और जो नहीं लेते, वे सब दूधमें प्रतिष्ठित हैं ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—अग्निहोत्र आदि कर्मोंका कारण दूध है और उनका परिणामस्वरूप जगत् है, यह श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण आदिमें प्रसिद्ध है ।

शङ्का—यदि सब प्राणी इन अन्नोंको खाते हैं, तो कुसूलस्थ (कुठलामें स्थित) अन्नके समान इनका क्षय क्यों नहीं होता ?

समाधान—इस शङ्काका पहले ही समाधान कर चुके हैं तथा आगेके ब्राह्मणमें भी करेंगे। चूँकि अन्न सब प्राणियोंकी स्थितिका हेतु है, अतएव सर्वसाधारण अन्नकी उपासना करता है। यहाँ उपासनाका अर्थ है—तत्परता, अर्थात् अपना ही समझकर केवल अपने काममें लाता है। जो अन्नसे बलि, वैश्वदेव आदि अदृष्टफलक कर्मोंको न कर केवल अपने उदरकी पूर्ति करता है; वह पापसे (अधर्मसे) युक्त होता है। यही 'मोघमन्नं विन्दते'* इत्यादि मन्त्र भी कहते हैं। स्मृतियोंमें भी केवल अपने लिए अन्नके पाककी निन्दा है—'नात्मार्थं पाचयेदन्नम्', 'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः', 'अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि'† ।

‡'अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्तेऽविचक्षणः ।
स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥
देवान् ऋषीन्मनुष्यांश्च पितॄन्गृह्याश्च देवताः ।

---

* देवता द्वारा जिस अन्नका भोग नहीं होता, ऐसे अन्नको यदि ज्ञानशून्य पुरुष प्राप्त करता है, तो वह निष्फल है ।

† 'केवल अपने लिए अन्नका पाचन नहीं करना चाहिए', 'देवताओं द्वारा प्राप्त अन्न देवताओंको समर्पण किये विना जो अपने काममें लाता है, वह चोर है', 'श्रेष्ठ ब्राह्मणका विनाश करनेवाला (ब्राह्मणघाती) जिसको अपना अन्न देता है, उससे अपने पापका शोधन करवाता है' ।

‡ सुवासिनी, कुमारी और रोगी आदिको अन्न न देकर जो बुद्धिहीन पुरुष केवल अपने आप अन्नका भक्षण करता है, वह यह नहीं जानता है कि हमको इस पापसे आगे जाकर कुत्ते, गिद्ध आदि नोच डालेंगे । देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर और घरके देवता—इन सबका

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत्पितेति मेधया हि तपसाजनयत्पिता । एकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते । स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रꣳह्येतत् ।

पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग् भवेत् ॥
अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत् सतामन्नं विधीयते ॥
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।' इत्यादि ।

शङ्का—क्यों पापसे मुक्त नहीं होते ?

समाधान—अन्नरूप धनमें केवल अपना ही स्वत्व नहीं है; किन्तु उसमें सबका स्वत्व है; अतः विभाग किये बिना जो केवल स्वयं भोजन करता है, वह पापसे कैसे मुक्त हो सकता है ? मनुष्योंका दुष्कृत अन्नमें रहता है; अतः उसका विभाग अवश्य करना चाहिए । अन्नको असाधारण मानना महापाप है । अन्न सर्वसाधारण है, इसमें प्रत्यक्ष भी प्रमाण है—जब कोई भोजन करता रहता है और उसके समीपमें कोई भूखा खड़ा रहता है, तब उस भूखे पुरुषको यह सोचकर दुःख होता है कि ये ग्रास मेरे मुँहमें क्यों नहीं पड़ते ? इस तरह हर एक भूखे प्राणीकी आशा उसमें लगी रहती है; अतः दूसरेको दुःखी कर भोजन करना ठीक नहीं है । दो अन्न देवताओंके लिए हैं—हुत और प्रहुत । अग्निमें जो हवन होता है, उसको हुत कहते हैं और हवन करनेके अनन्तर जो बलि दी जाती है; उसको प्रहुत कहते हैं । ये दोनों अन्न पिताने देवताओंको दिये, इसलिए इस समय भी गृहस्थ लोग देवताओंके उद्देश्यसे हवन करते हैं और हवनके बाद बलिहरणसे प्रहुत भी करते हैं ।

इस विषयमें मतान्तर कहते हैं—भर्तृप्रपञ्चका मत यह है कि प्रतिदिन गृहस्थ लोग जिस अन्नसे अग्निमें वैश्वदेवनामक हवन कर्म करते हैं,

---

पहले अन्नादिसे पूजन करके गृहस्थ अविशिष्ट अन्नका भक्षण करे । चूँकि सज्जन मनुष्योंके लिए देवताओंके यज्ञसे अवशिष्ट अन्नका ही भक्षण श्रुति आदिसे सम्मत है, इसलिए जो पुरुष केवल अपने लिए अन्नका पाककर भक्षण करता है, वह अन्नका भक्षण नहीं करता, किन्तु केवल पापका ही भक्षण करता है ।

द्वे देवानभाजयदिति हुतं च प्रहुतं च तस्माद्देवेभ्यो जुह्वति च प्र च जुह्वत्यथो आहुर्दर्शपूर्णमासाविति तस्मान्नेष्टियाजुकः स्यात् । पशुभ्य

वही अन्न सर्वसाधारण है, अतः उसीके विषयमें यह नियम है कि विभागके बिना भक्षण नहीं करना चाहिए। पर यह मत ठीक नहीं है, कारण कि वैश्वदेव नामक अन्न सर्वसाधारण नहीं है; वह तो केवल वैश्वदेवके लिए ही है। सर्वसाधारण अन्नके बारेमें ही यह कहा गया है कि 'यदिदमद्यते'। अतः वैश्वदेवान्नका ग्रहण करनेपर उक्त वचन अनुकूल नहीं होता है, क्योंकि सब प्राणियों द्वारा जो अन्न खाया जाता है, उसके अन्तर्गत वैश्वदेव नामक अन्न है। पर कुत्ते, चाण्डाल आदि जिस अन्नका भक्षण करते हैं, उसके अन्तर्गत वैश्वदेवाख्य अन्न नहीं भी देखा जाता, अतः 'यदिदमद्यते' इससे उसका ग्रहण नहीं कर सकते। यदि इसका ग्रहण नहीं होगा, तो यह अन्न पितृसृष्ट तथा सर्वसाधारण-रूपसे विनियुक्त नहीं हो सकेगा और वैश्वदेवाख्य शास्त्रीय कर्म करनेसे पापसे विमुक्ति नहीं होगी, यह कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि वैश्वदेव नामक कर्म श्येनयागके समान अनर्थ फल देनेवाला नहीं है। जैसे श्येनका अनुष्ठान 'मा हिंस्यात्' इस श्रुतिसे निषिद्ध है; वैसे वैश्वदेवके अनुष्ठानका निषेध किसी श्रुतिसे नहीं है। मत्स्यके बन्धन आदिके समान स्वभावतः यह कर्म जुगुप्सित भी नहीं है, कारण कि वैश्वदेवाख्य कर्म शिष्टाचारका विषय है, इसलिए उसके न करनेमें प्रायश्चित्तकी श्रुति है—'अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः' (वैश्वदेव किये बिना जो अन्न खाता है, वह पशु पक्षी हो जाता है) इससे वैश्वदेव न करनेसे दुरित होता है, यह श्रुति स्पष्ट कहती है; इसलिए वैश्वदेव करनेवालेको पापका लेश भी नहीं होता। फिर इसके करनेसे पापसे मुक्ति नहीं होती, यह कहना सर्वथा असंगत है। यदि इससे अतिरिक्त सर्वसाधारण अन्नका ग्रहण करें, तो तत्परकी (केवल स्वोदरम्भरिकी) निन्दाके लिए यह वचन अनुकूल होता है; इसलिए प्रकृतमें सर्वसाधारण अन्नका ही ग्रहण है, केवल वैश्वदेवान्नका नहीं।

श्रुति भी कहती है कि 'अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि' अर्थात् विभागशः अर्थियोंको अन्न न देकर जो स्वयं अन्न भोजन करता है, उसको हम अन्न ही खिलाते हैं अर्थात् वह अनर्थका भागी ही होता है।

एकं प्रायच्छदिति तत्पयः। पयो ह्येवाग्रे मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति तस्मात्कुमारं जातं घृतं वै वाऽग्रे प्रतिलेहयन्ति स्तनं वानु धापयन्त्यथ वत्सं जातमाहुरतृणाद इति। तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च

मतान्तर कहते हैं—'अथो' इत्यादिसे। देवताओंके लिए जो दो अन्न दिये गये हैं, वे हुत और प्रहुत नहीं हैं, किन्तु दर्श-पूर्णमासरूप दो अन्न हैं, यद्यपि द्वित्व संख्या दोनोंमें समान है याने हुत और प्रहुत दो हैं और दर्श और पूर्णमास भी दो हैं। दो ही अन्न देवताओंको दिये गये हैं, इसलिए हुत और प्रहुतका ग्रहण नहीं करना चाहिए, किन्तु दर्श और पूर्णमासका ही ग्रहण करना चाहिए, यह नहीं बन सकता, तथापि दर्श-पूर्णमासरूप ही दो अन्न लेने चाहिएँ, क्योंकि उसमें मूल यह है कि हुत और प्रहुत स्मार्त हैं और दर्श और पौर्णमास श्रौत हैं। स्मार्तकी अपेक्षा श्रौत प्रधान होता है। गुण और प्रधानकी प्राप्तिमें प्रधान ही पहले बुद्धिमें आरूढ होता है। प्रथम उपस्थित योग्यका ही ग्रहण करना उचित है, इसलिए दर्श-पूर्णमासका ही ग्रहण युक्तिसंगत है। स्मृतिकी अपेक्षा श्रुति प्रबल है, इसलिए उसका ग्रहण विफल भी नहीं हो सकता और 'नेष्टियाजुकः' इत्यादि वाक्यसे यह कहा गया है कि दर्श और पूर्णमास देवान्न हैं, इसलिए इष्टि कामनाके लिए नहीं करनी चाहिए।

शङ्का—यदि कामनार्थ यह इष्टि नहीं है, तो 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि श्रुति विरुद्ध होगी, क्योंकि स्वर्ग तो काम्य ही है।

समाधान—'याजुक' यहां 'उकञ्' प्रत्यय ताच्छील्य अर्थमें आया है, काम्य इष्टिका नियमसे यजन करनेवाला नहीं होना चाहिए, यह तात्पर्य है, अन्यथा देव-प्रधान दर्शपूर्णमासका अनुष्ठान ही विरल हो जायगा; इससे देवप्रधान दर्शपूर्णमास अवश्य करे और कभी स्वर्गार्थ भी उक्त याग करे, यह परम तात्पर्य सिद्ध होता है, इसलिए उक्त वाक्यसे विरोध नहीं हो सकता। तीन अन्न अपने लिए किये। इस विषयका विस्तार अधिक है, अतः पाठक्रमका उल्लंघन कर अल्पविषयक 'पशुभ्य एकम्' इस मन्त्रपदकी व्याख्या करते हैं—पशुओंको एक अन्न दिया, वह है—पय याने दूध। जन्मके अनन्तर सबसे पहले मनुष्य और पशु दूधका ही आहार करते हैं, अतएव उत्पन्न बालकको जातकर्ममें पहले घृत ही चटाते हैं।

शङ्का—'एकम्' इत्यादि मन्त्रकी व्याख्याके अनन्तर 'त्रीणि' इत्यादि मन्त्रका

नेति पयसि हीदꣳसर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न। तद्यदिदमाहुः

व्याख्यान क्रमप्राप्त है, पर इसका व्याख्यान न कर पहले सप्तम अन्नकी (पयकी) व्याख्या करनेमें तात्पर्य क्या है ?

समाधान—मन, वाक् और प्राण—ये तीनों अन्न साध्यस्वरूप हैं, और सप्तम पशु अन्न सहित पूर्वोक्त अन्न साधनस्वरूप हैं, अतः पूर्वोक्त तीन अन्नोंसे ये फलस्वरूप तीन अन्न अत्यन्त विलक्षण हैं, अतः साधनभूत चार अन्नोंके व्याख्यानके अनन्तर ही इन साध्यस्वरूप अन्नोंका व्याख्यान समुचित है, यह दृष्टिमें रख कर पाठक्रमका उल्लंघन किया गया है। और श्रोताके समझनेमें सौकर्य हो, इसलिये भी पाठक्रमका त्याग समुचित ही है। सात अन्नोंमें चार अन्न साधन हैं और तीन साध्य हैं। कौन चार साधन हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर प्रथम तीनके निरूपणके अनन्तर साधनभूत सप्तम अन्नका व्याख्यान ही प्रथम जिज्ञासित है। यदि उसकी व्याख्या न कर साध्यस्वरूप तीन फलोंकी पहले व्याख्या की जाय, तो फिर सप्तम अन्नके व्याख्यानकी जिज्ञासा उत्पन्न करनी होगी, अन्यथा अजिज्ञासितका अभिधान हो जायगा। दूसरी बात यह भी है कि अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवके भेदसे फलभूत अन्न भी अनेक हैं, और दूधके सहित उक्त अन्न साध्यभूत अन्नोंकी (मन वाक् और प्राणकी) अपेक्षा अल्पविषय हैं, इसलिए सप्तमके व्याख्यानके लिए क्रमका उल्लंघन करना उचित ही है।

शङ्का—मनुष्य भी तो प्रथम दुग्धका ही पान करता है, फिर दूधको पशुका ही अन्न क्यों कहा ?

समाधान—'पशवो द्विपादश्चतुष्पादश्च' इत्यादि श्रुतिसे मनुष्योंका भी पशु-शब्दसे संग्रह है। पयके अभावमें उसके विकार घृतका प्राशन कराते हैं। घृतके अभावमें स्तन ही पिलाते हैं। द्विपाद पशुके अधिकारके विच्छेदका सूचन करनेके लिए 'अथ' शब्दका प्रयोग किया गया है। चार पैरवाले पशुके बच्चेके तात्पर्यसे कोई प्रश्न करता है कि आपका बच्चा किस अवस्थाका है ? तो उत्तर मिलता है—अभी तो वह अतृणाद है अर्थात् दूध ही पीकर रहता है, तृण नहीं खाता। दूधमें स्थावरजङ्गमात्मक सकल संसार प्रतिष्ठित है, इसमें प्रमाण क्या है ? 'पयसि हि इदं सर्वं प्रतिष्ठितम्' यह ब्राह्मणवाक्य ही उक्त अर्थमें प्रमाण है।

शङ्का—इसमें और कुछ युक्ति भी है ? या केवल यह वचन ही प्रमाण है ?

समाधान—युक्ति तो स्फुट है, यह 'हि' शब्दसे ही सूचित है। प्रसिद्धि

संवत्सरं पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्युं जयतीति न तथा विद्याद्यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवं विद्वान्त्सर्वꣳ हि देवेभ्योऽन्नाद्यं प्रयच्छति। कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदेति पुरुषो वा अक्षितिः। स हीदमन्नं पुनः पुनर्जनयते। यो वै तामक्षितिं वेदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं धिया धिया जनयते कर्मभिर्यद्वैतन्न कुर्यात्क्षीयेत ह सोऽन्नमत्ति

इस प्रकार है—जिसकी आहुति होती है, वह पय कहलाता है। आज्य भी पयरूपसे 'घृताहुतिं वा पयआहुतिं वोभयमेतत्पय एव' इत्यादि श्रुतिमें व्यवहृत है। केवल आहुतिके साधन पयका विकार घृत ही पय नहीं कहलाता है, किन्तु पुरोडाशादि हवि और पशु—ये सभी आज्य ही हैं, क्योंकि कोई भी चरु आदि हवि आज्याभिघारित हुए बिना होमके योग्य नहीं होता। आज्य पय है, यह निश्चित हो चुका है; इसलिए होमसाधन हविमात्रको पय कहना चाहिए, यह आगमकी आज्ञा है। आज्याभिघारसंस्कार द्वारा सब हवि आज्य हैं, और आज्य पय है।

शङ्का—अच्छा सबको पय माना, फिर भी पयमें संसार प्रतिष्ठित है, यह कैसे सिद्ध हुआ?

समाधान—पयसे अग्निहोत्र होता है, अग्निहोत्रमें सब संसार प्रतिष्ठित है।

शङ्का—यही कैसे?

समाधान—'ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतस्ते अन्तरिक्षमाविशत' इत्यादि श्रुतिसे पयोरूप अग्निहोत्रका परिणाम ही सारा जगत् है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। मनुजीने भी लिखा है कि—

'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥'

अर्थात् सायं प्रातःकालमें अग्निमें विधिपूर्वक प्रक्षिप्त आहुति तेज द्वारा आदित्यको प्राप्त होती है फिर वहांसे वृष्टिरूपसे पृथिवीमें आती है। वृष्टिसे अन्न होता है, अन्नसे प्रजाएँ होती हैं, इसलिए अग्निहोत्रसे जो अपूर्व होता है, उसीका परिणाम सारा जगत् है। इससे स्पष्ट हो गया कि सब जगत् पयमें (दूधमें) प्रतिष्ठित है।

श्रुति उक्त विधित्सित दर्शनकी स्तुतिके लिए अन्य शाखाके मतका, निन्दाके

प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत्, स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुप-जीवतीति प्रशंसा ॥ २ ॥

लिए, अनुवाद करती है—'तद्यदिदम्' इत्यादिसे। जो यह शाखान्तरमें कहते हैं कि दूधसे एक संवत्सरपर्यन्त हवन करनेसे पुरुष मृत्युको जीत लेता है, उसको ऐसा नहीं समझना चाहिए, परन्तु जिस दिन हवन करता है, उसी दिन मृत्युपर विजय पा लेता है, इस प्रकार जो जानता है, वह विद्वान् देवताओंको अन्नादि देता है।

उस वाक्यसे तो जो पुरुष एक वर्ष अग्निहोत्र करता है, वह मृत्युपर बिजय पा जाता है, यह अर्थ प्रतीत होता है, दर्शनान्तरकी प्रतीति ही नहीं होती, फिर उसकी निन्दाकी क्या सम्भावना? ऐसी आशङ्का करके विवक्षित दृष्टिकी हेतु सामान्य संख्याके लिए अग्निहोत्रगत संख्या कहते हैं—एक वर्ष तक होम करनेसे सायं प्रातःकालमें जो अग्निहोत्र होता है, वह तीन सौ साठ सङ्ख्यावाला होता है। दोनों कालका होम एक मानकर ३६० सङ्ख्या होती है। ३६० दिनका एक वर्ष होता है। संवत्सरके अवयव प्रत्येक दिन और रात्रि भी ३६०।३६० दोनों मिलकर ७२० होते हैं। सायं प्रातः होम भी ७२० होते हैं। श्रुति भी कहती है—'तस्य ह वा एतस्य अग्निहोत्रस्य सप्त च शतानि विंशतिश्च संवत्सरे सायमाहुतयः सप्त चैव शतानि विंशतिश्च संवत्सरे प्रातराहुतयः'। संवत्सर ३६० अहोरात्रका है। दिन व रात्रिका विभाग करनेपर ७२० संख्या होती है। 'सप्त च शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्राः' ऐसी श्रुति है। संवत्सरात्मक चित्याग्निरूप प्रजापतिके अवयव-भूत याजुष्मतीसंज्ञक ईंटें ३६० होती हैं। प्रयोगके भेदसे उन ईंटोंकी संख्या ७२० होती है, इतनी ही अग्निकी याजुष्मती नामक ईंटें होती हैं। देहाभिमानी साधक पुरुषकी देह और पार्श्वभेदसे नाडियां ७२० होती हैं। श्रुति भी है कि 'त्रिणीतः षष्ठिशतानि त्रिणीतस्तानि सप्तविंशतिशतानि भवन्तीति'। अब संख्यासामान्यसे दर्शन कहते हैं—उक्त संख्याके सामान्यसे अग्निहोत्र आहुतिका दर्शन (आरोपज्ञान) याजुष्मतीसंज्ञक ईंटोंमें करे, मानो ये ही ईंटें आहुति हैं अर्थात् ईंटोंका आहुतिरूपसे ध्यान करे। और आहुतिमय ईंटोंका संवत्सरके अवयव अहोरात्रस्वरूपसे ध्यान करे। पुरुषकी नाड़ियोंकी सामान्य संख्यासे नाड़ियोंका अहोरात्रस्वरूपसे ध्यानकर तद्रूपसे

आहुतिमें ईंटरूप नाड़ीका अनुसंधान करता हुआ एक वर्षतक हवन करके इसी संपत्‌से (होमसहित विद्यासे) संवत्सरात्मक प्रजापतिको प्राप्त कर उपासक मृत्युपर विजय पाता है । तात्पर्य यह है कि यहां वास्तविक अग्निहोत्रका विधान नहीं किया गया है, किन्तु पुरुष, संवत्सर और अग्नि—इन तीनोंके अवयव नाड़ी, अहोरात्र और ईंटोंकी संख्या समान है, इसलिए संपादित चित्य अग्निको संवत्सरात्मक प्रजापति मान कर 'मैं अग्निस्वरूप प्रजापति हूँ', इस धारणासे अग्निहोत्रके द्वारा संवत्सरात्मक कालभूत प्रजापतिमें आत्मभावनाका संपादन करनेवाला उपासक देहत्यागके अनन्तर कालात्मा प्रजापतिको प्राप्त कर मृत्युपर विजय पाता है, यह 'संवत्सरं पयसा' इत्यादि श्रुतिका अर्थ है, ऐसा किसी शाखाका मत है । श्रुति स्वयं उक्त मतका अनुवाद कर खण्डन करती है—'न तथा विद्यात्' (वैसा न समझिए) किन्तु संपूर्ण जगत् हूयमान पयमें मग्न है, यों पयका ध्यान करके एकबारके अग्निहोत्रसे ही जगद्रूप प्रजापतिको प्राप्त कर मृत्युका अतिक्रमण कर लेता है अर्थात् एकबार मरकर फिर परिच्छिन्न शरीरका ग्रहण नहीं करता । इस अर्थमें श्रुति हेतु कहती है—'सर्वं हि' इत्यादि ।

पयको जगत्-रूप समझ कर जो उस पयसे होम करता है, वह एक ही आहुतिसे संपूर्ण जगद्रूप अन्नादि खाद्यको देवताओंके अर्पण कर उन्हें तृप्त कर देता है, फिर उनकी कृपासे मृत्युका अतिक्रमण कर लेता है । विद्वान्‌में विद्याकी सामर्थ्यसे एक ही आहुतिसे जगत्‌का समर्पण करनेकी सामर्थ्य होती है, यह स्फुट करनेके लिए श्रुतिमें 'हि' शब्द है ।

शङ्का—अभी चार ही प्रकारके अन्नोंकी व्याख्या हुई है, तीन प्रकारके अन्नोंकी व्याख्या अपेक्षित है, फिर मध्यमें ही 'कस्मात्' यों हेतुका प्रश्न क्यों किया गया ?

समाधान—चारोंकी व्याख्यासे ही वक्ष्यमाण तीन भी प्रायः व्याख्यात हो ही चुके हैं, क्योंकि वे फलस्वरूप हैं । कुसूलस्थ अन्नके समान प्रतिदिन उपयोग करनेपर भी वे क्यों क्षीण नहीं होते ? इसका उत्तर श्रुति स्वयं देती है—'पुरुषो वा अक्षितिः' अर्थात् पुरुष अविनाशी है ।

पुरुषके अविनाशी होनेपर भी अन्नमें अविनाशित्व कैसे आया ? इस शङ्काका उत्तर देते हैं—'स हि' इत्यादिसे । पुरुष ही फिर अन्न पैदा करता है, इसलिए उसके ज्ञान और कर्म द्वारा उत्पन्न किए जानेवाले सात प्रकारके अन्न प्रतिदिन उपभुज्यमान होनेपर भी क्षीण नहीं होते ।

एवमाध्यात्मिकाविद्यामग्नस्याऽप्याधिदैवतम् ।
विराट्त्वं वाञ्छतः पुंसस्त्र्यन्नात्मोपास्तिरीर्यते ॥ १८ ॥
सृष्टो यद्यपि मर्त्येन वर्तमानो विराट् स्वयम् ।
तथाऽप्यस्येश्वरो भूत्वा भाति तादृशकर्मणा ॥ १९ ॥

अक्षयहेतुत्वरूपगुणवाला सप्तान्नात्मक प्रजापतिरूप जो उपासक है, उसका फल कहनेके लिए 'यो वै ताम्' इत्यादि मन्त्रका अवतरण कहते हैं—अन्नके अक्षयका हेतु पुरुष है, इसलिए अक्षिति कहलाता है, उसीके ज्ञान और कर्मसे प्रतिदिन अन्न बनता है; वही अक्षिति पुरुष लौकिक एवं शास्त्रीय ज्ञान और कर्मसे अन्नको उत्पन्न करता है। यदि आत्मा अन्नको न बनाता, तो अन्न अवश्य क्षीण हो जाते। 'मुखेन' यहां मुखशब्दका मुख्य अर्थ है। अविद्वान्में विद्याकी सामर्थ्य नहीं है, इसलिए वह अन्नके प्रति गुण (अप्रधान) है, मुख्य नहीं, विद्वान् विद्याकी सामर्थ्यसे अन्नके प्रति प्रधान है अर्थात् अन्नका आत्मा होकर भोक्ता ही है, भोग्य नहीं है। वह उपासक उपास्य देवस्वरूप हो जाता है, अतएव अमृतका ही उपभोग करता है; यह केवल प्रशंसामात्र है, क्योंकि 'सोऽन्नमत्ति' इससे यहीं देवभावकी प्राप्ति होती है फिर आगे अपूर्व अर्थका विधान नहीं है। ऊर्जको (बलको) प्राप्त करता है। साधनात्मक चार अन्नोंके निरूपणके अनन्तर अन्नके अक्षयके कारण अक्षितित्वगुणके उपक्षेपके प्रसंगसे पुरुषोपासनाका फल—'मन, वाक् और प्राण—ये तीनों अन्न अपने लिए किये' इत्यादिसे—ब्राह्मणकी समाप्तिपर्यन्त कहेंगे ॥ १,२ ॥

'एवमा०' इत्यादि। अज्ञानसे आवृत आत्मा याने संसारी पुरुष यदि अधिदैवत विराट्स्वरूपकी इच्छा करे, तो उसके लिए त्र्यन्न आत्माकी उपासना कही जाती है; क्योंकि इस उपासनासे उक्त फलकी प्राप्ति होती है ॥१८॥

'सृष्टो' इत्यादि। यद्यपि विराट् स्वरूपसे वर्तमान है; परन्तु भोग्यत्वाकारसे जीवसे बना है; इसका उपपादन पूर्वमें कर चुके हैं। तथापि पूर्वोक्त उपासना आदिके प्रयाससे वह जीवका ईश्वर है; स्वामित्वरूपसे जीवने उसकी कल्पना की है, अतः जीवोंका स्वामी (ईश्वर) विराट् है; जैसे स्वप्नावस्थामें जीव यदि अपने स्वामीकी कल्पना करता है अर्थात् स्वामीका स्वप्न देखता है; तो

स्वस्वप्नकल्पितो राजा गुरुर्वा स्वनियामकः ।
यथा तथा विराडेष स्वस्रष्टारं नियच्छति ॥ २० ॥
स्वप्नेऽहमेव राजेति द्रष्टा सर्वं नियच्छति ।
न त्वन्येन नियम्यः स्यात् स्वविराट्त्वे तथा भवेत् ॥ २१ ॥
विनोपास्तिं विराडेष स्वभिन्नत्वेन कल्प्यते ।
उपासकस्य स्वत्वेनेत्येषा कल्पकयोर्भिदा ॥ २२ ॥
कर्मोत्कर्षापकर्षौ च स्वत्वभिन्नत्वकारणम् ।
तस्मादुपासनोत्कृष्टा वर्ण्यते स्वत्वसिद्धये ॥ २३ ॥

उस समयमें यह ज्ञान नहीं होता कि यह हमारा कल्पित है, इसलिए स्वयं उसका अनुगामी (दास) हो जाता है और उसके अनुग्रह तथा निग्रहसे अपनेको वस्तुतः अनुगृहीत और निगृहीत मानता है, वैसे ही विराट्की भी संसारदशामें जीवोंने ईश्वररूपसे कल्पना की है, अतएव उस भावसे उसकी उपासना समुचित ही है ॥ १९ ॥

कल्पित राजा या गुरु अपना शासक होता है, इसमें दृष्टान्त देते हैं— **'स्वस्वप्न०'** इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्न अथवा जागर अवस्थामें ही जो जिसको राजा या गुरु मान लेता है, वह राजा अथवा गुरु उस माननेवालेका प्रजा अथवा शिष्यभावसे नियन्त्रण करता है, वैसे ही कल्पित विराट् भी अपने उपासकका नियन्त्रण करता है ॥२०॥

'स्वप्ने' इत्यादि । जैसे स्वप्नमें जो अपनेको राजा देखता है, उसको 'मैं राजा हूँ' ऐसा ज्ञान होता है; और स्वप्नमें आभासमान सब पुरुषोंका वह स्वयं नियामक होता है; किसीका नियम्य नहीं होता, वैसे ही उपासक स्वयं विराट् होनेपर अपनेको सबका राजा मानता है; इसलिए सबका नियामक ही होता है; किसीका नियम्य नहीं होता ॥ २१ ॥

'विनोपास्तिम्' इत्यादि । सर्वसाधारण जीव उपासनाके बिना विराट्को अपनेसे भिन्न अतएव स्वामी मानता है और उपासक अपनेको, उपासक होनेके कारण, उससे भिन्न मानता है; उपासना भेदाधिष्ठान होती है; इसलिए विराट् और जीवमें उपास्योपासक या स्वस्वामिभावसम्बन्ध होता है ॥ २२ ॥

'कर्मोत्कर्षा०' इत्यादि । फलपर्यन्त कर्मका उत्कर्ष और अपकर्ष स्वत्व और

अश्वाद्युपासनं पूर्वं स्वत्वार्थं यद्यपीरितम् ।
तथाऽप्यविद्याकार्यत्वसिद्धयेऽत्राऽप्युदीर्यते ॥ २४ ॥
अध्यात्ममधिभूतं च विज्ञेयमधिदैवतम् ।
उपासनाय व्यापित्वं विराजोऽन्नत्रयात्मनः ॥ २५ ॥
अन्नत्रयस्य संव्याप्तिरध्यात्मं स्वानुभूतितः ।
शास्त्रैकगम्यमन्यत्र तत्राऽध्यात्मं प्रदर्श्यते ॥ २६ ॥
अनुमेयं मनोरूपं साक्षिवेद्यास्तु वृत्तयः ।
कादाचित्कार्थविज्ञानं लिङ्गं तद्वद्विशेषधीः ॥ २७ ॥

भिन्नत्वका कारण है; अर्थात् विराट्स्वरूपकी प्रापक उपासनासे सब जीवोंमें विराट्का स्वत्व उत्पन्न होता है और उसके अपकर्षसे स्वभिन्न स्वामित्व उत्पन्न होता है। जो उपासना नहीं करते हैं, उनका स्वामी प्राणोपासक होता है और उसका स्वत्व अन्य जीवोंमें होता है; अतः अन्य जीवोंमें स्वत्वकी उत्पत्तिकी हेतु उत्कृष्ट प्राणोपासनाका वर्णन करते हैं ॥ २३ ॥

'अश्वाद्युपासनम्' इत्यादि। स्वत्वादिकी उत्पत्तिके लिए पहले अश्वादिकी उपासना यद्यपि कही जा चुकी है, तथापि यह सब अविद्याका कार्य है, यह सूचित करनेके लिए यहाँपर भी उसे कहते हैं; अतः पुनरुक्त दोष नहीं है ॥ २४ ॥

'अध्यात्म०' इत्यादि। मन, वाक् और प्राण—इन तीन अन्नोंके स्वरूपभूत विराट्के अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत—ये तीन विभाग कहेंगे। इन तीनोंका व्यापक विराट् है; यों विराट्के व्यापित्वका कथन उपासनाके तात्पर्यसे है, यह आगे व्यक्त होगा ॥ २५ ॥

'अन्नत्रयस्य' इत्यादि। अध्यात्म उपासनाके विषयमें अन्नत्रय—वाक्, मन और प्राण, ये तीनों—शरीरमें व्यापक हैं, इसमें प्रमाण अपना अनुभव ही है, अतएव अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है, अधिभूत और अधिदैवतके विषयमें व्यापित्व शास्त्रसे ही जाना जा सकता है, अतः इस विषयके निरूपणके समयमें शास्त्र प्रमाणरूपसे कहा जायगा, प्रथम अपने अनुभवरूप प्रमाणका विषय जो अध्यात्म है, उसीका प्रदर्शन करते हैं ॥ २६ ॥

'अनुमेयम्' इत्यादि। मन अनुमेय है और उसकी वृत्तियां साक्षिवेद्य हैं। मनके अनुमानमें अर्थका कादाचित्क विज्ञान ही लिङ्ग (प्रमाण) है और

आत्मेन्द्रियार्थसान्निध्ये सन्ततेऽप्यर्थवेदनम् ।
क्षणिकं दृश्यतेऽतस्तदन्तःकरणपूर्वकम् ॥ २८ ॥

वक्ष्यमाण स्पर्श आदिका विशेष ज्ञान भी मनमें प्रमाण है—कादाचित्क अर्थका विज्ञान मनमें लिङ्ग (मनका साधक हेतु) है, यह कहा है। इसीका विवरण आगेके श्लोकमें करेंगे ॥ २७ ॥

'आत्मेन्द्रियार्थ०' इत्यादि। मनका अनुमान इस प्रकार है—विमतमर्थ-वेदनम्, आत्मादित्रयातिरिक्तासाधारणकारणसापेक्षम्, तस्मिन् सत्यपि कादा-चित्कत्वात्, घटवत् (विवादास्पद अर्थका परिज्ञान आत्मा आदि तीनसे भिन्न किसी असाधारण कारणकी अपेक्षा करता है, क्योंकि आत्मादिके रहनेपर भी वह किसी समयमें ही होता है, घटके समान)। तात्पर्य यह है कि मन न्यायमतमें परमाणुरूप माना जाता है, इसलिए वे लोग उसका प्रत्यक्ष नहीं मानते; किन्तु उसकी अनुमानसे सिद्धि करते हैं। रूपादिज्ञानक्रिया सकरणक है, क्योंकि क्रियामात्र सकरणक होती है; जैसे छेदन आदि क्रियामें कुठार आदि करण हैं वैसे ही ज्ञानक्रियामें अनुमित मन करण है। श्रुति भी मनकी सिद्धिमें अनुमान ही प्रमाण आगे कहती है। मनके सिद्ध होनेपर काम आदि धर्मोंका धर्मी मन ही है; यह भी श्रुति स्वयं कहती है।

शङ्का—न्यायमतमें तो काम आदि आत्मधर्म माने जाते हैं, आप (वेदान्ती) उन्हें मनोधर्म क्यों मानते हैं ?

समाधान—'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुतिसे आत्मामें किसी धर्मका संभव नहीं है; अतएव स्वयं श्रुतिने 'काम आदि मनके धर्म हैं' ऐसा कहा है; इसलिए श्रुतिके अनुसार काम आदि मनके धर्म ही माने जाते हैं, आत्माके धर्म नहीं माने जाते। किम्बहुना उनकी आत्मधर्मताका निरास करनेके लिए विशेष प्रयत्न भी करेंगे। उक्त अनुमानको स्पष्ट करते हैं—वस्तुके प्रत्यक्षमें विषय और इन्द्रियका सन्निकर्ष कारण है; इसमें किसीको विवाद नहीं है, परन्तु प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण—इन तीनोंके रहनेपर भी कदाचित् विषयका प्रत्यक्ष नहीं होता; जैसे शस्त्रादिके निर्माणमें दत्तचित्त शिल्पीके समीपसे 'एक बुड्ढा बैल गया', उसके साथ शिल्पीके चक्षुका दैवात् संयोग भी हो गया। थोड़ी देर बाद एक मनुष्यने उससे पूछा कि इधरसे कोई बूढ़ा बैल गया है ? उसने सत्य ही उत्तर दिया कि

मेरा मन शस्त्रके निर्माणमें लगा था, इस कारण मैंने उसे नहीं देखा। अब यह विचार करना चाहिए कि यदि विषयके प्रत्यक्षमें प्रमाता आदि तीन ही कारण हों, तो वे तीनों थे ही, फिर उस बूढ़े बैलका प्रत्यक्ष क्यों नहीं हुआ? इसलिए इन तीनोंसे अतिरिक्त चौथा भी कोई असाधारण कारण है, जिसके संबन्ध और असंबन्धसे प्रत्यक्षका होना एवं न होना बनता है, अतः प्रमाता आदि तीनोंके सान्निध्यमें कदाचिद् ज्ञानकी उत्पत्तिकी अनुपपत्तिरूप अर्थापत्ति ही मनकी साधक प्रमाण है।

शङ्का—मनसे अतिरिक्त ही कोई कारण क्यों न हो?

समाधान—उक्त तीन कारणोंसे अतिरिक्त जो कारण है, वह मन ही है, दूसरा नहीं।

शङ्का—क्या अदृष्ट नहीं हो सकता?

समाधान—अदृष्ट दृष्ट कारणके संघटन आदिका कारण होता है, अतएव अदृष्टमात्रके वैकल्यसे कार्यकी अनुत्पत्ति नहीं मानी जाती। दृष्ट कारणके विघटन द्वारा अदृष्ट कार्यकी अनुत्पत्तिका कारण माना जाता है; साक्षात् नहीं। और लोकप्रसिद्धि भी मनमें ही प्रमाण है। 'अभून्मम मनोऽन्यत्र यतो नाऽद्राक्षम्' अर्थात् मेरा मन अन्यत्र था, इस कारण मैंने नहीं देखा, यह लोकव्यवहार है। यदि मन उक्त कार्यमें कारण न होता, तो प्रकृतमें उसके अभावका बोधन निष्फल होता, इसलिए मनको भी कारण अवश्य मानना चाहिए। उक्त स्थलमें प्रत्यक्षके कारण मनके असान्निध्यसे प्रत्यक्ष नहीं हुआ, यही अर्थ स्वरसतः सिद्ध होता है। सारांश यह है कि आत्मा आदि तीन दर्शनके कारण नहीं हैं, क्योंकि मनसे ही द्रष्टा गाय आदिको देखता है; अन्यथा नहीं देखता। मनके सन्निकर्षसे आत्मादि तीन स्वतः सिद्ध होते हैं। वेदान्तीके मतसे मनःपरिणामरूप ज्ञानका कारण मन है, यह स्पष्ट ही है। तद्विशेषधीका अभिप्राय यह है कि त्वगिन्द्रियके संयोगसे स्पर्शका ज्ञान तो सामान्यतः होता है, किन्तु स्पर्श किसका हुआ, यह जिसका चित्त ठिकाने नहीं है, वह नहीं जान सकता। हां, जब चित्तके द्वारा आलोचना करता है, तब उसको स्पर्शविशेषका ज्ञान होता है। अनवधान-दशामें इस स्पर्शको न समझकर त्याग भी करता है। वस्तुतः अपने-अपने विषयोंमें सब इन्द्रियोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति मनसे ही होती है, इसलिए

लोचनागोचरे पृष्ठे त्वचाऽस्य स्पर्शवेदनम् ।
पादस्य स्पर्श इत्येष विशेषो ज्ञायते धिया ॥ २९ ॥
लिङ्गद्वयानुमेयेऽस्मिन् चित्ते कामादिवृत्तयः ।
भास्यन्ते साक्षिणा रूपं नेत्रेणेवाऽपरोक्ष्यते ॥ ३० ॥

ज्ञानके करण सब चक्षुरादि मन ही हैं; इस तात्पर्यसे श्रुति कहती है, 'मनसा ह्येव पश्यति' इत्यादि ।

शङ्का—'मनसा ह्येव' इस श्रुतिमें 'हि' शब्दका तात्पर्य क्या है ?

समाधान—यह शङ्का होती है कि यद्यपि चक्षु आदि द्वारा तत्-तत् ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, तथापि मनके बिना नहीं होती; इसलिए सकल इन्द्रियोंसे जन्य ज्ञानमें मनको साधारण कारण मानना चाहिए, असाधारण नहीं, इसका उत्तर 'हि' शब्दसे होता है अर्थात् यदि श्रुतिको ऐसा अभिप्रेत होता, तो 'मनसा ह्येव पश्यति' ऐसा कहनेकी क्या आवश्यकता थी ? इस कथनके बिना भी मनमें साधारण ज्ञानकारणत्वका लाभ हो जाता । 'हि' शब्द प्रसिद्धार्थक है, मनमें असाधारणकारणत्व उक्त लोकव्यवहारसे प्रसिद्ध है, अथवा संपूर्ण ज्ञानकरण चक्षुरादि मन ही हैं । विषयाकार मनःपरिणामरूप बुद्धि भी मनसे भिन्न नहीं है, क्योंकि धर्म और धर्मीका अभेद वेदान्तका सिद्धान्त ही है । इन सब बातोंको मनमें रखकर श्रुति कहती है—कामादि जितनी वृत्तियाँ मनमें होती हैं, वे सब वस्तुतः मन ही हैं, अतिरिक्त नहीं हैं ॥ २८ ॥

'लोचनागोचरे' इत्यादि । चक्षुके अविषय पीठमें हस्त आदिसे स्पर्श होनेपर सामान्य स्पर्शका ज्ञान ही होता है, परन्तु पादका स्पर्श है; अथवा हस्तका, यह मनके अवधानके बिना नहीं होता । इसलिए मनका लिङ्ग जो बुद्धिविशेष पूर्वमें कहा है, वह मनसे ही उत्पन्न होता है । चित्त और उसकी विशेषवृत्ति बुद्धिको अभिन्न मानकर 'धिया' यह कहा है । अथवा 'हृदा' ऐसा मूलमें पाठ होना चाहिए । प्रमादसे 'धिया' यह पाठ हो गया होगा, क्योंकि मूलकारने अभी मन और बुद्धिको एक नहीं बतलाया है ॥ २९ ॥

'लिङ्गद्वया०' इत्यादि । लिङ्गद्वयके—पूर्वोक्त ज्ञानकादाचित्कत्व और बुद्धि-विशेष इन दोनोंके—द्वारा अनुमेय (अनुमानके विषय) चित्तमें जो कामादि वृत्तियाँ होती हैं, उन सबका नेत्रादिसे रूपादिके समान साक्षीसे प्रत्यक्ष होता है । साक्षीसे वृत्तियोंका अपरोक्ष भान होता है ॥ ३० ॥

अनेन मनसा रूपप्रपञ्चोऽत्रोपलक्ष्यते ।
वागिन्द्रियेण निष्पाद्यं नाम वागिह गीयते ॥ ३१ ॥
पञ्चवृत्त्यात्मकात् प्राणादिह कर्मोपलक्ष्यते ।
नामरूपक्रिया एवमध्यात्मं सूपवर्णिताः ॥ ३२ ॥
देहेन्द्रियादिसङ्घातरूपा एतास्त्रिदण्डवत् ।
एकीभूता इहाऽध्यात्मं चिन्तनीया उपासकैः ॥ ३३ ॥

'अनेन' इत्यादि । यहां मनशब्द उपलक्षण है, अतः उससे रूपात्मक प्रपञ्चमात्रका ग्रहण होता है और वाग्से वागिन्द्रियसे निष्पाद्य नाममात्र विवक्षित है, क्योंकि सृष्टिप्रक्रियाके वाक्यमें 'नामरूपे व्याकरवाणि' यह स्फुट गहा गया है । नामरूपात्मक ही प्रपञ्च है, और यही जीवका अन्न है; जीवोंके उपभोगके लिए ही समस्त प्रपञ्च है, उपभोगका साधन ही अन्न कहा गया है, इसलिए मन और वाग्का उपादान प्रपञ्चमात्रकी विवक्षासे किया गया है ॥ ३१ ॥

'पञ्चवृत्त्या०' इत्यादि । प्राण, अपान आदि पञ्च वृत्तिरूप प्राण भी उससे साध्य कर्मका उपलक्षण है, कर्मका असाधारण कारण प्राण ही है, इस रीतिसे नाम, रूप और कर्म—इन तीनों अध्यात्मका विशेषरूपसे वर्णन हो चुका है ॥ ३२ ॥

'देहेन्द्रिया०' इत्यादि । देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धयादिका समूह त्रिदण्डके समान है अर्थात् जैसे एक दण्ड केवल खड़ा नहीं रह सकता, किन्तु तीन दण्डोंके संबन्धसे वे खड़े ही नहीं किये जा सकते, किन्तु उनके द्वारा बड़े बड़े कार्य भी किये जाते हैं, वैसे ही इन तीनोंमें भी एक-एक केवल नहीं रह सकते, किन्तु परस्पर मिलकर त्रिदण्डकी तरह तीनों रहते हैं और बलवत् कार्य भी करते हैं । शरीर प्राणके बिना नहीं रह सकता और प्राण शरीरके बिना नहीं रह सकता । ऐसा ही मन आदि इन्द्रियोंके विषयमें भी समझना चाहिए । किन्तु उक्त त्रिदण्डके समान देह, इन्द्रिय, प्राण आदिकी स्थिति है । भोगादृष्ट ही इन तीनोंका संयोजक है । उसके समाप्त होनेपर ये तीनों वियुक्त हो जाते हैं, इत्यादि लोकप्रसिद्ध ही है । उपासक (प्राणोपासक) अध्यात्मभूत इन तीनोंको एकीभूत मानकर चिन्तन (उपासना) करे ॥ ३३ ॥

श्रुतिः ॥ त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुतान्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति। कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो

'त्रीण्यात्मने' इत्यादि। जीवने सात अन्नोंकी सृष्टि कर उनमें से विभाग कर चार अन्न भोक्ताओंको दिये और तीन अन्न अपने लिए रक्खे। इन तीन अन्नोंका श्रुति विभाग करती है—मन, वाग् और प्राण। उपासनाके द्वारा अपनेको विराट्-स्वरूपकी प्राप्ति हो, इसलिए इन तीन अन्नोंको किया। मनकी सत्तामें अनुमान प्रमाण श्रुति कहती है—मेरा मन अन्यत्र आसक्त था, अतः उसे नहीं देखा। विषयान्तरमें मन था, इसलिए नहीं सुना, अतः प्राणी मनसे ही देखता है और मनसे ही सुनता है। इससे उक्त अन्वय और व्यतिरेकसे मन अतिरिक्त पदार्थ माना जाता है। मनके धर्म कहते हैं—'कामः' इत्यादिसे। काम विषयकी अभिलाषा है। सामान्यरूपसे देखे गये पदार्थमें विशेषरूपसे कामका हेतुभूत अवधारण ही सङ्कल्प है। अनिश्चयात्मक बुद्धि विचिकित्सा है 'याने स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादि संशय। गुरु, शास्त्र आदिके वाक्योंमें आस्तिक्य बुद्धि श्रद्धा है और इससे विपरीत बुद्धि अश्रद्धा है।

शङ्का—श्रद्धा आदिके समान 'काम, अकाम' ऐसा कहना उचित था, पर श्रुतिमें काम मनोधर्म है, ऐसा ही कहा है, अकामको अश्रद्धा आदिके समान मनका धर्म क्यों नहीं कहा ?

समाधान—अकाम भी मनका धर्म है, यह अर्थात् सिद्ध होता है, इसलिए पृथक् नहीं कहा।

शङ्का—अर्थात् कैसे सिद्ध होता है ?

समाधान—काम आदि श्रद्धाके बिना नहीं हो सकते, अतः अश्रद्धा रहनेपर कामका अभाव स्वतः सिद्ध होता है, क्योंकि 'कारणाभावे कार्याभावः' (कारणका अभाव होनेपर कार्यका अभाव होता है) इस न्यायसे श्रद्धा आदिका अभाव रहनेपर काम आदि कार्यका अभाव स्वतः प्राप्त होता है, इसलिए उसे पृथक् नहीं कहा। धृति—धारणा याने देहादिका उत्तम्भन यह विधारक प्रयत्नके बिना नहीं होता, क्योंकि हाथ ऊपर किये रहें, ऐसा संकल्प करके ही हाथ ऊपर रख सकते हैं, अन्यथा नहीं, तद्विपर्यय (धृतिसे भिन्न) अधृति है। ह्री लज्जा।

मनसा विजानाति यः कश्च शब्दो वागेव सा एषा ह्यन्तमायत्तैषा हि

घी निश्चित ज्ञान। भी भय इत्यादि सब मनके ही धर्म हैं। धर्म और धर्मीके अभेदकी विवक्षासे ये सब मन ही हैं, ऐसा कहा है। मनके अस्तित्वमें पीठमें लगे हस्तादिके स्पर्शविशेषका ज्ञान भी हेतु है, यह श्रुति कहती है—'तस्मात्' इत्यादिसे। मनका निरूपण कर क्रमप्राप्त वाक्का निरूपण करते हैं—लोकमें जो वेणु, वीणा आदिके ध्वनिरूप शब्द अथवा वर्णात्मक शब्द हैं, वे सब शब्द वाक् ही हैं। वाक्का स्वरूप कहकर उसके कार्य शब्दजन्य ज्ञानको भी वाक् कहते हैं—'सा एषा' इत्यादिसे।

शङ्का—ध्वन्यात्मक या वर्णात्मक सारे नाद वाग् हैं, यह तो कहना ठीक है, किन्तु तज्जन्य प्रत्यय भी वाक् है, यह कहना ठीक समझमें नहीं आया।

समाधान—एषा ह्यन्तमायत्ता। अन्तशब्दका यहाँ निर्णय अर्थ है, इसलिए उसका यह अर्थ हुआ कि अभिधेय अर्थके निर्णयका अनुसरण करती है अर्थात् वाक् अर्थकी प्रकाशिका है।

वाग् स्वयं अन्यसे प्रकाशित होती है, या नहीं? नहीं, क्योंकि यह वाक् दीप आदिके समान सजातीय प्रकाशकी अपेक्षाके बिना ही अर्थकी प्रकाशिका है, अतः वह अन्यके द्वारा प्रकाशित होनेवाली नहीं है; किन्तु अन्यसे अप्रकाश्य है, अतः अन्य प्रकाशकी अपेक्षा द्वारा अनवस्था आदि दोष नहीं हैं।

शङ्का—श्रुतियोंमें जहाँ कहीं 'वाक्' शब्द आता है, वहाँ उससे वागिन्द्रियका ही ग्रहण होता है; यहां वाक्शब्दसे वागिन्द्रियके विषय शब्द और शब्दजन्य प्रत्यय विवक्षित हैं, ऐसा कहनेमें प्रमाण क्या है?

समाधान—ठीक है, अन्यत्र वाक्शब्दसे इन्द्रियका ही ग्रहण होता है और उसीके तात्पर्यसे वाक्शब्दका प्रयोग भी होता है; किन्तु तीन अन्नोंके प्रकरणमें वाक्शब्दसे वागिन्द्रियके विषय शब्द और उससे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानका ही ग्रहण करना समुचित है, क्योंकि यहां वाक्शब्दकी सर्वात्मकत्वरूपसे विवक्षा है। यदि वागिन्द्रियका ग्रहण करोगे, तो वह सर्वात्मक नहीं हो सकती। शब्द सर्वात्मक होता है; अतः योग्यतावश यहां वाक्से शब्दका ही ग्रहण करना चाहिए, इन्द्रियका नहीं, क्योंकि प्रकृत अर्थमें अन्वयके लिए वाक् इन्द्रियकी योग्यता नहीं है। अतएव इन्द्रियमें ही वाक्शब्दकी प्रसिद्धि है, शब्दादिमें नहीं, यह

न प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः। अन इत्येतत्सर्वं प्राण एवैत-न्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः ॥ ३ ॥

आक्षेप भी युक्त नहीं है, क्योंकि अन्वययोग्य अर्थका ही ग्रहण सर्वत्र होता है। प्रसिद्धि भी अन्वयका विरोध न होनेपर ही ग्राह्य होती है, अन्यथा नहीं।

शङ्का—यहांपर अन्नत्रयके प्रकरणमें सर्वात्मत्व विवक्षित है; इसलिए वाक्‌से इन्द्रियका ग्रहण नहीं होगा, किन्तु प्रकाशकमात्रका वाक्‌शब्दसे ग्रहण होता है, इसमें क्या साधक है ?

समाधान—जितने काम आदि प्रकाशित होनेवाले पूर्वमें कहे गये हैं; वे सब मनमें जैसे अन्तर्भूत होते हैं; वैसे ही जितने प्रकाशक हैं; उन सबका वाक्‌में अन्तर्भाव करना चाहिए। सभी प्रकाशक वाक्‌शब्दके अर्थ हैं; वागिन्द्रिय अर्थ नहीं है; इस आशयको व्यक्त करनेके लिए 'एषा हि न' इत्यादि श्रुति है; इससे प्रकृत वाग्‌में इन्द्रियत्वका अभाव स्पष्ट ही बोधित होता है। रूप प्रकाश्य है और वाक् प्रकाशक है; यह निष्कृष्ट अर्थ हुआ।

अब प्राणका निरूपण करते हैं—मुख और नासिकामें गमन करनेकी जिसमें योग्यता है, ऐसा हृदय आदिमें रहनेवाला उच्छ्वासका हेतु प्राण है। नाभि आदि स्थानमें रहनेवाला अधोवृत्ति मूत्र आदिके निकालनेमें हेतुभूत वायु अपान कहलाता है। सब शरीरमें व्यापी वीर्यवान् कर्मका हेतु व्यान कहलाता है। उत्साहपूर्वक क्रियाका हेतु कण्ठादि स्थानमें रहनेवाला उदान है। अशित और पीतके समीकरणका हेतु कोष्ठादि स्थानमें रहनेवाला समान कहलाता है।

इस प्रकार प्राणकी पञ्च वृत्तियोंका निर्देश कर उक्त वृत्तियोंसे युक्त वायुके स्वरूपका अभिधान करते हैं—'प्राण' इत्यादिसे। प्राण आदि पाचों वृत्तियां यद्यपि भिन्न भिन्न कही गई हैं; तथापि वे सब वृत्तियां प्राणकी ही हैं, इसीको श्रुति कहती है—'अन' इत्यादिसे। सब प्राण ही हैं, 'अन' शब्दसे प्राण आदि विशेषणोंसे रहित वायुमात्रका ग्रहण अभीष्ट है; वही वायु विशेष संबन्धसे प्राण कहा जाता है; यह आगे स्पष्ट होगा। अब अध्यात्मशब्दसे प्रतिपादित शरीरमें तीन अन्नोंकी व्याप्तिका प्रदर्शन श्रुति करती है—'एतन्मयो वा' इत्यादिसे। 'अयमात्मा' यहां आत्मशब्दसे शरीर विवक्षित है। शरीर ही वाङ्मय, प्राणमय और मनोमय है ॥३॥

त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥ ४ ॥

त्रयो वेदा एत एव, वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः ॥ ५ ॥

देवाः पितरो मनुष्या एत एव वागेव देवा मनः पितरः प्राणो मनुष्याः ॥ ६ ॥

पिता माता प्रजैत एव, मन एव पिता वाङ्माता प्राणः प्रजा ॥ ७ ॥

शङ्का—शरीर वाग् आदि तीनका विकार कैसे है ?

समाधान—इसी विरोधका परिहार करनेके लिए वाक् आदि शब्दोंकी नाम आदिमें लक्षणा है, ऐसा पूर्वमें कहा गया है।

शङ्का—फिर भी शरीर नाम आदिका विकार कैसे हो सकता है ?

समाधान—नामशब्दसे प्रकाशकमात्र विवक्षित है, और रूपशब्दसे प्रकाश्यमात्र विवक्षित है। इस अवस्थामें जो जो प्रकाशक इन्द्रियादि हैं, वे सब नाम ही हैं, और जो जो प्रकाश्य शरीरादि हैं, वे सब रूप ही हैं।

शङ्का—इस रीतिसे वाक् और मनके विकारमें ही सम्पूर्ण शरीर समाविष्ट हो गया। फिर प्राणका विकार क्या रहा ?

समाधान—यद्यपि प्राण शब्दसे कही गई क्रिया प्रकाश्यमें अन्तर्गत है; तथापि उपासनाके लिए वह पृथक् कही गई है। वास्तवमें सारा प्रपञ्च नाम-रूपात्मक ही है ।

अध्यात्म विषयके तीन अन्नोंके विभागका वर्णन हो चुका; अब अधिभूत विषयके तीन अन्नोंका विभाग कहते हैं—'त्रयो लोका एत' इत्यादिसे।

तीनों लोक याने भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक ये ही हैं अर्थात् वाग् ही भूर्लोक है, मन भुवर्लोक है और प्राण स्वर्लोक है ॥४॥

ऋग्, यजुः और साम ये तीनों वेद भी ये ही हैं—वाग् ऋग्वेद है, मन यजुर्वेद है और प्राण सामवेद है ॥५॥

देव, पितर और मनुष्य ये ही हैं—वाक् ही देव है, मन पितर है और प्राण मनुष्य है ॥६॥

माता, पिता और प्रजा भी ये ही हैं—मन ही पिता है, वाक् माता है और प्राण प्रजा है ॥७॥

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव, यत्किञ्च विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्धि विज्ञाता वागेनं तद् भूत्वाऽवति ॥ ८ ॥

यत्किञ्च विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एनं तद् भूत्वाऽवति ॥ ९ ॥

यत्किञ्चाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एनं तद् भूत्वाऽवति ॥ १० ॥

विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञात—इन तीनोंको क्रमशः वाङ्, मन और प्राण ही समझना चाहिए। वाक् प्रकाशक है; अतः ज्ञात अर्थका वाग्में समावेश उचित है। मन ज्ञानकी इच्छाका विषय अर्थात् विजिज्ञास्य है, क्योंकि मन संकल्पात्मक है। जो अविज्ञात है, वह प्राण है। वाक्की विभूतिके वेत्ताका फल कहते हैं—जो विज्ञात है; वह वाग्रूप ही है, क्योंकि वाक् ही विज्ञाता है, वाग् ही उक्त वाग्विद्की, विज्ञात होकर, रक्षा करती है। जो कुछ विजिज्ञास्य है, वह सब मन ही है, क्योंकि मन ही विजिज्ञास्य है। मन ही विजिज्ञास्य होकर उक्त वाक्के वेत्ताकी रक्षा करता है। जो कुछ अविज्ञात है, वह प्राण ही है, प्राण ही अविज्ञात होकर उक्त उपासककी रक्षा करता है। 'निरुक्तं चानिरुक्तं च' इत्यादि श्रुतिके अनुरोधसे अनिरुक्तका पर्याय अविज्ञात प्राणका धर्म है।

शङ्का—लोकमें ज्ञातका ही उपभोग होता है, इसलिए मन और प्राणको, सन्दिह्यमान होने तथा अविज्ञात होनेके कारण, भोज्य कहना ठीक नहीं है।

समाधान—शिष्योंके प्रति मन और प्राण सन्दिह्यमान और अविज्ञात होते हैं, अतः वे उनके प्रति यद्यपि भोज्य नहीं हो सकते, तथापि गुरुओं द्वारा विज्ञात हैं, अतः उनके प्रति भोज्य हो सकते हैं अथवा जैसे जिनकी उपकारिता ज्ञात नहीं है, ऐसे पित्रादि बालकोंके प्रति उपभोग्य होते हैं, वैसे ही मन और प्राण भी अविज्ञात होकर उपभोग्य होते ही हैं, क्योंकि विज्ञात ही उपभोग्य होता है, ऐसा नियम नहीं है।

शङ्का—जब एक एक भूः आदिमें भी विज्ञाता आदि तीनोंका संभव है, तब वागादि भिन्न विषयोंमें—उन तीनोंका प्रतिपादन करनेमें क्या तात्पर्य है?

समाधान—हाँ, हो सकता है, किन्तु प्रकृतमें उपासनाके लिए वागादिमें विज्ञाता आदि दृष्टिका विधान किया गया है। अतः शास्त्रानुसार ही दृष्टि व्यवस्थित रखनी चाहिए ॥ ८–१० ॥

अधिभूतं तथोपास्या वाङ्मनःप्राणशब्दिताः ।
नामरूपक्रियाः शास्त्रप्रोक्तलोकादिरूपतः ॥ ३४ ॥
अधिदैवं तु पृथिवी वागधिष्ठानगोलकम् ।
अग्निर्वाचः स्वरूपं स्यान्मनो रविरिहेष्यते ॥ ३५ ॥
तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निस्तद्यावत्येव वाक्तावती पृथिवी तावानयमग्निः ॥ ११ ॥

उसी अभिप्रायसे कहते हैं—'अधिभूतम्' इत्यादिसे । उक्त प्रकार वाक् मन और प्राण शब्दसे कहलानेवाले अधिभूत नाम, रूप और क्रियाकी उपासना शास्त्रानुसार लोकादि दृष्टिसे करनी चाहिए ॥ ३४ ॥

अध्यात्म और अधिदैव भेदसे तीन अन्नोंका व्याख्यान हो चुका अब आधिदैविकके भेदको कहनेका प्रस्ताव करते हैं—'अधिदैवं तु' इत्यादिसे ।

उक्त रीतिसे तीन अन्नोंके उपासकके, अध्यात्मशब्दसे कथित अपने देहमें, ध्यानके प्रकारका निरूपण कर अधिभूतशब्दसे कहे जानेवाले स्वदेहसे भिन्न स्थावर-जंगमरूप सब शरीरोंमें वागादिरूप नाम, रूप और क्रियाएँ हैं, उनमें लोक आदि दृष्टिका विधान किया जा चुका है, अब आधिदैविक वागादिविभूतिका प्रदर्शन करनेके लिए 'तस्यै वाचः' इत्यादि आगेकी ति है, ऐसा इस श्लोकका तात्पर्यार्थ है । शब्दार्थ तो यह है—अधिदैव स्वरूप यह है कि वाणीका अधिष्ठान वाणीका गोलक पृथिवी है अग्नि स्वरूप है और सूर्य मन है ॥ ३५ ॥

जिस वाग्के अध्यात्म और अधिभूत स्वरूप पूर्वमें कहे जा चुके हैं; उसी वाग्का अधिदैव स्वरूप श्रुति कहती है—'तस्यै' इत्यादिसे । अनन्तत्वरूपसे प्रस्तुत प्रजापतिकी वाक्—वागिन्द्रिय और तदधिष्ठान गोलक ये दोनों—विवक्षित हैं, इन दोनोंमें से यह पृथिवी शरीर है अर्थात् वागिन्द्रियका अधिष्ठान गोलक है, और जो यह अग्नि है वह ज्योतिरूप—आधेय इन्द्रिय—है । यों वाक्पदका वाच्य अर्थ कहकर आधिदैविकस्वरूप इस वाक्का जो अध्यात्म और अधिभूत कार्य है, उसमें व्यापित्व दिखलाते हैं—'तद्यावत्येव' इत्यादिसे ।

अध्यात्म और अधिभूतके भेदसे भिन्न जितने विस्तारसे युक्त वाग् है, उतने परिमाणसे युक्त पृथिवी है, उतनी ही अग्नि है । और जो अध्यात्ममें वागिन्द्रिय है और उसका गोलक है, वह प्रजापतिकी वागिन्द्रिय है,

अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्यस्तद्यावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यस्तौ मिथुनꣳ समेतां ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स एषोऽसपत्नो द्वितीयो वै सपत्नो नास्य सपत्नो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

वही अग्नि है और उनकी आंखका अधिकरण गोलकरूप पृथिवी सर्वत्र व्याप्त है। प्रजापतिकी वाक्का कार्य दो श्रेणियोंमें विभक्त है; आधार अप्रकाशात्मा और करण प्रकाशरूप आधेय, ये दोनों अर्थात् पृथिवी और अग्नि प्रजापतिकी वाग् ही हैं, उससे अतिरिक्त नहीं है; अग्नि आधेय है और पृथिवी आधारस्वरूप है।

आधिदैविक वाक्के निरूपणके अनन्तर मनका निरूपण श्रुति करती है—मनका द्यौः शरीर है; ज्योतिःस्वरूप आधेय यह आदित्य है, जितना मन है, उतना ही द्यौ (आकाश) है, उतना ही बड़ा यह आदित्य है।

शङ्का—अन्य श्रुतिमें मनका अधिष्टातृ देवता चन्द्रमा है और 'चन्द्रमा मनसो जातः' इस श्रुतिसे भी चन्द्रमाका ही संबन्ध मनके साथ श्रुत है। आप मनका अधिष्ठातृ देवता सूर्य है ऐसा कहते हैं, परन्तु सूर्यका मनके साथ संबन्ध श्रुति, स्मृति आदिमें नहीं पाया जाता।

समाधान—ठीक कहते हैं, किन्तु सविता (सूर्य) बुद्धिके देवता हैं, यह गायत्रीमन्त्रसे स्पष्ट प्रतीत होता है। बुद्धि और मनको एक मानकर मनके भी देवता सूर्य हो सकते हैं; इस तात्पर्यसे यहाँ मनके देवता सूर्य कहे गये हैं। संकल्पप्रधान वृत्तिको मन कहते हैं और अध्यवसायप्रधान वृत्तिको बुद्धि कहते हैं। एक ही पदार्थमें वृत्तिरूप उपाधिके भेदसे मन और बुद्धिका व्यवहार हो सकता है। इसलिए पृथक्-पृथक् पदार्थ माननेकी आवश्यकता नहीं है। चन्द्र और सूर्य—ये दो देवता मनके हैं, ऐसा प्रतिपादन करनेसे यह अर्थ वैदिक ही है। 'तौ मिथुनम्' इत्यादिका तात्पर्य यह है—अध्यात्ममें मन आत्मा है। वाग् जाया और प्राण प्रजा है, यह श्रुतिमें कहा है; तथा अधिभूतमें 'मन एव पिता वाङ् माता प्राणः प्रजा' यह कहा है तथा आधिदैविक उपासनाके लिए प्राणशब्दसे कहलानेवाले वायुमें प्रजात्व श्रुति दिखलाती है, फिर वाक् और मनस्त्वरूपसे पहले निर्दिष्ट अग्नि और आदित्य—इन दोनोंका परस्पर संबन्ध हुआ, तदनन्तर सर्वोत्पत्तिमें

रव्यग्नियोगादुत्पन्नो वायुरेषोऽन्तरिक्षगः ।
इन्द्रोऽसपत्न इत्येवं ध्यातुर्वैरी न सम्भवेत् ॥ ३६ ॥

श्रुतिः ॥ अथैतस्य प्राणस्यापः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रस्तद्या-

---

कारण अग्नि और आदित्यके संयोगसे प्रकृत अन्नसे अतिरिक्त प्राणशब्दित अन्तरिक्षगत वायु उत्पन्न हुआ ।

शङ्का—कालपरिपाकका हेतु आदित्य कालात्मक है । काल सबका कारण है; अतः सबकी उत्पत्तिमें वह निमित्त है; यह तो ठीक समझमें आ जाता है । पर अग्नि किस प्रकार सबकी उत्पत्तिका कारण है, यह समझमें नहीं आया ।

समाधान—स्वकारणमें सूक्ष्मरूपसे स्थित वस्तुकी कार्याकारसे अभिव्यक्ति उत्पत्ति ही कहलाती है; जैसे दोहनसे दुग्धकी अभिव्यक्ति ही दुग्धकी उत्पत्ति है । दोहनके पूर्वकालमें दूध गाय आदिमें रहता ही है, असत्की उत्पत्ति होती है, यह तार्किक आदिका मत ठीक नहीं है, इसका विवेचन पहले कर चुके हैं । अभिव्यक्ति—प्रकाशव्याप्ति है, अग्नि प्रकाशात्मक है; इस हेतुसे अग्नि भी उत्पत्तिमें हेतु मानी जाती है । प्रकाशात्मक अभिव्यक्तिके बिना उत्पत्ति ही नहीं होती; प्रकाश अग्निका कार्य है, अतः सबकी उत्पत्तिका कारण अग्नि है; यह श्रुतिका अभिप्राय है; उस वायुकी इन्द्रत्व और असपत्नत्व गुणसे विशिष्ट जो उपासना करता है उसका अर्थात् उक्त दो गुणोंसे विशिष्ट वायुकी उपासनाका फल श्रुति कहती है । 'श्रुतिस्थ' असपत्नशब्दके अर्थका स्पष्टीकरण श्रुति स्वयं करती है—'द्वितीयः' से । दूसरा कोई भी उपासकका प्रतिपक्षी नहीं हो सकता । अमरकोषमें 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्वेषणदुर्हृदः' शत्रुवाची सपत्नशब्द है, वह यहां भी अभिमत है ।

'रव्यग्नि०' इत्यादि । रवि और अग्निके संयोगसे उत्पन्न अन्तरिक्षगत वायु इन्द्र है तथा असपत्न है, इस प्रकार इन्द्रत्व और असपत्नत्व—इन दो गुणोंसे विशिष्ट वायुकी उपासना करनेसे उपासकका कोई वैरी नहीं हो सकता, सब उसके अनुकूल ही रहते हैं ।

शङ्का—मन और वाक्का कारण प्राण है, यह पूर्वमें आप कह चुके हैं, यहांपर प्राणको वाक् और मनको प्रजा (तज्जन्य) कहते हैं, इस प्रकार पूर्वापर-विरुद्ध अर्थमें श्रद्धा कैसे हो सकती है ?

वानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रस्त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः। स यो हैतानन्तवत उपास्तेऽन्तवन्तꣳ स लोकं जयत्यथ यो हैताननन्तानुपास्तेऽनन्तꣳ स लोकं जयति ॥ १३ ॥

समाधान—अन्नत्रयापेक्ष प्राणकी उत्पत्ति यहां नहीं कहते, किन्तु अन्तरिक्षगत वायुको वागादिकी प्रजा कहते हैं। साधनभूत पाङ्क्त क्रियाके फल वायुकी वाङ्मनसे उत्पत्ति यहां कही गई है। वाक् और मनके व्यापारके बिना यागादि कर्म नहीं होते, यागादिजन्य अपूर्वसे ही समस्त सृष्टि होती है, अतः परम्परया बाह्य वायु वाङ्मनोजन्य है।

शङ्का—देहमें आध्यात्मिक प्राणसे अतिरिक्त आकाशगत वायुको प्राण क्यों कहते हो ?

समाधान—अध्यात्म और अधिभूत देहमें जैसे वायु प्राण कहलाता है, क्योंकि अध्यात्म और अधिभूत देह भी प्रजापतिकी व्यष्टि देह हैं, वैसे ही अधिदेवान्नभूत प्राणका व्यष्ट्यात्मा आकाशस्थ वायु है, इस श्रुतिरूप प्रमाणसे आधिदैविक वाक् और मनसे यह उत्पन्न होता है, ऐसा मानते हैं। असपत्नत्वका साधक इन्द्र है, 'यतः अयमिन्द्रः अतः असपत्नः।' दूसरा यदि होता तो सपत्न हो सकता, दूसरा कोई है नहीं, इसलिए असपत्न है।

शङ्का—द्वितीय वाक् और मन तो हैं ही, फिर वह असपत्न कैसे ?

समाधान—प्राणके अधीन होनेसे वाक् और मन तो प्राणके पक्षपाती हैं, उसके प्रतिकूल नहीं हैं। प्राणाधीनत्वमें यह भी प्रमाण स्पष्ट है कि जो मुख द्वारा प्राण अन्नका भक्षण करता है, उसीसे वाक् और मनकी स्थिति होती है और उसीसे वे तृप्त भी होते हैं। आधिदैविक प्राणसे अन्तरिक्षगत वायुस्वरूप प्राण अभिन्न है, अतः वह भी वाक् आदिका कारण है, इसलिए वाक् और मन उक्त वायुके अधीन हैं, इसलिए प्रतिपक्ष (स्वप्रतिकूल) पदार्थके अभावसे प्राण असपत्न माना जाता है। 'तं यथा यथोपास्ते' इत्यादि श्रुतिसे उपासनाके ही अनुकूल फल उपासकको मिलता है, इसलिए असपत्नत्वरूप गुणसे विशिष्ट प्राणकी उपासनासे उपासक असपत्न होता है, यह अर्थ न्यायतः प्राप्त है, अन्यथा उक्त श्रुतिसे विरोध हो जायगा।

शङ्का—वाक् और मन यदि प्राणके अधीन हैं, तो प्राणको प्रधान और वाक्

चन्द्रोऽधिदैवं प्राणस्य त एतेऽन्नाऽऽधिदैविकाः ।
अध्यात्ममधिभूतं च सर्वं व्याप्य व्यवस्थिताः ॥ ३७ ॥
नामरूपक्रियास्तस्मादनन्ता अधिदैवतम् ।
विराड्रूपा इति ध्यात्वा ध्यायेत् कालात्मतां पुनः ॥ ३८ ॥

एवं मनको गुणभूत ही मानना पड़ेगा। इस परिस्थितिमें आगे 'एते सर्व एव समाः' इत्यादि श्रुतिसे तीनोंमें साम्य क्यों कहा ?

समाधान—ये सब तीनों सम हैं, इस कथनका तात्पर्य वस्तुस्वरूपके निरूपणमें नहीं है, किन्तु अन्नत्रयके विभागसे अवस्थित वागादिविषयक उपासनाके लिए तीनोंमें साम्य कहा है । उपासना आरोपित धर्मसे भी होती है, यह स्पष्ट ही है। अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवके भेदसे कथित वागादि सब सम ही हैं ।

शङ्का—किस प्रकारसे साम्य है ?

समाधान—श्रुति स्वयं कहती है—'अनन्ताः' ।

शङ्का—अध्यात्म और अधिभूतमें वागादि परिछिन्न हैं, यह पूर्वमें कहा गया है, अब 'अनन्त' कहनेसे पूर्वापरविरोध होगा।

समाधान—उक्त रूपसे परिच्छिन्न होते हुए भी नाम आदि आधिदैविक रूपसे अनन्त हैं । भूरादि लोक और उसके अन्तर्गत देवादि आधिदैविकमें वागादिरूपसे जो आनन्त्य है, उसीको आध्यात्मिक परिच्छिन्न वागादिमें भी समझना चाहिए ।

शङ्का—वास्तव आनन्त्य तो ब्रह्ममें ही है, आप उससे अन्यको तो विनाशी मानते हैं, फिर वागादिमें आनन्त्य कैसे ?

समाधान—ठीक है, निरपेक्ष आनन्त्य इनमें नहीं है, किन्तु आभूतसंप्लव-स्थानरूप (जब तक भूतोंका विनाश नहीं होता तब तक स्थायीरूप) आपेक्षिक आनन्त्य इनमें है, यह तात्पर्य है। जब तक सर्ग है, तब तक इनकी स्थिति है । जो अनन्त वागादिकी उपासना करता है, वह अनन्त वागादि-लोक फल पाता है ॥ ३६ ॥

'चन्द्रोऽधिदैवम्' इत्यादि । प्राणका अधिदेव चन्द्रमा है । ये वागादि सब आधिदैविक हैं, अतएव अध्यात्म और अधिभूत नामादिके व्यापक हैं ॥ ३७ ॥

'नामरूप०' इत्यादि । इस प्रकरणमें वागादि पूर्व हैं और नामादि पर हैं ।

स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलस्तस्य रात्रय एव पञ्चदश कला ध्रुवैवास्य षोडशी कला स रात्रिभिरेवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते सोऽमावा-स्याꣳ रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रात-र्जायते तस्मादेताꣳ रात्रिं प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्द्यादपि कृकलासस्यै-तस्या एव देवताया अपचित्यै ॥ १४ ॥

कालात्मको विराडेष चन्द्रः षोडश तत्कलाः ।
तिथयः प्रतिपन्मुख्याः कलाः पञ्चदशेरिताः ॥ ३९ ॥
आगमापायरूपास्ता ध्रुवैका षोडशी कला ।
तया सर्वं प्राणिजातं दर्शे विशति चन्द्रमाः ॥ ४० ॥

वाक्‌से नाम, मनसे रूप, प्राणसे क्रिया, नाम, रूप और कर्मसे संपूर्ण जगत् व्याप्त है, अतएव नामादि व्यापक हैं—विराट्स्वरूप हैं, ऐसा ध्यान कर फिर काला-त्माका ध्यान करे, यह आगे श्रुति स्वयं कहती है ॥ ३८ ॥

'स एष' इत्यादि श्रुतिका अर्थ—जो उपासक नामीको अन्तवान् (परिच्छिन्न) मान कर उपासना करता है, वह विनाशी लोकको प्राप्त करता है और जो अनन्त दृष्टिसे उपासना करता है, वह अनन्त लोकको प्राप्त करता है, 'स एष संवत्सरः प्रजापतिः'। संवत्सररूप प्रजापतिकी सोलह कलाएँ हैं, रात्रि पन्द्रह कलाएँ हैं, सोलहवीं कला ध्रुव है। वह रात्रिरूपी कलाओंसे पूर्ण और क्षीण होता है। वह प्रजापति रात्रिमें इसी सोलहवीं कलासे सब प्राणधारियोंमें प्रविष्ट होकर प्रातःकालमें उत्पन्न होता है, इस कारणसे अमावस्याकी रात्रिमें किसी भी प्राणीका वध न करे। कृकलासका (गिरगिटका) भी बध नहीं करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि-कृकलास स्वभावतः दृष्ट होकर अमङ्गलका हेतु है, ऐसा संस्कार प्रायः लोगोंमें है, इसलिए देखनेपर कृकलासको लोग मार देते हैं, लेकिन उक्त दिनमें कृकलासका भी बध, सोम देवताकी पूजाके लिए, नहीं करना चाहिए, अन्यथा सोम देवताकी पूजा नहीं हो सकेगी ॥१४॥

'कालात्मको' इत्यादि। यह कालात्मक विराट् चन्द्रमा है, उसकी सोलह कलाएँ हैं, प्रतिपत् आदि पन्द्रह तिथियां पञ्चदश कलाएँ हैं ॥ ३९ ॥

'आगमा०' इत्यादि। पन्द्रह कलाएँ उत्पत्ति-विनाशशील हैं, एक कला (सोलहवीं कला) ध्रुव स्थिर है, अमावस्यामें चन्द्रमा सब जीवोंमें प्रवेश करते हैं,

श्रुतिः ॥ यो वै स संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽयमेव स योऽयमेवंवित्पुरुषस्तस्य वित्तमेव पञ्चदश कला आत्मैवास्य षोडशी कला स वित्तेनैवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते। तदेतन्नभ्यं यदयमात्मा प्रधिर्वित्तं तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानिं जीयत आत्मना चेज्जीवति प्रधिनाऽगादित्येवाहुः ॥ १५ ॥

इसलिए सोमकी प्रतिष्ठाके लिए अमावस्यामें किसी प्राणीका वध नहीं करना चाहिए, यहां तक कि कृकलासका भी वध निषिद्ध है। लोक तथा काल—इन दोनोंके स्वरूप विराट् नामक प्रजापति हैं। काल-लोकात्मक दो प्रकारके प्रजापतिका तीन अन्नोंके स्वरूपमें निरूपण कर लोकरूपसे निरूपण किया गया है, इन्हीं प्रजापतिका अधिकाल चन्द्रमा ही आत्मा है। चन्द्रमा ही पक्षका निर्माण करते हैं, चन्द्रमामें वित्त और कर्मकी दृष्टि करनी चाहिए। पक्ष-निर्माणकर्म चन्द्रमामें स्पष्ट ही है, उसकी कलाओंमें वित्तबुद्धि करनी चाहिए, वित्त जैसे आगमापायी (उत्पत्ति और विनाश शील) है वैसे ही चन्द्रकलाका भी प्रतिपक्षमें उपचय और अपचय क्रमशः दृष्ट ही हैं। पन्द्रह तिथियोंमें वित्त-बुद्धिके संपादनके लिए ही प्रजापति चन्द्रमा कहा गया है, ये ही कालकी अवयव कलाएँ जगत्के विविध धर्मलक्षण अवस्थाओंके परिणाममें कारण हैं। काल सूत्रात्मक और विराडात्मक है। पन्द्रह कलाओंसे पन्द्रह तिथियां बनाई जाती हैं और एक कला ध्रुवा है, यह षोडशी कला नष्ट नहीं होती, इसीसे शुक्ल पक्षकी तिथियोंमें क्रमशः चन्द्रमाकी कलाओंकी वृद्धि होती है ॥ ४० ॥

'अथ यो वै स संवत्सरः' इत्यादि श्रुतिका अर्थ—उक्त प्रजापति संवत्सर है, षोडश कलावाला है। उक्त अन्नत्रयात्मक प्राणका उपासक 'चन्द्ररूपसे संपादित प्रजापति मैं हूँ', ऐसी भावना करे। चन्द्ररूपसे सम्पादित प्रजापतिकी जो पन्द्रह कलाएँ हैं, वे ही गवादि वित्त हैं। दोनोंमें साधारण धर्म है, उपचय और अपचय—वृद्धि और ह्रास—अपने धनमें पञ्चदश कलाकी दृष्टि कर ध्रुवामें (सोलहवीं कलामें) अपनी देहकी कल्पना कर षोडश कलावाला प्रजापति मैं ही हूँ, ऐसी उपासना करे। षोडशी ध्रुवा कला आत्मा है। श्रुति स्वयं इसीको रथचक्रके दृष्टान्तसे स्फुट करती है, यही नभ्य—'नाभ्यै हितं नभ्यम् अथवा नाभिमर्हति इति वा नभ्यम्'—है, ऐसा श्रुति कहती है।

इति ध्यात्वाऽथ चन्द्रत्वं स्वस्मिन्सम्पादयेद्बुधः ।
देहो ध्रुवा कला वित्तं कलाः पञ्चदशेरिताः ॥ ४१ ॥
आपूर्यते क्षीयते च क्रमाद्वित्तेन विग्रहः ।
स्वामी देहोऽस्य तद्वित्तं भृत्या इत्यत्र चिन्तयेत् ॥ ४२ ॥

श्रुतिः ॥ अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति ॥ १६ ॥

'इति ध्यात्वा' इत्यादि । श्रुतिके व्याख्यानसे श्लोक भी (४१ वाँ और ४२ वाँ श्लोक भी) व्याख्यात हो गये । इनमें संक्षेपसे उक्त अर्थका ही पुनः अभिधान है । श्रुतिने चक्रके दृष्टान्तसे देहमें स्वामित्व और वित्तमें परिवारत्व स्पष्ट किया है । जो यह आत्मा शरीर है, वही लोकप्रसिद्ध नभ्य है, चक्र-पिण्डिका—नाभि—स्थानीय शरीर है, परिवारस्थानीय वित्त है ॥४१,४२॥

देव, वित्त और विद्या संयुक्त पाङ्क्तरूप कर्मसे अन्नस्वरूप प्रजापति होते हैं, यह कह चुके हैं । अनन्तर जायादि वित्त परिवारस्थानीय है, यह भी कह चुके हैं । पुत्र, कर्म और अपर विद्या—ये तीनों लोकके साधन हैं, यह सामान्यसे मालूम हुआ, किन्तु यह विदित नहीं हुआ कि किसका क्या फल है ? और यह अवश्य वक्तव्य है कि पुत्रादि साधनोंका अमुक साध्यके साथ अमुक विशेष सम्बन्ध है, जबतक यह स्पष्ट प्रतीत न होगा, तब तक विशेष फलार्थीकी साधनविशेषमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए विशेष संबन्धको कहनेके लिए 'त्रयो वाव' इत्यादि उत्तर कण्डिकाका आरम्भ है ।

अथशब्द वाक्यके उपन्यासके लिए है और 'वाव' शब्द एवकारार्थक है । तीन ही शास्त्रोक्त साधनके योग्य लोक हैं, इनसे न कम और न अधिक ।

शङ्का—कौन वे तीन लोक हैं ?

समाधान—मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक। इन तीनों लोकोंमें जो यह मनुष्यलोक है, वह पुत्ररूप साधनसे ही जय करनेके योग्य है ।

शङ्का—कैसे ?

समाधान—इसका उत्तर आगे कहेंगे, उससे स्पष्ट हो जायगा कि न दूसरे

त्र्यन्नात्मोपासनं प्रोक्तं तत्फलोक्तिप्रसङ्गतः ।
पुत्रकर्मोपासनानां फलं वक्ति यथायथम् ॥ ४३ ॥
पुत्रेण जय्यो लोकोऽयं पितृलोकस्तु कर्मणा ।
विद्यया देवलोकोऽतो द्वाभ्यां विद्या प्रशस्यते ॥ ४४ ॥
क्रियात्वाल्लोकहेतुत्वं युज्यते कर्मविद्ययोः ।
द्रव्यात्मनस्तु पुत्रस्य कथमित्युच्यते शृणु ॥ ४५ ॥
प्रव्रजिष्यन्मरिष्यन्वा पिता कर्तव्यमात्मनः ।
पुत्रेऽध्ययनयागादि सर्वमप्यर्पयत्यसौ ॥ ४६ ॥

कर्मसे और न विद्यासे ही जय हो सकता है । केवल अग्निहोत्रादि कर्मसे पितृलोकका विजय होता है, न पुत्रसे और न विद्यासे। और विद्यासे देवलोकका विजय होता है, पुत्र और कर्मसे नहीं। देवलोक उक्त लोकोंमें अति उत्तम है, इस कारण देवलोक-साधक विद्याकी प्रशंसा सब करते हैं। उक्त पुत्र-कर्मरूप साधनोंकी अपेक्षा विद्यामें ही फलद्वारक उत्कर्ष है, यह उक्त श्रुतिका तात्पर्य है ॥ १६ ॥

'त्र्यन्नात्मनोपासनम्' इत्यादि । अन्नरूप वाक्, मन और प्राण—इन तीनोंकी उपासना कहनेके अनन्तर इस उपासनाका फल क्या है ? इसके निरूपणके प्रसंगसे पुत्र, कर्म और उपासनाका फल जैसा होता है, वैसा कहते हैं ॥४३॥

'पुत्रेण' इत्यादि । इसका अर्थ श्रुत्यर्थसे गतार्थ है, इसलिए पृथक् अर्थ कहनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ४४ ॥

कर्म और विद्याका उक्त फल ठीक है, पर मनुष्यलोक पुत्रसे ही जीता जाता है, दूसरेसे नहीं, इस अर्थमें आक्षेप करते हैं—'क्रियात्वात्' इत्यादिसे ।

कर्म और विद्या क्रियात्मक हैं, इसलिए उनके उक्त दो फलोंके साधन होनेमें आपत्ति नहीं है, पर पुत्र तो द्रव्यात्मक है, अतः वह पितृलोकजयमें साधन कैसे हो सकता है ? साधन तो क्रिया ही, अनुष्ठेय होनेसे, हो सकती है, केवल द्रव्य नहीं हो सकता ॥ ४५ ॥

इसका उत्तर कहते हैं—'प्रव्रजिष्यन्' इत्यादिसे ।

स्नानादिके सदृश उपासकके स्वगत संस्कार कर्मकी संपत्ति संज्ञा है । असाध्य रोगसे आक्रान्त अतएव मुमूर्षु गृहस्थको अर्थात् कर्मत्याग प्राप्त होता है, क्योंकि उस समय उसमें कर्म करनेकी शक्ति ही नहीं रह जाती, इसलिए कर्मत्याग अनिवार्य हो जाता है, जैसे अवभृथस्नानके अनन्तर यजमान अपने शरीरको खुजलानेके लिए कृष्ण

श्रुतिः ॥ अथातः सम्प्रत्तिर्यदा ग्रेष्यन्मन्यतेऽथ पुत्रमाह त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति स पुत्रः प्रत्याहाहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक इति यद्वै किञ्चानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येकता ये वै के च यज्ञास्तेषां सर्वेषां यज्ञ इत्येकता ये वै के च लोकास्तेषां सर्वेषां लोक इत्येकतैतावद्वा इदं सर्वमेतन्मा

मृगके सींगको लिए रहता है, उसका चात्वालमें प्रक्षेप करता है, उस त्यागको प्रतिपत्ति कहते हैं, कृष्णमृगके सींगका ही त्याग करना है, कहाँ त्याग करे ? इस अपेक्षासे चात्वालमें त्याग करे अन्यत्र नहीं, वैसे ही असक्त पुरुष अवश्य कर्मका त्याग करेगा, इस अपेक्षासे पुत्रमें समर्पणरूपसे त्याग करे, इस प्रकार प्रतिपत्तिक्रिया संप्रतिपत्ति कहलाती है । आपत्ति अवस्थामें कर्मसंन्यास किया जाता है, यह दृष्ट है, यही संपत्ति है ।

शङ्का—किस कालमें संपत्ति कर्म करना चाहिए ?

समाधान—श्रुति स्वयं उत्तर देती है—'यदा ग्रेष्यन्' इत्यादिसे । जिस समय संन्यास ग्रहण करना हो अथवा जिस समयमें मैं मरूँगा, यह ज्ञान हो उस समय ।

शङ्का—मरण-समयका ज्ञान कैसे होगा ?

समाधान—ज्यौतिषशास्त्रसे अथवा तत्सूचक दुःस्वप्न, असाध्य रोग आदिसे उसका ज्ञान होता है। उस समय पिता पुत्रको बुलाकर श्रुति द्वारा प्रदर्शित रीतिसे अनुशासन करे—'त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोकः'। तदनन्तर पूर्वमें अनुशिष्ट होनेसे पुत्र यह उत्तर दे कि 'अहं ब्रह्म अहं यज्ञः अहं लोकः'। यहांपर ब्रह्मशब्द वेदपरक है, अबसे मेरा जो अध्ययनादि कर्तव्य अवशिष्ट रह गया है, उसको तुम करना । त्वं ब्रह्मेत्यादिको श्रुति स्वयं स्फुट करती है—'यत्किञ्च' इत्यादिसे । जो कुछ अधीत या अनधीत है, उस सबके तुम्हीं ब्रह्म हो अर्थात् जो मत्कर्तृक वेदाध्ययन है, वह त्वत्कर्तृक हो एवं जो मत्कर्तृक यागादि व्यापार है, वह सब त्वत्कर्तृक हो, जो लोक मेरा जेतव्य था वह तुम्हारा जेतव्य है । पदार्थ कहनेके अनन्तर श्रुति स्वयं वाक्यार्थ कहती है—'एतावद्वा इदं सर्वम्' से । यह गृहीको करना चाहिए । वेदोंका अध्ययन करना, यज्ञोंका करना तथा लोकका जय करना यह सब तुम्हारा कर्तव्य है अर्थात् अब मैं मुक्त होता हूँ, अतः आगेका मेरा कर्तव्य—अध्ययन, यज्ञ, लोकजय, कर्तव्य क्रतु आदि सब तुम्हें समर्पित करता हूँ ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—मैं पहिले कह चुका हूँ कि इन कर्तव्य कर्मोंसे मैं

सर्वं सन्नयमितोऽमुनजदिति तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मादेन-मनुशासति स यद्वैवंविदस्माल्लोकात्प्रैत्यथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति स यद्यनेन किञ्चिदक्ष्णया कृतं भवति तस्मादेनं सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति तस्मात्पुत्रो नाम स पुत्रेणैवास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठत्यथैनमेते दैवाः प्राणा अमृता आविशन्ति ॥ १७ ॥

प्राणोपासक मुक्त होता हूँ । पिताके इन सब अनुशासनोंको पुत्र स्वीकार करता है, क्योंकि वह पहले ही ऐसा करनेके लिए समझाया जा चुका है । पिताके इस अभिप्रायको मानती हुई श्रुति कहती है—'एतन्मेति । यह सब मेरा भार मुझसे हटाकर अपनेमें रखकर मेरा पालन करो, पिताके इस आदेशको मानकर पुत्र इस लोकके कर्तव्यताबन्धनसे पिताको मुक्त करता है; इस कारण ब्राह्मण अनु-शिष्ट पुत्रको पिताके लोकके लिए हित कहते हैं, अतएव पितरगण यह अनुशासन करते हैं कि यह पुत्र हमारा लोक्य हो अर्थात् लोकहित हो । पिता जिस कालमें एवंवित् पुत्रमें समस्त स्वकर्तव्यके भारका समर्पण कर इस लोकसे प्रस्थान—कूँच—करता है, उसी कालमें पिता प्रकृत वाङ्-मन-प्राणसे पुत्रमें प्रविष्ट होता है।

शङ्का—पिताके वाक् , मन और प्राण पुत्रमें कैसे प्रविष्ट होते हैं ? पुत्रमें क्या दो वागादि हो जाते हैं, प्रवेशका अभिप्राय तो कुछ भी समझमें नहीं आता ?

समाधान—श्रुत्यर्थ अति गहन होता है, इसलिए अवधानपूर्वक सुनिये, तो समझमें आ जायगा। सर्प जैसे बिलमें प्रवेश करता है, वैसे पिताके वागादि तीन पुत्रमें प्रविष्ट होते हैं, ऐसा प्रवेश यहाँ विवक्षित नहीं है, यह तो अवश्य ही निष्प्रयोजन और असंभव है ।

यहां तात्पर्य यह है कि अध्यात्मपरिच्छेदके हेतु जो लौकिक ज्ञान और कर्म हैं, उनकी शास्त्रीय ज्ञान-कर्मरूप प्रकृत प्राणोपासनासे जब निवृत्ति हो जाती है, तब पिताके वाक् , मन और प्राण ये तीनों अपने आधिदैविक स्वरूपसे आगे वक्ष्यमाण पृथिव्यग्न्यादिरूपापन्न हो जाते हैं, उक्त मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होने-पर वागादि पृथिव्यादिस्वरूपापन्न होनेसे सर्वसाधारण होते हैं, अतएव सर्व-व्यापक होनेसे पुत्रमें भी रहते हैं, जैसे घटके भीतर प्रदीपके प्रकाशसे घटका भीतरी भाग ही प्रकाशसम्बन्धी होता है, समीपस्थ घटादि नहीं है, किन्तु घट फोड़नेसे वह प्रकाश गृहस्थित यावत्प्रकाश्यसम्बन्धी हो जाता है, उसी प्रकार पिताके वागादि भी पृथिव्यादिस्वरूप होकर सर्वसाधारण होते हैं ।

यागाध्ययनकाम्यानि कुर्वन्पुत्रः पितुर्गृहे ।
वसत्येतावता पुत्रजितोऽयं लोक उच्यते ॥ ४७ ॥

पिता उपासककी यह धारणा हो गई है कि मैं अनन्त वाक्, मन और प्राण स्वरूप हूँ, जितने आध्यात्मिक वागादिके विस्तार हैं, वे सब मैं ही हूँ, इसलिए पुत्रमें वागादिकी अनुवृत्ति होती है, इस अर्थमें कोई अनुपपत्ति नहीं है, बल्कि प्रकृतोपासक सबका आत्मा हो जाता है अर्थात् सर्वात्मस्वरूप अपनेको मानता है। जब मैं सबका आत्मा हूँ तब वागादि सब पिताके ही हैं, यों समष्ट्यध्यभिमानी हो जाता है, ऐसा लिखा है। जिस पिताका पुत्र उक्त प्रकारसे अनुशिष्ट होता है, वह पिता मरनेपर भी पुत्ररूपसे इसी लोकमें रहता है, उस पिताको मरा हुआ नहीं समझना चाहिए।

दूसरी श्रुतिमें भी ऐसा ही कहा है—'सोऽस्यायमितर आत्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते इति' वह पुत्र पिताके पुण्य-कर्मसे सम्पादित अन्य आत्मा है। पुत्र-शब्दका निर्वचन श्रुति करती हैं—'स यदि' इत्यादिसे। अध्ययन आदि स्वकर्तव्यका प्रमादादिवश पिताने जो अनुष्ठान नहीं किया, उसीको अक्ष्णया (छिद्रित) कहते हैं, उस कर्मच्छिद्रसे पिताको मुक्त करता है अर्थात् 'पूरणेन पितरं त्रायते' छिद्रित कर्मको पूर्णकर पिताकी रक्षा करता है, इस कारण पुत्र कहलाता है। जो कर्म प्रमादसे रह गये हैं, उन सब कर्मोंका 'मैं ब्रह्म हूँ, मैं यज्ञ हूँ', इत्यादि अनुशासनके स्वीकारसे पूरण करनेके कारण पुत्रमें वास्तविक पुत्रता है, सो पिता एवंगुणविशिष्ट पुत्रसे इस लोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ४६ ॥

पुत्र क्रियात्मक नहीं है, अतः वह मनुष्यलोककी प्राप्तिका हेतु कैसे हो सकता है ? इसपर कहते हैं—**'यागाध्यन०'** इत्यादि।

पिताके घरमें रहकर पुत्र याग, अध्ययन, काम्य अग्निहोत्र आदि कर्म करता है, इसीसे यह लोक पुत्रजित कहलाता है, देवलोक और पितृलोकके हेतु विद्या और कर्म हैं। इन साधनोंके स्वरूपसत्तामात्रसे उक्त लोकप्राप्ति होती है। इनमें स्वरूपभूत सत्तासे अतिरिक्त व्यापार नहीं है, पर पुत्रमें स्वरूपभूत सत्तासे अतिरिक्त नित्यादि कर्मका अनुष्ठानभूत व्यापार होता है, इसलिए विद्या और कर्मकी अपेक्षा पुत्र श्रेष्ठ माना जाता है, अतएव पिताकी प्रीति भी पुत्रमें अधिक होती है, क्योंकि पिताके संकल्पको पूरा करनेका अधिकारी पुत्र ही है। अतः जिस पिताने पुत्रमें

पुत्रकर्मोपासनानां प्रसङ्गात्फलमीरितम् ।
त्र्यन्नात्मोपासकस्याऽथ विराट्प्राप्तिरुदीर्यते ॥ ४८ ॥
पूर्वसिद्धविराजो वाक् पृथिव्यग्न्यात्मिका सती ।
उपासिता तत्प्रसादाद्दैवी वागाविशत्यमुम् ॥ ४९ ॥
मनःप्राणौ तथा दैवौ विशतोऽत उपासकः ।
सर्वेषामपि भूतानां भवत्यात्मा विराडिव ॥ ५० ॥

श्रुतिः ॥ पृथिव्यै चैनमग्नेश्च दैवी वागाविशति सा वै दैवी वाग्यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति ॥ १८ ॥

अपने कर्तव्य कर्मोंका समर्पण कर दिया है, उस पिताके दैव (हैरण्यगर्भ) वाक्, मन, प्राण आदि अमृत होकर पुत्रमें प्रविष्ट होते हैं, यह निष्कर्ष हुआ ॥ ४७ ॥

'पुत्रकर्मो०' इत्यादि । पुत्र, कर्म और उपासनाका फल प्रसङ्गवश कह दिया, तीन अन्नोंकी आत्मस्वरूपसे उपासना करनेवालेके लिए विराड्प्राप्तिरूप फल कहा जाता है ॥ ४८ ॥

'पूर्वसिद्ध०' इत्यादि । पूर्वसिद्ध विराट्की वाक् पृथिवी और अग्निस्वरूपा है, वही उपासित होकर उपासनाके प्रभावसे दैवी वाग् होकर प्राणके उपासकमें प्रविष्ट होती है ॥ ४९ ॥

'मनः०' इत्यादि । दैव (हैरण्यगर्भ) जो मन और प्राण हैं, वे भी उपासकमें प्रविष्ट हो जाते हैं, इसलिए उपासक सब भूतोंका—प्राणियोंका—विराट्के समान आत्मा है अर्थात् प्राणोपासक विराट्के समान समष्ट्यात्मा होता है ॥ ५० ॥

सूत्रभूत प्राणमें आत्मभावना करनेसे परिच्छिन्नाभिमान निवृत्त हो जाता है, इस प्रकार सामान्यतः कथित अर्थको विशेषरूपसे श्रुति कहती है—**'पृथिव्यै'** इत्यादि ।

दैवी वाक्का स्वरूप कहते हैं, पृथिवी और अग्नि ही अधिदैवात्मक वाग् है, यह वाग् आध्यात्मिक आसङ्ग दोषसे युक्त होनेके कारण प्रतिपुरुष भिन्न है। आसङ्ग दोषसे रहित विद्वान्की वाक् आवरण भङ्ग होनेसे जलवत् प्रदीपके प्रकाशके साथ व्यापक हो जाती है। यही श्रुति भी कहती है—'पृथिव्यै श्चैनमग्नेश्च दैवी वागाविशति'। यह दैवी वाग् अनृत आदि

दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति तद्वै दैवं मनो येनानन्द्येव भवत्यथो न शोचति ॥ १९ ॥

अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति स वै दैवः प्राणो यः सञ्चरंश्चासञ्चरंश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति स एष एवंवित्सर्वेषां भूतनामात्मा भवति ।

सर्वभूतात्मभूतोऽसौ सर्वानन्यत्ववेदनः ।
जगदुत्पत्तिसंहारैः क्रीडन्निव विचेष्टते ॥ ५१ ॥

दोषोंसे रहित है अतएव शुद्धा है। उक्त वाक्‌से अपने या दूसरेके लिए जो-जो कहता है, वह वह वस्तुतः हो जाता है, इसलिए उपासककी वाग् अन्यर्थ कही जाती है ॥१८॥

'दिवश्चैनमादित्याच्च' इत्यादि। वाक्‌में जो न्याय कहा गया है, उसीका मनमें श्रुति अतिदेश करती है। मन स्वभावतः निर्मल होनेसे दैव कहा जाता है। दिव और आदित्यसे उक्त दैव मन उपासकमें प्रविष्ट होता है, जिससे उपासक सदा आनन्दवान् रहता है, सुखी रहता है, कभी शोकादि दुःखवान् नहीं होता, क्योंकि शोकादिके निमित्तका संबन्ध ही नहीं होता। मनमें जो न्याय कहा है, उसीका श्रुति प्राणमें अतिदेश करती है ॥१९॥

'अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च' इत्यादि श्रुतिका अर्थ—जल और चन्द्रमासे दैव प्राण उपासकमें प्रविष्ट होता है।

शङ्का—दैव प्राणका क्या लक्षण है ?

समाधान—जो जङ्गमोंमें संचारी और स्थावरोंमें असंचारी होकर दुःखनिमित्तक भयसे कभी दुःखी नहीं होता और न विनष्ट होता है, वह दैव प्राण है। जो विद्वान्—अन्नात्मदर्शनवान्—है वह सब भूतोंका आत्मा होता है, सब भूतोंका प्राण होता है, सब भूतोंका मन होता है, सब भूतोंकी वाक् होता है, इस प्रकार सर्वभूतात्मा होनेसे सर्वज्ञ होना स्वाभाविक ही है। तथा सर्वकृत् भी कहा जाता है। जैसे पूर्वसिद्ध हिरण्यगर्भ देवता है, वैसे ही उपासक भी सर्वज्ञ और सर्वकृत् होता है, इसमें कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

'सर्वभूतात्म०' इत्यादि। यह प्रकृत प्राणोपासक सब भूतोंका आत्मस्वरूप होनेसे सबको अपनेसे अभिन्न मानता है, किसीको अपनेसे भिन्न

ननु पूर्वविराज्येष विशेद्भिन्दुरिवोदधौ ।
विराडन्तररूपेण जायते वोभयं न तत् ॥ ५२ ॥
नोपास्तिकार्यता त्वाद्ये विराजः पूर्वसिद्धितः ।
द्वितीये द्विगुणीभूतो विराड् दृश्येत जन्तुभिः ॥ ५३ ॥
नैष दोषः कल्पनायां द्वैगुण्यस्याऽप्रसङ्गतः ।
न रज्जुसर्पो द्विगुणो भाति द्वाभ्यां प्रकल्पितः ॥ ५४ ॥

नहीं जानता, अतएव हिरण्यगर्भके समान जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार द्वारा वह क्रीड़ा करता है, हिरण्यगर्भके समान होता है ॥ ५१ ॥

'ननु पूर्व०' इत्यादि । यह प्राणोपासक पूर्वसिद्ध विराड्में समुद्रमें जल-बिन्दुके समान समाविष्ट होता है, जैसे प्रवेशसे पूर्व जलबिन्दु समुद्रके जलसे भिन्न और पृथक् प्रतीत होता है, पर प्रवेशके अनन्तर समुद्रके जलसे अभिन्न अतएव पृथक् प्रतीत नहीं होता, वैसे ही उपासक उपास्य विराड्से अभिन्न हो जाता है, अथवा अन्य विराट् हो जाता है अर्थात् विराट्के समान वह स्वयं दूसरा विराट् हो जाता है, परन्तु ये दोनों प्रकार ठीक नहीं हैं, क्योंकि दोनों प्रकारके प्रवेशमें दोष देखा जाता है ॥ ५२ ॥

'नोपास्ति०' इत्यादि । प्रथम पक्षमें यह दोष है कि उपासक पूर्वसिद्ध विराट्स्वरूप स्वयं हो जाता है, ऐसा माननेसे विराट्स्वरूपके पहलेसे ही सिद्ध होनेके कारण उस उपासनासे वह साध्य नहीं हो सकता, फिर उस उपासनासे यह विराट्का स्वरूप साध्य है, यह कैसे कहा जा सकता है ? द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं जँचता, क्योंकि दूसरा विराट्स्वरूप माननेसे वह भी तो पूर्व विराट्के समान विश्व-व्यापक ही माना जायगा, ऐसी परिस्थितिमें द्विगुणीभूत विराट्को लोग देखेंगे, सो अनुभव तथा श्रुत्यादिसे विरुद्ध है, द्विगुण विराट्का निरूपण श्रुतियोंमें है नहीं ॥५३॥

'नैष दोषः' इत्यादि । द्वितीय पक्षमें दोषका परिहार करनेसे यही मत अभिमत है कि पूर्वसिद्ध विराट्के स्वरूपके समान ही प्रकृतोपासनाजन्य द्वितीय विराट्के स्वरूपको माननेमें बाधक यही कहा कि द्विगुण विराट्के स्वरूपके भानका प्रसङ्ग, सो ठीक नहीं है, कारण कि वास्तविक स्वरूपान्तर माननेसे उक्त दोषकी प्रसक्ति हो सकती है । किन्तु ऐसा है नहीं, यह तो काल्पनिक विराट्का अन्य स्वरूप है, इस कारण इसका द्विगुण भान नहीं हो सकता है, इसीमें अनुरूप दृष्टान्त

विराट् स्वेभ्योऽन्य इत्येवं कल्पयन्त्यनुपासकाः ।
उपासकाः कल्पयन्ति स्वयमेव विराडिति ॥ ५५ ॥
तद्यथा कल्प्यते येन तत्तथा तेन वीक्ष्यते ।
अन्येन कल्पितं त्वन्यो न कश्चिद्वीक्षितुं क्षमः ॥ ५६ ॥

कहते हैं—जैसे दो मनुष्य एक ही रज्जुमें सर्पकी कल्पना करते हैं, तो क्या एक पुरुष द्वारा कल्पित रज्जुसर्पकी अपेक्षासे दो पुरुषों द्वारा कल्पित रज्जुसर्प द्विगुण होता है ? कभी नहीं, कारण कि पुरुष स्वस्वकल्पित रज्जुसर्पको ही देखता है अन्य पुरुष द्वारा कल्पित रज्जुसर्पको नहीं देखता वैसे ही प्रतिपुरुष-कल्पित विराट्-स्वरूप अनेक पुरुषों द्वारा दृश्य नहीं होता, किन्तु स्वकल्पित ही स्वदृश्य होता है, इस नियमके अनुसार एकैककल्पित विराट् एकैकदृश्य होनेसे उसकी द्वैगुण्यकी आपत्तिका परिहार अनायाससे सिद्ध होता है, यह विषय पूर्वमें भी कहा जा चुका है। भोग्यत्वाकारविशिष्टत्वरूपसे तत्तज्जीव-कल्पित प्रपञ्च नाना है, स्व-स्वस्वप्नमें कल्पित राजवत् स्व-स्वप्रतीतिका गोचर होता है, अतएव अनेक स्वप्नोंमें कल्पित राजा प्रत्येकके प्रति अनेक नहीं होते, किन्तु स्व-स्वके प्रति असाधारण होते हैं, वैसे ही प्रत्येक उपासक द्वारा कल्पित विराट्के प्रत्येक उपासकके प्रति भिन्न होनेसे द्वैगुण्यापत्तिका परिहार हो जाता है ।

'विराट् स्वेभ्यो' इत्यादि । जो विराट्के उपासक नहीं हैं, वे अपनेसे भिन्न विराट् है, ऐसी कल्पना करते हैं, पर जो विराट्के उपासक हैं, वे अपनेसे अभिन्न रूपसे 'मैं ही विराट् हूँ' ऐसी ही कल्पना करते हैं ॥ ५५ ॥

'तद्यथा' इत्यादि । जो पुरुष जैसी कल्पना करता है, वह वैसा ही देखता है, अन्यकल्पित पदार्थको दूसरा वैसा देखनेमें समर्थ नहीं होता । इसीसे गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी लिखा है कि 'जिनके रही भावना जैसी प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी' अर्थात् स्वस्वकल्पनानुसार ही पदार्थोंका ज्ञान होता है, तदनुसार ही हेयोपादानादि कल्पना भी होती है । अतएव सुवर्णादि द्रव्यका स्वभाव समान है, परन्तु वीतरागकी उसमें उपादेयबुद्धि नहीं होती और इतरकी होती है, इत्यादि युक्तियों और व्यवहारोंसे यह निश्चित होता है कि स्वस्वकल्पितरूपसे ही पदार्थ स्वस्वज्ञानके विषय होते हैं, पुरुषान्तर-कल्पितरूपसे नहीं, इसमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है ॥५६ ।

कल्पितस्य फलत्वं च युज्यते स्वप्नभोगवत् ।
कल्पितं निखिलं दृश्यमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥ ५७ ॥
तस्मादुपास्तिजन्योऽयं विराट् तस्योपमा श्रुतौ ।
पूर्वसिद्धविराट्प्रोक्ता यथैषा देवतेति हि ॥ ५८ ॥
यथैषा देवतैवं स यथैतां देवतां सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवं हैवंविदꣳ सर्वाणि भूतान्यवन्ति ।
सर्वभूतैर्यथा पूज्यो विराट् पूर्वस्तथा विराट् ।
पूज्यते नूतनोऽप्येष सर्वभूतात्मकत्वतः ॥ ५९ ॥

'कल्पितस्य' इत्यादि । स्वकल्पित ही स्वफल है, जैसे स्वप्नमें जैसी जिसको शुभाशुभरूपसे कल्पना होती है, स्वाप्निक सुखदुःखादि फल भी उसको वैसा ही होता है । स्वप्नमें कल्पनासे अतिरिक्त सुखदुःखादि निमित्त अन्य पदार्थ नहीं है, फिर भी एक ही स्थलमें किसीको जल दृष्टिगोचर होता है, किसीको नहीं होता । पिपासाकुल स्वप्नमें जलके अन्वेषणमें ही लगा रहता है, पर उसे जल नहीं मिलता और कोई उसी समय नदियोंमें अपनेको तैरता देखता है, इसलिए यह ठीक है कि अपनी कल्पनाके अनुसार ही पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, अन्यकी कल्पनाके अनुसार नहीं होते । सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च अज्ञानसे कल्पित है, पारमार्थिक नहीं है, यह वेदान्तका सिद्धान्तघोष है ॥ ५७ ॥

प्रकृत उपासनाका फल विराट्स्वरूपकी प्राप्ति है, इसीको उपसंहारमें कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

उपासनासे जन्य यह विराट्पदकी प्राप्ति है, इसकी उपासना अग्रिम श्रुति कहती है । जैसे पूर्व कल्पकी उपासनासे वर्तमान कल्पके विराट् होते हैं, वैसे ही वर्त्तमान कल्पकी उपासनासे वर्तमान नवीन विराट् देवतास्वरूप होते हैं ॥ ५८ ॥

'यथैषा' इत्यादि श्रुतिका अर्थ—पूर्व कल्पके कर्मसे सिद्ध विराट् देवताके समान तद्भाव-साक्षात्कारवान् उपासककी सब अवस्थामें सब भूत रक्षा करते हैं—सभी प्रकारके भोगरूप फलको देते हैं, ऐसा कहा है ।

'सर्व०' इत्यादि । जैसे पूर्व विराट् सब भूतोंके पूज्य होते हैं, वैसे ये नवीन विराट् भी सब भूतों द्वारा पूजित होते हैं, क्योंकि पूर्व विराट्के समान ये भी सब भूतोंके आत्मा हैं ॥ ५९ ॥

न च सर्वप्रजादुःखप्रसङ्गोऽस्मिन्नुपासके ।
कृत्स्नाभिमानिनस्तस्य प्रजामात्रेऽनहम्मतेः ॥ ६० ॥
कुक्षिस्थकृमिदुःखैर्नो न मनागपि सङ्गतिः ।
तथाऽस्मदादिगैर्दुःखैर्न विराजोऽस्ति सङ्गतिः ॥ ६१ ॥

शङ्का—'**न च सर्व०**' इत्यादि । यदि उपासक सब भूतोंका आत्मा हो जाता है; अतः सब भूत आत्माके समान उसकी रक्षा करते हैं, तो सब भूतोंको जो दुःख होता है, वह उपासकको भी होना चाहिए, यदि ऐसा हो तो यह उपासना अनर्थके लिए होगी, अतएव कल्याणार्थियोंके लिए अनुपादेय है । यद्यपि उसे सब भूतोंकी सुखकी प्राप्ति भी होगी, लेकिन सांसारिक भूतोंको सुखकी अपेक्षा दुःख ही अधिक है', इसलिए अनर्थ ही अधिक होगा ।

समाधान—परिच्छेदाभिमान ही दुःखहेतु है, सर्वात्मता नहीं । विद्वान्को परिच्छेदाभिमान ही नहीं है, तो दुःख कैसे होगा ? अतएव जीवन्मुक्तादि तथा परमात्मामें सर्वभूतात्मता रहनेपर भी सर्वदुःखसम्बन्ध नहीं माना जाता ।

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।'
'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।'

इत्यादि भगवान्के वचनके अनुसार सर्वभूतात्मता ज्ञानी और परमेश्वरमें मानी जाती है, पर सर्वदुःखानुभव नहीं माना जाता, कारण कि उनमें परिच्छेदाभिमान नहीं है । एवं उपासकमें भी समझना चाहिए, समष्ट्यभिमानी होनेसे उपासक प्रजामात्रमें अहं अभिमानसे रहित होता है ॥ ६० ॥

शङ्का—'**कुक्षिस्थ०**' इत्यादि । अपरिच्छिन्नबुद्धि उपासक है; यह माननेपर भी सूत्रात्मक विद्वान् उपासकमें सब भूतोंका समावेश होनेके कारण 'सब भूतात्मक मैं हूँ', ऐसा ज्ञान होनेपर सब भूतोंमें रहनेवाला दुःख उपासकात्मगत क्यों नहीं होगा ? उपासक क्या भूतगत दुःखोंको नहीं जानता, वह तो सर्वज्ञ है, फिर उसको सर्वदुःखानुभव क्यों नहीं होता ? और यह तो हो नहीं सकता कि दुःखरहित सब भूतोंके आत्माको ही अपनी आत्मा मानता है ।

समाधान—जैसे हम लोगोंके पेटमें कभी कृमि (कीट) हो जाते हैं, वे सब हमारे शरीरके भीतर ही रहते हैं, फिर भी उनके सुख और दुःखोंका अनुभव

ईश्वरत्वाच्च तस्याऽन्यदुःखैर्न स्यात्समागमः ।
अस्माकं दुःखसम्प्राप्तिरनैश्वर्यकृतैव हि ॥ ६२ ॥
सत्यसङ्कल्पयुक्तस्य यदिष्टं तद्धवेत्तथा ।
अनिष्टं न भवत्येव कुतो दुःखं प्रसज्यते ॥ ६३ ॥

हम लोगोंको नहीं होता, क्योंकि जिसके अदृष्टोंसे उपार्जित शरीर, इन्द्रिय जिसकी होती हैं, उसीको उन शरीर और इन्द्रियोंसे सुख या दुःख होता है, दूसरेको नहीं, इसलिए कृमिस्थ सुख आदिको पुरुष नहीं जान सकता और उक्त रीतिसे सुख, दुःख आदि कल्पित पदार्थ हैं, पारमार्थिक नहीं । स्वकल्पित पदार्थ ही देख सकता है; दूसरा नहीं, यह पूर्वमें निरूपण कर चुके हैं । अतः यद्यपि प्रजापतिरूप उपासक विद्वान्में सब भूत होते हैं; तथापि दुःखका सम्बन्ध विद्वान्में नहीं होता, यह निष्कर्ष है ।

शङ्का—उक्त कृमि-दृष्टान्त विषम है, क्योंकि कृमिके शरीरमें पुरुषका तादात्म्याभिमान नहीं है, इसलिए उसके दुःखसे पुरुष दुःखी नहीं होता । विद्वान्की अपरिच्छिन्न बुद्धि होनेपर भी उपासक सूत्रात्मस्वरूप होनेसे स्वांशभूत सब भूतोंका अभिमानी है, इसलिए दुःखयोग दुर्वार है ।

समाधान—इसका उत्तर पूर्व श्लोकमें दिया गया है, वह यह है कि तत्-तत् शरीराभिमानीको तत्-तत् शरीरादिसे दुःख होता है, सकल शरीराभिमानीको नहीं, जिसके अदृष्टसे जो शरीर आदि होता है, उसीको उस शरीर आदिसे दुःख आदि होते हैं, उपासकके अदृष्टसे सकल भूतोंके शरीरादिका आरम्भ नहीं होता, इसलिए विद्वान्को दुःखादिका भोग नहीं होता ॥ ६१॥

अथवा समाधानान्तर देते हैं—**'ईश्वरत्वाच्च'** इत्यादिसे ।

उपासक ईश्वर हो जाता है; इसलिए अस्मदाद्यभिमानी होनेपर भी उसको दुःख नहीं होता; अनीश्वरत्वप्रयुक्त ही दुःखादि अस्मदादिमें हैं; इसी अभिप्रायको हृदयमें रख कर श्रुति **'यदु किञ्चेमाः'** इत्यादिसे आगे उदाहरण देगी ॥६२॥

'सत्य०' इत्यादि । ईश्वर सत्यसङ्कल्प होता है, जो उसको इष्ट है; वह सङ्कल्पमात्रसे सिद्ध होता है और अनिष्ट तो होता ही नहीं, अतः दुःख होनेकी क्या सम्भावना है ? ॥ ६३ ॥

उपास्त्याऽखिलपापस्य दग्धत्वाद् दुःखकारणम् ।
नाऽस्ति पुण्यैकसाध्यत्वात् सुखमेव विराट्पदे ॥ ६४ ॥

यदु किञ्चेमाः प्रजाः शोचन्त्यमैवासां तद्भवति पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान्पापं गच्छति ॥२०॥

'उपास्त्या०' इत्यादि । उपासनासे संपूर्ण पाप दग्ध हो जाते हैं, पाप ही दुःखके कारण हैं । दुःखके कारणके नाशसे दुःखकी उत्पत्ति ही नहीं होगी, अतः केवल पुण्यसे विराट्में स्वतः सुख रहता है, क्योंकि उसका कारणीभूत पुण्य उपासनासे सञ्चित हो चुका है ॥ ६४ ॥

यदु किञ्चेमाः' इत्यादि श्रुति । अभिप्राय यह है कि जो परिच्छिन्न शरीरादिका अभिमानी पुरुष है, उसके प्रति किसीने यदि उपालम्भ आदि किये, तो उसकी यह धारणा होती है कि इसने हमको ऐसा क्यों कहा ? इससे उसके हृदयमें दुःख होता है । और जो सर्वात्मा है, उसको परिच्छेदाभिमान तो है नहीं, इसलिए उसकी दृष्टिमें आक्रोष्टा, उपालम्भक और उपालभ्यमानमें कोई अन्तर नहीं रहता, अतः इसने हमको ऐसा क्यों कहा ? यह ज्ञान जब उसको होता ही नहीं तब उस ज्ञानसे दुःख कैसे हो सकता है ? जैसे 'मित्र मर गया' इस प्रकार जिसको दूसरेके मरणका ज्ञान होता है, उसको उसके मरणसे दुःख होता है; यह ज्ञान परिच्छिन्नाभिमानीको ही होता है, अपरिच्छिन्नाभिमानीको नहीं होता, अतएव ज्ञानीको किसीके मरणसे दुःख नहीं हो सकता, उसकी अपेक्षा तो सब जीवित ही हैं, इसलिए मरण आदि दुःखका लेश भी उसे नहीं है । यही श्रुति कहती है—'यदु' इत्यादिसे । जो कुछ ये प्रजाएँ शोक करती हैं, वह प्रजाके साथ ही शोकादिनिमित्तक दुःख होता है, क्योंकि इस प्रकारका दुःख प्रजाकी परिच्छिन्न बुद्धिसे उत्पन्न होता है । सर्वात्मा विद्वान्का किसके साथ संयोग या वियोग समझा जाय ? प्रजापतिके पदमें वर्त्तमान उपासक निरतिशय पुण्यफल ही पाता है, पाप-फल नहीं, क्योंकि पापका अवसर ही नहीं आता, अतः उसमें पाप-फल दुःख नहीं होता । जैसे स्वभावतः अग्निमें शैत्यगुण नहीं मिलता, वैसे ही देवतामें पाप नहीं रहता । अग्नि और शैत्यके समान देवता और पापका मिथ्या संबन्ध भी नहीं होता ॥२०॥

इत्थं प्रोक्ता विराट्प्राप्तिर्मृतस्य त्र्यन्नदर्शिनः ।
त्र्यन्नात्मदर्शी जीवेच्चेत्तदा कर्त्तव्यमुच्यते ॥ ६५ ॥
सर्वकर्माणि संन्यस्य प्राणापानावनुस्मरन् ।
सर्वव्यापारकालेषु नाऽन्यत्किञ्चिद्विचिन्तयेत् ॥ ६६ ॥

श्रुतिः ॥ अथातो व्रतमीमांसा प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पर्द्धन्त वदिष्याम्यहमिति वाग्दध्रे द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रमेवमन्यानि कर्माणि यथाकर्म तानि मृत्युः श्रमो

'इत्थं प्रोक्ता' इत्यादि । उक्त अन्नत्रयदर्शी प्राणोपासक मरनेपर विराट्-स्वरूप होता है, यह कहा गया, अब अगर वह जीवित रहे, तो उसका कर्तव्य कहते हैं ॥ ६५ ॥

'सर्वकर्माणि' इत्यादि । सब कर्तव्य कर्मोंका संन्यासकर (त्यागकर) प्राण और अपानका स्मरण करता हुआ सब व्यापारोंके समय प्राण और अपानसे अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तुकी चिन्ता न करे, सदा प्राणके ध्यानमें तत्पर रहे ॥६६॥

'अथातो व्रतमीमांसा' इत्यादि श्रुति । संन्यासके अनन्तर क्या करना चाहिए ? क्योंकि प्रवृत्तिशील मन आदिकी स्थिति व्यापारके बिना नहीं हो सकती, इस जिज्ञासासे व्रतमीमांसाका आरम्भ करते हैं । अनुष्ठेयविशेष व्रत कहलाता है, उसके विचारका आरम्भ होता है, यह अर्थ हुआ। सुखपूर्वक बोधके लिए इस विषयमें श्रुति आख्यायिका कहती है—प्रजापति हिरण्यगर्भने प्रजाओंकी सृष्टि कर कर्मोंकी याने वागादि इन्द्रियोंकी सृष्टि की । उत्पन्न होनेके बाद परस्पर वे स्पर्द्धा करने लगीं ।

स्पर्द्धाका प्रकार श्रुति स्वयं कहती है—वदनस्वरूप व्यापारसे कभी मैं विरत न होऊँगी अर्थात् सदा बोलती ही रहूँगी, ऐसा सङ्कल्प वागिन्द्रियने किया, मैं सतत देखती रहूँगी, कभी भी इस कर्मसे विरत न होऊँगी, ऐसा सङ्कल्प चक्षु इन्द्रियने किया, मैं सदा सुनती ही रहूँगी, ऐसा श्रोत्र इन्द्रियने सङ्कल्प किया । इसी प्रकार अन्य सब इन्द्रियोंने अपने-अपने व्यापारसे क्षणभर भी विरत न होनेका दृढ़ सङ्कल्प किया, किन्तु मारक श्रमरूप मृत्युने इन्द्रियोंका ग्रहण किया याने उन करणोंने श्रमस्वरूप मृत्युको पाया—वे करण मृत्युसे आक्रान्त हुए । श्रमरूपी मृत्युने इन्द्रियोंमें प्रविष्ट होकर उनके अपने-अपने कर्म करनेमें विघ्न किया—अपने-अपने कर्तव्योंसे इन्द्रियोंको प्रच्युत किया । प्रजापतिके वागादिमें भी श्रम द्वारा स्वकर्मकी प्रच्युति होती है, क्योंकि प्रजावर्गकी इन्द्रियोंमें

भूत्वोपयेमे तान्याप्नोत् । तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्ध तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक् श्राम्यति चक्षुः श्राम्यति श्रोत्रमथेममेव नाम्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणस्तानि ज्ञातुं दध्रिरे । अयं वै नः श्रेष्ठो यः सञ्चरंश्चासञ्चरंश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवंस्तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति तेन ह वाव तत्कुलमाचक्षते यस्मिन्कुले भवति य एवं वेद य उ हैवंविदा स्पर्द्धतेऽनुशुष्यत्यनुशुष्य हैवान्ततो म्रियत इत्य-ध्यात्मम् ॥ २१ ॥

अथाधिदैवतं ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे तप्स्याम्यहमित्यादित्यो

दृश्यमान स्वकर्मच्युति ही प्रजापतिके वागादिमें स्वकर्मप्रच्युतिकी सत्तामें लिङ्ग है । अन्यथा उसके कार्य प्रजावर्गकी इन्द्रियोंमें स्वकर्म-च्युति कैसे होती ? वागादिके निश्चयके अनन्तर इस मुख्य प्राणमें श्रमरूपी मृत्यु नहीं आ सकी । इसमें भी कार्यलिङ्गक अनुमान है—जो प्राणियोंमें यह मध्य प्राण है; वह इस समय भी श्रान्त नहीं होता अर्थात् अपने उच्छ्वास आदि व्यापारसे विरत नहीं होता, इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कारणीभूत प्रजापतिके प्राणमें भी श्रमवश अपने कार्यसे विरति नहीं थी । विरतिशील इन्द्रियोंने प्राणके जाननेके लिए मनोयोग दिया । ज्ञानके लिए अनुसंधानका प्रकार श्रुति कहती है—यह मुख्य प्राण हम लोगोंमें श्रेष्ठ है, क्योंकि स्थावरोंमें असंचारी और जङ्गमोंमें संचारी होकर भी कभी थकता नहीं है, अतः श्रेष्ठ है ।

श्रुति श्रेष्ठतासे फलित कहती है—इस समय हम सब इन्द्रियाँ इस प्राणका ही स्वरूप प्राप्त करें अर्थात् तत्स्वरूपापन्न होवें; ऐसा निश्चय कर वे तद्रूप हुईं, अतः प्राणात्मा होनेसे ही ये वागादि इन्द्रियां प्राणशब्दसे कही जाती हैं । वागादि इन्द्रियोंमें प्राणशब्दके प्रयोगका यही मूल है । जो पुरुष इस रीतिसे सब वागादि करणोंमें प्राणात्मता और प्राणशब्दाभिधेयताको जानता है; उसी विद्वान्के नामसे वह कुल प्रख्यात होता है । जो उक्त विद्यावाले विद्वान्के साथ स्पर्द्धा करता है, वह इसी वर्तमान शरीरमें सूखकर मर जाता है । अतः प्राणवेत्ताके साथ कभी स्पर्द्धा नहीं करनी चाहिए ॥२१॥

आध्यात्म निर्णयके अनन्तर श्रुति अधिदैवतका निर्णय करती है—'अथाधिदैवतं ज्वलिष्याम्येवाहम्' इत्यादि ।

देवताओंमें किस देवताका व्रत धारण करनेसे कल्याण होता है ?

भास्याम्यहमिति चन्द्रमा एवमन्या देवता यथादेवतꣳ स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुर्म्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः, सैषानस्तमिता देवता यद्वायुः ॥ २२ ॥

अथैष श्लोको भवति यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छतीति प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति तं देवाश्चक्रिरे धर्मं स एवाद्य स उ श्व

इसपर श्रुति पहलेकी नाईं आख्यायिका कहती है—हम सदा प्रज्वलित रहेंगे, ऐसा अग्निने संकल्प किया, सदा तपा करेंगे, ऐसा आदित्यने संकल्प किया, सर्वदा प्रकाश करेंगे, ऐसा चन्द्रमाने निश्चय किया और इसी प्रकार अन्य वायु आदि देवताओंने भी अपने अनुरूप सङ्कल्प किये। परन्तु जैसे वागादिमें मध्यम प्राण मृत्युसे (श्रमसे) आक्रान्त नहीं हुआ, वैसे ही इन देवताओंमें वायु देवता ही अभग्नव्रत हुआ अर्थात् उसके संकल्पका भङ्ग नहीं हुआ और अन्य भग्नव्रत हो गये। वायुके अभग्नव्रतत्वका निर्देश करते हैं—'म्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः' अर्थात् अन्य देवता अपने-अपने व्यापारसे विरत हो जाते हैं; पर वायु देवता अपने कार्यसे कभी भी विरत नहीं होता।

यद्यपि आदित्य आदि देवता भी सर्वदा तापपरायण ही रहते हैं, कभी भी उससे निवृत्त नहीं होते, तथापि देशान्तरमें आदित्यका ताप रहनेपर भी भारत आदि देशभेदसे रात्रिमें आदित्यादिका महा ताप नहीं रहता, पर वायु देवताका कार्य रात्रि और दिन सब देशोंमें समान रहता है, कभी कभी होनेवाला न्यूनाधिक-भाव भी सर्वत्र समानरूपसे ही होता है, अतएव श्रुति सादर कहती है—'सैषा-नस्तमिता देवता यद्वायुः' यह वायु देवता कभी अस्त नहीं होता, किन्तु सदा अपने कार्यमें परायण ही रहता है ॥ २२ ॥

'अथैष' इत्यादि श्रुति। अनन्तर उस अर्थका पोषक यह श्लोक (मन्त्र) भी है—'यतश्चोदेति' इत्यादि। यहां प्रश्न यह होता है कि सूर्य कहांसे उदित होता है और कहां अस्त होता है ?

सूर्य दो हैं—एक अध्यात्म और दूसरा अधिदैवत। अतः उक्त प्रश्न सामा-न्यतः उभयविषयक है। और प्रकरण अध्यात्मविषयक है, तथापि उभयविषयक उत्तर देते हैं—'प्राणाद्वा एष' इति।

चक्षुरूप सूर्यका प्राणसे उदय होता है और प्राणमें ही लय होता है; वाग् शब्द इन्द्रियमात्रका उपलक्षण है; सोनेके समयमें वागादि सब

इति यद्वा एतेऽमुर्ह्यध्रियन्त तदेवाप्यद्य कुर्वन्ति तस्मादेकमेव व्रतं चरेत् प्राण्याच्चैवापान्याच्च नेन्मा पाप्मा मृत्युराप्नुवदिति यद्युच्चरेत्समापिपयिषेत्तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति ॥ २३ ॥

इत्युपनिषदि तृतीयाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

इन्द्रियाँ प्राणमें लीन हो जाती हैं, क्योंकि 'तदा हि वाक् प्राणमपिगच्छति' इत्यादि श्रुति इस अर्थमें प्रमाण है ।

एवं अधिदेवता सूर्य भी वायुसे उत्पन्न होता है और वायुमें ही लीन होता है, क्योंकि 'आकाशाद् वायुर्वायोरग्निः' इत्यादि श्रुति अग्निका कारण वायु है, ऐसा कहती है । कारणसे ही कार्य उत्पन्न होता है और उसीमें लीन भी होता है । इस अर्थमें 'यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति' इत्यादि श्रुति प्रमाण है ।

शङ्का—'प्राणाद्वा एष उदेति' इस श्रुतिसे कहा गया है कि प्राणसे सूर्य उदित होता है और प्राणमें ही लीन होता है, पर मुख्य प्राण तो थोड़ी शक्तिवाला है; अतः उससे सूर्य कैसे उदित और अस्त हो सकता है ? यह समझमें नहीं आता । यदि प्राणशब्दसे वायु लें; तो 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुर्ज्योतिराकाशम्' इत्यादि श्रुतिसे सूर्योपलक्षित तेजोमात्र ब्रह्मात्मासे ही उत्पन्न होता है; यह जो सिद्धान्त किया गया है, वह भी विरुद्ध होगा ।

समाधान—ठीक है, यहां प्राणशब्दसे परमात्माकी ही विवक्षा है । प्राणशब्द ब्रह्मबोधके तात्पर्यसे श्रुतिमें बारबार कहा गया है; क्योंकि 'प्राणस्तथानुगमात्' इस वेदान्तसूत्रके भाष्यमें यह स्फुट है । 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इस श्रुतिमें मन शब्दसे तदुपाधिक जीवका ग्रहण होता है । मुख्य प्राणस्वरूप पर आत्माके रहते जीवका प्राण धारयिता नहीं हो सकता, अतः जीवका आयतन प्राणशब्दवाच्य पर ब्रह्म ही है, ऐसा जैसे वहां विवक्षित है, वैसे ही यहां भी समझना चाहिए । अतएव 'असदेवेदमग्र आसीत्', 'तत्सदासीत्', 'तत्समभवत्', 'तदण्डं निरवर्तत', 'तन्निरभिद्यत' इत्यादि वाक्योंमें स्थित 'असत्' शब्दसे अव्यक्तनामरूपात्मक अशेष जगत्के हेतु पर ब्रह्मको प्रक्रान्त कर उसीसे पृथिव्यादिकी उत्पत्तिका निर्देश कर उसीसे ही आदित्यकी उत्पत्ति कही है, क्योंकि 'यत्तदजायत सोऽसावादित्यः' ऐसा कहा है;

अग्निरहस्यमें भी 'यदा आदित्योऽस्तमेति वायुं तर्हि प्रविशति वायुं चन्द्रमा वायौ दिशः प्रतिष्ठिता वायोरेवाधि पुनर्जायन्ते' इस प्रकार वायुसे आदित्यकी उत्पत्ति कही है। प्रकृतमें प्राणसे आदित्यकी उत्पत्ति बतलाई गई है, वस्तुमें विकल्प हो नहीं सकता। किसी श्रुतिमें अप्रामाण्यकी कल्पना करना भी ठीक नहीं है, इस कारण छन्दोगश्रुतिके अनुसार आदित्यकी उत्पत्तिका कारण प्रज्ञानात्मा ही है, जिससे उत्पत्ति होती है, लय भी उसीमें होता है।

शङ्का—कुलालसे घटकी उत्पत्ति होती है, पर घटका लय मृत्तिकामें होता है कुलालमें नहीं होता, अतः उक्त नियम ही असिद्ध है, अतः ब्रह्मसे उत्पन्न सूर्यका अन्यत्र भी लय हो सकता है।

समाधान—नहीं, कुलाल घटका निमित्त कारण है और यह नियम उपादान कारणके विषयमें लागू होता है। मृत्तिकासे उत्पन्न घटका तन्तु आदिमें लय कहाँ देखा जाता है? अर्थात् कहीं नहीं देखा जाता, सारांश यह निकला कि अध्यात्म और अधिदैवत प्राण और वायुका व्रत धारण करना चाहिए। मन्त्रके पूर्वार्द्धका व्याख्यान कर उत्तरार्द्धका व्याख्यान श्रुति करती है—'यद्वा' इति। जो प्राणादिका व्रत है, उसका ये वागादि और अग्न्यादि आज भी धारण करते हैं। तात्पर्य यह है कि उक्त जिस प्राण-वायुव्रतलक्षण धर्मका वागादि और अग्न्यादि देवताओंने विचार किया था, उस व्रतरूप धर्मका वागादि और अग्न्यादि देवता आज भी पालन कर रहे हैं और श्वः—भविष्यमें—भी करेंगे, क्योंकि वागादि और अग्न्यादि स्पन्दरहित कभी रह नहीं सकते। स्पन्द चलनके अधीन नहीं है, किन्तु वायुके अधीन है। वायुके बिना इनकी स्थिति ही असम्भव है, अतएव अन्य भी एक ही व्रतको करें। कौन? किसको कहते हैं—'प्राण्याच्चैवापान्याच्च' प्राणन और अपानन व्यापार करे। अग्न्यादि मदात्मक हैं, मैं प्राण हूँ, मैं ही वायुरूप आत्मा हूँ, सब व्यापार करता हूँ, ऐसा ध्यान करे। यदि इस व्रतसे हम प्रच्युत होंगे, तो श्रमरूपी पाप्मा मृत्यु हमको पा जायगा, इस भयसे भीत होकर प्राण-व्रतका मरणपर्यन्त धारण करना चाहिए। यदि कभी इस व्रतका प्रारम्भ करे, तो इसको समाप्त करनेकी इच्छा रक्खे। मध्यमें कभी भी न छोड़े, किन्तु मरणान्त इस व्रतका पूर्ण पालन करे। इस व्रतका फल सायुज्य और सालोक्यकी प्राप्ति है ॥ २३ ॥

वागादयः श्रमग्रस्ता न प्राणस्तेन तेऽखिलाः ।
प्राणरूपमनुप्राप्य प्राणनाम्ना प्रकीर्तिताः ॥ ६७ ॥

अभ्यन्तर उक्त श्रुत्यर्थका संक्षेपसे वर्णन करते हुए मूलकार आख्यायिकाका तात्पर्य कहते हैं—'वागादयः' इत्यादिसे ।

अध्यात्म वागादि इन्द्रियाँ और अधिदैवत अग्न्यादि देवता मृत्युरूपी श्रमसे ग्रस्त होकर अपने-अपने कर्मसे विरत हुए । प्राण उक्त श्रमसे ग्रस्त नहीं हुआ, अतएव अद्यावधि वह अपने कर्ममें सदा तत्पर ही रहता है, क्षण भरके लिए भी श्रान्त नहीं होता, इस कारण वागादि इन्द्रियाँ, उक्त साधनसे तद्रूपताको प्राप्तकर, प्राणनामसे प्रख्यात हुईं ।

भाव यह है कि संप्रत्तिकालमें संपूर्ण स्वकर्तव्य कर्मोंका पुत्रमें समर्पण करनेसे नैष्कर्म्य तो प्राप्त हुआ, किन्तु प्राणोपासनाङ्ग प्राणव्रतका पुनः विधान करनेके लिए उत्तर ग्रन्थका आरम्भ है ।

शङ्का—स्वतन्त्र प्राणव्रतका विधायक उत्तर प्रकरण है, अतः उसका प्राणोपासनाके अङ्गरूपसे विधान क्यों मानते हो ? अङ्गत्वरूपसे विधायक तो वाक्य होते ही नहीं, अतः अङ्गत्वरूपसे विधान कैसे हो सकता है ?

समाधान—'स यो हैताननन्तानुपास्ते' इत्यादि पूर्ववाक्यमें बहुवचनानुरोधसे वागादि तीनकी उपासना सिद्ध ही है, इसी वचनसे प्राणकी भी उपासना सिद्ध ही है, फिर प्राणोपासकके प्रति प्राणव्रतवाक्य—स यो हैतानित्यादि—पूर्व वाक्यकी अपेक्षा करता है, इसलिए यह स्वतन्त्र प्राणव्रतका विधायक नहीं है, किन्तु प्राणध्यानरूप धर्मका विधान करनेके लिए यह वाक्य है, अत्यन्त अप्राप्तमें विधि होती है, अतः उसके अङ्गत्वरूपसे ही प्रकृत व्रतका विधान है, स्वतन्त्र नहीं ।

शङ्का—यह वाक्य प्राणोपासनाङ्ग व्रतका विधायक नहीं है, किन्तु वाक् और मनकी उपासनाकी निवृत्ति करता है ।

समाधान—यदि ऐसा अभिप्राय हो, तो फिर वाक् और मनका उपादान ही व्यर्थ हो जायगा, अतः प्राणोपसर्जनत्वरूपसे वाक् और मनका ध्यान अवश्य विवक्षित है, यह मानना ही श्रेष्ठ है । उक्त रीतिसे वागादि इन्द्रियाँ भग्नव्रत हुईं और प्राण ही अभग्नव्रत रहा, इसलिए प्राणव्रतका ही धारण करना चाहिए, दूसरेका अर्थात् वागादि और अग्न्यादिका व्रत नहीं करना चाहिए, प्राणव्रत धारण करनेसे उपासक प्राणात्मा होकर प्राणनामरूप हो जाता है ॥ ६७ ॥

इन्द्रियेषु परिस्पन्दः प्राणांशोऽर्थगृहीतयः ।
इन्द्रियार्थस्ततः प्राणः सर्वरूपः प्रशस्यते ॥ ६८ ॥
प्राणोऽध्यात्मं यथा तद्वद्वायुः श्रेष्ठोऽधिदैवतम् ।
प्राण-वायुस्वरूपोऽहं प्राणमीत्येव चिन्तयेत् ॥ ६९ ॥
आमृत्यनन्यव्यापारश्चिन्तयन्प्राणदेवताम् ।
याति सायुज्यसालोक्यं ध्यानोत्कर्षानुसारतः ॥ ७० ॥
पूर्वोक्तायाः विराट्प्राप्तेरनुवादोऽयमिष्यते ।
उपासनान्तरं चेदं भवेत् पृथगुपक्रमात् ॥ ७१ ॥

'इन्द्रियेषु' इत्यादि । सब इन्द्रियोंमें अपने-अपने विषयोंका ग्रहण करनेमें अनुकूल जो परिस्पन्द क्रिया और अर्थप्रकाश है, तद्विशिष्ट मनके सहित एकादश इन्द्रियोंमें जितना व्यापार होता है, वह सब प्राणका ही है, वागादि वाह्य इन्द्रियोंमें चलनस्वभाव कर्म और चक्षु आदिमें प्रकाशस्वभाव विषय प्रयुक्त है, इसी कारण वाह्येन्द्रिय कर्मेन्द्रिय और चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रिय कहे जाते हैं । एवं अधिदैवत अग्न्यादिमें जो परिस्पन्द होता है, सो वायुप्रयुक्त है, अतः पूर्ववत् अग्न्यादिमें वायुनामरूपकी योजना करनी चाहिए। अर्थगृहीति (अर्थप्रकाश) तो पूर्वमें कह चुके हैं, अतएव प्राण निखिलस्वरूप है, इसलिए प्रशस्त है। अतएव ध्येय है । अध्यात्म और अधिदैवत वागादि और अग्न्यादिमें प्राणका अनुग्रह उक्त रीतिसे स्फुट ही है, इसलिए यही ध्येय है, यह सारांश है ॥ ६८ ॥

'प्राणोऽध्यात्मम्' इत्यादि । अध्यात्म वागादि सब इन्द्रियोंमें जैसे प्राण श्रेष्ठ है, वैसे ही अधिदैवत अग्न्यादिमें वायु श्रेष्ठ है, उपासक यह धारणा करे कि हम प्राणवायुस्वरूप होकर ही सतत ध्यान करें ॥ ६९ ॥

'आमृत्य०' इत्यादि । उपासक अन्य व्यापारोंको छोड़कर मरणपर्यन्त प्राण देवताका निरन्तर व्यवधानरहित तैलधाराके समान अविच्छिन्न श्रद्धा, सत्कार और पुनः पुनः दीर्घकाल तक चिन्तन करनेसे ध्यानके उत्कर्ष और अपकर्षसे सायुज्य और सालोक्यरूप फल पाता है, यदि उत्कृष्ट ध्यान हुआ, तो सालोक्य फल मिलता है । साधनके तारतम्यसे साध्यमें उत्कर्षापकर्ष होता ही है ॥ ७० ॥

'पूर्वोक्तायाः' इत्यादि । विराट्प्राप्तिरूप फलको देनेवाली पूर्वोक्त प्राणोपासनाका यह अनुवाद है, क्योंकि पूर्वमें भी प्राणकी उपासनाका विधान कर चुके हैं ।

इत्यनात्मविदां भावी संसारः सर्व ईरितः ।
पञ्चमे ब्राह्मणे तेन हेयोऽसौ तत्त्वविद्यया ॥ ७२ ॥

इति वार्त्तिकसारे प्रथमाध्यायस्य पञ्चमं सप्तान्न-ब्राह्मणं समाप्तम् ।

और देवता आदिका भेद भी नहीं है, जिससे कि उसको दूसरा कर्म कह सकें, इसलिए अनुवाद ही इष्ट है, कर्मान्तर इष्ट नहीं है । इस पक्षमें यह जिज्ञासा होती है कि इस अनुवादका फल क्या है ? निष्प्रयोजन अनुवाद पुनरुक्तसे भिन्न नहीं होता, अतः कर्मान्तर है, यही मानना समुचित है । इसका कुछ लोग यों समाधान करते हैं कि कर्मका भेदक उपक्रमभेद ही है, अतः 'स यो हैतान्' इत्यादि वाक्य घटकीभूत 'एतत्' शब्दसे पूर्वोक्त प्राणोपासनाका परामर्श कर उसके धर्मके विधान द्वारा यह वाक्य प्रकृतोपासनाका विधायक ही है, इसलिए प्राणोपासनाका अनुवाद धर्म विधानके लिए सार्थक है, व्यर्थ नहीं है । अतएव 'दध्ना जुहोति' इत्यादि वाक्यघटक 'जुहोति' शब्दसे होमका अनुवाद कर दधिरूप गुणके विधान द्वारा उक्त वाक्य गुणविध्यर्थक होता है, ऐसा पूर्वमीमांसामें सिद्धान्त किया है ॥७१॥

'इत्यनात्म०' इत्यादि । अनात्मवित् अर्थात् आत्मज्ञानशून्य मनुष्योंके भावी सम्पूर्ण संसारका पञ्चम ब्राह्मणमें कथन किया ।

शङ्का—ब्रह्मविद्याके प्रकरणमें संसारका कथन किसलिए किया ?

समाधान—तत्त्वविद्यासे उसकी हानि करनेके लिए, क्योंकि ग्रहणके तुल्य हान भी अज्ञातका नहीं हो सकता और आरम्भमें सुखफलक होनेसे संसारकी जिहासा भी नहीं हो सकती । जिहासाकी उत्पत्तिके लिए दोषका अनुसन्धान आवश्यक है, अतएव अनात्मवादी द्वारा मिथ्यात्वका साधन भी उपयुक्त होता है । संसाररूप अनर्थकी अनुवृत्ति अविद्याप्रयुक्त है । अविद्याकी निवृत्ति तत्त्वज्ञानसे होती है । तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिके लिए उपनिषत्का आरम्भ है । तत्त्वज्ञान वेदान्तमें आत्मैकत्वविज्ञान ही है । द्वैतनिवृत्तिके बिना आत्मामें एकत्व नहीं हो सकता । द्वैतकी निवृत्ति द्वैतके मिथ्यात्वके बिना नहीं हो सकती और मिथ्या ज्ञान अज्ञानके बिना नहीं हो सकता, इसलिए आत्मासे व्यतिरिक्त सकल द्वैतकी निवृत्तिके प्रति हेतुभूत तत्त्वविद्याकी प्रतिपत्तिके लिए वेदान्तशास्त्र है ॥७२॥

इति पञ्चम ब्राह्मण समाप्त ।

अथ षष्ठं ब्राह्मणम् ।

अविद्यासूत्रमारभ्य सार्द्धब्राह्मणवर्णितम् ।
विद्यासूत्रात् पुरोक्तं च जगत्सङ्क्षिप्य वर्ण्यते ॥ १ ॥
अल्पत्वे सति तत्त्यागं सम्भावयति धीर्नृणाम् ।
षष्ठेऽस्मिन् ब्राह्मणे तेन जगत्सङ्क्षिपति श्रुतिः ॥ २ ॥
श्रुतिः ॥ त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थमतो

'अविद्या०' इत्यादि । 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतम्' इत्यादि अविद्यासूत्रसे लेकर विद्यासूत्रसे पूर्व आधे चतुर्थ अध्यायके सहित पञ्चम ब्राह्मणमें वर्णित जगत्का संक्षेपसे वर्णन करते हैं ।

शङ्का—विस्तारसे वर्णन करनेके अनन्तर संक्षेपसे वर्णन करनेकी क्या आवश्यकता ?

समाधान—वक्तव्य विषयका सुखपूर्वक अवबोध हो, इसलिए दो प्रकार हैं—एक संक्षेपसे कथन और दूसरा विस्तारसे कथन। एक प्रकारसे किसी वस्तुको कहनेके बाद दूसरे प्रकारसे उस वस्तुका कथन करनेपर वह हृदयंगम हो जाती है ॥ १ ॥

'अल्पत्वे' इत्यादि । संक्षेपसे फिर जगत्का वर्णन करनेमें यह भी अभिप्राय है कि थोड़ेमें समझ कर भी उसके त्यागकी संभावना बुद्धि हो जाती है । इसी कारण इस छठे ब्राह्मणमें श्रुति जगत्का संक्षेपसे वर्णन करती है ॥ २ ॥

'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' इत्यादि श्रुतिका अर्थ—इदं अर्थात् व्याकृत और अव्याकृत एतदुभयात्मक जगत् नाम, रूप और कर्म एतत्त्रितयात्मक ही है, अन्य वस्तु नहीं है । भाव यह है कि अविद्याके विषयत्वरूपसे प्रस्तुत साध्य-साधन-स्वरूपात्मक व्याकृत जगत् प्रत्यक्षरूपसे अनुभूयमान है । इसका फल भी अन्ततः प्राणात्मप्राप्तिपर्यन्त उत्कृष्ट और स्थावरान्तप्राप्ति पर्यन्त निकृष्ट है । और व्याकरणसे पूर्व इसकी जो अवस्था है, वही अव्याकृतशब्दसे कही जाती है । यद्यपि यह अवस्था प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है, तथापि कार्यलिङ्गक अनुमान तथा श्रुति आदि प्रमाणसे सिद्ध होती है । जैसे वृक्षको देखनेसे उसके बीजका अनुमान होता है । बीजका मतलब बीजनिष्ठ अङ्कुरजनन

हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाꣳ सामैतद्धि सर्वैर्नामभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि विभर्त्ति ॥ १ ॥

शक्तिमें है; क्योंकि शक्ति प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है, किन्तु अङ्कुरके देखनेसे जानी जाती है कि इसमें उक्त शक्ति है, वैसे ही संसारसे अव्यक्त शक्तिकी अवस्थाका परिज्ञान होता है।

शङ्का—तीन कौन हैं ? क्या वाग्, मन और प्राण हैं ?

समाधान—नहीं, श्रुति स्वयं उक्त संशयके निरासके लिए कहती है कि वे तीन नाम, रूप और कर्म हैं। ये तीनों अनात्मा ही हैं, क्योंकि 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इस श्रुतिके अनुसार ब्रह्म ही आत्मा है। इस कारण नामादिरूप जगत्से विरक्त होना चाहिए। इसीलिए 'त्रयं वा' इत्यादि उत्तर ग्रन्थका आरम्भ है। इस अनात्म जगत्से विरक्त हुये बिना 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस बुद्धिसे उपासना नहीं हो सकती। बाह्य और आत्मा दोनोंमें प्रवृत्ति एक-साथ नहीं हो सकती, इसलिए प्रत्यगात्मामें प्रवृत्तिके लिए बाह्य विषयोंसे वैराग्य आवश्यक है; अतएव काठक श्रुति है—

'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥'

शङ्का—व्याकृत और अव्याकृतात्मक क्रिया-कारक-फलरूप संसार नाम-रूपात्मक ही है, उसमें आत्मत्वकी संभावना नहीं करनी चाहिए, यह कैसे जान सकते हो ?

समाधान—अनुमान द्वारा जानते हैं। 'इदं त्रयम्' इस प्रतिज्ञात अर्थमें हेतुके प्रदर्शनके लिए 'तेषाम्' इत्यादि उत्तर वाक्य है। सामान्य और विशेषात्मक नामोंमें नाम-साभान्य नामविशेषका उपादान है। इसमें श्रुति हेतु कहती है—'अतो हि' इत्यादिसे। नामसामान्यसे चैत्र, मैत्र इत्यादि नाम-विशेषोंकी उत्पत्ति होती है। कार्यमात्र उपादानके बिना स्वतन्त्र नहीं रह सकता, क्योंकि कार्यकारणका तादात्म्य ही सम्बन्ध माना जाता है। लोकमें भी तन्तुके बिना पट, मृत्तिकाके बिना घट कहां देखा जाता है ? अतः अनुमानका आकार यों—'नामविशेषाश्चैत्रमैत्रादयो नाम-सामान्यात् तत्त्वतो न भिद्यन्ते, तत्कार्यत्वात्, यद् यत्कार्यम् तत् ततो न तत्त्वतो भिद्यते, यथा मृदो घटः'—समझना चाहिए। इस अभिप्रायसे श्रुति कहती है—सब वाणियोंका वाग्—शब्दसामान्य—उक्थ—उपादान कारण—है। जैसे सामान्य

ब्रह्मादिस्थावरान्तं यज्जगत्त्रयमेव हि ।
नाम रूपं कर्म चेति नाऽस्ति वस्त्वन्तरं क्वचित् ॥ ३ ॥
नामानि नामसामान्ये सर्वाण्यन्तर्भवन्ति हि ।
उद्भूतिस्थितिनाशेषु न विशेषाः पृथक्स्थिताः ॥ ४ ॥

सेंधा नमकका ढेला सेंधा नमकके कणोंका कारण होता है, वैसे ही शब्दसामान्य शब्दविशेषका कारण होता है। इसी प्रकार विशेषोंका सामान्यमें अन्तर्भाव होता है।

शङ्का—कैसे सामान्यविशेषभाव है ?

समाधान—यह शब्दविशेषोंका साम है। सामका अर्थ प्रकृतमें सामान्य है; यह सामान्य शब्द (वाग्) नादस्वरूप है। सामान्यके पृथक् करनेपर विशेष कुछ रहता ही नहीं। यदि भिन्न होता, तो घटके हटानेसे वस्तुतः पृथक् पट जैसे रहता है, वैसे ही सामान्यके अभावमें भी विशेष रहता, किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता, इसलिए सामान्यसे अतिरिक्त विशेष नहीं होता, किन्तु सामान्यमें ही विशेष कल्पित है। इसमें अनुमान प्रमाण भी है—'सर्वे नामविशेषाः शब्दसामान्ये कल्पिताः, प्रत्येकं तदनुविद्धत्वात् रज्ज्वदमंशानुविद्धसर्पादिवत्'। यों वाक्सामान्य वाग्विशेषके स्वरूपलाभका हेतु है, अतः सामान्यसे भिन्न वाग्विशेष नहीं है। क्योंकि 'सर्वं नाम तत्सामान्यात् पृथक् न वस्तुतोऽस्ति, तेन आत्मवत्त्वात्, यद्येवमात्मवत् न ततोऽन्यद्वस्तुतोऽस्ति यथा मृदात्मवान् घटो न वस्तुतो मृदोऽन्यः, ऐसा अनुमान है ॥ १ ॥

'ब्रह्मादि०' इत्यादि। ब्रह्मासे (हिरण्यगर्भसे) लेकर स्थावर वृक्षादिपर्यन्त जगत् नाम, रूप और कर्म—इन तीनोंका स्वरूप है, उनसे दूसरी वस्तु कहीं भी नहीं है ॥ ३ ॥

'नामानि' इत्यादि। उत्पत्ति, स्थिति और नाशके समय यह देखा गया है कि सामान्यकी उत्पत्तिसे विशेषकी उत्पत्ति होती है, सामान्यकी स्थितिसे ही विशेषकी स्थिति होती है और सामान्यका नाश होनेपर विशेषका नाश होता है। इसलिए यह मानना आवश्यक है कि विशेष सामान्यात्मक ही है, अन्य नहीं है। अन्यथा घटकी उत्पत्ति, स्थिति और नाशके समय अतिरिक्त पटादि जैसे रहते हैं, वैसे ही सामान्यकी नाशावस्थामें विशेषकी स्थिति भी होनी चाहिए, पर ऐसा होता नहीं है, इसलिए सामान्यात्मक ही विशेष है, तदतिरिक्त नहीं है, यह मानना आवश्यक है ॥ ४ ॥

सामान्याच्चेत् पृथग्भूता लुप्येरन्नेव ते सदा।
ततो नामविशेषाणां तत्सामान्येन सङ्ग्रहः ॥ ५ ॥
रूपकर्मविशेषाणां सङ्ग्रहं योजयेत्तथा।

'सामान्या०' इत्यादि। सामान्यसे विशेष पृथक् है, यदि ऐसा मानोगे, तो विशेषका लोप ही हो जायगा, क्योंकि सामान्यकी अभाव-दशामें विशेषकी स्थिति दिखला नहीं सकते। जहां कहीं विशेष्यकी स्थिति देखते हैं, वहां सामान्यात्मक ही विशेष दृष्टिगोचर होता है। अन्यथा सामान्य-विशेषभाव ही नहीं बन सकता, इस कारण नामविशेषोंका—चैत्र, मैत्र आदिका—सामान्य वाग्शब्दसे संग्रह होता है ॥ ५ ॥

'रूपकर्म०' इत्यादि। उसी रीतिसे रूप और कर्म-विशेषोंका भी सामान्यसे ही संग्रह समझना चाहिए।

शङ्का—कार्यकारणका अभेद मानना तो प्रत्यक्ष-विरुद्ध है, क्योंकि 'इयं मृद्', 'अयं घटः' (यह मट्टी है, यह घट है) तथा यह तन्तु है, यह पट है इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाणसे कार्यकारणका भेद ही प्रतीत होता है। यदि अभेद होता, तो मृद्में घटबुद्धि, घटशब्दका प्रयोग एवं उससे जलाहरणादि कार्य होता, परन्तु ऐसा होता नहीं, अतः कार्य और कारण दोनों अभिन्न हैं, यह विश्वास करने योग्य बात नहीं है। अतएव उक्त अभेदका साधक अनुमान अग्निमें अनुष्णत्वका साधन करनेवाले अनुमानके समान कालात्ययापदिष्ट है अर्थात् बाधित है।

समाधान—ठीक है, कार्यकारणका भेद प्रत्यक्षसिद्ध है, किन्तु श्रुति उन दोनोंके भेदका निषेध करती है। और इसपर भी दृष्टि दीजिए कि भेद तात्त्विक सिद्ध नहीं हो सकता, कारण कि अन्योन्याश्रयादि दोष हैं। भेद माननेपर भिन्नकी प्रतीति होगी और भिन्नकी प्रतीतिसे भेदकी सिद्धि होगी। यदि भेदावगाहिनी प्रतीतिसे भेदकी सिद्धि मानते हो, तो कहो, क्या भेदविशिष्ट बुद्धिसे भेदकी सिद्धि मानते हो या भेदोपलक्षित बुद्धिसे? प्रथम पक्षमें विशिष्टको साधक माननेपर विशेषणको भी साधक मानना पड़ेगा, इस परिस्थितिमें भेद ही भेदका साधक होगा इससे आत्माश्रय दोष होगा। द्वितीय पक्षमें अभेदबुद्धिसे भेदकी सिद्धि माननेपर व्याघात दोष स्पष्ट है। एवं भेदवान्में भेद है कि भेदशून्यमें? प्रथम पक्षमें आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक और अनवस्थादि दोष होंगे।

श्रुतिः ॥ अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषां सामैतद्धि सर्वैं रूपैः सममेतदेषां ब्राह्मैतद्धि सर्वाणि विभर्त्ति ॥२॥

द्वितीय पक्षमें व्याघात दोष होगा। अतः अतात्त्विक (काल्पनिक) भेद प्रत्यक्षादि प्रमाणका विषय है और तात्त्विक भेद निषेधश्रुतिका विषय है, यह मानना चाहिए। इसलिए श्रुतिजन्य कार्यकारणभेदविषयक बोधमें प्रत्यक्षादि प्रतिकूल नहीं हो सकते।

शङ्का—तात्त्विक भेद तो वेदान्ती मानते नहीं है, क्योंकि ब्रह्मभिन्न निखिल-पदार्थ कल्पित हैं, यह उनका परम सिद्धान्त है, अतः निषेध्याभावसे निषेध व्यर्थ है, कल्पित भेदको निषेधविषय भेद मानें, तो प्रत्यक्षादिके साथ स्पष्ट ही विरोध होगा।

समाधान—आपकी भ्रान्तिसे सिद्ध जो तात्त्विक भेद है, वही निषेध-विषय है, आपने काल्पनिक भेदको ही सत्य मान रक्खा है ।

शङ्का—हमको भ्रम नहीं है।

समाधान—तो आपके लिए निषेध भी नहीं है, जिनको कल्पित भेदमें तात्त्विकत्व भ्रम है, उनके लिए निषेध है। भेदके निषेधसे श्रुतिमें अज्ञातज्ञापकत्वप्रयुक्त प्रामाण्य भी उपपन्न होता है। अन्यथा कार्यकारण आदिका भेद लोकसिद्ध है और 'सुवर्णं कुण्डलम्' इत्यादि प्रतीतिसे भेदाभेद भी लोकसिद्ध है, ऐसी अवस्थामें तद्बोधक श्रुतिमें ज्ञातज्ञापकत्वरूप अप्रामाण्यकी प्रसक्ति हो जायगी।

'अथ रूपाणां चक्षु०' इत्यादि श्रुतिका अर्थ—नामव्याकरणके अनन्तर रूप याने रूपविशेष शुक्ल, नील और पीत आदि प्रकाश्य विशेषोंका प्रकाश्य-सामान्य चक्षु कारण है। यहाँ रूपशब्द प्रकाश्यविशेषोंका और चक्षु प्रकाश्यसामान्यका उपलक्षक है, इससे प्रकाश्यसामान्य प्रकाश्यविशेषका कारण है, यह अर्थ होता है।

तात्पर्य यह है कि जो जो बुद्धिसे प्रकाश्य होता है, वे सब रूप ही हैं। शब्द-स्पर्शादिबुद्धि प्रकाश्यरूप है। तैजसत्व दोनोंमें समान है, तैजस ही प्रकृतमें रूपपदसे विवक्षित है। संपूर्ण कार्यभूत वस्तु सूर्य्यके तेजसे परिपक्व हो कर आत्मलाभ करती है। उक्त रीतिसे रूपसामान्य रूपविशेषका कारण होता है और कार्य एवं कारणके अभेदकी सिद्धि हो चुकी है, इसलिए रूपविशेष रूपसामान्यसे अभिन्न है।

शङ्का—रूपसामान्यमें रूपविशेषका वस्तुतः अन्तर्भाव होता है, आप ऐसा मानते हैं, पर वह आपका अपसिद्धान्त है; ब्रह्मभिन्न मिथ्या है, यह आपका

अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषां सामैतद्धि सर्वैः कर्मभिः संममेत्तदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति। तदेतत्त्रयꣳ सदेकमयमात्माऽऽत्मो वा एकः सन्नेतत्त्रयं तदेतदमृतꣳ सत्येन च्छन्नं प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः ॥ ३ ॥

इत्युपनिषदि प्रथमाध्याये षष्ठं ब्राह्मणं समाप्तम्।
इति प्रथमोऽध्याय ॥ ३ ॥

शब्दस्पर्शादयः सर्वे रूपात्मानो निरूपणात् ॥ ६ ॥

सिद्धान्त है, इसके अनुसार वस्तुतः सामान्यविशेष ही जब नहीं हैं, तब वास्तवमें उसका अन्तर्भाव कैसा ?

समाधान—सत्य है, कल्पित सामान्यविशेषको तो हम भी मानते ही हैं और उसीके अनुसार अन्तर्भाव भी करते हैं। 'एतदेषां साम' इसका पूर्ववत् अर्थ है। सामका सामान्य अर्थ है। ब्रह्म आश्रयरूप सामान्य ही रूपविशेषका आश्रय है, क्योंकि सामान्य ही विशेषका धारण करता है।

नाम और रूपमें अभेदका निरूपण करनेके अनन्तर कर्मके अभेदका निरूपण होता है—

'अथ कर्मणामात्मा' इत्यादि श्रुतिका अर्थ—सब कर्मविशेषोंका—श्रवण, मनन, दर्शन, चलनात्मक आदिका—क्रियासामान्यमें अन्तर्भाव समझना चाहिए।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—सब कर्मविशेषोंका आत्मा (शरीर) सामान्य है, क्योंकि प्राणीमात्र शरीरसे ही कर्म करते हैं और शरीरमें ही सब कर्मोंकी अभिव्यक्ति भी होती है, अतः 'तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम्', इस न्यायसे कर्मसामान्य शरीर ही है, नामविशेषका नामसामान्यमें और रूपविशेषका रूपसामान्यमें जैसे अन्तर्भाव होता है, वैसे ही क्रियाविशेषका क्रियासामान्यमें अन्तर्भाव समझना चाहिए ॥३॥

'शब्दस्पर्शादयः' इत्यादि। शब्द, स्पर्श आदि सब रूपात्मा ही हैं, क्योंकि वे सब बुद्धिसे प्रकाश्य है। नामादित्रितयका—नाम, रूप और कर्म इन तीनोंका—संग्रह कार्यकरणसंघात्मा शरीरसे हो जाता है। नाम, रूप और कर्म—ये तीनों त्रिदण्डविष्टम्भकके तुल्य संहत होकर एक होते हैं। तिपाई आदिमें

नामादित्रितयस्याऽपि स्यात्सङ्घातेन सङ्ग्रहः ।
त्रिदण्डविष्टम्भ इव वपुष्येकीभवेत्त्रयम् ॥ ७ ॥

जैसे तीन दण्डे लगे रहते हैं, वे तीनों परस्पराश्रित रहते हैं, वैसे ही ये तीनों संहत होते हैं।

शङ्का—इन तीनोंमें कैसे इतरेतराश्रय है ? नाम और कर्म विषयरूपको लेकर ही हो सकते हैं। विषयके बिना नाम और रूप नहीं देखे जाते। रूप भी नाम और कर्मसे ही अभिव्यक्त होता है। नाम और कर्मके बिना कोई वस्तु नहीं होती। वाचकसे वाच्यकी वाच्यसे वाचककी और दोनोंसे क्रियाकी और क्रियासे वाच्य-वाचकोंकी अपेक्षा दृष्टचर है। अतएव इन तीनोंमें अन्योन्याभिव्यञ्जकत्व है। रूप रहनेपर नामका संहार (लय) होता है। नाम रहनेपर रूपका संहार, नामरूप दोनोंके रहनेपर कर्मका संहार और कर्मके रहनेपर उक्त दोनोंका लय होता है, इसलिए इतरेतराश्रय भी है।

शङ्का—तीनोंमें एकता तो विरुद्ध है, यदि तीन हैं, तो एक कैसे ? एक है तो तीन कहां ? तीन एक है, यह कहना तो स्पष्ट विरुद्ध है।

समाधान—यद्यपि नाम, रूप और कर्म स्वरूपतः तीन हैं, किन्तु कार्यकरण-संघातत्वरूपसे तीनों एक ही हैं, जैसे तत्तद् वृक्षत्वरूपसे अनेक वृक्ष होनेपर भी वनत्वरूपसे 'एक वन', 'एक सेना' इत्यादि व्यवहार होते हैं, वैसे ही प्रकृतमें भी है। एकार्थसाधनके लिए नाम, रूप और कर्म—इन तीनोंकी संहति (समुदाय) होती है। वे संहत होकर एक ही भोक्ताके सुख-दुःखप्रद होते हैं, तथा एक शरीरके आरम्भक होते हैं।

शङ्का—यदि नामादि तीन केवल देह हैं, तो व्यवहारका सांकर्य क्यों नहीं होता ?

समाधान—व्यवहारदशामें नामरूपादिसे भिन्न शरीर है, ऐसा लोक समझते हैं, इसीसे व्यवहारका सांकर्य नहीं होता। व्याकृताव्याकृतात्मस्वरूप संपूर्ण जगत् नाम, रूप और क्रिया इन तीनोंका स्वरूप ही है। अध्यात्म, अधिदैवत और अधिभूतके भेदसे व्यवस्थित विश्वरूप कर्म एतत्त्रितयात्मक ही है। यही वक्ष्यमाण अमृत सत्यसे छिपा है। प्राण ही अमृत है। प्राण करणात्मक शरीरका उपष्टम्भक—धारयिता—है तथा आत्मभूत, अमृत और अविनाशी है।

अध्यात्मं देह उद्दिष्टोऽधिदैवं तु विराडिति ।
वपुष्यन्तःस्थितः प्राणश्छन्नोऽध्यात्माधिदैवयोः ॥ ८ ॥

'सच्च त्यच्च सत्यम्' इस श्रुतिसे पाँच भूतोंका सत्यशब्दसे व्यवहार किया गया है, क्योंकि इसी तात्पर्यसे सत्यशब्द प्रयुक्त है। नाम और रूप कार्यात्मक शरीरकी अवस्था है, यह ठीक है, किन्तु क्रियात्मक प्राण अवस्थात्मक नाम और रूपका उपष्टम्भक है। और वाह्य-शरीरात्मक उपजनापायधर्मी (उत्पत्ति और विनाशशील) मर्त्यसे छन्न—अप्रकाशीकृत—यह संसारसत्त्व अविद्याविषय ही है, ऐसा दिखलाया गया है। यहाँपर विराट्के शरीरको सत्य कहा है; इसीसे सौत्रका शरीर अमृत और आवृत है। 'प्राणो वा अमृतम्' इस वाक्यसे करणात्मक लिङ्गात्माका निर्देश किया गया है। पिण्डके मरनेपर भी उक्त प्राणका मरण नहीं होता, इसलिए अमृत कहलाता है ॥ ७ ॥

'अध्यात्मम्' इत्यादि। 'तदेतदमृतम्' इत्यादि वाक्यके तात्पर्यका निरूपण करनेके लिए अध्यात्म और अधिदैवतका अर्थ कहते हैं। श्रुतिमें तदेतत् इन दो पदोंसे अध्यात्म और अधिदैवतकी विवक्षा है। अध्यात्मशब्दसे अध्यात्म देह कहा जाता है और अधिदैवशब्दसे विराट् निर्दिष्ट है, शरीरान्तःस्थित प्राण अध्यात्म और अधिदैवसे आच्छन्न तिरोहित है।

भाव यह है कि नाम, रूप और क्रियात्मक तदेतच्छब्दबोध्य विराट्स्वरूप नामरूपात्मक सत्यसे आच्छन्न है अर्थात् सत्यशब्दित विराट्-शरीरकी अपेक्षा सौत्र शरीर अमृत और आवृत्त है। 'अध्यात्मं प्राणो वा अमृतम्' इत्यादि वाक्यका अर्थ यह है कि शरीरमें करणात्मक प्राणसे लिङ्गात्मा विवक्षित है। पिण्डका नाश होनेपर भी लिङ्गात्मा प्राण नष्ट नहीं होता, इसलिए अमृत कहा जाता है। नाम और रूप सत्य हैं, इसका अर्थ यह है कि पृथिवी, अग्नि, जल—ये तीनों भूत सत्संज्ञक हैं और वायु, आकाश—ये दो भूत त्यत्संज्ञक हैं, इसलिए सत्यशब्दसे पांचों भूतोंका ग्रहण इष्ट है। पञ्चीकृत पाँच भूत और उनके कार्य सब सत्य हैं। विराट्का शरीर कार्य है। अपञ्चीकृत पाँच भूत और उनके कार्य सदृश करणरूप सूत्राख्य जो लिङ्ग है, वह सूत्रका शरीर है, ऐसा वेदान्तियोंका

नित्यः प्राणो लिङ्गरूप आसंसारविमोक्षणात् ।
सोऽनित्यपिण्डस्याऽऽधारो गृहस्तम्भवदान्तरः ॥ ९ ॥
सोऽयं देहादिसङ्घातो नामादित्रयसङ्ग्रहः ।
सङ्घाते दृश्यते नामरूपकर्मत्रयं जनैः ॥ १० ॥
एतद्दृष्टान्ततः केचिद्भेदाभेदौ परात्मनि ।
आहुस्तत्तु न युक्तं स्यात् परस्परविरोधतः ॥ ११ ॥

सिद्धान्त है। 'क्रियात्मकस्तु प्राणः' इस भाष्यसे करणका यथार्थ स्वरूप कहते हैं। इसके भी अन्तर्गत प्राण है, जो विज्ञानात्मा कहा जाता है।

शङ्का—क्या प्राण ज्ञानरूप परमात्मा ही है ?

समाधान—नहीं, प्राण संसारकी समाप्ति पर्यन्त ही स्थिर है, अतः उपाधि और उपाधिमान्के एकत्वकी विवक्षासे विज्ञानात्मा कहा गया है। इसलिए इसमें अमृतत्व सापेक्ष है। ज्ञानकर्मके अनुसार शरीर ग्रहण करता है। अतएव श्रुतिमें कहा गया है कि 'समः प्लुषिणा समो नागेन' इत्यादि।

अज्ञानसे देहद्वयका अभिमान करनेवाला और दोषदृष्टिसे संसारसे विरक्त हुआ पुरुष ही विद्याका अधिकारी है, यह अजातशत्रु और बालाकीके संवादमें अतिस्फुट है। सूक्ष्म शरीर यद्यपि अनात्मा है, तथापि स्थूल शरीरसे आच्छन्न होनेके कारण दुर्ज्ञेय है और दुर्ज्ञेय सूक्ष्म शरीरसे आच्छन्न होनेके कारण प्रत्यगात्मा भी दुर्ज्ञेय है, अतः आत्मज्ञानमें अधिक अवधानकी अपेक्षा है ॥ ८ ॥

'नित्यः प्राणो' इत्यादि। जब तक संसार रहता है, तब तक स्थायी होनेके कारण उक्त लिङ्गस्वरूप प्राण नित्य है—अमृत है और अनित्य पिण्ड शरीरका नाश होनेपर भी नष्ट नहीं होता। प्राण अनित्य पिण्डरूप शरीरका आधार है; प्राणके बिना शरीर गिर जाता है। जैसे घरका आधार स्तम्भ होता है, वैसे ही शरीरका आधार प्राण है ॥ ९ ॥

'सोऽयं देहादि०' इत्यादि। नाम, रूप और कर्म एतत्-त्रितयात्मक यह देह-संघात है। संघातमें इन नाम, रूप और कर्मको लोग देखते हैं। श्रुत्यर्थके व्याख्यानसे ही इस श्लोकका विशेष व्याख्यान हो चुका, इसलिए फिर व्याख्यानकी आवश्यकता नहीं है ॥ १० ॥

'एतद्दृष्टान्ततः' इत्यादि। कोई वेदान्ती—यादवप्रकाशीय लोग—

कहते हैं कि ब्रह्म और जगत्का भेदाभेद है। इसमें साधक अनुमान यह कहते हैं कि 'ब्रह्म जगतः भिन्नाभिन्नम्, वस्तुत्वात्, देहादिवत्'। जैसे देह देहत्वरूपसे अभिन्न है और नाम-रूपादिसे भिन्न है। एवं जैसे घटादि वस्तुरूप जगत् घटत्वादिरूपसे अभिन्न है और नाम-रूप आदिसे भिन्न है, वैसे ही ब्रह्म भी जगत्से भिन्न और अभिन्न है। भाव यह है कि 'त्रयं सत् एकमेव' अर्थात् ये तीन होते हुए भी एक हैं—नाम, रूप और क्रिया—ये तीनों देहत्वरूपसे एक होते हैं और नाम, रूप और क्रियाके भेदसे तीन होते हैं, अतः देह नाम-रूपादिसे भिन्नाभिन्न है। देहमें जैसे एकत्व और नानात्व है, वैसे ही ब्रह्ममें भी एकत्व और नानात्वका अनुमान होता है।

शङ्का—यदि ब्रह्ममें अनेकत्व भी मानोगे, तो 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिसे विरोध होगा?

समाधान—यद्यपि ब्रह्ममें प्रपञ्चानुकूल शक्तियाँ अनेक हैं, तथापि 'शक्ति-शक्तिमतोरभेदः' इस न्यायसे वे प्रपञ्चानुकूल शक्तियाँ ब्रह्मस्वरूप हैं, अतः ऐक्य श्रुतिविरुद्ध नहीं है।

शङ्का—भिन्न और अभिन्न—ये दोनों प्रकार एकमें नहीं हो सकते, क्योंकि व्याघात दोष होगा, अतः उक्त अनुमान आभास है।

समाधान—अनेक गोव्यक्तियोंमें 'गौर्गौः' इत्यादि प्रत्ययके अनुरोधसे एक ही गोत्व है। यद्यपि सास्नादि परस्पर व्यावृत्त हैं, तथापि उनसे गोत्व व्यावृत्त नहीं माना जाता, क्योंकि 'खण्डो गौः मुण्डो गौः' इत्यादि समानरूपसे अभेदबुद्धि होती है, एवं सब भाव एकत्वानेकत्व-व्यवस्थासे व्यवस्थित हैं।

शङ्का—गो, घट आदि स्थूल पदार्थ हैं, उनमें एकत्व और अनेकत्व उपाधि-भेदसे किसी तरह हो सकता है। ब्रह्म तो 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इत्यादि श्रुतिसे अतिसूक्ष्म है, उसमें वह भेद कैसे रह सकता है?

समाधान—स्थूलके दृष्टान्तसे सूक्ष्ममें भी एकत्वानेकत्वस्थितिका अनुमान विद्वान् कर सकते हैं।

शङ्का—अनुमान तो यही करेंगे कि 'ब्रह्म भिन्नाभिन्नम्, वस्तुत्वात्, गवादिवत्' पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि इसके विपरीत यह अनुमान हो सकता है कि 'ब्रह्म न भिन्नाभिन्नम्, निःसामान्यत्वात्, अन्त्यविशेषवत्।

समाधान—निःसामान्यत्वका अर्थ सामान्यभिन्नत्व है अथवा सामान्या-

दृश्यस्य मायिकत्वेन न विरोधोऽस्ति कश्चन ।
तदेवं ब्राह्मणे षष्ठे जगत्सङ्ग्रह ईरितः ॥ १२ ॥

भावत्त्व ? प्रथम पक्षमें खण्ड, मुण्ड आदिमें व्यभिचार है, क्योंकि सामान्यभिन्नत्व हेतु खण्डादिमें है फिर भी वे भिन्नाभिन्न ही हैं। द्वितीय पक्षमें गोत्वादिमें व्यभिचार स्फुट है; गोत्वादिमें सामान्याभाव तो है ही, पर साध्य नहीं है, अतः प्रत्यनुमान ठीक नहीं है, इसलिए पूर्वोक्त अनुमानसे भिन्नाभिन्नत्व मानना ही समुचित है । और प्रत्यनुमानमें दृष्टान्त भी नहीं है, क्योंकि अन्त्य विशेषकी सत्तामें कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए दृष्टान्तशून्य प्रत्यनुमान अयुक्त है । इससे पूर्वोक्त अनुमानसे ब्रह्ममें एकत्वानेकत्व सिद्ध होता है ।

भिन्नाभिन्न पक्षका खण्डन करते हैं—अनुमानसे ब्रह्म भिन्नाभिन्न है, यह सिद्ध होनेपर विकल्प होता है कि क्या उक्त ब्रह्मकी सिद्धि अनुमानसे मानते हो या आगमसे ? आद्य पक्षमें आगम तो इस अर्थमें प्रमाण ही नहीं हो सकता; बल्कि अनुमानसे ज्ञात अर्थका बोधक आगम अनुवादक ही होगा । इसलिए ईदृश ब्रह्ममें वेदान्त प्रमाण नहीं हो सकता । द्वितीय पक्षमें नानारस ब्रह्ममें वेदान्तका तात्पर्य ही नहीं हो सकता, क्योंकि तात्पर्यके निर्णायक उपक्रमोपसंहार आदि छः प्रकारके लिङ्गोंमें कोई भी लिङ्ग नहीं है । प्रत्युत एकरस ब्रह्म है, इसी अर्थमें उक्त लिङ्ग हैं, अतएव 'अस्थूलमनणु', 'नेति नेति' इत्यादि वाक्य संगत होते हैं । प्रवेशवाक्यसे भी एकरस ब्रह्म प्रतीत होता है—'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये' इत्यादि । विश्वम्भर अग्नि जैसे विश्वमें सामान्यरूपसे प्रविष्ट है, वैसे सृष्टिकर्ता परमात्मासे भी सर्वजगत् व्याप्त है । विश्वम्भरसे अग्नि लक्षित है । यों भिन्नाभिन्नत्वमतका निरास संक्षेपसे किया । विशेषजिज्ञासुओंको वार्त्तिक देखना चाहिए ।

भिन्नाभिन्नत्वपक्ष यदि परस्पर विभिन्न है, तो अभिन्न नहीं हो सकता, अभिन्न है, तो भिन्न नहीं हो सकता । एकनिरूपित भेदाभेद एकमें बाधित है । सामान्य-विशेषके सम्बन्धसे अभेदव्यवहार होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'संबन्धो वा भेदव्यवहारविषयः, संबन्धत्वात्, संयोगवत्, इत्यादि प्रसिद्ध है ॥ ११ ॥

'दृश्यस्य' इत्यादि । दृश्य प्रपञ्च मायिक है, इसलिए अद्वैतैकरस ब्रह्ममें

ब्रह्मण्यध्यारोप एवं तृतीयेऽध्याय ईरितः ।
मुमुक्षुभिर्निवर्त्योऽयं तत्त्वगोचरविद्यया ॥ १३ ॥
द्वे सहस्रे तथा सप्त शतान्यथ तु षोडश ।
सङ्ग्रहाः सङ्ग्रहेणा श्लोकास्तृतीयाध्यायसङ्ग्रहे ॥ १४ ॥

इति वार्तिकसारे प्रथमाध्यायस्य षष्ठं ब्राह्मणं समाप्तम् ।
प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।

प्रत्यक्षादिविरोध नहीं हो सकता, कारण कि प्रत्यक्षादि उस व्यावहारिक प्रपञ्चसत्ताका ग्रहण करते हैं जो श्रुतिसे निषेध्य नहीं है और जो निषेध्य पारमार्थिक सत्त्व है, वह प्रत्यक्षविषय नहीं है। इस प्रकार षष्ठ ब्राह्मणमें संक्षेपसे जगत्का संग्रह कहा गया है ॥ १२ ॥

'ब्रह्मण्य०' इत्यादि । तृतीय अध्यायमें ब्रह्ममें जगत्का आरोप कहा गया है, अतः मुमुक्षुओंको तत्त्वबुद्धिसे (आत्मतत्त्व या आत्मैकत्व बुद्धिसे) संसारकी निवृत्ति करनी चाहिए। जैसे शुक्तिमें आरोपित रजतकी शुक्तिके साक्षात्कारसे निवृत्ति होती है, वैसे ही ब्रह्ममें आरोपित जगत्की ब्रह्मसाक्षात्कारसे निवृत्ति होती है ॥ १३ ॥

'द्वे सहस्रे' इत्यादि । दो हजार सात सौ सोलह श्लोक तृतीयाध्याय-संग्रहमें कहे गये हैं ॥१४॥

[और वार्तिकमें चार हजार दो सौ पन्द्रह श्लोक हैं। इनकी अपेक्षा वार्तिकसारमें थोड़े श्लोक हैं, यह उचित ही है, क्योंकि विस्तृत वार्तिकके संक्षेपके लिए ही इस सारग्रन्थकी प्रवृत्ति है] ।

म० म० पण्डितवर श्रीहरिहरकृपालु द्विवेदिविरचितवार्तिकसार-
भाषानुवादमें षष्ठ ब्राह्मण समाप्त ।

इति प्रथमोऽध्यायः ।

ॐ

* श्रीगणेशाय नमः *

बृहदारण्यकवार्तिकसार

[भाषानुवादसहित]

द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमं ब्राह्मणम्

योऽध्यारोपस्तृतीयोक्तश्चतुर्थेऽसावपोद्यते ।
विद्यासूत्रस्य तात्पर्यमथवाऽत्र निरूप्यते ॥ १ ॥

'आत्मेत्येवोपासीत' इत्यादि श्रुति-वाक्यसे आत्माकी उपासनाका विधान किया गया है। आत्माको खोज लेनेसे सब कुछ मिल जाता है, क्योंकि 'आत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यसे केवल आत्मतत्त्व ही विद्याका विषय है, और जो भेददृष्टिका विपय है, वह तो 'अन्योऽसौ अन्योऽहमस्मीति न स वेद' इत्यादि श्रुतिसे अविद्याका ही विषय है, इस प्रकार सब उपनिषदोंमें विद्या और अविद्याका विषय अलग-अलग कहा गया है। उनमें अविद्याके विषयका साधन आदि भेदविशेषोंके विनियोगसे तृतीयाध्यायकी समाप्ति तक कथन कर चुके, अब यह कहते हैं कि वह उक्त अविद्याका विषय दो प्रकारका है—एक आन्तर और दूसरा बाह्य। आन्तर प्राण है, जो गृहके आधारभूत खम्भोंके समान शरीरका आधारभूत, प्रकाशक और अमृतस्वरूप है। और जो बाह्य है, वह कार्यरूप, घरके तृणादिके समान, अप्रकाशात्मक और सत्यशब्दवाच्य है; इसीसे अमृतशब्दवाच्य प्राण प्रच्छन्न है, यही उपसंहारमें कहा गया है। इसी प्राणका बाह्य आधारके भेदसे अनेक प्रकारका विस्तार है। प्राण एक देवता कहा जाता है। उसी एक प्राणका बाह्य पिण्ड, विराट्, वैश्वानर, आत्मा, पुरुषविध, प्रजापति और हिरण्यगर्भ इत्यादि पिण्डप्रधानके वाचक शब्दोंसे उल्लेख किया जाता है।

सन्ति षड् ब्राह्मणान्यत्र प्रथमं ब्राह्मणत्रयम् ।
अपवादप्रधानं सद्ब्रह्मतत्त्वनिरूपकम् ॥ २ ॥

यही एक और अनेक ब्रह्म कहलाता है, इससे दूसरा नहीं है, सब शरीरोंमें यही प्रविष्ट है, चेतनावान् कर्ता और भोक्ता है; इस प्रकार अविद्याविषयको ही आत्मा समझनेवाला गार्ग्य ब्राह्मण वक्ता है और वस्तुतः आत्मदर्शी अजातशत्रु श्रोता है । इस प्रकार पूर्वोत्तरपक्षरूप आख्यायिकासे कहा गया अर्थ श्रोताके चित्तमें अनायास आ जाता है । आख्यायिकाके बिना तर्कशास्त्रके समान केवल अर्थ कहनेसे श्रोताकी समझमें ठीक नहीं आता, क्योंकि यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म है; अतएव काठकमें 'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः' इत्यादि वाक्य है । उपनिषद्का अर्थ सुन्दर सुसंस्कृत बुद्धिसे वेद्य है, संस्काररहित सामान्य बुद्धिसे वेद्य नहीं है, अतएव 'आचार्यवान् पुरुषो वेद', 'आचार्याद्धैव विद्या' इत्यादि छान्दोग्यमें भी कहा है । यहाँ भी शाकल्य और याज्ञवल्क्यके संवादसे ब्रह्म अतिगम्भीर है, यह स्पष्टरूपसे कहेंगे । अतः अतिगम्भीर ब्रह्मविद्या, पूर्वपक्ष और सिद्धान्तरूपसे आख्यायिका द्वारा निरूपित होनेपर ही, ज्ञात होती है; इसलिए इस अध्यायमें आख्यायिकाका आरम्भ करेंगे—**'दृप्तबालाकिः'** इत्यादिसे ।

'योऽध्यारोप०' इत्यादि । तृतीयमें जिस संसारका ब्रह्ममें आरोप किया है, उसीका चतुर्थमें अपोह करते हैं अथवा इसमें विद्यासूत्रके तात्पर्यका निरूपण करते हैं । 'आत्मेत्येवोपासीत' यह विद्यासूत्र है । आत्माके साक्षात्कारसे सब ज्ञेय समाप्त हो जाता है, क्योंकि ब्रह्मसे अतिरिक्त कुछ है ही नहीं । आत्मज्ञान ही परमपुरुषार्थका हेतु है, इसमें उक्त विद्यासूत्र ही प्रमाण है । उक्त सूत्रका अर्थ है—आत्माका—अद्वयात्माका—अनुसंधान करे । अनर्थ और अनर्थकी हेतु अविद्या है । 'तद्धेदम्' इत्यादि अविद्याका सूत्र है अर्थात् यहाँसे अविद्याका आरम्भ कर 'अथ योऽन्याम्' इत्यादिसे उसका अनुवाद कर अध्यायकी समाप्ति तकके सन्दर्भसे अविद्याकार्यका विस्तारसे निरूपण किया है । उक्त विस्तृत कार्यका संक्षेप 'त्रयं वा इदम्' इत्यादिसे किया । 'त्रयम्' इत्यादिका भी संक्षेप स्थूलसूक्ष्मदेहात्मसंघात अर्थात् कार्यकारणसंघात है, विश्वरूप प्रजापति कार्य है और अन्तर्भावित अशेष जगत् तथा अनन्तदेवताक प्राण—प्रजापति—करण है ॥ १ ॥

'सन्ति षड्' इत्यादि । इस अध्यायमें छः ब्राह्मण हैं । उनमें पहलेके तीन ब्राह्मण, अपवाद प्रधान होकर, ब्रह्मतत्त्वका निरूपण करते हैं ॥ २ ॥

चतुर्थे त्वात्मसूत्रस्य साक्षात्तात्पर्यविस्तृतिः ।
फलानुसारी सार्वात्म्यविस्तारः पञ्चमे स्मृतः ॥ ३ ॥
विद्यावंशस्य विस्तारो जपार्थं षष्ठ ईरितः ।
जपाद् गुरूननुस्मृत्य विद्यां प्राप्नोति सुस्थिराम् ॥ ४ ॥
अपवादप्रधानं यद् ब्राह्मणत्रयमीरितम् ।
तत्राऽऽद्येनाऽऽत्मता तावत्प्राणादीनामपोद्यते ॥ ५ ॥
अतः प्राणात्मवाद्यत्र बालाकिः पूर्वपक्ष्यभूत् ।
ब्रह्मात्मतत्त्वविद्राजा सिद्धान्ती प्रतिवक्ति तम् ॥ ६ ॥
सुखावबुद्धये यद्वा श्रद्धाचारादिसिद्धये ।
आख्यायिका सुखाद्बोध उक्तिप्रत्युक्तितो भवेत् ॥ ७ ।

'चतुर्थे' इत्यादि । चतुर्थ ब्राह्मणमें उक्त आत्मसूत्रका साक्षात् किसमें तात्पर्य है, उसका विस्तार किया गया है और पञ्चम ब्राह्मणमें फलानुसारी सर्वात्मभावका निरूपण किया गया है ॥ ३ ॥

'विद्यावंशस्य' इत्यादि । छठे अध्यायमें जपके लिए विद्यावंशका विस्तार कहा गया है । जपसे विद्यागुरुओंका अनुस्मरण कर स्थिर विद्या होती है ॥ ४ ॥

'अपवाद०' इत्यादि । जो पहलेके तीन ब्राह्मण अपवादप्रधान हैं, उनमें प्रथम ब्राह्मणसे प्राणमें आत्मत्वका निराकरण किया गया है अर्थात् प्राण आत्मा नहीं है, यह स्फुट किया गया है ॥ ५ ॥

'ततः' इत्यादि । अतः पहले आख्यायिकामें प्राणको आत्मा माननेवाले बालाकि पूर्वपक्षी हुए हैं और ब्रह्मात्मतत्त्वको जाननेवाले राजा अजातशत्रुने सिद्धान्ती बनकर पूर्वपक्षी बालाकिके मतका निराकरण किया है । इस पूर्वोत्तर-पक्षकी शैलीसे आत्माका अवधारण सहजमें हो जाता है ॥ ६ ॥

'सुखावबुद्धये' इत्यादि । आख्यायिकासे दुरूह तत्त्वका भी सुखसे अवबोध हो जाता है, क्योंकि पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षसे गम्भीर तत्त्वका सुखसे बोध होता है, यह प्रत्येकके अनुभवसे सिद्ध है । एवं श्रद्धा और आचार आदिकी सिद्धिके लिए भी आख्यायिका है ॥ ७ ॥

अपृष्टोऽपि ब्रह्म तेऽहं ब्रवाणीति यदुक्तवान् ।
गार्ग्यस्तेनाऽजातशत्रोः श्रद्धालुत्वं प्रतीयते ॥ ८ ॥

'अपृष्टोऽपि' इत्यादि । बिना पूछे गार्ग्य अजातशत्रु नामक राजाके पास जाकर कहने लगा कि तुमसे ब्रह्मके विषयमें कुछ कहेंगे ।

शङ्का—'नाऽपृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् न चाऽन्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥'

(पूछे बिना किसीसे कुछ कहना नहीं चाहिए, अतः बुद्धिमान् पुरुष जानता हुआ भी जड़के समान आचरण करे) इस मानवधर्मशास्त्रके अनुसार प्रश्नके बिना स्वयं कहनेका निषेध है, फिर अजातशत्रुके प्रति गार्ग्य बिना पूछे ब्रह्मके विषयमें क्यों कहने लगा ?

समाधान—निषेधका अभिप्राय यह है कि अपात्रके प्रति विद्योपदेश नहीं करना चाहिए। यथायोग्य पात्रताका निर्णय कहीं प्रश्नसे भी होता है, कहीं श्रद्धा आदिसे होता है । प्रकृतमें पात्रताका निर्णायक प्रश्न नहीं है, किन्तु राजा श्रद्धालु है, इसलिए प्रश्नके बिना भी ब्रह्मविद्योपदेश अयुक्त नहीं है अथवा 'ब्रह्म ब्रवाणि' का अर्थ है—ब्रह्म पृच्छानि अर्थात् ब्रह्म तुमसे पूछते हैं । धातु अनेकार्थक माने जाते हैं, इसलिए 'ब्रू' धातुका प्रश्न भी अर्थ हो सकता है । अतएव 'अधीहि भगवो ब्रह्म' यहाँ 'अधीहि' का 'अध्यापय' अर्थ किया जाता है ।

शङ्का—ऐसा माननेसे उक्त वचनके साथ विरोधकी शङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि गार्ग्यने अपनेको अपूर्ण ब्रह्मज्ञानी समझकर और अजातशत्रुको पूर्ण ब्रह्मज्ञानी समझकर पूर्ण ब्रह्मज्ञानके लिए उससे पूछा ।

समाधान—हो सकता, यदि यथाश्रुत अर्थमें श्रुतिकी उपपत्ति न होती । अनुपपत्ति केवल यही है कि अपृष्ट क्यों कहा, इसका उत्तर यह है कि श्रद्धालु, अधिकारी एवं विनयान्वित जिज्ञासुके प्रति प्रश्नके बिना भी विद्वानोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश करना चाहिए । अतएव—

अधर्मेण तु यः प्राह यश्चाऽधर्मेण पृच्छति ।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाऽधिगच्छति ॥
विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्य्यवत्तमा ॥

श्रद्धालुरधिकारी यो जिज्ञासुर्विनयान्वितः ।
अपृष्टेनाऽपि वक्तव्या तस्मै विद्येति शास्त्रतः ॥ ९ ॥
विप्रोपसत्तिं यद्राजा निपिपेध ततोऽधमः ।
उत्तमश्चैवमाचार इति विज्ञापितं भवेत् ॥ १० ॥

इत्यादि वचनोंके अनुसार अनधिकारीको विद्याका उपदेश नहीं देना चाहिए, यही ज्ञात होता है । इसी तात्पर्यका अवलम्बन करके उक्त निषेध भी है ।

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा ।
विद्या तत्र न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥

इस प्रकार अयोग्यमें विद्यादानका निषेध होनेसे योग्यमें विद्यादान करना चाहिए, यह स्फुट प्रतीत होता है ।

शङ्का—योग्य अधिकारीको ब्रह्मविद्याका उपदेश करना ही चाहिए, इस उद्देश्यसे यदि उक्तार्थमें गार्ग्यकी प्रवृत्ति हुई, यों मानो, तो योग्य ब्राह्मण-व्यक्तिको छोड़कर उक्त राजाके प्रति प्रवृत्ति क्यों हुई ? इसके उत्तरमें यह कहना तो निर्मूल है कि उस समय योग्य कोई ब्राह्मण था ही नहीं ।

समाधान—गार्ग्य दैववित्तसे पूर्ण था और राजा मानुष वित्तसे पूर्ण था अर्थात् गार्ग्य विद्वान् थे और राजा धनी थे । विद्वान्को धनकी इच्छा थी और राजाको विद्याकी इच्छा थी । परस्पर आदान-प्रदानकी इच्छासे राजाके प्रति बालाकिकी प्रवृत्ति उचित ही है ।

शङ्का—तो क्या बालाकि धनके कामुक थे ? यदि हाँ कहो, तो वे ब्रह्मज्ञानी कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—दो प्रकारके द्रव्योंसे पूर्ण मनुष्य ही सब कर्मोंका अधिकारी होता है; इसलिए अपने अधिकारकी सिद्धिके लिए बालाकिका राजाके साथ संबन्ध करना समुचित ही है ॥ ८ ॥

'श्रद्धालु०' इत्यादि। श्रद्धालु तथा अधिकारीके प्रति, जो जिज्ञासु एवं विनीत है, बिना पूछे भी विद्याका उपदेश करना चाहिए, ऐसी शास्त्रकी विधि है ॥ ९ ॥

'विप्रोपसत्तिम्' इत्यादि । बालाकिको राजाके साथ संवाद करते समय यह प्रतीत होने लगा कि राजा उससे अधिक ब्रह्मवेत्ता थे, जो मन्त्रव्याख्यानके समय स्फुट होगा । अन्तमें गार्ग्यने कहा कि हम ब्रह्मज्ञानके लिए आपके ब्रह्मचारी

प्रश्नोत्तरे स्वयं राजा यदुवाच ततो गुरुः ।
अबुद्धमपि सच्छिष्यं नोपेक्षेति गम्यते ॥ ११ ॥

होते हैं । आप हमको ब्रह्मविद्याका उपदेश दीजिये । राजाने कहा कि ऐसा नहीं हो सकता । ब्राह्मणका शिष्य राजा होता है, यह स्वभावतः सिद्ध है; किन्तु अनापत्कालमें क्षत्रियका ब्रह्मचारी ब्राह्मण हो, यह प्रतिलोम आचरण है, जो धर्मशास्त्रसे निषिद्ध है । आपत्कालमें ब्राह्मण अब्राह्मणसे विद्याका उपार्जन करे तथा जबतक अध्ययन पूरा न हो, तब तक उसका अनुगमन भी करे; अध्ययनकी समाप्तिके अनन्तर नहीं, ऐसा गौतमादि महर्षियोंका सिद्धान्त है ।

अब्राह्मणाद्ध्ययनमापत्काले विधीयते ।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावद्ध्ययनं गुरोः ॥
नाऽब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत् ।
ब्राह्मणे चाऽननूचाने काङ्क्षन् गतिमनुत्तमाम् ॥

इत्यादि वचनोंसे विद्याके लिए ब्राह्मणको राजा क्षत्रियके पास जाना धर्मशास्त्रसे निषिद्ध है । अन्य प्रयोजनके लिए राजाके पास जाना निषिद्ध नहीं है ।

वेदार्थानधिगच्छेच्च शास्त्राणि विविधानि च ।
उपेयादीश्वरं चैव योगक्षेमार्थसिद्धये ॥

अतएव राजाने कहा कि अनुपेत ही आपको ब्रह्मविद्याका उपदेश करूँगा, जिसके ज्ञात होनेके बाद सब ज्ञात हो जाता है । वर्णसे तो गार्ग्य ब्राह्मण है, अतः बड़ा है, किन्तु विद्यासे राजा ही बड़ा है, अतएव

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥

यह वचन भी विद्यासे सबसे अधिक महत्त्व प्राप्त होता है, यों कहता है । राजा गार्ग्यको विद्याका उपदेश देनेसे जो विरत हुए थे, उसका कारण यही है कि यह मध्यम आचार है । ब्राह्मणसे विद्या ग्रहण करना, यह उत्तम अचार है, अतः इसीको समझानेके अभिप्रायसे पूर्वमें निषेध किया, यह अतिस्फुट है ॥ १० ॥

'प्रश्नोत्तरे' इत्यादि । प्रश्न और उत्तर राजाने जो कहे, इससे यही मालूम होता है कि गुरुको अप्रबुद्ध अच्छे शिष्यकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ॥ ११ ॥

श्रुतिः—दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस स होवाचाजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ॥ १ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादिष्ठा अतिष्ठाः सर्वेषां मूर्धा राजेति वा

'दृप्तबालाकिर्हानूचानो' इत्यादि श्रुतिका अर्थ—अभिमानी तथा वाग्मी बलाकाका पुत्र बालाकिने, जिसका गोत्र गर्ग था, किसी समय अजातशत्रुनामक काशीराजके पास जाकर कहा कि 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' आपकोमें ब्रह्म कहूँगा अर्थात् ब्रह्मका उपदेश दूँगा। राजाने जब ऐसा सुना तब वह कहने लगा कि इस प्रकारकी केवल वाणी बोलनेसे ही तुम्हें हजार गौएँ देता हूँ।

वाणीमात्रसे इतनी गो देनेमें राजाका अभिप्राय स्वयं श्रुति कहती है—जनक ही ब्रह्मको सुननेकी इच्छा रखता है और जनक ही दाता है। वही ब्रह्मज्ञानी है, अतः ब्रह्म कहनेके लिए जनकके पास ही लोग जाते थे। समीचीन उपदेश देने-पर उससे हजारों गउओंका लाभ होता था। और जो स्वयं ब्रह्मवेत्ता नहीं थे, किन्तु उसके जिज्ञासु थे वे लोग ब्रह्म सुननेके लिए जनकके पास जाते थे। अतः अभी तक यही प्रसिद्धि थी कि जनक ही ब्रह्म सुननेकी इच्छा, दानकी इच्छा और ब्रह्म कहनेकी इच्छा रखता है, दूसरा नहीं रखता, लेकिन आप मुझमें भी उक्त गुणोंकी संभावना कर मेरे पास आये हैं, इसलिए ब्रह्मनिर्णय आप कर सकें या नहीं, किन्तु केवल 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इस शब्दमात्रको सुनकर हजारों गौएँ देता हूँ ॥ १ ॥

'स होवाच' इत्यादि। इस प्रकार ब्रह्मके शुश्रूषु राजाके प्रति गार्ग्य बोला—जो आदित्यमें यह पुरुष है तथा चक्षुमें जो पुरुष है, वही चक्षुके द्वारा हृदयमें प्रविष्ट होकर इस देहमें कर्ता और भोक्ताके रूपसे व्यवस्थित है। आदित्य और चक्षुमें स्थित पुरुषको एक समझ कर उसकी ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करता हूं, आप वैसी ही उपासना कीजिए। यह सुन कर राजाने हाथसे निषेध करते हुए कहा कि ऐसा मत कहिए, हम इसको जानते हैं, दूसरा कहिए।

शङ्का—शायद आप ब्रह्ममात्र जानते हों; किन्तु उसकी विशेष उपासना और फल नहीं जानते, इसलिए ब्रह्म सुनिए।

समाधान—नहीं, इन सबको, जिनको आप ब्रह्म कहते हैं, मैं खूब जानता हूँ

अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्द्धा राजा भवति ॥ २ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा बृहन्पाण्डरवासाः सोमो राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽहरहर्ह सुतः प्रसुतो भवति नास्यान्नं क्षीयते ॥ ३ ॥

यह आदित्य-चक्षुनिष्ठ पुरुष सब भूतोंका अतिक्रमण कर स्थित है, इसलिए यह अतिष्ठा कहलाता है। वह सब भूतोंका सिर है और दीप्तिगुणविशिष्ट होनेसे राजा भी कहलाता है, इन विशेषणोंसे विशिष्ट आदित्यात्माको मैं जानता हूँ और उसकी वैसी ही उपासना करता हूँ।

इस प्रकार गुणत्रयविशिष्ट ब्रह्मको जानता हूँ, यह कह कर उसकी उपासनासे होनेवाले फलको भी बतलाते हैं—**'एतमेव'** इत्यादिसे।

जो जिस प्रकारके गुणसे विशिष्ट ब्रह्मकी उपासना करेगा, उसको उसी गुणके अनुसार ही फल होता है, अतएव श्रुति कहती है—'तं यथा यथोपासते तदेव भवति'। अतः प्रकृतोपासक सबका अतिक्रमण करनेवाला सबका मूर्धन्य और राजा होता है याने सर्वश्रेष्ठ होता है ॥ २ ॥

संवाद दोषसे आदित्य ब्रह्म है, इसको छोड़कर गार्ग्य ब्रह्मान्तरका उपदेश करता है—**'स होवाच'** इत्यादिसे।

जो यह चन्द्रमा तथा बुद्धिमें एक पुरुष है, इसीकी ब्रह्मबुद्धिसे मैं उपासना करता हूँ। फिर राजाने कहा—ऐसा मत कहिये, क्योंकि वह ब्रह्म नहीं है। बृहत्पाण्डरवासा सोम किंवा राजा ऐसा मान कर हम उसकी उपासना करते हैं; जो उसकी इस रूपसे उपासना करता है, उसके यहां प्रतिदिन प्रकृति यागमें सोमलताका अभिषव और विकृति यागमें प्रसव होता है अर्थात् प्रकृतियागानुष्ठानकी सामर्थ्य अनायाससे प्राप्त होती है। बृहन्—महान्, पाण्डरं—शुल्कम्—वासो यस्य इस व्युत्पत्तिसे शुक्लवस्त्र-संयुक्त चन्द्राभिमानी प्राण पाण्डरवासा शब्दका अर्थ है। 'आपो वासः प्राणस्य' ऐसी श्रुति है। जलमय चन्द्र है, तदभिमानी शुक्लवस्त्रसंयुतके समान प्राण है। सोमशब्दसे सोमलता भी ले सकते हैं। सोमलता भी सोम देवतास्वरूप है। सूर्यमण्डलसे चन्द्रमाका मण्डल दूना है, इसलिए परिमाणमें सूर्यमण्डलसे चन्द्रमण्डलका बड़ा होना स्फुट ही है। इसमें प्रमाण—

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ विद्युति पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठास्तेजस्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते तेजस्वी ह भवति तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति ॥ ४ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः पूर्णमप्रवर्तीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तते । ५ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं वायौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अह-

---

नवयोजनसाहस्रः विष्कम्भः सवितुर्मतः ।
द्विगुणस्तस्य विस्तारो मण्डलस्य प्रमाणतः ॥
द्विगुणः सूर्यविस्ताराद्विस्तारः शशिनः स्मृतः ।

ये पुराण-वाक्य हैं ॥ ३ ॥

'स होवाच' इत्यादि । सूर्य और चन्द्रमाका तेज मेघमालासे अभिभूत हो जाता है, किन्तु बिजलीका तेज और भी बढ़ जाता है, इसलिए बिजलीका तेज उक्त तेजोंसे उत्कृष्ट है । उत्कृष्ट तेजका ही ध्यान करना चाहिए, इस तात्पर्यसे गार्ग्य विद्युत्पुरुषकी ब्रह्मदृष्टिसे उपासना करनी चाहिए, ऐसा उपदेश देते हैं—विद्युत्में और हृदयमें जो एक देवता है, वह ब्रह्म है । राजाने पूर्ववत् कहा कि नहीं, नहीं; वह तेजस्वी है, और वैसा मानकर हम उसकी उपासना करते हैं, जो कोई इस बुद्धिसे उसकी उपासना करता है, वह तेजस्वी होता है और उसकी प्रजा (सन्तति) भी तेजस्वी होती है ॥ ४ ॥

'स होवाच' इत्यादि । फिर गार्ग्यने कहा कि आकाश और हृदयाकाशमें जो पुरुष है, वही ब्रह्म है, ऐसी हम उपासना करते हैं । राजाने फिर पूर्ववत् कहा—नहीं, ऐसा मत कहिये, हम तो पूर्ण और अप्रवर्ति (क्रियारहित) मान कर उसकी उपासना करते हैं । जो कोई पूर्ण और अप्रवर्ति (क्रियाशून्य) मानकर उसकी उपासना करता है, वह प्रजा और पशुओंसे परिपूर्ण होता है तथा उसकी सन्तानका विच्छेद नहीं होता ॥ ५ ॥

'स होवाच' इत्यादि । फिर गार्ग्यने कहा कि जो वायुमें पुरुष है, उसकी हम ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करते हैं । राजाने पूर्ववत् मना करते हुए कहा कि वह इन्द्र (परमेश्वर), वैकुण्ठ (अप्रसह्य) और अपराजित सेना है, ब्रह्म नहीं है,

मेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते जिष्णुर्ह्यपराजिष्णुर्भवत्यन्यतस्त्यजायी ।६।

स होवाच गार्ग्यो य एवायमग्नौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते विषासहिर्ह भवति विषासहिर्हास्य प्रजा भवति ॥ ७ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमप्सु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते प्रतिरूप ꣳ हैवैनमुपगच्छति नाप्रतिरूपमथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते ॥ ८ ॥

हम तो उसकी उपासना उक्त गुणसे ही करते हैं। जो कोई इन्द्र, वैकुण्ठ और अपराजित आदि गुणोंसे विशिष्ट उसकी उपासना करता है, वह उपासनाके गुण-भेदसे जयशील, अपराजिष्णु और अजितस्वभाव होता है। तीनों विशेषणोंके क्रमशः तीन फल हैं अर्थात् इन्द्रगुणविशिष्टकी उपासनासे जयशील होता है, वैकुण्ठगुणविशिष्टकी उपासनासे परैरजितस्वभाव अर्थात् स्वयं अजेय होता है और अपराजितसेना-गुणसे विशिष्टकी उपासनासे अन्यतस्त्योंपर अर्थात् सापत्न भाईयों-पर विजय पाता है ॥ ६ ॥

'स होवाच' इत्यादि। फिर गार्ग्यने कहा—जो अग्निमें पुरुष है, वह ब्रह्म है; ऐसी उपासना हम करते हैं। पूर्ववत् राजाने कहा कि नहीं, ऐसा मत कहिये, क्योंकि हम तो विषासहि मानकर उसकी उपासना करते हैं, [यद्धविः स्वस्मिन् विप्यते विक्षिप्यते तत्सर्वं भस्मीकरणेन सहते इति विषासहिः अर्थात् जो हवि अग्निमें डाला जाता है, उसको भस्मकर अग्नि सह लेता है, इसलिए अग्नि विषासहि कहलाता है], जो कोई उसकी उक्तगुणविशिष्टरूपसे उपासना करता है, वह शत्रुओंके पराक्रमका सहनेवाला शत्रुओंका मर्षयिता होता है तथा उसकी प्रजा भी उक्त गुणसे विशिष्ट होती है ॥ ७ ॥

'स होवाच' इत्यादि। फिर गार्ग्यने कहा—जलमें (रेतमें) और हृदयमें जो पुरुष है, वही ब्रह्म है। राजाने कहा—नहीं, नहीं, ऐसा नहीं है, वह प्रतिरूप है, उसी रूपसे हम उसकी उपासना करते हैं। प्रतिरूपशब्दका अर्थ प्रतिबिम्ब है। जलका कार्य प्रतिबिम्ब है। चूँकि जलका गुण प्रतिबिम्ब है, इसलिए जलादिमें उक्त गुणसे विशिष्ट पुरुषका ध्यान करना चाहिए।

शङ्का—प्रतिशब्दका प्रतिकूल अर्थ है, क्योंकि प्रतिपक्ष, प्रतिवादी आदि

स होवाच गार्ग्यो य एवायमादर्शे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा रोचिष्णुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते रोचिष्णुर्ह भवति रोचिष्णुर्हास्य प्रजा भवत्यथो यैः सन्निगच्छति सर्वांस्तानतिरोचते ॥ ९ ॥

शब्दोंमें प्रतिशब्दका प्रतिकूल ही अर्थ दीखता है । फिर यहाँ प्रतिशब्दका प्रतिकूल अर्थ क्यों नहीं मानते ?

समाधान—ऐसा माननेसे उपासना अनथफलक हो जायगी । कोई भी प्रतिकूल फलके लिए उपासना नहीं करता, अतः 'निपातानामनेकार्थत्वात्' इस न्यायसे यहां प्रतिशब्द अन्वर्थक ('अनु' शब्दके अर्थमें) है; क्योंकि ऐसा माननेसे ही उक्त फल पुरुषार्थ होगा; अन्यथा नहीं होगा । श्रुति, स्मृति और सदाचारसे संपन्न पुरुष स्वयं ही जैसे श्रुत्यादिशासनके अनुरूप गुणसे विशिष्ट होता है, वैसे ही इस उपासनासे उसका पुत्र उक्त गुणसे विशिष्ट होता है; अतः पुत्र पिताका प्रतिबिम्ब होता है याने पुत्र पिताके प्रतिकूल नहीं होता ॥ ८ ॥

'स होवाच' इत्यादि । गार्ग्यने फिर कहा अच्छा तो जो यह आदर्शमें (दर्पणमें) पुरुष है, वही ब्रह्म है । राजाने कहा—नहीं, नहीं; वह तो रोचिष्णु है, और उसी बुद्धिसे हम उपासना करते हैं अर्थात् देदीप्यमान और कान्तियुक्त पुरुषकी आदर्श, चक्षु आदि स्वच्छ पदार्थ तथा स्वच्छ बुद्धिमें हम उपासना करते हैं । जो उक्त गुणसे विशिष्ट पुरुषकी उक्त आश्रयोंमें उपासना करता है, वह स्वयं रोचिष्णु होता है तथा उसकी सन्तति भी उक्त गुणसे विशिष्ट होती है ।

शङ्का—उपासना कर्मका फल उसके स्वामीको अर्थात् उपासना करनेवालेको ही होना चाहिए, सन्तानोंको क्यों होता है ? वे तो कर्ता नहीं हैं; अतएव 'शास्त्रदेशितं फलमनुष्ठातरि' ऐसा शास्त्रका वचन है ।

समाधान—हां ठीक है; जहां शास्त्र स्वयं कहता है कि उपासक और उसके सन्तान दोनोंको फल होता है, वहां उभयगामी फल माना जाता है; अन्यथा शास्त्र ही अप्रमाण हो जायगा । अतएव पिता द्वारा किये गये वैश्वानरेष्टि आदिका फल (ब्रह्मवर्चस् आदि फल) पुत्रगामी ही माना जाता है और पुत्रकर्तृक अन्त्येष्ट्यादिका फल पितृगामी होता है । इससे अन्यत्र फलका बोधक वाक्य जहां नहीं है, वहाँ उत्सर्गतः कर्तृगामी ही फल होता है, यह मानना चाहिए ॥ ९ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं यन्तं पश्चाच्छब्दोऽनूदेत्येतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वं हैवास्मिँल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालात्प्राणो जहाति ॥ १० ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं दिक्षु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते द्वितीयवान्ह भवति नास्माद्गणश्छिद्यते ॥ ११ ॥

'स होवाच' इत्यादि । गार्ग्यने फिर कहा कि जानेवालेके पीछे जो शब्द उत्पन्न होता है [जब मार्गमें पुरुष चलता है; तब कुछ शब्द अवश्य उत्पन्न होता है; जैसे घोड़ेके चलनेसे टापका शब्द सुन पड़ता है, वैसे ही अन्यके पादविक्षेपसे भी शब्द होता है], उसमें तथा अध्यात्म बुद्धिमें जो पुरुष है, वही ब्रह्म है, राजाने पूर्ववत् निषेध कर कहा कि वह असु है, और ऐसी बुद्धिसे हम उपासना करते हैं । असु—प्राण—जीवनका हेतु है। अथवा मार्गमें जब पुरुष दौड़ता है, तब देहदेशसे ताडित प्राणवायुवृत्तिविशेष उच्छ्वासादिवृत्तिसे जो बाह्यवत् शब्द होता है, जिसको हाफना कहते हैं, उस शब्दमें पुरुषका ध्यान प्रकृतमें विवक्षित है । शाब्द पुरुषका 'असु' यह जो विशेषण दिया है उसका तात्पर्य यह है कि बाह्यांश प्राणवृत्तियोंका त्याग कर जो प्राणात्मा है, वही असुगुणक है । जो असुगुणसे विशिष्ट प्राणकी उपासना करता है, उसका फल यह है कि वह संपूर्ण आयु पाता है; रोगादिसे पीड़ित होनेपर भी प्रारब्ध कालसे पूर्व प्राण पिण्डको नहीं छोड़ता—प्राप्त आयुका पूर्ण भोग करता है ॥ १० ॥

गार्ग्यने कहा कि जो दिशाओंमें (कान और हृदयमें) पुरुष है, वही ब्रह्म है । राजाने पूर्ववत् कहा—नहीं, नहीं, इसकी तो अनपगरूपसे हम उपासना करते हैं । अनपग—अवियुक्तस्वभाव—अश्विनीकुमार हमेशा जोड़ेके रूपमें ही रहते हैं अन्योन्य इनका वियोग नहीं होता । दिशा और अश्विनोंका साधर्म्य यह है जैसे दिशाओंमें परस्पर वियोग नहीं है, किन्तु वे सदा संयुक्तस्वभाव ही होती हैं, वैसे ही ये देवता कभी भी परस्पर वियुक्त नहीं होते, सदा संयुक्त ही रहते हैं । जो इस गुणसे विशिष्ट उसकी उपासना करता है, वह सदा द्वितीयवान् ही रहता है अर्थात् पुत्र, भृत्य आदि परिवारसे सदा संयुक्त ही रहता है, उनसे कभी वियुक्त नहीं होता ॥ ११ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं छायामयः पुरुषः एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादिष्ठा मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वꣳ हैवास्मिंल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालान्मृत्युरागच्छति ॥ १२ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमात्मनि पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादिष्ठा आत्मन्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते आत्मन्वी ह भवत्यात्मन्विनी हास्य प्रजा भवति स ह तूष्णीमास गार्ग्यः ॥ १३ ॥

स होवाचाजातशत्रुरेतावन्नू ३ इत्येतावद्धीति ।

'स होवाच' इत्यादि । गार्ग्यने कहा जो छायामय पुरुष है, वही ब्रह्म है । पूर्ववत् राजाने उसका भी प्रत्याख्यान कर कहा कि यह तो मृत्यु है, हम तो ऐसी ही उसकी उपासना करते हैं ।

शङ्का—छायामय पुरुष कौन है ?

समाधान—बाह्य तममें और अध्यात्म तममें (आवरक अज्ञानवाले हृदयमें) मृत्यु ही छायामय पुरुष है, उसकी उपासनासे दीर्घ आयु मिलती है अर्थात् उस उपासककी अकालमें मृत्यु नहीं होती, यही इसका फल है ॥ १२ ॥

'स होवाच' इत्यादि । गार्ग्यने फिर कहा जो आत्मामें पुरुष है, वही ब्रह्म है । राजाने इसको भी न मान कर कहा कि यह तो आत्मन्वी है, हम उसकी वैसी उपासना करते हैं । तात्पर्य यह है कि एक-एककी उपासना कह कर समस्तकी उपासनाका उपदेश गार्ग्यने किया । प्रजापति और बुद्धिमें—हृदयमें—जो एक देवता है; वही ब्रह्म है, पर राजाने कहा कि वह ब्रह्म नहीं है, वह तो आत्मन्वी विराट् पुरुषका गुण है । आत्मन्वीका अर्थ है—जितमनाः । वही प्रशस्त भी कहलाता है । प्रशंसामें मतुबर्थ विनि है । आत्मशब्द मनके तात्पर्यसे अनेक श्रुतियोंमें आता है । इस प्रकारकी गुणोपासनाका फल यह है, वह स्वयं उपासक तथा उसकी प्रजा आत्मन्वी होती है । गार्ग्य अपने पक्षका बार बार प्रत्याख्यान देखकर आदर पूर्वक अन्यान्य ब्रह्मका उपदेश देते गये । परन्तु अन्तमें सारे उपदेशका राजाके द्वारा खण्डन होनेपर सिर नीचा कर अज्ञानसे चुप बैठ गये ॥ १३ ॥

'स होवाच' इत्यादि । समस्त और व्यस्तसे अतिरिक्त दूसरे

अध्यात्ममधिदैवं च ब्रह्म स्यात् प्राणदेवता ।
समष्टिव्यष्टिरूपाऽसाविति गार्ग्यस्य निश्चयः ॥ १२ ॥
रव्याद्या व्यष्टयः प्रोक्ताः समष्टिस्तु विराड् भवेत् ।
न मुख्यब्रह्मतैतेषामिति राज्ञो विनिर्णयः ॥ १३ ॥

प्रकारकी ब्रह्मोपदेशकी प्रतिभा गार्ग्यमें न थी। राजा गार्ग्यको चुप बैठा देख कर समझ गये कि अतिरिक्त ब्रह्मोपदेशकी प्रतिभा इसमें नहीं है, शायद सोचकर फिर कुछ कहे, इस शंकाकी निवृत्तिके लिए राजाने पूछा कि बस इतना ही ब्रह्म जानते हो या और भी जानते हो ? गार्ग्यने उत्तर दिया **'एतावन्नू'** अर्थात् बस इतना ही जानते हैं ।

शङ्का—**'एतावन्नू३'** यहाँ प्लुत करनेका तात्पर्य क्या है ?

समाधान—गार्ग्यने कहा कि ब्रह्म कहेंगे, पर कह न सका, इसलिए प्रतिज्ञा-हानि हुई । प्रतिज्ञाहानि होनेपर प्रश्नके संबन्धमें 'निगृह्यानुयोगे च' इस अनुशासनसे प्लुत होना ही चाहिए; इसलिए उक्त स्थलमें प्लुत किया गया है ।

शङ्का—जिस प्रतिज्ञात ब्रह्मको आदित्यादिके रूपमें गार्ग्यने कहा है, वह क्या ब्रह्म नहीं है ? आदित्य भी ब्रह्मकार्य होनेसे कारण ही है, वेदान्तियोंके मतमें कार्य कारणसे भिन्न नहीं माना जाता ।

समाधान—जिसके अज्ञात होनेपर जगत् अज्ञात और जिसके ज्ञात होनेपर जगत् ज्ञात होता है; वह पूर्ण ब्रह्म है । आदित्यादि वैसे नहीं हैं, किन्तु उसके एकदेशमात्र हैं । अनावृत स्वतःसिद्ध आत्मवस्तुका वाचक ब्रह्मशब्द मुख्य है । गार्ग्योक्त आदित्यादि ब्रह्म व्यावृत्त है, सर्वानुवृत्त नहीं है ।

'अध्यात्म०' इत्यादि । अध्यात्म और अधिदैवत प्राणदेवता ब्रह्म है । अध्यात्म व्यष्टिरूप है और अधिदैव समष्टिरूप है, यह गार्ग्यको निश्चय था; अतएव उसने वैसे ही ब्रह्मका निरूपण राजासे किया; परन्तु राजा ब्रह्मवेत्ता था, अतः उसने गार्ग्य द्वारा उक्त ब्रह्मका प्रत्याख्यान किया ॥ १२ ॥

'रव्याद्या' इत्यादि । रविप्रभृति व्यष्टि हैं और विराट् समष्टि हैं, लेकिन ये दोनों मुख्य ब्रह्मशब्दार्थ नहीं हैं, यह राजाका निश्चय था । मुख्य ब्रह्मत्वाभावमें कारण यह है कि वे व्यावृत्त हैं और स्वतःसिद्ध नहीं हैं ॥ १३ ॥

अज्ञाते जगदज्ञातं ज्ञाते ज्ञातं तु यत्र तत् ।
तदेव ब्रह्म पूर्णत्वान्न व्याद्या अकृत्स्नतः ॥ १४ ॥
अव्यावृत्तानुगते स्वतःसिद्धात्मवस्तुनि ।
मुख्यार्थो ब्रह्मशब्दोऽतो वेदितव्यं तदेव हि ॥ १५ ॥
प्रतीचि साक्षाद्विज्ञाते ज्ञेयं सर्वं समाप्यते ।
निःशेषतस्तमोध्वस्तेः पुमर्थश्च समाप्यते ॥ १६ ॥
ब्रह्म विद्धि तदेव त्वं न त्विदं यदुपासते ।
इति श्रुतिरुपास्यस्य मुख्यब्रह्मत्ववारिका ॥ १७ ॥

शङ्का—यदि गार्ग्योक्त ब्रह्म मुख्य नहीं है, यों राजाको अभिमत है, तो मुख्य ब्रह्म है कौन ?

समाधान—'**अज्ञाते**' इत्यादि । इसका अर्थ पूर्वमें कह चुके हैं ॥ १४ ॥

'**अव्यावृत्ता०**' इत्यादि । देशसे, कालसे और वस्तुसे जिसका परिच्छेद होता है, वह पदार्थ व्यावृत्त कहलाता है और इससे भिन्न अव्यावृत्त है । जन्य-मात्र उक्त त्रिविध परिच्छेदसे विशिष्ट होता है । ब्रह्म उससे विपरीत है, अतः अव्यावृत्त है तथा अननुगत ब्रह्ममें ही घटादि अनुगत आरोपित हैं, ब्रह्म किसीमें अनुगत नहीं है । आदित्यादि स्वतः ब्रह्मानुभावसे सिद्ध होते हैं; ब्रह्म स्वतः सिद्ध है, क्योंकि 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इत्यादि श्रुति इस अर्थमें प्रमाण है । अतः एवंविध अर्थ ही मुख्य ब्रह्म शब्दका अर्थ है; इसलिए वही वेदितव्य है ॥ १५ ॥

शङ्का—ब्रह्मके ज्ञात होनेसे जगत् कैसे ज्ञात होता है ?

समाधान—'**प्रतीचि**' इत्यादि । 'प्रतीपमञ्चतीति प्रत्यग्' जडविलक्षण । अज्ञातका ज्ञान होनेपर सकल संसार ज्ञात हो जाता है ।

शङ्का—ब्रह्मके ज्ञानसे जगत्का ज्ञान कैसे हो सकता है ? आम्रके ज्ञानसे खदिर तो ज्ञात नहीं होता ।

समाधान—जगत् ब्रह्ममें कल्पित है । कल्पनाका मूल अज्ञान है । अधिष्ठान-तत्त्वसाक्षात्कारसे अज्ञान तथा तत्कल्पित पदार्थके निवृत्त होनेसे ज्ञेय ही समाप्त हो जाता है । शुक्तितत्त्वका साक्षात्कार होनेपर फिर रजतकी सत्ता कहाँ रहती है ? अर्थात् कहीं भी नहीं रहती । निःशेष अज्ञानका नाश होनेपर पुरुषार्थ समाप्त हो जाता है याने मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ॥ १६ ॥

'**ब्रह्म विद्धि**' इत्यादि । उक्त अव्यावृत्त आदि स्वरूपवाला ही ब्रह्म है

तस्मादुपासको गार्ग्यो न मुख्यं ब्रह्म वेत्त्यतः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां बोधयामास तं नृपः ॥ १८ ॥

श्रुतिः—नैतावता विदितं भवतीति स होवाच गार्ग्य उप त्वा यानीति ॥ १४ ॥

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चैतद्यद् ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद् ब्रह्म मे वक्ष्यतीति व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति तं पाणावादायोत्तस्थौ तौ ह पुरुषं सुप्तमाजग्मतुस्तमेतैर्नामभिरामन्त्रयाञ्चक्रे बृहन् पाण्डरवासः सोम राजन्निति स नोत्तस्थौ तं पाणिनाऽऽपेषं बोधयाञ्चकार स होत्तस्थौ ॥ १५ ॥

गार्ग्य द्वारा कहा गया एवं उसके द्वारा उपासित ब्रह्म नहीं है, इसमें श्रुति ही प्रमाण है, उसीको अव्यावृत्तादि स्वरूपवाला ब्रह्म तुम समझो और जिसकी तुम उपासना करते हो, वह अपूर्ण—उसका एकदेशमात्र है—मुख्य ब्रह्म नहीं है ॥ १७ ॥

'तस्माद्' इत्यादि । उपासक गार्ग्य मुख्य ब्रह्म नहीं जानता था; इस कारण अन्वयव्यतिरेक द्वारा राजाने गार्ग्यको मुख्य ब्रह्म समझाया ॥ १८ ॥

'नैतावता' इत्यादि । इतने ज्ञानमात्रसे ब्रह्म नहीं जाना जा सकता और राजा ब्रह्मज्ञानमें निपुण है; अन्यथा इस प्रकार मेरे द्वारा कहे गये अर्थका निराकरण नहीं कर सकते; इसलिए ब्रह्मज्ञानके लिए इनका शिष्य बनूँ, इस अभिप्रायसे गार्ग्यने कहा—'उपयानि त्वा' इत्यादि । ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिए मैं आपके समीप शिष्यके समान उपस्थित हूँ, आप मुझको ब्रह्मविद्याका अनुशासन करें ॥ १४ ॥

'स होवाचाजातशत्रुः' इत्यादि । राजा यह सुनकर बोले अनापत्कालमें यह उचित नहीं है—ब्रह्मविद्याके लिए ब्राह्मण क्षत्रियके पास जाय, यह प्रतिलोम (उलटा) आचार है; जो धर्मशास्त्र आदिसे निषिद्ध है । अध्यापन ब्राह्मणका कार्य है, सब वर्णोंको ब्राह्मणसे विद्या सीखनी चाहिए, यह आचार सीधा है । अतएव मनु भगवान्ने कहा है कि—

'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥' इत्यादि ।

परन्तु यदि आपकी इच्छा है, तो आप आचार्यके समान ही रहिये; हम आपको ब्रह्मविद्याका उपदेश देंगे । इस बातसे गार्ग्यको लज्जित समझकर विश्वासके लिए उसका हाथ पकड़ कर उठ खड़े हुए और गार्ग्य एवं राजा दोनों राजगृहमें सोये हुए पुरुषके पास आये । राजाने उस पुरुषको 'बृहन्' इत्यादि

स्याद्विज्ञानमयो भोक्ता न प्राण इति जागरे ।
विवेको दुःशको यस्मादत्र द्वावपि सुस्थितौ ॥ १९ ॥
यो विज्ञानमयः सुप्तावसावुपरतिं गतः ।
वर्तते पूर्ववत्प्राणो विवेकः सुशकस्तदा ॥ २० ॥
तस्मात् सुषुप्तं पुरुषमामन्त्र्य प्राणनामभिः ।
अप्रबोधादभोक्तृत्वं प्राणस्याऽस्पष्टयन्नृपः ॥ २१ ॥

श्रुत्युक्त वाक्य द्वारा जगानेकी चेष्टा की । परन्तु इस प्रकारके वाक्यसे सोया हुआ पुरुष नहीं जागा । फिर राजाने हाथसे दबाकर उसे जगाया, दबानेसे वह जाग गया, यों श्रुतिका अन्वय है ॥ १८ ॥

'स्याद्विज्ञान०' इत्यादि । विज्ञानमय भोक्ता है; अचेतन प्राण भोक्ता नहीं है, इसका निर्णय जाग्रत्कालमें नहीं हो सकता, क्योंकि उस कालमें अनेक इन्द्रिय-देवता और प्राण आदिकी स्थिति होनेके कारण अमुक ही भोक्ता है, इसका निर्णय करना कठिन है, इसलिए समीपस्थ जाग्रत् पुरुषको छोड़कर राजा सोये हुये पुरुषके पास गार्ग्यको ले गया । सुषुप्ति अवस्थामें प्राण और भोक्ता (आत्मा)—ये दोनों अवस्थित हैं, अर्थात् दो ही अवशिष्ट हैं । देवतासहित इन्द्रियादिका उस समय सान्निध्य नहीं है, कारण कि उनका आत्माश्रित अज्ञानमें लय हो गया है । पुरुष भोक्ता ही है, भोग्य नहीं है, यह काशिराजका मत है; अतः प्राण भोज्य है; भोक्ता नहीं है । प्रबोधमें भोक्ता और भोज्य दोनोंका सांकर्य है, इसलिए भोक्ताका विवेक दुर्घट समझकर राजा सोये हुये पुरुषके पास गार्ग्यको ले गया ॥ १९ ॥

'यो विज्ञान०' इत्यादि । जो विज्ञानमय पुरुष राजाको अभीष्ट है, वह तो सुषुप्तिकालमें उपरत है और जो गार्ग्याभिमत आत्मा प्राण है, वह तो अपने कार्यमें तत्पर ही है । यदि वह वस्तुतः भोक्ता होता, तो उसे पुकारे गये अपने नामका श्रवण अवश्य होता, क्योंकि वह उपरत है नहीं; इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह श्रोता नहीं है ॥ २० ॥

'तस्मात्०' इत्यादि । यद्यपि सुषुप्तिकालमें राजाने प्राणका नाम लेकर पुकारा तो भी प्राणको यह बोध नहीं हुआ कि मुझे कोई पुकार रहा है । हो भी कैसे ? वस्तुतः वह तो अन्य करणोंके समान अचेतन है; अतः इस अप्रबोधसे—अज्ञानसे—स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्राण भोक्ता नहीं है; जैसा कि गार्ग्यने समझ रक्खा था ॥२१॥

यदि भोक्ता भवेत्प्राणो जाग्रद्वच्छब्दमागतम् ।
अश्रोष्यन्नाऽशृणोत्तस्मान्न स्याद्भोक्तोपलादिवत् ॥ २२ ॥
न विज्ञानमयोऽप्येतदशृणोदिति चेत्तथा ।
अस्त्वश्रवणमेतस्य प्राणमात्रानहङ्कृतेः ॥ २३ ॥
न बुध्यते देवदत्त आहूतोऽङ्गुलिनामभिः ।
तावन्मात्रानहम्मानादेवं प्राणस्य नामभिः ॥ २४ ॥

'यदि भोक्ता' इत्यादि । यदि प्राण भोक्ता होता, तो जाग्रत्कालमें उपस्थित शब्दको जैसे सुनता है, वैसे ही स्वापकालमें भी सुनता, किन्तु उक्त अवस्थामें सुनता नहीं है, अतः उपल (पत्थर) के समान भोक्ता नहीं है । इससे 'विमतो न भोक्ता, स्वनामश्रवणासमर्थत्वात्, पाषाणवत्', यह प्रयोग भी उक्तार्थमें हो सकता है ॥ २२ ॥

शङ्का—**'न विज्ञान०'** इत्यादि । स्वापकालमें जीव भी तो उक्त शब्द को नहीं सुनता, अतः प्राणके समान वह भी आत्मा—भोक्ता—नहीं हो सकता ।

समाधान—हां, सुषुप्तिकालमें जीव भी नहीं सुनता, यह कहना ठीक है; किन्तु उसका अश्रवण अभोक्तृत्वप्रयुक्त नहीं है, किन्तु वह सकल-शरीरेन्द्रियाभिमानी है, अतः उसके एकदेश प्राणमें उक्त अभिमान न होनेके कारण उस कालमें उसे नामका श्रवण नहीं हुआ ॥ २३ ॥

'न बुध्यते' इत्यादि । जैसे एकदेश हस्त, पाद, अङ्गुली आदि शब्दोंसे आहूत, देवदत्त अपनेको संबोधित नहीं समझता, वैसे ही केवल प्राणमात्रके नामसे जीव अपनेको संबोधित नहीं समझता, क्योंकि वह कार्यकरणसंघाताभिमानी है, केवल प्राणाभिमानी नहीं है । प्राण तो पादादिके समान उसका एकदेशमात्र है । 'बृह-न्पाण्डरवासा' इत्यादि शब्द केवल संघातैकदेश प्राणमात्रके वाचक हैं, अतः राजाभिमत भोक्ता नहीं जागा, यह उचित ही है । इस अभिप्रायसे कहते हैं—'तावन्मात्रा०' इत्यादि । प्राणमात्रमें अहमभिमान नहीं है; किन्तु उसके समुदायमें है, अतः केवल प्राणनामसे आहूत होनेपर वस्तुतः अपना सम्बोधन न समझकर जीव नहीं उठता, अतः प्राणसे अतिरिक्त भोक्ता है ।

शङ्का—चन्द्रमा भी तो प्राणका एकदेश है, अतः यह नाम भी हस्त, पाद आदि नामोंके समान एकदेशका ही नाम है । हस्त, पाद आदि नामोंसे जैसे

स्वनामान्यपि नो जीवः सुप्तो वेत्तीति चेत्तदा ।
जीवो नामाऽत्र चिन्मात्रः सोपाधिर्वेति गम्यताम् ॥ २५ ॥
बोधाबोधौ चितेर्न स्तः कूटस्थज्ञप्तिमात्रतः ।
उपाधिलोपात् सोपाधिर्न वेत्तीति तु युज्यते ॥ २६ ॥
श्रोत्रादीनामुपाधीनां सुप्तावुपरतत्वतः ।
यथा जीवो न वेत्त्येवं प्राणोऽपीत्यसदुच्यते ॥ २७ ॥

देवदत्त नहीं उठता, वैसे ही उक्त नामसे प्राण भी नहीं उठता, इससे भोक्तृत्वमें क्या बाधा है ?

समाधान—बाधा यह है कि गोत्व जैसे प्रतिव्यक्ति परिसमाप्त रहता है, वैसे ही प्राणके भी प्रतिव्यक्ति परिसमाप्त होनेके कारण सर्वत्र 'अहम्' यह अभिमान होता है; इसलिए चन्द्रनामसे अज्ञान होना ठीक नहीं है ?

शङ्का—प्राणके समान चिदात्मा भी पूर्ण होनेसे सर्वतादात्म्याभिमानी है, अतः उसमें भी बोध होना ही चाहिए ।

समाधान—ऐसी शङ्का करनेपर प्रश्न यह होता है कि शुद्ध चिन्मात्रमें बोधकी आशङ्का करते हो या विशिष्टमें ? [इसका निराकरण 'बोधाबोधौ' इत्यादिसे करेंगे] ॥ २४ ॥

'स्वनामा०' इत्यादि । जिस आत्माका वस्तुतः देवदत्तादि नाम है, वह सुषुप्ति अवस्थामें जैसे उसे नहीं सुनता, वैसे ही यदि प्राण न सुने, तो भी प्राणके भोक्तृत्वमें क्या क्षति है ? अन्यथा चिदात्मा भी उसके समान भोक्ता नहीं हो सकता । यहाँ जीवको चिन्मात्र अथवा सोपाधिक चैतन्य समझना चाहिए ॥ २५ ॥

'बोधाबोधौ' इत्यादि । पहले जो दो विकल्प किये थे, उनमें से प्रथम पक्षका अङ्गीकार करनेपर शुद्ध चिन्मात्रमें बोध या अबोध (बोधाभाव) कुछ भी नहीं होता, क्योंकि वह कूटस्थ ज्ञानमात्रस्वरूप है; अतएव देवताओंमें जब आत्मत्वाभिमान ही नहीं है, तब देवताबोधक शब्दोंसे अपनेको बोधित कैसे मान सकता है ? अतः शुद्धमें बोध और बोधाभाव कुछ भी नहीं हो सकता; अन्यथा कूटस्थत्व ही व्याहत हो जायगा । द्वितीय पक्षमें उपाधिके लोपसे सोपाधिक बोद्धा ही जब नहीं रहेगा, तब बोधाभाव समुचित ही है । उपाधिशब्दसे यहां इन्द्रियां विवक्षित हैं ॥ २६ ॥

शङ्का—**'श्रोत्रादी०'** इत्यादि । यदि श्रोत्र आदि करणोंके व्यापारके अभावसे

नेन्द्रियाणां भवेत्स्वापो यदि प्राणप्रधानता ।
नाऽमात्याः शेरते यस्माद्राज्ञि स्वामिनि जाग्रति ॥ २८ ॥
स्वापः प्राणस्य नाऽऽशङ्क्यो यतः स्वप्नसुषुप्तयोः ।
कुर्वाणस्तुमुलं शब्दं प्राण आस्ते प्रबोधवत् ॥ २९ ॥

जीव नहीं सुनता, यह कहा जाय, तो उसके समान प्राण भी नहीं सुन सकता, यह समाधान गार्ग्यके मतमें भी हो सकता है ।

समाधान—यह समाधान उक्त मतमें नहीं हो सकता; इसमें कारण अग्रिम श्लोकसे कहेंगे ॥ २७ ॥

'नेन्द्रियाणाम्' इत्यादि । प्राण भोक्ता है, इस प्रकारके गार्ग्यके पक्षमें भी अपने नामका अश्रवण सुषुप्ति अवस्थामें अनुपपन्न ही है, कारण कि जैसे राजाके पक्षमें प्राणसे अन्य जीव यद्यपि भोक्ता है, तो भी पूर्ण उसके नामसे पुकारनेपर वह सुनता नहीं है, इस कारण आप कहते हैं कि जीव सो गया है । स्वापके समय उपकरण इन्द्रियाँ भी सो जाती हैं अर्थात् स्वकारणमें लीन हो जाती हैं, इसलिए जीव नहीं सुनता; वैसे ही उक्त अवस्थामें प्राण भी सो जाता है; इसलिए शब्दका श्रवण नहीं होता है; यह युक्ति दोनोंके मतमें समान है; फिर कैसे राजाका पक्ष अनुकूल मानते हैं ।

समाधान—यदि प्राणको ही प्रधान भोक्ता मानते हैं, तो इन्द्रियोंकी सुषुप्ति लयात्मक हो ही नहीं सकती, कारण कि लोकमें जैसे स्वामीके जागते रहनेपर उसके मन्त्री प्रभृति सेवक नहीं सोते, जागते ही रहते हैं; वैसे ही प्राणके जागते समय इन्द्रियां कैसे सो सकती हैं ? अतः जीवके समान प्राण भी सो जाता है; यह कथन तो सर्वथा अनुभवविरुद्ध है ॥ २८ ॥

'स्वापः' इत्यादि । प्राण भी सो जाता है, यह शङ्का तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थामें प्राणका शब्द जाग्रत् अवस्थासे भी अधिक होता है; इसलिए प्रबोध (जाग्रत्) अवस्थाके समान निद्रा अवस्थामें भी प्राण जागता ही रहता है । 'प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायम्', 'सैषानस्तमिता देवता' इत्यादि श्रुतियोंसे भी यही ज्ञात होता है कि प्राण रात्रि-दिन अपनी क्रियामें रत रहता है—प्राण सदा अश्रान्त होकर जागता ही रहता है । इसलिए यदि प्राण ही भोक्ता माना जायगा; तो जाग्रत् अवस्थाके समान उक्तावस्थामें भी श्रवण होना चाहिए, पर होता नहीं; इसलिए उससे अतिरिक्त ही आत्मा मानना ठीक है ॥२९॥

तस्मादभोक्तृतैवाऽस्य स्वनामाप्रतिबोधने ।
हेतुर्वाच्यस्तथा प्राणदेवताया अभोक्तृता ॥ ३० ॥
देवताप्रतिषेधार्थं बोध्यते चन्द्रनामभिः ।
तदबोधादभोक्तृत्वं देवतायाः सुनिश्चितम् ॥ ३१ ॥

'तस्माद०' इत्यादि। सुषुप्तिकालमें अपने नामका जो बोध नहीं होता, उसमें कारण प्राणका अभोक्तृत्व ही कहना होगा, दूसरे किसीको भी कारण नहीं कहना होगा ।

शङ्का—अच्छा, प्राण अचेतन है, इसलिए भले ही वह भोक्ता न हो, परन्तु उसका अधिष्ठातृ देवता चेतन है, इसलिए वही भोक्ता हो ।

समाधान—नहीं, यह कहना भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि देवता भी भोक्ता नहीं है । इसे समझानेके लिए ही देवताके नामसे राजाने पुकारा ।

शङ्का—अच्छा तो प्राणके नामसे संबोधन ही नहीं हुआ, इसलिए अप्रतिपत्ति (अबोध) उचित ही है, फिर प्राणके भोक्तृत्वमें क्या आपत्ति है ?

समाधान—आपत्ति यह है कि 'बृहन्' इत्यादि राजोक्त नाम प्राण और उसके देवता दोनोंका साधारण है, अतः दोनोंका या दोनोंमें से किसीका बोध होना चाहिए; पर हुआ किसीका नहीं, इसलिए यह स्वभावतः निश्चय होता है कि ये दोनों भोक्ता नहीं हैं ।

शङ्का—उभयसाधारण कैसे है ?

समाधान—'प्राणस्यापः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रमाः' इत्यादि श्रुतिमें चन्द्र और प्राणको एक ही कहा है, इसलिए चन्द्र ही प्राणका नाम है, यह सिद्ध होता है ।

शङ्का—चन्द्रदेवताको इस शब्दमें शक्तिग्रह नहीं था अर्थात् उसको यह ज्ञान न था कि यह शब्द मेरा वाचक है; इसलिए प्रबोध न हुआ, यह भी कल्पना कर सकते हैं; फिर इसमें क्या प्रमाण कि वह भोक्ता नहीं हैं ?

समाधान—देवता सर्वज्ञ माना जाता है; इसलिए उसके विषयमें ऐसी कल्पना करना अनुचित है ॥ ३० ॥

'देवता०' इत्यादि । उक्तार्थको स्पष्ट करनेके लिए कहते हैं—चन्द्र-नामसे संबोधन करनेका तात्पर्य यही है कि प्राणके समान चन्द्र देवता भी

प्राणस्याऽभोक्तृतां गार्ग्यो व्यबुध्येत ततो नृपः ।
विज्ञानमयबोधाय चक्रे यत्नमुपायतः ॥ ३२ ॥
आपिष्याऽऽपिष्य बहुशः सुप्तं राजा व्यबोधयत् ।
आपेषणोत्थसङ्क्षोभात् ततोऽसौ प्रत्यबुध्यत ॥ ३३ ॥
आपेषाल्लीनबुध्यादिसमुत्पत्तौ परात्मनः ।
घटाकाशवदुत्पत्तिर्या प्रबोधोऽयमिष्यते ॥ ३४ ॥

भोक्ता नहीं है; अन्यथा उक्त नामसे देवताका बोध अवश्य होता; किन्तु हुआ नहीं, इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये दोनों प्राण तथा देवता भोक्ता नहीं हैं। बोधाभावसे ही देव भी भोक्ता नहीं है, यह स्पष्ट निश्चित होता है, अन्यथा अग्नि दाह्य तृणादिको जैसे अवश्य भस्म करती है; वैसे ही बोद्धाको बोद्धव्यका अवश्य बोध होना चाहिए, पर उक्त अवस्थामें बोध नहीं होता, अतः यही निश्चय होता है कि बोद्धा उस समयमें जागता नहीं है। जो जागता है, वह बोद्धा नहीं है, प्राण ही जागता है, क्योंकि उसमें क्रिया हो रही है; परन्तु उस कालमें उसे बोध नहीं होता, इसलिए निश्चय होता है कि वह बोद्धा नहीं हैं ॥ ३१ ॥

'प्राणस्या०' इत्यादि। गार्ग्य प्राणको अभोक्ता समझे, इस तात्पर्यसे राजाने विज्ञानमय आत्मा भोक्ता है, इस ज्ञानके लिए पाणिपेषणादि द्वारा प्रयत्न किया अर्थात् हाथसे दबाकर सुप्तको जगाया ॥ ३२ ॥

'आपिष्या०' इत्यादि। राजाने सोये हुए पुरुषको हाथसे दबा-दबा कर जगाया; दबानेसे जो संक्षोभ याने प्रतिकूल वेदना हुई, उससे पुरुष प्रबुद्ध हुआ—जाग गया ॥ ३३ ॥

'आपेषा०' इत्यादि।

शङ्का—उठना और जागना प्रकृतमें क्या हैं ?

समाधान—सुषुप्तिसे अपने स्वरूपका परिज्ञान ही उठना और जागना है।

शङ्का—परिज्ञान तो आत्मस्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं है, फिर वह पाणि-पेषणजन्य कैसे हुआ ?

समाधान—इसका जवाब 'आक्षेपाद्' इत्यादि उत्तर ग्रन्थसे स्वयं ग्रन्थकार देंगे। पर शरीर, इन्द्रिय आदिसे भिन्न जो आत्मा है, उससे स्वापावस्थामें आत्मामें लीन जो बुद्धि आदि हैं, उनकी जाग्रत् अवस्थाके पाणिपेषणादि कर्म द्वारा जो उत्पत्ति है; वही आत्मप्रबोध हुआ, ऐसा व्यवहार होता है। जैसे घटकी

अत आपेपणाद्योऽसावुत्थितः करणैः सह ।
राजेव सचिवैः सार्द्धं स भोक्तेत्यवसीयताम् ॥ ३५ ॥
क्रोधहर्षभयोद्वेगज्ञानधर्मैर्विशेषयन् ।
शरीरं यः समुत्तस्थौ स भोक्तेत्यवसीयताम् ॥ ३६ ॥
मृतकल्पमिमं देहं स्वचिताऽऽवेशयन्निव ।
ज्वलन्निव समुत्तस्थौ यः स भोक्तेति गम्यताम् ॥ ३७ ॥

उत्पत्ति होनेपर उसके आकाशमें उत्पत्तिका केवल व्यवहार होता है, वैसे ही प्रकृत स्वापावस्थामें बुद्धि आदि आत्मामें लीन हो जाते हैं, अतएव तदवच्छेदसे प्रकाश भी नहीं रहता; पुनः आत्मासे बुद्ध्यादिके उत्पन्न होनेपर तदवच्छेदेन प्रकाश होता है; वही प्रबोध, उत्थान आदि शब्दोंसे कहा जाता है । प्रबोधकी वस्तुतः उत्पत्ति विवक्षित नहीं है ।

'अत' इत्यादि । इस आपेषणसे अर्थात् हाथके दबानेसे इन्द्रियोंके साथ जो पुरुष उठा उसीको भोक्ता और शरीरादिका स्वामी समझो । जैसे राजा अपने मन्त्रियोंके साथ कहीं जाता तथा आता है; उसी प्रकार विज्ञानात्मा जब शयनके लिए अपने नियत स्थान पुरीति आदि नाडीमें प्रवेश करता है, तब मनरूप इन्द्रिय प्रधान—सचिव—है और अन्य इन्द्रियाँ सेवकके समान हैं । वे भी सब विश्राम करनेके लिए अपने नियत स्थानमें प्रवेश करती हैं । समयपर अपने अपने कार्य करनेके लिए आ जाते हैं । आवश्यकतानुसार नियत समयके पूर्वमें ही यदि राजा आता है, तो उक्त सचिव आदि सभी उसी समयमें उपस्थित हो जाते हैं, वस्तुतः इनका प्रधान कर्म तो राजसेवा ही है, फिर भी राजा इनके आरामका भी ध्यान रखता ही है । यहाँसे लेकर तीन श्लोक वार्तिकके हैं; केवल पाठक्रम भिन्न है ॥ ३५ ॥

'क्रोधहर्ष०' इत्यादि । क्रोध, हर्ष, भय, उद्वेग, ज्ञान, धर्म आदिसे शरीरको प्रबुद्ध करता हुआ जो उठा है; वही भोक्ता है, यह निश्चय समझो । भोक्ताकी अनुपस्थितिमें शरीरादिमें कितना भी अपकार किया जाय, तो भी शरीरादिमें क्रोधादि लक्षित नहीं होते । पर विज्ञानमयके आते ही यथा अवसर उक्त भाव पूर्णरूपसे दृष्टिगोचर होने लगते हैं, इसलिए ये सब भाव भोक्तासे ही शरीरमें आते हैं ॥ ३६ ॥

'मृत०' इत्यादि । सुषुप्तिकालमें स्वामीकी अनुपस्थिति दशामें यह शरीर मृतके

देह एवाऽस्तु भोक्तेति न वक्तव्यं जडत्वतः ।
स्पर्शपेषणवैषम्यादप्यभोक्तृ भवेद्वपुः ॥ ३८ ॥

सदृश रहता है, यद्यपि मृत शरीरमें प्राणका संचार नहीं रहता और इसमें प्राणका संचार है; तथापि पूर्वोक्त क्रोधादि भावोंका अभाव दोनोंमें समान ही है; अतएव मृत न कहकर मृतसदृश कहा। तथाभूत इस शरीरमें स्वकीय चैतन्यका प्रवेश कर शरीरको भी चेतन करता हुआ जो उठता है; वही भोक्ता है, यह दृढ़ निश्चय करो। यदि विज्ञानमयका स्फुरण शरीरादिमें प्रविष्ट न हो; तो उनका स्फुरण ही नहीं हो सकता ॥ ३७ ॥

शङ्का—'देह' इत्यादि। यदि प्राणादि पूर्वोक्त रीतिसे भोक्ता नहीं हो सकते, तो प्रत्यक्षसिद्ध स्थूल देहको ही भोक्ता मानो।

समाधान—ऐसा मत कहिये; शरीर तो जड़ है। चेतन भोक्ता माना जाता है, जड़ शरीर नहीं; क्योंकि ओदन, कम्बलादिके समान जड़ शरीर भोग्य है; अतः भोक्ता इससे अतिरिक्त ही होना चाहिए।

शङ्का—केवल शरीर भले ही भोक्ता न हो; किन्तु चिद्विशिष्ट (चैतन्यसे युक्त) शरीरको भोक्ता माननेमें क्या आपत्ति है ?

समाधान—चिद्विशिष्ट शरीर तो प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है, कारण कि चित्के प्रत्यक्षके बिना चिद्विशिष्टका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? विशिष्टके प्रत्यक्षमें विशेषणका प्रत्यक्ष कारण होता है; दण्डप्रत्यक्षके बिना दण्डी पुरुषका प्रत्यक्ष कहां होता है ? दूसरी बात यह है कि चिद्विशिष्टकी उपलब्धि किसको होती है ? शरीरको या अन्यको ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर ही ज्ञेय है और शरीर ही ज्ञाता, यह तो हो नहीं सकता। एक क्रियानिरूपित कर्तृत्व और कर्मत्व एकमें विरुद्ध है, इसीसे अपने कन्धेपर कोई चढ़ नहीं सकता। द्वितीय पक्षमें दूसरा ज्ञाता मानना पड़ेगा जो आप चाहते नहीं, फिर उसमें प्रमाण क्या ? ज्ञाता स्वयंसिद्ध है, इसलिए उसमें प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है, अन्यथा अनवस्था होगी। ठीक है, तो वही स्वयंप्रकाश चिदात्मा है, वही भोक्ता है और वही हमारा सिद्धान्त है, उसीको मानिये। शरीर जड़ है, भोक्ता नहीं है, अतएव वह आत्मा भी नहीं है, 'चितोऽन्यः आत्मा न, अस्वप्रकाशत्वात्, घटवत्' यह अनुमान भी उक्त अर्थमें प्रमाण है। और यह भी दोष है कि चित्सम्बन्ध जो शरीरमें है, सो भी ज्ञेय होगा। संबन्धज्ञानके बिना विशिष्टज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए

संबन्धके ज्ञानके लिए भी चित्का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि संबन्धीके ज्ञानके बिना संबन्धका ज्ञान नहीं होता, यह सबका सिद्धान्त है। इस परिस्थितिमें चित्का ज्ञान अन्य चित्से मानोगे या जड़से ? प्रथम पक्षमें अन्य चित् ही अप्रसिद्ध है; अन्यथा अनवस्थादि दोषोंकी प्रसक्ति होगी। द्वितीय पक्ष सर्वथा असंगत ही है, क्योंकि जड़ घटादिके समान प्रमाता हो ही नहीं सकता। किञ्च, चिद्विशिष्ट-देह-कर्तृक प्रत्यक्ष ही आपके मतमें प्रमाण है; अनुमानादि नहीं, अतः देहसे जायमान प्रत्यक्ष रूपादि और उनके आधार द्रव्य—दोनोंमें प्रमाण है, तदतिरिक्त चैतन्यांशमें नहीं।

एवं बाल्य, यौवन और वार्द्धक्य आदि अवस्थाओंमें अवयवोंके उपचय तथा अपचयसे शरीर भिन्न भिन्न होते हैं। ऐसी अवस्थामें बाल्यावस्थामें दृष्ट वस्तुओंका वृद्धावस्थामें स्मरण भी नहीं होगा, क्योंकि अनुभव और स्मरणमें सामानाधिकरण्यका नियम है। अतएव अन्य पुरुष द्वारा दृष्ट वस्तुका अन्य पुरुषको स्मरण नहीं होता। किञ्च, चार्वाक जो यह कहते हैं कि प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अनुमानादि नहीं; सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि सन्दिग्ध, अज्ञानी या विपर्यस्त जो प्रश्न करता है, उस प्रश्नके वाक्यसे प्रष्टामें अज्ञान, संशय और विपर्यासका अनुमान कर उनका निराकरण करनेके लिए समुचित शब्दका प्रयोग वे करते हैं। अन्यथा परके अज्ञान आदिका परको प्रत्यक्ष न हो सकनेसे समझे बिना उनके निराकरणमें उपयोगी वाक्यका प्रयोग कैसे कर सकेंगे ? जो कुछ कहनेसे वक्ता वस्तुतः वक्ता नहीं कहलाता और स्वकीय ग्रन्थकी रचनामें प्रवृत्ति भी नहीं बन सकती, क्योंकि ग्रन्थ तो परार्थ है, स्वार्थ नहीं है। परको जब यह समझा चुके हैं कि प्रत्यक्षसे अतिरिक्त प्रमाण नहीं है, तब ग्रन्थ भी तो प्रत्यक्षसे अतिरिक्त ही है, अतः इसको भी श्रोता अप्रमाण-सा ही मानेगा। अप्रमाणसे वस्तुकी सिद्धि नहीं होती, फिर ग्रन्थ व्यर्थ है। और परकीय पक्षका खण्डन भी नहीं हो सकता। यदि खण्डन-परक आपका वाक्य प्रमाण है, तो उक्त प्रतिज्ञा असंगत होगी। अगर अप्रमाण है, तो अप्रमाणसे साधन और बाधन हो ही नहीं सकते, फिर उनके लिए प्रवृत्ति ही व्यर्थ है। और यह भी समझना चाहिए कि जैसे पर-वाक्यसे हमको ज्ञान होता है, वैसे ही हमारे वाक्यसे परको भी ज्ञान होता है; यह ज्ञान अनुमानात्मक ही है, प्रत्यक्ष नहीं है। और इसको अप्रमाण भी नहीं कह सकते, क्योंकि व्यभिचारी अप्रमाण कहलाता है, अव्यभिचारी नहीं। आपका शास्त्र तथा उपदेश लोकके हितके लिए नहीं है, प्रत्युत अहितका ही साधक है; क्योंकि आपके शास्त्रके अनुसार

स्वर्ग, अपवर्ग आदि पदार्थ ही नहीं हैं । आत्माके उपभोगके लिए स्वर्गादि माने जाते हैं, देहातिरिक्त आत्मा नहीं है और देह इसी लोकमें क्रमशः पाँच भूतोंमें मिल जाता है; अतएव आपका यह भी उपदेश है—

'यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥'

ऐसी शिक्षा मिलनेपर किस पुरुषको भिक्षा देनेमें उत्साह होगा ? दाता इसी इच्छासे देता है कि इसका परलोक या जन्मान्तरमें फल अवश्य मिलेगा । यदि शरीर ही आत्मा है, तो परलोक और जन्मान्तर कहाँ ? फिर किस अभिप्रायसे कोई कुछ देगा ? इस प्रकार दान लुप्त हो जायगा । याग-होम तो लुप्त ही समझिये । वे तो देवताओंके लिए किये जाते हैं । देवताओंका प्रत्यक्ष न होनेसे अभाव ही सिद्ध होता है । एवं क्रमसे दान आदि तीनों धर्मसाधनोंका लोप होनेसे लोग नास्तिक और नरकगामी होंगे । इस प्रकार धर्मानुष्ठानके अभावसे लोकापकारका दिग्दर्शन कराकर साक्षात् अधर्मानुष्ठान द्वारा भी लोकका अहित होगा, यह कहते हैं—परकीय हिंसा और परकीयस्वत्वके अपरहरण आदिसे अधर्म होता है । अधर्मसे लोकान्तर या जन्मान्तरमें अधिक दुःख होता है, इस धारणासे सत्पुरुषोंकी प्रवृत्ति निषिद्ध कर्मोंमें नहीं होती; यह सर्वानुभवसिद्ध है । यदि यह सिद्धान्त मान लिया जाय कि प्रत्यक्षका अविषय पदार्थ प्रामाणिक नहीं है, तो उसका फल भी प्रत्यक्षाविषय होनेसे अप्रामाणिक होगा, इसलिए उसके साधनोंमें द्वेष न होनेसे निवृत्ति नहीं होगी । प्रत्युत दृष्टफलके अनुसार लोककी उसमें प्रवृत्ति होगी, अतः उसके द्वारा भी संसारका अहित ही होगा । दूसरी बात यह है कि कृतहान और अकृताभ्युपगमकी प्रसक्ति भी इस मतमें है । यह तो प्रत्यक्ष ही देखते हैं कि कोई बड़े संपन्न घरमें उत्पन्न होता है और कोई दरिद्र घरमें, कोई सर्वाङ्ग सुन्दर, कोई विकलाङ्ग, कोई कुरूप, कोई पूर्णायु और कोई अल्पायु, कोई संपन्न कुलमें उत्पन्न होकर पश्चात् दरिद्र हो जाता है, कोई दरिद्र कुलमें उत्पन्न होकर भी सपन्न कुलमें चला जाता है अथवा स्वयं संपन्न हो जाता है, कोई सम्पन्न होनेपर रोगवश उपभोगसे वञ्चित रहता है और कोई परकीय सुखसाधनोंसे विशिष्ट सुखका भोगी होता है । यह जगद्वैचित्र्य निर्निमित्तक नहीं है । इसमें जन्मान्तरीय अदृष्ट प्रधान कारण है । जातमात्र बालकने तो अभी कुछ पुण्य या पाप किया नहीं, करनेकी सामग्री ही नहीं है, फिर उक्त वैलक्षण्यमें क्या हेतु है ? समर्थ होनेपर भी पूर्वादृष्टके बिना वर्तमान

ईषत्स्पर्शादबुद्धोऽपि पेषणेन विबुध्यते ।
एतच्च देहादन्यस्य युक्तं सम्बन्धभेदतः ॥ ३९ ॥

जन्ममें केवल पुरुषार्थसे अभीष्टकी सिद्धि नहीं होती । इसलिए जन्मान्तरीय अदृष्ट आवश्यक है । उसका संबन्ध अनेक शरीरानुवृत्त आत्माके बिना नहीं हो सकता; अतएव श्रीभगवद्गीतामें लिखा है—

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।'
'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥'
'बहूनां जन्मनामन्ते' इत्यादि ।

एवं पापानुष्ठानके अनन्तर मृत्यु होनेपर अभुक्त ही पापका क्षय मानना पड़ेगा ।

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।
नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ॥'
'ममैव जन्मान्तरपातकानाम् ।'

इत्यादि वचनोंसे यह प्रतीत होता है कि अभुक्त कर्मोंका क्षय नहीं होता, इसलिए चार्वाकका मत सर्वथा असंगत और उपपत्तिशून्य है । इसका निर्माण केवल आसुरी वृत्तिके लिए है, जो अत्यन्त हेय है । इस प्रकार संक्षेपसे यहाँ चार्वाक-मतका निराकरण किया गया है, परन्तु विस्तार अन्यत्र देखना चाहिए । देह आत्मा नहीं हैं; इसमें अन्य हेतु भी कहते हैं—'स्पर्श०' इत्यादिसे । स्पर्शसे पेषणमें वैषम्य है, जिसे आगे श्लोकमें कहेंगे । प्रकृतमें स्पर्श और पेषणके वैषम्यसे भी जाना जाता है कि देह भोक्ता नहीं है; अन्यथा स्पर्श और पेषणका वैषम्य ही दुर्वच हो जायगा ॥ ३८ ॥

'इषत्स्पर्शा०' इत्यादि । थोड़े स्पर्शसे न जागनेपर भी पेषणसे (दबानेसे) पुरुष जागता है, यह अनुभव देहसे अन्य विज्ञानात्माको भोक्ता माननेपर संबन्ध-भेदसे उपपन्न होता है । यदि संघातमात्र देहको भोक्ता मानो, तो स्पर्श और पेषणमें कोई विशेष भेद नहीं हो सकेगा । इससे स्पर्शसे शरीरमें बोध न होनेपर दाबनेसे भी क्या होगा, क्योंकि वह भी स्पर्शके समान शरीरमात्रवृत्ति ही धर्म है ।

शङ्का—शरीरातिरिक्त आत्मा माननेपर भी पेषणके बिना भी तो स्वयं उठता ही है फिर पेषणसे क्या प्रयोजन ?

समाधान—पेषण ही समुत्थानका कारण है, यह बात नहीं है, किन्तु पेषण

देहादन्यस्य देहेऽस्मिन्सम्बन्धः कर्मभिः कृतः ।
अभिमानात्मकः सोऽपि कर्मभेदादनेकधा ॥ ४० ॥
तीव्राभिमानवेलायामीषत्स्पर्शेन बुध्यते ।
अन्यचित्तत्ववेलायां दृढस्पर्शमपेक्षते ॥ ४१ ॥
स्वप्नान्पश्यन्प्रबोधाय पाणिपेषमपेक्षते ।
सुषुप्तः पेषणाभ्यासाद् बुध्यते ह्युचितं हि तत् ॥ ४२ ॥

भी जागनेका कारण है, यही कहना है। अब यह विचारना है कि स्पर्श और पेषणमें क्या भेद है, जो स्पर्शसे न उठनेपर पेषणसे उठता ही है। इसका विचार आगेके श्लोकसे करेंगे। उसीसे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि देह भोक्ता नहीं है, किन्तु उससे अन्य ही भोक्ता है ॥ ३९ ॥

'देहादन्यस्य' इत्यादि। देहसे भिन्नका इस देहमें जो संबन्ध है; वह कर्मोंसे हुआ है। संबन्ध अभिमानात्मक है; यह मेरा शरीर है, ऐसा जबतक आत्माको अभिमान रहता है, तबतक उस शरीरसे उस आत्माको सुख, दुःख आदि होते हैं, सुषुप्त्यादि अवस्थामें वह अभिमान नहीं रहता; इसलिए उस अवस्थामें शरीरके सुख, दुःखोंका सम्बन्ध भी आत्मामें नहीं रहता। अभिमान कर्मकृत है ॥ ४० ॥

'तीव्राभिमान' इत्यादि। तीव्र शरीराभिमानके समय थोड़े स्पर्शसे जीव प्रबुद्ध हो जाता है, अन्यचित्तत्वकालमें अर्थात् सुषुप्त्यादि समयमें उक्त सम्बन्ध नहीं रहता। मनका आत्माके साथ सम्बन्ध ही नहीं है, मनका स्वकारणमें लय हो जाता है; इसलिए थोड़े स्पर्शमात्रसे सुषुप्त नहीं जागता, क्योंकि स्पर्श बोद्धा तक नहीं पहुँचा, इसलिए दृढ़ स्पर्शकी—पेषणकी—आवश्यकता होती है। पेषणसे अधिक वेदना होती है। सुषुप्तिसुखहेतु अदृष्टसे समुत्थानहेतुके प्रबल होनेसे सुषुप्त पुरुषका समुत्थान होता है। समुत्थानके हेतु सुख, दुःख और संबुद्धि प्रभृति माने जाते हैं। उनके हेतु दृष्टादृष्टरूप धर्मादि हैं; उनके न्यूनाधिकभावसे उनकी वेदना भी भिन्न होती है। यही वेदनाभेद उसके प्रबोधका मूल कारण है ॥ ४१ ॥

उक्त तीव्रातीव्राभिमानभेदका प्रकृतमें उपयोग कहते हैं—**'स्वप्नात्'** इत्यादिसे।

स्वप्न देखते हुए पुरुषको जगानेके लिए केवल हाथके स्पर्शकी अपेक्षा होती है, क्योंकि उस समय इस स्थूल शरीरके साथ मनका

देहस्य भोक्तृतायां तु कस्य क्वाऽभिमानिता ।
ततो बोधस्य वैषम्यं किंकृतं स्पर्शपेपयोः ॥ ४३ ॥
करणानामभोक्तृत्वं प्रत्येकं स्मृत्यसम्भवात् ।
चक्षुर्दृष्टं नहि स्मर्त्तुमन्येषां शक्तिरिष्यते ॥ ४४ ॥

सम्बन्ध नहीं है । उस समय स्पर्शमात्रसे स्थूल शरीरके साथ मनका सम्बन्ध हो जानेके कारण उसके द्वारा शरीरके साथ आत्माका भी उक्त सम्बन्ध हो जाता है, इसलिए स्पर्शमात्रकी अपेक्षा है । और सुषुप्तके प्रबोधके लिए दृढ़ स्पर्शकी अपेक्षा होती है, इसलिए असकृत् पेपण अर्थात् पेषणाभ्यास जो करते हैं, वह उचित ही है । सुषुप्त स्थानसे मन आकर जब स्वोचित स्थानमें स्थित होता है, तभी प्रबोध होता है, अन्यथा नहीं होता ॥ ४२ ॥

'देहस्य' इत्यादि । यदि देहमें भोक्तृत्व मानोगे, तो किसका किसमें अभिमान कहोगे ? देहका देहमें अभिमान तो असम्भव ही है, क्योंकि एक तो देह अचेतन है और अभिमान चेतनधर्म है; अतः अचेतनमें अभिमान हो नहीं सकता और दूसरे दूसरेमें दूसरेको अभिमान होता है, अपनेमें नहीं होता । इसलिए देहसे अतिरिक्त ही भोक्ता है, देह नहीं है, इस तात्पर्यसे कहते हैं कि स्पर्श और पेषणके बोधमें वैषम्यका क्या कारण है ॥ ४३ ॥

'करणानाम्' इत्यादि । चक्षु आदि प्रत्येक इन्द्रियां भी भोक्ता नहीं हो सकतीं; अन्यथा चक्षु आदिसे अनुभूत पदार्थका चक्षुरादिकी विगम-दशामें स्मरण नहीं होगा; क्योंकि उस समय अनुभविता नहीं है । पर चक्षु आदिकी विगम-दशामें भी पूर्वदृष्ट पदार्थका स्मरण होता है, यह सर्वानुभवसिद्ध है ।

शङ्का—इन्द्रियान्तरसे स्मरण हो सकता है ?

समाधान—कभी नहीं, अन्यथा देवदत्त द्वारा देखे गये पदार्थका स्मरण यज्ञदत्तको भी हो जायगा; पर ऐसा होता नहीं, इसलिए जिसको अनुभव होता है, उसीको स्मरण होता है; यह नियम सर्वमतसिद्ध है । केवल चक्षुरादि-नाश-दशामें ही उक्त आपत्ति है, यह नहीं, किन्तु उसकी सत्त्वदशामें 'योऽहं चक्षुषाऽ-द्राक्षं सोऽहमिदानीं स्पृशामि' यह अनुसन्धान भी नहीं बन सकता, कारण कि दर्शन चक्षुमें है, स्पर्शन त्वगिन्द्रियमें है । दोनों ज्ञान एक अधिकरणमें हैं नहीं, जहां जिसको देवदत्तने देखा ही और मैत्रने स्पर्श ही किया वहां तो

सङ्घातस्य परार्थत्वादभोक्तृत्वं गृहादिवत् ।
स्याद्विज्ञानमयो भोक्ता प्रोक्तदोषविवर्जनात् ॥ ४५ ॥

दोनोंमें से किसीको भी उक्त प्रत्यभिज्ञा नहीं होती, क्योंकि सामानाधिकरण्याभावरूप कारण स्पष्ट है। एवं प्रकृतमें भी उक्त अनुसन्धानकी अनुपपत्ति होगी और एक शरीरमें अनेक चैतन्योंकी आपत्ति भी होगी, क्योंकि चक्षु ही आत्मा है, श्रोत्रादि नहीं; इसमें कुछ विनिगमक हो नहीं सकता। अनेक चेतन होंगे तो अनेकेन्द्रियजन्य ज्ञान एक समयमें होने लगेगें। तथा सुषुप्ति भी नहीं हो सकेगी। सब सदा एक मत ही रहेंगे, इसमें किसी नियामकके न होनेसे कोई देखना चाहेगी तो कोई सुनना चाहेगी ऐसी दशामें क्या होगा? सकल विशेष ज्ञानोंके उपरमके विना सुषुप्ति ही असंभव है। और इन्द्रियोंको अतीन्द्रिय मानते हैं, इसलिए ज्ञानादिका प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकेगा। प्रत्यक्षमें महत्त्वको कारण मानते हैं; तथा ज्ञान-क्रिया सकरणिका, क्रियात्वात्, छिदादिक्रियावत् इस अनुमानसे ज्ञान-क्रियामें करण मानना आवश्यक है। चक्षुरादि करण यदि उक्त क्रियाके कर्ता होंगे, तो करणान्तर मानना आवश्यक होगा। ऐसी अवस्थामें लाघवके बदले गौरव ही इस पक्षमें है। एक अतिरिक्त आत्मा माननेसे पूर्वोक्त सकल दोषोंकी निवृत्ति अनायाससे हो जाती है, सो न मानकर अनेक इन्द्रियां और अनेक आत्मा मानना अनुचित है ॥ ४४ ॥

एकएक इन्द्रियमें भोक्तृत्वका निरास कर उनके समुदायमें भोक्तृत्वका निरास करते हैं—**'संघातस्य'** इत्यादिसे।

'संघातः परार्थः, संघातत्वात्, गृहादिवत्', इस अनुमानसे यह निश्चित होता है कि जो संघात है, वह परार्थ होता है; जैसे अनेक पत्थर, काष्ठ आदिके समुदायसे निर्मित गृह स्वार्थ नहीं है, किन्तु परार्थ है अर्थात् काष्ठादिसे भिन्न उसके स्वामी देवदत्तादिके लिए है, वैसे ही इन्द्रियादिसमुदाय एक पुरुषार्थसाधनोद्देश्यसे संहन्यमान स्वेतर आत्मार्थ है; स्वार्थ नहीं है। यदि संघातस्वरूप आत्मा मानियेगा, तो तदर्थ होनेसे स्वार्थ ही होगा, इस परिस्थितिमें उक्तानुमानसे विरोध हटाना कठिन होगा।

शङ्का—उक्त अनुमानसे जो अन्य सिद्ध होगा, वह भी तो संघातात्मक ही होगा दृष्टान्तस्थलमें गृहादि जो देवदत्ताद्यर्थ हैं, वे देवदत्तादि भी तो संघात ही हैं केवल आत्माके लिए तो गृहादि अपेक्षित नहीं हैं, किन्तु शरीरेन्द्रियादिविशिष्ट

सुखदुःखानुसन्धानं भोगश्चिति स उच्यते ।
न जडेष्विति निर्णीतमन्वयव्यतिरेकतः ॥ ४६ ॥
नाऽन्वयो व्यतिरेको वा यद्यप्यद्वैतवस्तुनि ।
पुंव्युत्पत्तिरथाप्याभ्यां भवति व्यावहारिकी ॥ ४७ ॥

आत्माके लिए है । और पर भी तो संघातात्मक ही है, अतः वह भी प्रकृतानुमानके बलसे परार्थक होगा । जिसके लिए वह होगा, वह भी संघातस्वरूप ही होगा, क्योंकि व्याप्तिग्रह सब जगह संघातको लेकर होता है जैसे साध्यसाधनमें व्याप्तिग्रह होता है, दृष्टान्तसिद्ध तादृश साधनसे पक्षमें तादृश साध्यकी सिद्धि होती है, वैसे ही जो जो साध्य सिद्ध होगा, वह सब संघात्मा ही सिद्ध होगा, उसमें परार्थकत्वानुमानसे अनवस्था होगी; इसलिए यह अनुमान आभास है ।

समाधान—ठीक है, उक्त अनवस्था दोषके परिहारके लिए पर असंहत ही आत्मा मानना चाहिए, अतएव शरीरेन्द्रियादिसंघात केवल भोक्ता आत्माके लिए है; संहतके लिए नहीं, आत्मा शरीरादिसंघातसे अतिरिक्त है, अतः उक्त संघात भी आत्मा नहीं है, संघातमें भोक्तृत्वका निरास कर विज्ञानमयमें भोक्तृत्व कहते हैं । उसमें कारण है उक्त दोषोंकी निवृत्ति । शरीरादिको भोक्ता माननेमें जो दोष कहे गये हैं; उनमें से कोई भी दोष विज्ञानमयको भोक्ता माननेमें लागू नहीं होता; इसलिए यही पक्ष अदुष्ट है ॥ ४५ ॥

'सुखदुःखा०' इत्यादि । सुख-दुःखादिका साक्षात्कार भोग कहा जाता है; सो जड़ केवल शरीरादिमें नहीं हो सकता; किन्तु चेतन आत्मामें ही होता है; यह निर्णय अन्वय-व्यतिरेकसे शास्त्रकारोंने किया है । केवल शास्त्रकारोंका ही यह निर्णय नहीं है; लौकिक पुरुषोंका भी यही निर्णय है। अचेतनमें उक्त भोगकी सामग्री ही नहीं रहती फिर भोग कैसे होगा ? यह तो अतिस्पष्ट है कि इन्द्रियादिके बिना अनुभव होता ही नहीं, क्योंकि इन्द्रिय ही अनुभवमें करण है । अचेतनमें इन्द्रियां नहीं रहतीं, अतएव मृत शरीरमें कोई भी भोग नहीं मानता; जबतक उसमें चेतनत्व है; तभी तक भोग होता है । चैतन्यशून्यदशामें उसमें भोगका अभाव सर्वसंमत है ॥ ४६ ॥

शङ्का—**'नाऽन्वयो'** इत्यादि । अद्वैतमतमें आत्मव्यतिरिक्त पदार्थ ही जब नहीं है तब अन्वयव्यतिरेक कैसा ? तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्, यह अन्वय है, तदभावे

तदभावः, यह व्यतिरेक है; ये दोनों पदार्थ द्वैत होनेपर ही हो सकते हैं; अद्वैतमें नहीं। अद्वैतमें तो सब संसार अविद्यासे ब्रह्ममें कल्पित है, वास्तवमें प्राणादि भी कुछ नहीं हैं, यह माना जाता है।

समाधान—ठीक है, पारमार्थिक दूसरा नहीं है, किन्तु कल्पित पदार्थ तो मानते ही हैं, इसलिए कल्पिताकल्पितका अन्वयव्यतिरेक कर सकते हो।

शङ्का—कल्पितत्वरूपसे लोकसिद्ध स्वाश्रिक अकल्पितत्वरूपसे लोकसिद्ध आकाशादि ये सब जड़ हैं, अतः ये स्वतःसिद्ध नहीं हैं, किन्तु आत्मस्वरूप ही हैं; अतएव 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादि श्रुति भी संगत होती है। ब्रह्मात्मक होनेसे फिर भी अन्वय-व्यतिरेक नहीं बन सकता, कल्पित मिथ्या है; उसका अन्वय व्यतिरेक हो ही नहीं सकता; क्योंकि स्वाधिकरणत्वेनाऽभिमतनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व मिथ्यात्व है अर्थात् अपने आश्रयरूपसे अभीष्टमें विद्यमान अत्यन्ताभावका प्रतियोगी मिथ्या है। जहाँ प्रतीत होता है, वहीं नहीं रहता तो जहाँ प्रतीत ही नहीं होता, वहाँ कैसे रह सकता है? विना सत्ताके अन्वय कैसे गृहीत होगा? अकल्पित आत्मा एक ही है, उसमें सुतरां अन्वय-ग्रहण नहीं हो सकता।

समाधान—पुंव्युत्पत्ति आदिसे यद्यपि वास्तविक अन्वयव्यतिरेक अद्वैतमतमें नहीं हो सकता, यह सत्य है तथापि कल्पितभेदमूलक व्यावहारिक अन्वयव्यतिरेकमें कोई क्षति नहीं है।

शङ्का—अन्वय-व्यतिरेकसे आत्मज्ञान यदि अभीष्ट है, तो आत्मबोधक वाक्योंकी क्या आवश्यकता है?

समाधान—अन्वय-व्यतिरेक पारमार्थिक नहीं है और आत्मा औपनिषद माना जाता है, अतः उपनिषद्-वाक्यकी आवश्यकता है।

शङ्का—तो उक्त वाक्यसे ही आत्मतत्त्वकी सिद्धि हो जायगी, एतदर्थ अन्वयव्यतिरेकका प्रदर्शन व्यर्थ है।

समाधान—व्यर्थ नहीं है, वाक्यजन्य ज्ञानमें अयोग्यका ज्ञान प्रतिबन्धक है। उसके निरासके लिए अन्वय-व्यतिरेक अत्यावश्यक है, इस तात्पर्यसे कहते हैं—आभ्यामित्यादि। पुंव्युत्पत्तिका अर्थ है, वाक्यार्थ ज्ञान अन्वय-व्यतिरेकसे अयोग्यता ज्ञान निवृत्ति द्वारा वाक्यार्थ ज्ञान होता है, अतः परंपरया योग्यताज्ञान भी आत्मतत्त्वके निश्चयमें कारण है।

अध्यस्तयाऽपि व्युत्पत्त्या कृत्स्नभ्रान्तिर्निवर्त्तते ।
स्वप्नताडनदाहादिभीत्या स्वप्ननिवर्तनात् ॥ ४८ ॥

शङ्का—यदि आत्मज्ञान वस्तुतः वाक्यसे होता है, ऐसा मानते हो, तो वाक्य-ज्ञानसे पूर्व जब आत्मज्ञान ही नहीं है, तब अन्वय-व्यतिरेकका ग्रहण ही कैसे होगा ? अज्ञातका तो अन्वय हो नहीं सकता । और अन्योन्याश्रय दोष भी उक्तार्थमें है, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेकसे वाक्यार्थज्ञान होगा और वाक्यार्थज्ञान होनेपर आत्मज्ञान होगा, फिर अन्वय-व्यतिरेक हो सकेगा ? इस क्रमसे अन्वय-व्यतिरेकसे वाक्यार्थज्ञान, वाक्यार्थज्ञानसे अन्वय-व्यतिरेकका अवधारण होता है, अतः अन्योन्याश्रय है ।

समाधान—संसारदशामें वाक्यार्थज्ञानसे पूर्व भी आत्माका ज्ञान है; क्योंकि आत्मा स्वयंप्रकाश है, अतः प्राणिमात्रके प्रवृत्ति आदि अहंकारपूर्वक होते हैं—'मैं देखता हूँ, मैं करता हूँ' इत्यादि । किन्तु स्वाविद्यासे कल्पित शरीर, इन्द्रिय आदि अनेक अनात्मवर्गके मध्यगत होनेसे वास्तविक विवेक नहीं होता कि यह आत्मा है । चिदचित्तादात्म्याध्याससे पुरुष मूढ हो जाता है, अतएव शरीर इन्द्रिय आदिको आत्मा मान कर 'अहं गौरः, वधिरः' इत्यादि व्यवहार करता है । ऐसी परिस्थितिमें आत्मवाक्यका श्रवण होनेपर भी विश्वास नहीं होता । इसलिए त्वंपदार्थके शोधनके लिए अन्वय-व्यतिरेकके अवधारणकी परम आवश्यकता है ।

शङ्का—आत्मा स्वयंप्रकाश है, ऐसा आप मानते हैं, फिर भी कहते हैं कि अन्वय-व्यतिरेकसे आत्मज्ञान होता है । यदि उक्त उपायसे आत्मज्ञान होता है, तो आत्मा स्वयंप्रकाश कैसे है ? यदि स्वयंप्रकाश है, तो अन्वय-व्यतिरेक और वाक्य—ये दोनों व्यर्थ हैं ।

समाधान—आत्मत्वरूपसे भासमान अनात्म पदार्थोंका विश्लेषण करनेके लिए अन्वय-व्यतिरेक अपेक्षित है और वाक्य अन्वय-व्यतिरेकमें जिसकी कुशल बुद्धि है, ऐसे पुरुष द्वारा विनिश्चित आत्माका ब्रह्मके साथ ऐक्यबोधन करनेके लिए है । आत्मा स्वयंप्रकाश है, अतएव स्वयंसिद्ध है; अतः उसके लिए अन्वय-व्यतिरेक तथा वाक्यकी आवश्यकता नहीं है दोनोंका उपयोग परिनिष्ठित है अर्थात् त्वमर्थके शोधनके लिए अन्वय-व्यतिरेक है और ब्रह्मात्म्यैक्यके बोधनके लिए 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य हैं । उन वाक्योंसे जायमान आत्मयथार्थज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति द्वारा परम पुरुषार्थका प्रकाश होता है, इसलिए दोनों सप्रयोजन भी हैं ॥ ४७ ॥

शङ्का—**'अध्यस्त०'** इत्यादिसे । वाक्यज्ञान भी तो अध्यस्त होनेसे

अतोऽन्वयेन विज्ञानमयो भोक्ताऽत्र वर्ण्यते ।
चिदन्वयो हि भोग्येषु निखिलेष्वनुभूयते ॥ ४९ ॥

अपारमार्थिक ही है और भ्रान्ति तो स्वतः अपारमार्थिक है ही, फिर इनके निवर्त्य-निवर्त्तकभावमें क्या मूल है ? शुक्तिज्ञानसे शुक्तिरजतज्ञानकी निवृत्ति तो ठीक है, क्योंकि निवर्त्यकी अपेक्षा निवर्तक ज्ञान अधिक सत्तावाला है। प्रकृतमें तो दोनों समसत्ताक हैं; अतः विपरीत ही निवर्त्य-निवर्त्तकभाव क्यों नहीं होता ?

समाधान—स्वाभिक ताड़न, दाह आदिके भयसे जैसे स्वप्नकी निवृत्ति होती है, वैसे ही अध्यस्त उक्त ज्ञानसे कर्तृत्व आदि भ्रान्तिकी निवृत्ति मानी जाती है। निवर्तकतामें मूल अधिकसत्ताकत्व नहीं है, किन्तु अन्यूनसत्ताकत्व है; अतः समसत्ताक और अधिकसत्ताक दोनोंमें उक्त बीज समान है। इसलिए अन्वय-व्यतिरेकसहकृत वाक्यजन्य ज्ञान निखिल भ्रान्तिका निवर्तक माना जाता है। विशेष अन्यत्र देखिए ॥ ४८ ॥

'अतोऽन्वयेन' इत्यादि। यहां अन्वयसे विज्ञानमय आत्मा भोक्ता कहा जाता है। संपूर्ण भोग्य पदार्थोंमें चित्का अन्वय अनुभवसिद्ध है। भाव यह है कि साभास अविद्याका कार्य संसार है। इसकी प्रत्येक वस्तुमें चित्का अनुगम है। 'अयं घटः' इत्यादि घटादिका व्यवहार चिदनुगत ही होता है। अधिष्ठानानुविद्ध ही अध्यस्त प्रतीतिका विषय होता है। एवं 'अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम च' इस अभियुक्त-वचनके अनुसार तीन सत्ताएँ ब्रह्मकी ही हैं। घटादिमें जो 'अस्तित्व' आदिका भान होता है, वह अधिष्ठान ब्रह्मका ही अस्तित्व है। अध्यस्तमें अधिष्ठानसत्तासे अतिरिक्त सत्ता नहीं सिद्ध होती, 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यादि वेदान्तसूत्रमें भाष्यकारने यही सिद्धान्त किया है। ब्रह्ममें ही जगत्का भान होता है। तत्-तत् आकारवाली वृत्तिसे उपहित चैतन्यसे जगत्का प्रकाश होता है ? प्रियत्व भी जड़में स्वतः नहीं है, किन्तु ब्रह्मगत ही प्रियत्व अवच्छेदकत्व आदि संबन्धसे जड़में प्रतीत होता है। व्यतिरेक भी जहां जो प्रतीत होता है, वहीं 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि वाक्यसे स्पष्ट ही है। जैसे जिस शुक्तिशकलमें रजतकी प्रतीति होती है, उसीमें उसका प्रतिषेध करनेसे व्यतिरेक सिद्ध होता है; इस कारणसे आत्मा अव्यभिचारी तथा सबका साक्षी है और अनात्मा व्यभिचारी तथा साक्ष्य है; इस प्रकार लोक तथा वेदमें अन्वय-व्यतिरेक प्रसिद्ध है ।

भोग्यानां व्यभिचारेऽपि भोक्ता त्वव्यभिचारवान् ।
विज्ञानमयता तस्य विज्ञानप्रचुरत्वतः ॥ ५० ॥
विज्ञानमन्तःकरणं तस्मिन्नात्मोपलभ्यते ।
राहुश्चन्द्रे यथा तद्वद्विज्ञानमयता ततः ॥ ५१ ॥

शङ्का—विज्ञानमयको भोक्ता आप कहते हैं; पर मयट्प्रत्ययसे विज्ञानका विकार विज्ञानमय कहा जाता है; क्योंकि 'तत्प्रकृतिवचने मयट्' इस भगवत्पाणिनिके सूत्रसे विहित मयट्प्रत्यय विकार अर्थमें होता है। भोक्ता यदि अनित्य है, तो वेदान्तानुशासन ही व्यर्थ है।

समाधान—यहाँ विज्ञानमयशब्दमें मयट्प्रत्यय स्वार्थ या प्राचुर्य्य अर्थमें कहा गया है, विकार अर्थमें नहीं; अतः विज्ञानमय आत्मा नित्य भोक्ता है, उससे अन्य नहीं ॥ ४९ ॥

उसी तात्पर्यको कहते हैं—**'भोग्यानाम्'** इत्यादिसे।

उक्त रीतिसे भोग्य अनात्मवर्गका व्यभिचार (व्यावृत्ति) है और पदार्थान्तरमें आत्मा अनुवृत्त है अर्थात् घट, पट आदि अनात्मवर्ग परस्पर व्यावृत्त है; किन्तु भोक्ता सर्वत्र अनुवृत्त ही है; कहीं भी उसका व्यभिचार नहीं है। विज्ञानमयता भोक्तामें विज्ञानविकारप्रयुक्त नहीं है; क्योंकि वह तो कूटस्थ नित्य तथा सदा स्वयंप्रकाश चिद्रूप है; किन्तु विज्ञानप्राचुर्य्यादिप्रयुक्त है ॥ ५० ॥

शङ्का—आत्मा विज्ञानमय क्यों कहलाता है ?

समाधान—विज्ञान नाम अन्तःकरणका है। उसीमें आत्माका उपलम्भ होता है, इसलिए आत्मा विज्ञानमय कहलाता है।

शङ्का—कहींपर आत्मा स्वयंप्रकाश है और उससे अतिरिक्त अन्तःकरणादि जड़ अप्रकाशात्मा हैं ऐसा कहते हो। और यहाँपर विज्ञानसे आत्माका प्रकाश होता है, ऐसा कहते हो, अतः यह वचन ही अत्यन्त अश्रद्धेय प्रतीत होता है; प्रथम तो स्वयंप्रकाशको प्रकाशककी अपेक्षा ही नहीं है। यदि हो भी तो जड़ अन्धकारकी क्या अपेक्षा ? वह तो प्रकाशविरोधी है, प्रकाशोपयोगी नहीं है।

समाधान—हां आपाततः ऐसा ही कहा जा सकता है, परन्तु विचार करनेपर तो जो कहा है, वही ठीक प्रतीत होता है।

शङ्का—कैसे ?

समाधान—राहु प्रकाशयोग्य है; किन्तु स्वतः अन्धकारके समान उसका

स्वाभासवदविद्योत्थबुद्ध्यादिव्याप्तिविभ्रमात् ।
तादात्म्यवाभिमानी सन्नहमित्युपलभ्यते ॥ ५२ ॥

प्रकाश नहीं होता, चन्द्रादिके संबन्धसे राहुके स्वरूपका प्रकाश होता है, वैसे ही आत्मा स्वतःप्रकाशयोग्य है सही, पर अन्तःकरणके संबन्धसे ही उसका प्रकाश होता है; अन्यथा नहीं, यह वस्तुस्वभाव है ।

शङ्का—राहु तमःस्वरूप है तथा चन्द्रमा प्रकाशस्वरूप है, इसलिए प्रकाशकके संबन्धसे राहुका प्रकाश ठीक ही है । प्रकृतमें अन्तःकरण, तमःस्वरूप होनेसे, राहुतुल्य है । उसके संबन्धसे चन्द्रादिका प्रकाश होता है, ऐसा कहिये तो दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकमें साम्य होता है; परन्तु ऐसा कहना ही असंगत है । चन्द्रादिका स्वतः-प्रकाश प्रसिद्ध ही है; अतः उक्त अर्थमें तो वैषम्य है ।

समाधान—जैसे राहुमें चन्द्रकी किरण प्रविष्ट होती है, उस किरणसे राहु और तदवच्छिन्न चन्द्रमण्डलका प्रत्यक्ष होता है, चन्द्रके स्वरूपसे नहीं होता, वैसे ही राहुस्वरूप अन्तःकरणमें प्रतिफलित चैतन्यसे आत्मा और अन्तःकरणका उपलम्भ होता है, पर आत्मस्वरूपसे नहीं होता, अन्तःकरणके स्वभावसे होता है, अतएवतमस्त्वादिके समान आत्मामें कर्तृत्व आदिका भान अवास्तविक है । सारांश यह कि आत्मा प्रकाशस्वभाव है, किन्तु अज्ञानावृत होनेसे प्रकाशित नहीं होता, अन्तःकरणमें प्रतिफलित चैतन्यसे आवरक अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे प्रकाशित-स्वरूप होता है । आत्मस्वरूपभूत प्रकाश अज्ञानका साधक है, अतएव निवर्तक नहीं हो सकता । अन्तःकरणप्रतिबिम्बित चैतन्य उसका निवर्तक है, जैसे सूर्यके आलोकसे तत्त्वका प्रकाश होता है, नाश नहीं होता; पर सूर्यकान्तोपलप्रतिबिम्बित उसके आलोकसे तन्नाश होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ ५१ ॥

'स्वाभासव०' इत्यादि । चिदाभासविशिष्ट अविद्यासे समुत्पन्न बुद्धि आदिसे सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, मोह आदि संबन्धकी भ्रान्तिसे 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतिके अनुसार यद्यपि आत्मा—इन विकारोंसे असंबद्ध है, तथापि भ्रान्तिवश अपनेको अन्तःकरणके कर्मोंसे धर्मवान् मानकर 'सुखी दुःखी अहम्' इत्यादि प्रकारसे उपलब्धि करता है । अन्तःकरण तादात्म्याध्यास होनेसे अन्तःकरणके धर्मोंका भी आत्मामें आरोप हुआ है, अतः आरोपित धर्मसे अपना उपलम्भ करता है ॥ ५२ ॥

यद्वोपलब्धिमात्रोऽपि विज्ञानाध्यस्तकर्तृताम् ।
प्राप्योपलब्धा स्यात् तेन विज्ञानमय उच्यते ॥ ५३ ॥
स्फटिको रक्ततां प्राप्य जपाकुसुमकल्पिताम् ।
पद्मरागायते तद्वदुपलब्धृत्वमात्मनः ॥ ५४ ॥

शङ्का—**'यद्वोपल०'** इत्यादि । 'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः' इस योगसूत्रके अनुसार तथा अद्वैतवेदान्तके अनुसार ज्ञप्तिमात्रस्वरूप आत्मा स्वयं-प्रकाश है, उपलब्धिका कर्ता नहीं है, इसलिए अन्य रूपसे भी उपलब्धिका कर्ता नहीं हो सकता । कूटस्थ सर्वव्यापक निरवयवमें क्रिया ही नहीं, फिर क्रियाकर्तृत्वादि तो दूर निरस्त हैं, ऐसी स्थितिमें अन्यरूपसे भी उपलब्धिका कर्ता कैसे हो सकता है ?

समाधान—इसी अभिप्रायसे कहते हैं—'यद्वा' इत्यादि । ठीक है, आत्मा उपलब्धिमात्र है, उपलब्धिका कर्ता नहीं है; किन्तु उपलब्धिकर्तृ अन्तःकरणके तादात्म्याध्याससे अपनेमें भी कर्तृत्व मानकर आत्मा विज्ञानमय कहलाता है । असलमें आत्मामें विज्ञानमयशब्दका प्रयोग औपाधिक है, स्वाभाविक या यौगिक नहीं है । मयट्प्रत्यय प्रायः अर्थमें है, विकार अर्थमें नहीं है । साक्षित्वरूपसे उपलम्भ आत्माका है, साक्ष्य बुद्ध्यादिके साथ आध्यासिक संबन्ध भी है । अकारक फल स्वरूप है । विज्ञानमानी होकर सब वस्तुओंको जानता है, इसलिए विज्ञानमय कहा जाता है ॥ ५३ ॥

'स्फटिको' इत्यादि । स्फटिक जपाकुसुमके सन्निधानसे रक्त गुण पाकर जैसे पद्मराग मणिके समान भासता है; वैसे ही उपलब्धिकर्तृत्वादि धर्मसे विशिष्ट मनके सन्निधानसे वस्तुतः उसके धर्मसे शून्य आत्मा भी तद्धर्मवान्के सदृश प्रतीत होता है, अपनेको उसके धर्मसे विशिष्ट मानता है ।

शङ्का—स्फटिक तो रूपवान् है, अतः उसमें जपाकुसुमकी छायाके ग्रहणकी सामर्थ्य है, इसलिए उसमें आरुण्यका (रक्तता) निश्चय हो सकता है । आत्मा तो नीरूप (रूपरहित) है, उसमें छाया कैसी ?

समाधान—रूपवान्में ही प्रतिबिम्ब होता है, यह नियम नहीं है, क्योंकि नीरूप गृह कूप या गृहाद्याकाशमें शब्दका प्रतिबिम्ब देखा जाता है, एवं रूपवान्का ही प्रतिबिम्ब होता है, यह भी नियम नहीं है । रूपादिका भी प्रतिबिम्ब स्पष्ट ही देखते हैं । रूपमें रूप नहीं तथा शब्द रूपवान् नहीं, फिर भी प्रतिबिम्ब कही चुके हैं ।

यद्वोपलभ्यो देहादेर्विज्ञानेन विवेचितः ।
स्याद्विज्ञानमयस्तेन पुरुषः परिपूरणात् ॥ ५५ ॥
अशेषान्कल्पितानेष विज्ञानादीननात्मनः ।
आत्मा पूरयति प्रत्यक् सर्पादीन् रशना यथा ॥ ५६ ॥

श्रुतिः—स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाऽभूत्कुत एतदागादिति तदु ह न मेने गार्ग्यः ॥ १६ ॥

अतएव सांख्याद्याचार्य प्रकृतिमें पुरुषकी छाया मानते हैं—'तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव भवति । गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः' इत्यादि ॥ ५४ ॥

आत्मा विज्ञानमय कहलाता है, इसमें निमित्तान्तर भी कहते हैं—**'यद्वोप०'** इत्यादिसे ।

देह, इन्द्रिय आदिसे विज्ञान शब्दित बुद्ध्यादि द्वारा विवेचित—विचार द्वारा पृथक्कृत अर्थात् उससे भिन्नरूपसे अवधारित—आत्मा चूँकि प्रकाशित होता है—तद्भिन्नरूपसे प्रकाशित होता है—, इसलिए भी विज्ञानमय कहलाता है। विज्ञानमयत्वके व्यपदेशमें अनेक निमित्त हैं। सर्वथा औपाधिक ही यह शब्द आत्मामें है, परिपूरणसे पुरुष कहलाता है ॥ ५५ ॥

'अशेषान्' इत्यादि । जैसे अकल्पित रज्जु कल्पित सर्पादिको पूर करती है, वैसे ही विज्ञानादि संपूर्ण कल्पित पदार्थोंको आत्मा पूर करता है ।

शङ्का—'पुरि शेते इति पुरुषः', ऐसी पुरुषशब्दकी व्युत्पत्ति भाष्यकारने अन्यत्र लिखी है । उसकी उपेक्षा कर 'पूरणात् पुरुषः' ऐसी पुरुषशब्दकी व्युत्पत्ति माननेका प्रकृतमें अभिप्राय क्या है ?

समाधान—प्रत्यगात्मामें पूर्णत्वबोधके लिए उसी व्युत्पत्तिमें प्रकृत वाक्यका तात्पर्य है । 'स वा अयं पुरुषो जायमानः' इत्यादिसे उपक्रम कर 'नैनेन किञ्चनानावृतम्' इत्यादिसे पुरुषमें पूर्णत्वका निर्णय किया है, इसलिए पूर्णत्वमें श्रुतिका तात्पर्य है, पुरिशयत्वमें नहीं । सन्दिग्ध शब्दका वाक्यशेषानुसारी अर्थ मान्य होता है, यह सर्वसंमत न्याय है ।

'स होवाचाजातशत्रु०' इत्यादि । राजाने गार्ग्यसे पूछा कि पाणिपेषणसे पूर्वकालमें यह विज्ञानमय आत्मा कहां सोया था ? यह कहां था ? पाणिपेषणसे कहांसे आया ? गार्ग्यने इसका कुछ उत्तर नहीं दिया, क्योंकि ये दोनों बातें उनको ज्ञात न थीं ।

यो विज्ञानमयस्तस्य द्वैतधीः स्वप्नजाग्रतोः ।
अस्ति सुप्तौ तु सा नाऽस्ति स्वभावोऽस्याऽत्र को भवेत् ॥५७॥
तस्य स्वभावं निर्णेतुं सुप्तौ क्वाऽभूदयं पुनः ।
कुत आगादिमं देहमित्येतदिह चिन्त्यते ॥ ५८ ॥

शङ्का—राजाके प्रति गार्ग्यने अपनेको शिष्य मान लिया था, अतः उससे राजाने पूछा ही किस अभिप्रायसे ?

समाधान—राजाने यह प्रतिज्ञा की है कि आपको ब्रह्मज्ञान करा देंगे । ब्रह्म जिज्ञासुओंको उक्त दो प्रश्नोंका ज्ञान आवश्यक है । ज्ञानाभावसे गार्ग्य पूछ न सके, यह समझ कर राजाने प्रश्न द्वारा एतद्विषयक जिज्ञासा गार्ग्यमें उत्पन्न कर दी । शास्त्रकारोंकी यह रीति है कि यदि अज्ञानवश शिष्य अवश्य-ज्ञातव्य विषयका प्रश्न न कर सके तो आचार्यको उचित है कि वह स्वयं उस विषयका प्रश्नादि द्वारा उत्थान कर व्याख्यान करे अन्यथा प्रतिज्ञातार्थकी सिद्धि न होगी, इसलिए गार्ग्यके प्रश्न न करनेपर भी राजा उस अर्थकी विवक्षासे उदासीन न हुए, किन्तु स्वयं प्रश्न कर व्याख्यान किया, यह राजाकी कर्तव्यपरायणता और उदारता है । सत्पुरुष,अर्थीके प्रति उसके अभीष्ट अर्थके प्रदानकी प्रतिज्ञा कर उसका प्रदान किये विना नहीं रहते, यह सत्पुरुषोंका व्रत है; अतः सत्पुरुष राजा अकुशल गार्ग्यको समझ कर भी प्रतिज्ञातसे उदासीन नहीं हुए ॥ ५६ ॥

'यो विज्ञान०' इत्यादि । जो विज्ञानमय पुरुष है, उसकी द्वैतविषयक बुद्धि स्वप्न और जाग्रत् कालमें सम है, सुषुप्ति कालमें नहीं है । अतः यह विचारना आवश्यक है कि आत्माका क्या स्वभाव है ? जाग्रदादि कालमें कर्तृत्वादि प्रतीति होती है, इसलिए उसे कर्तृत्वादिस्वभाव मानना चाहिए अथवा सुप्तिदशामें कर्तृत्वादि-प्रतीति नहीं होती, अतः सांसारिक सकलधर्मातीत आत्मा है ? कर्तृत्वादि-प्रतीति औपाधिक है। उपाधिके सद्भाव कालमें उक्त कर्तृत्वादि धर्म प्रतीत होते हैं । उसकी विगमदशामें नहीं, इसका निर्णय करते हैं—तस्येत्यादिसे ॥ ५७ ॥

'तस्य' इत्यादि । आत्माके स्वभावका निर्णय करनेके लिये यह प्रश्न किया गया है कि सुषुप्तिकालमें यह आत्मा कहाँ था और पाणिपेषणके अनन्तर कहांसे इस देहमें आया ? इसीका यहां विचार करते हैं, यदि कहीं गया न होता, तो विज्ञानस्वभाव आत्मा सुषुप्तिकालमें भी प्रतीत होता, पर उस कालमें

विहायैतच्छरीरं किं सुप्तौ देशान्तरं गतः ।
विनष्टो वाऽथवाऽत्राऽऽस्ते विशेषज्ञानवर्जितः ॥ ५९ ॥
देहप्राणाविह त्यक्त्वा गच्छेन्निःसाधनः कथम् ।
नाशे बोधः पुनर्न स्यात् न स्थितौ ज्ञानवर्जनम् ॥ ६० ॥
ज्ञस्वभावोऽत्र तिष्ठेच्चेदभिमन्येत विग्रहम् ।
औपाधिकोऽभिमानश्चेदुपाधेः क्व गतिस्तदा ॥ ६१ ॥

'न किंचिदवेदिषम्' ऐसा अनुभव होता है, जो सुप्तोत्थित पुरुषके उक्त परामर्शसे सिद्ध होता है, इसलिए यह प्रश्न उचित है कि सुषुप्तिकालमें शरीरमें आत्मा रहता है या कहीं चला जाता है ? ॥ ५८ ॥

'विहायैत०' इत्यादि । क्या सुषुप्तिकालमें इस शरीरका त्याग कर आत्मा देशान्तरमें चला जाता है, अथवा उस कालमें विनष्ट हो जाता है, या विशेष ज्ञान रहित होकर शरीरमें ही रहता है ? तीनों विकल्पोंमें दोष कहते हैं ॥ ५९ ॥

'देहप्राणा०' इत्यादि । देह और प्राण ये दोनों आत्माके देशान्तरगमनमें साधन हैं । जीवितदशामें देह और प्राणके देशान्तरमें गमन करनेपर आत्मा देशान्तरमें जाता है । मरणकालमें यद्यपि देह इसी लोकमें रह जाती है, तथापि प्राण लोकान्तरमें चला जाता है; अतः उसके द्वारा आत्मा भी लोकान्तरमें जाता है, यह लोकानुभवसिद्ध है । परन्तु सुषुप्तिकालमें देह और प्राण इसी लोकमें रहते हैं, यह स्पष्ट देखते हैं, फिर निस्साधन आत्मा देशान्तरमें जाता है, यह कहना तो सर्वथा उपपत्तिशून्य है, क्योंकि कारणके बिना कोई कार्य नहीं होता है । यदि हो, तो वह नित्य ही होगा, कार्य नहीं । द्वितीय विकल्पमें फिर बोध ही नहीं होगा । विनष्टका तो प्रत्यागमन नहीं होता और 'नासते विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' इत्यादि आगमविरोध भी दुष्परिहर होगा । अकृताभ्यागम, कृत-विनाश आदि बहुत दोषोंकी प्रसक्ति होगी । स्थितिकल्पमें ज्ञानशून्यत्व ही असंभव है, क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वभाव है । यदि उक्त समयमें वह शरीरमें रहता है, तो विशेष ज्ञान अनिवार्य है ॥ ६० ॥

'ज्ञस्वभावो०' इत्यादि । ज्ञानस्वभाव आत्मा यदि शरीरमें रहता है; तो शरीरका अभिमान अवश्य ही करेगा । 'अहं शरीरः' ऐसा अभिमान यदि होगा, तो जाग्रादादि अवस्थासे सुषुप्ति अवस्थामें सर्वानुभवसिद्ध वैलक्षण्य ही असङ्गत

उच्यते कर्मभिर्जीवः सुखदुःखोपभुक्तये ।
जाग्रत्स्वप्नावबाप्नोति क्षीणकर्मा सुषुप्सति ॥ ६२ ॥

हो जायगा। यदि शरीराद्यभिमान औपाधिक है; आत्मनिबन्धन नहीं है, तो जो उक्त अवस्थामें उपाधि कही गई उसीको कहिए कि उसमें कौन उपाधि है ? सुषुप्तिदशामें वह कही जाती है; इसीका निर्णय कीजिये यदि हो सके। वस्तुतः मोक्षके बिना उपाधिका वियोग होता ही नहीं, इसलिए सुषुप्तिदशामें आत्माको छोड़कर उपाधि अन्यत्र चली जाती है, यह तो सर्वथा असंभव ही है। तात्पर्य यह है कि सकल धर्मोंसे अतीत शुद्ध आत्मतत्त्वके बोधके लिए राजाने गार्ग्यके प्रति दो प्रश्न किये कि यह विज्ञानमय आत्मा पाणिपेषणजन्य प्रबोधसे पूर्व कहां सोया था और प्रबोधके समय कहांसे आया ? अधिकरण और अपादान—इन दोके विषयमें प्रश्न किया, परन्तु गार्ग्य उक्त प्रश्नोंका उत्तर न दे सके। वस्तुतः इसका उत्तर देना अनात्मज्ञके लिए कठिन है। यदि आत्मासे अतिरिक्त अधिकरण या अपादान कहा जाय, तो क्रिया-कारक-व्यवहार वास्तविक मानना पड़ेगा। ऐसी परिस्थितिमें उदासीन आत्मतत्त्वकी प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी, जो वेदान्तप्रतिपाद्य है। अगर आत्माको ही अधिकरण और अपादान कहें, तो उक्त व्यवहार ही असंगत है। एकमें ही अधिकरणत्व और अपादानत्व नहीं रहता, क्योंकि अपना अधिकरण तथा अपना अपादान लोकमें अपनेसे अतिरिक्त माने जाते हैं; इस गूढ़ अभिप्रायसे यह प्रश्न किया गया है। क्रिया-कारकादिव्यवहार भ्रम है। इसमें प्रमाण है—'यत्र द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' इत्यादि श्रुति। उक्त व्यवहार विद्यादशामें होता ही नहीं। इसमें प्रमाण है—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुति।

बालाकि इसका उत्तर न दे सके, इसलिए राजा स्वयं उत्तर देनेके लिए उद्यत हुए। उन्होंने कहा—पूछनेपर भी आप नहीं समझ सके, तो मैं इसका उत्तर कहता हूँ। आप सावधान होकर सुनिये ॥ ६१ ॥

'उच्यते' इत्यादि। सुख और दुःखके उपभोगके लिए स्वकृत कर्मसे जीवको जाग्रत् और स्वप्न—ये दोनों अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं—स्फुट कर्मोंसे जाग्रत् सुख आदिका अनुभव होता है और स्वल्प शुभाशुभ कर्मोंसे स्वाप्निक सुख-दुःख आदिका अनुभव होता है। दोनोंके उपभोगजनक कर्मोंका क्षय होनेपर किंवा

अक्रियस्याऽप्यवस्थासु सञ्चारो बुद्ध्युपाधितः ।
घटोपाधिवशाद्यद्वदाकाशस्य गमागमौ ॥ ६३ ॥
बुद्धेश्चाऽज्ञानकार्यायाः स्थानं हृदयमिष्यते ।
तत्रेन्द्रियाणि सर्वाणि बुद्धितन्त्राणि सर्वदा ॥ ६४ ॥
गोलकेष्वेषु धीस्तानि नाडीभिः कर्मणो वशात् ।
प्रसारयत्यधिष्ठाय मत्स्यजालकवद् बहिः ॥ ६५ ॥

सौषुप्तिक सुखके अनुकूल कर्मके परिपाकसे पुरुष सुषुप्तिकी इच्छा करता है, इस दशामें स्वात्मसुखका अनुभव निर्विकल्पात्मक होता है ॥ ६२ ॥

'अक्रिय०' इत्यादि । यद्यपि आत्मा अक्रिय (क्रियाशून्य) है; इसलिए उक्त दो अवस्थाओंमें उसका स्वतः संचार नहीं हो सकता; तथापि बुद्धिरूप उपाधिके संचारसे आत्मामें भी संचारका व्यवहार होता है । इसमें अनुरूप दृष्टान्त देते हैं— तार्किक घट आदिके आकाशको व्यापक तथा क्रियाशून्य मानते हैं, अतएव वस्तुतः आकाशका गमनागमन (आना-जाना) नहीं कह सकते, फिर भी घटके गमनागमनसे उसके मध्यवर्ती आकाशका औपाधिक गमनागमन कहा ही जाता है । एवं आत्माका भी आकाशके समान औपाधिक गमनागमन माना जाता है ॥ ६३ ॥

'बुद्धेश्चाऽज्ञान०' इत्यादि । अज्ञानका कार्य बुद्धि है, इसलिए हृदय बुद्धिका स्थान कहा जाता है; सब इन्द्रियाँ सदा बुद्धिके अधीन ही रहती हैं, स्वतन्त्र नहीं रहतीं । बुद्धिसे मनका ग्रहण समझना चाहिए । अथवा इन्द्रियां मनके द्वारा बुद्धिके अधीन हैं; अतएव 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च' इत्यादि आप्त वचन सुसङ्गत होते हैं । तार्किक भी इन्द्रियोंका अधिष्ठाता मन है, यही मानते हैं । 'अन्यत्रमना अभूवं नाऽश्रौषम्' इत्यादि श्रुति भी इसी अर्थको स्वहस्तगत करती है । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इस श्रुतिमें मनकी सृष्टिके अनन्तर मनके नियन्त्रणमें रहनेवाली इन्द्रियोंकी सृष्टि कही गई है । अथवा बुद्धिपद अन्तःकरणपरक है । बुद्धि, मन और अहङ्कार अन्तःकरणके वृत्ति-विशेष हैं, इस अर्थमें भी कोई आपत्ति नहीं है ॥ ६४ ॥

'गोलके०' इत्यादि । धी (मन) स्वकृत कर्मवश नाड़ी द्वारा तत्-तत् गोलक आदिमें स्थित चक्षु आदि इन्द्रियोंमें अधिष्ठित होकर उनको बाह्य विषयोंसे स्व-स्वग्राह्य विषयोंमें फैलाता है अर्थात् तत्-तत् इन्द्रियोंसे गृहीत

बुद्ध्यवक्षेषु चात्माऽयं चिद्रूपः प्रतिबिम्बति ।
तादृग्बुद्धीन्द्रियोपाधिर्जागर्त्यात्मेति गम्यते ॥ ६६ ॥
कर्मक्षये बुद्धिरक्षैः सहाऽज्ञाने विलीयते ।
चैतन्यप्रतिबिम्बाश्च लीयन्ते स्वाश्रयाननु ॥ ६७ ॥

श्रुतिः—स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः

होनेवाले बाह्य बिषयोंके ग्रहणमें उन्मुख करता है । इसमें अनुरूप दृष्टान्त कहते हैं, जैसे जाल जलमें प्रविष्ट होकर उसमें स्थित मछली आदि जलचर जीवोंको बाहर करता है; वैसे ही मन गोलकस्थित इन्द्रियोंको ग्राह्य विषयदेशमें स्थित करता है । इससे इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं, यह सूचित होता है । बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रतिबिम्बित आत्मा इन्द्रिय द्वारा अर्थोपलब्धि करता है । वही जागरित अवस्था कहलाती है; अर्थात् बुद्धि और इन्द्रियां सावयव और सक्रिय हैं, अतएव उनका अपने-अपने विषयदेशमें गमन उचित है; किन्तु आत्मा निरवयव और निष्क्रिय है, इसलिए वह विषयदेशमें गमन नहीं कर सकता; फिर भी अपने अज्ञानसे विशिष्ट व्यक्तचैतन्याभासरूप विशेषधीसे युक्त श्रोत्रादि इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य शब्दादि सब विषयोंको व्याप्त करता है; जैसे सूर्य आकाश देशमें स्थित होकर अपनी किरणों द्वारा सकल पदार्थोंको व्याप्त करते हैं, वैसे ही आत्मा भी ज्ञान द्वारा सर्वविषयव्यापक माना जाता है । अतः स्वस्वविषयग्रहणोन्मुख इन्द्रियोपाधिक अवस्था आत्माका जागरित है ॥ ६५, ६६ ॥

'कर्मक्षये' इत्यादि । जाग्रत्फलके भोगप्रद कर्मोंका क्षय होनेपर बुद्धि (अन्तःकरण) इन्द्रियोंके साथ अज्ञानमें लीन हो जाती है । प्रतिबिम्बाश्रय तत्-तद् इन्द्रियादि वृत्तिका भी लय होना स्वाभाविक है, क्योंकि आश्रयके बिना आश्रितका रहना असंभव ही है, वृत्त्यादिका लय होनेसे उसमें स्थित चैतन्यंप्रतिबिम्बका भी लय होता है, इस प्रकार ऐन्द्रियक ज्ञानसे रहित आत्मा हो जाता है, यही सुषुप्ति है ॥ ६७ ॥

'सहोवाचा०' इत्यादि । यह विज्ञानमय पुरुष सुषुप्ति कालमें कहाँ था और कहाँसे आया, ऐसा जो प्रश्न पूछा था, उसका उत्तर सुनिये । जहांपर यह विज्ञानमय पुरुष सोया था उस कालमें (सुषुप्तिकालमें) इन वागादि करणोंका विज्ञानसे अर्थात् उपाधिभूत अन्तःकरणके स्वभावभूत उपादान

अक्रियस्याऽप्यवस्थासु सञ्चारो बुद्ध्युपाधितः ।
घटोपाधिवशाद्यद्वदाकाशस्य गमागमौ ॥ ६३ ॥
बुद्धेश्चाऽज्ञानकार्यायाः स्थानं हृदयमिष्यते ।
तत्रेन्द्रियाणि सर्वाणि बुद्धितन्त्राणि सर्वदा ॥ ६४ ॥
गोलकेष्वेषु धीस्तानि नाडीभिः कर्मणो वशात् ।
प्रसारयत्यधिष्ठाय मत्स्यजालकवद् बहिः ॥ ६५ ॥

सौषुप्तिक सुखके अनुकूल कर्मके परिपाकसे पुरुष सुषुप्तिकी इच्छा करता है, इस दशामें स्वात्मसुखका अनुभव निर्विकल्पात्मक होता है ॥ ६२ ॥

'अक्रिय०' इत्यादि । यद्यपि आत्मा अक्रिय (क्रियाशून्य) है; इसलिए उक्त दो अवस्थाओंमें उसका स्वतः संचार नहीं हो सकता; तथापि बुद्धिरूप उपाधिके संचारसे आत्मामें भी संचारका व्यवहार होता है । इसमें अनुरूप दृष्टान्त देते हैं— तार्किक घट आदिके आकाशको व्यापक तथा क्रियाशून्य मानते हैं, अतएव वस्तुतः आकाशका गमनागमन (आना-जाना) नहीं कह सकते, फिर भी घटके गमनागमनसे उसके मध्यवर्ती आकाशका औपाधिक गमनागमन कहा ही जाता है । एवं आत्माका भी आकाशके समान औपाधिक गमनागमन माना जाता है ॥ ६३ ॥

'बुद्धेश्चाऽज्ञान०' इत्यादि । अज्ञानका कार्य बुद्धि है, इसलिए हृदय बुद्धिका स्थान कहा जाता है; सब इन्द्रियाँ सदा बुद्धिके अधीन ही रहती हैं, स्वतन्त्र नहीं रहतीं । बुद्धिसे मनका ग्रहण समझना चाहिए । अथवा इन्द्रियां मनके द्वारा बुद्धिके अधीन हैं; अतएव 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च' इत्यादि आप्त वचन सुसङ्गत होते हैं । तार्किक भी इन्द्रियोंका अधिष्ठाता मन है, यही मानते हैं । 'अन्यत्रमना अभूवं नाऽश्रौषम्' इत्यादि श्रुति भी इसी अर्थको स्वहस्तगत करती है । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इस श्रुतिमें मनकी सृष्टिके अनन्तर मनके नियन्त्रणमें रहनेवाली इन्द्रियोंकी सृष्टि कही गई है । अथवा बुद्धिपद अन्तःकरणपरक है । बुद्धि, मन और अहङ्कार अन्तःकरणके वृत्ति-विशेष हैं, इस अर्थमें भी कोई आपत्ति नहीं है ॥ ६४ ॥

'गोलके०' इत्यादि । धी (मन) स्वकृत कर्मवश नाड़ी द्वारा तत्-तत् गोलक आदिमें स्थित चक्षु आदि इन्द्रियोंमें अधिष्ठित होकर उनको बाह्य विषयोंसे स्व-स्वग्राह्य विषयोंमें फैलाता है अर्थात् तत्-तत् इन्द्रियोंसे गृहीत

बुद्ध्यवक्षेषु चात्माऽयं चिद्रूपः प्रतिबिम्बति ।
तादृग्बुद्धीन्द्रियोपाधिर्जागर्त्यात्मेति गम्यते ॥ ६६ ॥
कर्मक्षये बुद्धिरक्षैः सहाऽज्ञाने विलीयते ।
चैतन्यप्रतिबिम्बाश्च लीयन्ते स्वाश्रयाननु ॥ ६७ ॥

श्रुतिः—स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः

होनेवाले बाह्य विषयोंके ग्रहणमें उन्मुख करता है । इसमें अनुरूप दृष्टान्त कहते हैं, जैसे जाल जलमें प्रविष्ट होकर उसमें स्थित मछली आदि जलचर जीवोंको बाहर करता है; वैसे ही मन गोलकस्थित इन्द्रियोंको ग्राह्य विषयदेशमें स्थित करता है । इससे इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं, यह सूचित होता है । बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रतिबिम्बित आत्मा इन्द्रिय द्वारा अर्थोपलब्धि करता है । वही जागरित अवस्था कहलाती है; अर्थात् बुद्धि और इन्द्रियां सावयव और सक्रिय हैं, अतएव उनका अपने-अपने विषयदेशमें गमन उचित है; किन्तु आत्मा निरवयव और निष्क्रिय है, इसलिए वह विषयदेशमें गमन नहीं कर सकता; फिर भी अपने अज्ञानसे विशिष्ट व्यक्तचैतन्याभासरूप विशेषधीसे युक्त श्रोत्रादि इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य शब्दादि सब विषयोंको व्याप्त करता है; जैसे सूर्य आकाश देशमें स्थित होकर अपनी किरणों द्वारा सकल पदार्थोंको व्याप्त करते हैं, वैसे ही आत्मा भी ज्ञान द्वारा सर्वविषयव्यापक माना जाता है । अतः स्वस्वविषयग्रहणोन्मुख इन्द्रियोपाधिक अवस्था आत्माका जागरित है ॥ ६५, ६६ ॥

'कर्मक्षये' इत्यादि । जाग्रत्फलके भोगप्रद कर्मोंका क्षय होनेपर बुद्धि (अन्तःकरण) इन्द्रियोंके साथ अज्ञानमें लीन हो जाती है । प्रतिबिम्बाश्रय तत्-तद् इन्द्रियादि वृत्तिका भी लय होना स्वाभाविक है, क्योंकि आश्रयके बिना आश्रितका रहना असंभव ही है, वृत्त्यादिका लय होनेसे उसमें स्थित चैतन्यप्रतिबिम्बका भी लय होता है, इस प्रकार ऐन्द्रियक ज्ञानसे रहित आत्मा हो जाता है, यही सुषुप्ति है ॥ ६७ ॥

'सहोवाचा०' इत्यादि । यह विज्ञानमय पुरुष सुषुप्ति कालमें कहाँ था और कहाँसे आया, ऐसा जो प्रश्न पूछा था, उसका उत्तर सुनिये । जहांपर यह विज्ञानमय पुरुष सोया था उस कालमें (सुषुप्तिकालमें) इन वागादि करणोंका विज्ञानसे अर्थात् उपाधिभूत अन्तःकरणके स्वभावभूत उपादान

पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाश-स्तस्मिञ्छेते ।

तदेन्द्रियाणां विज्ञानं धीविज्ञानेन संयुतम् ।
विज्ञानमय आदत्त इति श्रुत्योपवर्ण्यते ॥ ६८ ॥

अज्ञानसे जनित अन्तःकरणमें अभिव्यक्त चैतन्याभासलक्षण विशेष विज्ञानसे विज्ञानको अर्थात् वागादिकी स्वस्वविषयगत प्रतिनियत प्रकाशन सामर्थ्यको लेकर आत्मा हृदयाकाशमें सोता है ।

शङ्का—आकाशशब्दसे प्रसिद्ध भूताकाशका ग्रहण क्यों नहीं करते ? हृदयके मध्यमें भूताकाश भी रहता ही है ।

समाधान—'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' इस श्रुतिमें परमात्मा ही में जीवका शयन कहा गया है । उसके अनुरोधसे यहां भी आकाशशब्दसे पर ही आत्मा लेना चाहिए, अन्यथा श्रुतियोंमें परस्पर विरोध हो जायगा ।

शङ्का—प्रकृतमें शयन क्या है ?

समाधान—लिङ्गोपाधिसंबन्धसे उत्पन्न विशेषात्मस्वरूपका त्यागकर स्वाभाविक जो अविशेषस्वभाव आत्मा है, उसीमें स्थिति करता है तब आत्मा वास्तविक स्वस्वरूपमें अवस्थित होता है ।

शङ्का—इसमें क्या प्रमाण है ?

समाधान—प्रमाण है नाम प्रसिद्धि । जिस कालमें वागादि इन्द्रियोंके ज्ञानका ग्रहण करता है, उस कालमें उस पुरुषका स्वपिति यह नाम होता है—स्वमात्मानमपीत्यपिगच्छति इति स्वपिति इत्युच्यते ।

शङ्का—उक्त नामप्रसिद्धिसे आत्मा संसारधर्मसे विलक्षण है; यह तो प्रतीत होता है सही, पर इसमें युक्ति कुछ नहीं है ।

समाधान—इसमें युक्ति श्रुति स्वयं दे रही है—'गृहीत एव प्राणो भवति' इत्यादि । प्राणसे घ्राणेन्द्रिय विवक्षित है, मुख्य प्राण नहीं, क्योंकि यह प्रकरण इन्द्रियोंका है । वागादिका संबन्ध रहनेपर तदुपाधिक आत्मा संसारधर्मी होता है । सुषुप्तिकालमें उक्त इन्द्रियां आत्मासे उपसंहृत हो जाती हैं । उक्त इन्द्रियोंका उपसंहार होनेसे, क्रिया-कारकफलके अभावसे, आत्मा स्वस्वरूपमें स्थित होता है, यह सुस्पष्ट ज्ञात होता है ॥

'तदेन्द्रियाणम्' सुषुप्तिकालमें वागादि इन्द्रियोंके विज्ञानको अर्थात् विषय-

धीविज्ञानोपसंहारे विज्ञानमयताक्षतौ ।
निर्विकारात्मचैतन्यं केवलं परिशिष्यते ॥ ६९ ॥

प्रकाशन-सामर्थ्यको विज्ञानमय जीव लेकर सो जाता है यही श्रुतिने वर्णन किया है। 'विज्ञानेन' यह तृतीया साहित्यमें है। सुषुप्ति अवस्थामें विशेष विषयोंका ज्ञान नहीं होता। इसका कारण इन्द्रियोंमें तादृश ज्ञान जननकी सामर्थ्यका अभाव है। 'उसका कारण इन्द्रियोंका लय है अथवा जीव विज्ञानसे (चिदाभाससे) इन्द्रियोंकी विषयग्रहणसामर्थ्यको लेकर ब्रह्मरूप आकाशमें सो जाता है। इस पक्षमें 'विज्ञानेन' यहां तृतीया करणमें है। जिस प्रकार संवर्गविद्यामें 'वायुर्वाव संवर्गः' इत्यादिसे पृथिव्यादि- भूतोंका प्रलयकालमें वायुमें उपसंहार होता है, वैसे ही अध्यात्म 'प्राणो वाव संवर्गः' इत्यादि श्रुतिसे वागादि इन्द्रियोंका उपसंहार सुषुप्तिकालमें प्राणमें होता है। सो ठीक ही है, क्योंकि कार्यका कारणरूपसे ही उपसंहार हो सकता है, अन्यरूपसे नहीं। इन्द्रियोंका प्राणरूपसे उपसंहार करती हुई श्रुति कार्यका कारणरूपसे उपसंहार पक्षका ही समर्थन करती है। भूमविद्याके प्रकरणमें भी नामसे लेकर आशा तकका उपसंहार प्राणमें बतलाया है—'प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्' इत्यादि वाक्यसे। परन्तु प्राणशब्द वहां मुख्यप्राणपरक नहीं है, किन्तु अज्ञातब्रह्मपरक है, वही सबका कारण है। 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है। 'प्राणस्तथानुगमात्' इस सूत्रमें कथित रीतिसे भी प्राणशब्द ब्रह्मपरक है, इसमें विवाद नहीं है ॥ ६८ ॥

'धीविज्ञानम्' इत्यादि। धी और तज्जन्य विषयज्ञान—इन दोनोंका उपसंहार होनेपर आत्मामें विज्ञानमयता नहीं रह जाती, केवल निर्विकार आत्मचैतन्यमात्र अवशिष्ट रह जाता है। भाव यह है कि देह आदिके अभिमानी बद्ध जीवात्माका असंसारी ब्रह्मके साथ अभेद नहीं हो सकता, इस शंकाकी निवृत्तिके लिए तत्पदार्थ जीवका परिशोधन करते हैं। जीव कर्तृत्व आदि विज्ञानसे विशिष्ट है, अथवा उससे शून्य ? अन्वय-व्यतिरेकसे जीव कर्तृत्व आदि विज्ञानसे शून्य है, यही पक्ष सयुक्तिक है। जाग्रत् और स्वप्नमें यद्यपि विज्ञानमय आत्मा प्रतीत होता है, तथापि सुषुप्तिमें आत्माके रहनेपर भी विज्ञानमयताकी प्रतीति नहीं होती; इसलिए यह सुखसे जाना जाता है कि आत्माका विज्ञानमयता स्वभाव नहीं है, वह तो

एतदेव विवक्षित्वा प्रतिपादयति श्रुतिः ।
एषोऽन्तर्हृदयाकाशस्तस्मिञ्छेत इतीदृशी ॥ ७० ॥
बुद्धिर्हृदयशब्देन हृन्निष्ठत्वाद्विवक्ष्यते ।
आसमन्तात्काशतेऽयमित्याकाशोऽत्र चिद्वपुः ॥ ७१ ॥

मन आदि उपाधिवशसे होता है। अतएव सुषुप्तिदशामें जब मन आदि उपाधियोंकी निवृत्ति हो जाती है, तब स्वतः निर्विकार चिद्रूप आत्मा सकल सांसारिक धर्मोंसे रहित ही माना जाता है, अन्यथा सुषुप्तिमें भी विषयके अभानकी प्रसक्ति हो जायगी, निर्विकार चिद्रूप जीवात्मा तथा ब्रह्म ये दोनों हैं, इसलिए अभेदमें कोई बाधक नहीं है ।

शङ्का—जीवात्मा ब्रह्मके समान कूटस्थ चैतन्य स्वरूप है, तो जागर आदि दशामें कर्तृत्वादि ज्ञान उसमें क्यों होता है ?

समाधान—बोधैकरस आत्माका स्वरूप ज्ञान कूटस्थ तथा अव्यभिचारी है, परन्तु देहादिमें आत्माकी भ्रान्ति होनेसे अविवेकियोंकी आत्मामें भी कर्तृत्व आदि बुद्धि होती है, आत्मविद्यासे कार्यकारण दोनोंकी निवृत्ति होनेपर अपूर्वाद्यात्मभावसे आत्मामें आत्माको देख सकते हैं ॥ ६९ ॥

'एतदेव' इत्यादि । जीवब्रह्मैक्यकी विवक्षासे श्रुति प्रतिपादन करती है कि यह आत्मा हृदयाकाशमें सब कार्योंको समेट कर सोता है । भाव यह है कि 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाश०' इत्यादि श्रुतिमें 'य एष' इन दो पदोंका उपादान जीवब्रह्मैक्यका बोधन करनेके लिए किया गया है । 'यः' शब्दका अर्थ स्वप्रकाश है । यही अर्थ 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें स्थित 'तत्' शब्दका है, वही स्वप्रकाश अपरोक्षानुभवस्वभाव एष शब्दका है, जो ब्रह्मस्वरूप है । 'य एष' ये दोनों समानविभक्तिक नाम हैं, अतः दोनों पदार्थोंका अभेदान्वय होता है । अभेदका तात्पर्य ऐक्यमें है, अतएव 'अन्तर्हृदये' यह भी कहा । आत्माकी उपलब्धि प्रायः हृदयमें होती है, इसलिए हृदय स्थान कहा गया है और यही स्थान ब्रह्मका भी शास्त्रमें बतलाया गया है, दहरविद्यामें यह अतिस्पष्ट है । अतः दोनोंका स्वरूपतः और स्थानतः ऐक्य ही अनुकूल है, इसी बोधके लिए 'हृदयेऽन्तर्ब्रह्म' इत्यादिसे ब्रह्मका स्थान हृदय कहा गया है ॥ ७० ॥

'बुद्धिर्हृदय०' इत्यादि । तात्स्थ्यसे हृदयशब्दसे हृदयस्थ बुद्धि विवक्षित है,

बुद्धेरन्तः प्रतीचोऽन्यो नार्थः सम्भाव्यते यतः ।
तस्मादाकाशशब्देन प्रत्यगात्मेह गृह्यते ॥ ७२ ॥

इसलिए हृदयशब्दका औपचारिक प्रयोग बुद्धिमें है। आकाशशब्द यद्यपि रूढ़िसे भूताकाशमें प्रयुक्त होता है, तथापि उसका यौगिक प्रयोग ब्रह्ममें भी होता है।

क्योंकि काश दीप्तौ धातुसे आसमन्तात् काशते इस व्युत्पत्ति द्वारा निष्पन्न आकाशशब्द चैतन्यरूप ब्रह्मका वाचक है। आत्मामें बुद्धिस्थत्व प्रसिद्ध ही है, अतः ब्रह्म भी बुद्धिस्थ है, ऐसा कहनेसे दोनोंका ऐक्य सिद्ध होता है, इसीलिए हृदयशब्दका पुण्डरीकाकार मांसखण्ड जो मुख्य अर्थ है, उसका त्यागकर 'रूढियोंगाद्बलीयसी' इस न्यायका भी अनादर कर विवक्षितार्थकी सिद्धिके लिए अमुख्यार्थका ग्रहण किया गया है।

शङ्का—जीवब्रह्मैक्यका तात्पर्य दोनोंके तादात्म्यमें है, अथवा ऐक्यमें ? प्रथम पक्षमें दोनोंका भेद भी सिद्ध होगा, क्योंकि तादात्म्य भेदघटित होता है, सो अद्वैतवेदान्तियोंको इष्ट नहीं है, द्वितीय पक्षमें पदान्त व्यर्थ है। 'य' और 'एतद्' इन दोनोंका अर्थ एक ही है सो एक ही पदसे प्रतीत हो गया, इसलिए पदान्तर अनावश्यक है।

समाधान—दोनोंका अर्थ एक ही है; लेकिन व्यावर्त्य भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए उभयका उपादान आवश्यक है। जैसे घटाकाश और महाकाश इन दो पदोंसे एक ही अर्थका अभिधान होता है, परन्तु व्यावर्त्य भिन्न-भिन्न है, घटाकाश कहनेसे महाकाशकी व्यावृत्ति होती है और महाकाश कहनेसे घटाकाशकी व्यावृत्ति होती है, वैसे ही प्रकृतमें स्वप्रकाशसे अस्वप्रकाशकी व्यावृत्ति और प्रत्यग् आत्मासे अनात्माकी व्यावृत्ति होती है, इसलिए दोनोंका उपादान युक्तियुक्त है। अतः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिमें सत्यादि पदोंका उपादान सुसङ्गत होता है, अन्यथा वहाँ भी अन्य पदका उपादान व्यर्थ हो जायगा, 'तदादाय आकाशे शेते' इस कथनसे जीवब्रह्मैक्य-बुद्धि सिद्ध होती है ॥ ७१ ॥

भूताकाशरूप मुख्यार्थका त्याग कर आकाशशब्द चित्परक है, इसमें कारण कहते हैं—**'बुद्धेरन्तः'** इत्यादिसे।

बुद्धिके भीतर प्रत्यग् आत्मासे अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थकी स्थिति असंभव है; इसलिए योग्यतावश आकाशशब्दसे ब्रह्म ही प्रकृतमें विवक्षित है।

प्राणादीनां यतो जन्म वक्ष्यते प्रत्यगात्मनः ।
तस्माच्चाऽऽकाशशब्देन ब्रह्मैवाऽत्राऽभिधीयते ॥ ७३ ॥
अधिष्ठानत्वमन्तस्त्वमपरिच्छिन्नवस्तुनः ।
अन्तर्बहिर्विकारोऽयं न मुख्य उपपद्यते ॥ ७४ ॥

शङ्का—ब्रह्मके समान भूताकाश भी बुद्धिके भीतर रहता है, क्योंकि भूताकाश भी उसके समान व्यापक है ।

समाधान—हां, आकाश भी सर्वगत है, किन्तु आकाशशब्दसे उक्त आत्माका उसके आगेके वाक्यमें स्थित 'एतत्' शब्दसे परामर्श कर उसीसे प्राणादिकी उत्पत्ति बतलाई गई है—'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इत्यादि । अतः आकाशशब्दसे ब्रह्म ही प्रकृतमें ग्राह्य है, ब्रह्म हीसे सकल संसारकी उत्पत्ति मानी जाती है । 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इत्यादि श्रुतिमें स्पष्ट ही आकाशशब्दसे ब्रह्मका अभिधान माना जाता है । अन्यथा सर्वशब्दको संकुचितवृत्तिक मानना पड़ेगा, कारण कि सब भूतोंमें आकाश भी आता है । आकाशकी उत्पत्ति आकाशसे नहीं हो सकती, इसलिए आकाशसे अन्य भूतोंके तात्पर्यसे सर्वशब्दका प्रयोग करना पड़ेगा, असंकुचित वृत्तिसे अर्थ हो सकनेपर संकुचित वृत्तिसे अर्थ करना अयुक्त है । एवं 'आकाशो हि नाम-रूपयोर्निर्वहिता' इस श्रुतिमें नामरूपात्मक सृष्टिका निर्वाहक जो आकाश बतलाया गया है, वह ब्रह्म ही हो सकता है, अचेतन भूताकाश नहीं । 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' इस श्रुतिसे सुषुप्तिदशामें जीवकी ब्रह्मसम्पत्ति स्पष्ट कही है, अतः ब्रह्माकाशसे अतिरिक्त आकाश यहाँ अभीष्ट नहीं है ।

'प्राणादिना' इत्यादि । चूँकि ब्रह्मसे ही प्राणादिकोंका जन्म है, इसलिए आकाशशब्दसे ब्रह्म ही यहां कहा गया है ॥ ७३ ॥

'अधिष्ठान०' इत्यादि । 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' इस श्रुतिवाक्यसे सब पदार्थोंका उसमें अधिष्ठानत्व और सर्वान्तरत्व कहा गया है । तथा 'एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोका' इत्यादि वाक्यसे (अन्तः) प्राणादिका और (बहिः) लोकादि विकारका हेतुत्व आगे कहा जायगा । ये सब आकाश-शब्दके मुख्य अर्थ भूताकाशमें नहीं घट सकते, इसलिए आकाशशब्द ब्रह्मपरक है, यहीं अर्थ उचित है ॥ ७४ ॥

पराक्प्रमेयभूमिभ्यो मनसि व्युत्थिते सति ।
अनन्यबोधप्रात्यक्षाद्य एष इति भण्यते ॥ ७५ ॥
स्वतोऽवगमरूपेऽस्मिन् कूटस्थे निर्द्वयात्मनि ।
कात्स्न्र्येनाऽवस्थितिर्भोक्तुः शेत इत्यभिधीयते ॥ ७६ ॥
घटभङ्गे यथाऽऽकाशो महाकाशान्न भिद्यते ।
विज्ञानलोपे विज्ञानमयस्यैवं परात्मता ॥ ७७ ॥

'पराक्०' इत्यादि । 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः' इत्यादि श्रुति द्वारा उपदिष्ट प्रकारसे मन आदिकी स्वतः प्रवृत्ति पराग्विषयमें (आत्म-व्यतिरिक्त विषयमें) होती है; यह ज्ञात होता है । यह केवल श्रुतिगम्य ही नहीं है, किन्तु सर्वानुभवसिद्ध भी है । मनको अन्वय-व्यतिरेक द्वारा बाह्य विषयोंसे अलगकर जब आत्मविषयमें लगाया जाता है, तब तदेकतान दृष्टिसे निरुपाधिक स्वप्रकाशानुभवस्वरूप आत्मा प्रतीत होता है; यही 'य' और 'एष' शब्दसे कहा जाता है । यह अर्थ विद्वानोंके अनुभवका अनुसरण करनेवाला है, अतः अनन्यबोध स्वप्रकाश अपरोक्ष चिदात्माके ज्ञानके लिए 'य' और 'एष' यों प्रत्यक्षार्थक दो पदोंका प्रकृतमें प्रयोग किया गया है ॥ ७५ ॥

शयनशब्दका अर्थ कहते हैं—**'स्वतो'** इत्यादिसे ।

स्वयंप्रकाश बोधस्वरूप कूटस्थ अद्वितीयात्मामें सर्वात्मरूपसे भोक्ता जीवका अवस्थान ही शयन कहलाता है। सुषुप्ति अवस्थामें जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, इसलिए सुषुप्तिमें शरीराभिमानसे होनेवाले सांसारिक सकल सुख, दुःख आदिकी निवृत्ति हो जाती है। चूँकि 'सुखमहमस्वाप्सम्' ऐसा जागनेपर पुरुषको स्मरण होता है, इसलिए सुषुप्तिमें आत्मस्वरूपभूत सुखका निर्विकल्पक अनुभव होता है ॥७६॥

'घटभङ्गे' इत्यादि । जैसे घटके नष्ट होनेपर घटावच्छिन्न आकाश महाकाशस्वरूप हो जाता है, उससे भिन्न नहीं होता और जैसे विज्ञानका लोप होनेपर विज्ञानमय आत्मा परमात्मस्वरूप हो जाता है, उससे भिन्न नहीं होता । वास्तवमें उन दोनोंका भेद विज्ञानोपाधिप्रयुक्त ही है । घटाकाश महाकाशसे भिन्न नहीं है, किन्तु जब घटादिरूप उपाधिका भेद रहता है, तब उक्त उपाधिभेदप्रयुक्त ही घटाकाशसे महाकाश भिन्न है, यह व्यवहार होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी वस्तुतः जीव और ब्रह्ममें भेद नहीं है, पर उपाधिदशामें उनके भेदका व्यवहार होता है, अतः वह उपाधिनिबन्धन है, स्वतः दोनोंमें भेद नहीं है ॥ ७७ ॥

देहाद्यध्यक्षतां हित्वा सुप्तौ स्वात्मनि वर्त्तते ।
इत्येतत्साध्यते श्रुत्या समाख्यायाश्च युक्तितः ॥ ७८ ॥
स्वप्नस्य स्वपितीत्येषा समाख्या सर्वसम्मता ।
निरुक्तिमाहुश्छन्दोगाः स्वमपीत इतीदृशीम् ॥ ७९ ॥
अतः समाख्यया सुप्तौ स्वाभाविक्यात्मना स्थितिः ।
युक्तिश्चोपाधिसंहारः संसारित्वनिवृत्तये ॥ ८० ॥

'देहाद्यध्यक्षताम्' इत्यादि ।

शङ्का—सुषुप्ति अवस्थामें जीव ब्रह्मसे अभिन्न होता है, ऐसा यदि मानो, तो उसी कालमें मुक्ति होनी चाहिए, क्योंकि निरुपाधिस्वरूपसे आत्माका अवस्थान ही मुक्ति है, उससे अतिरिक्त नहीं है; फिर उसके लिए श्रवण, मनन आदिका विधान ही व्यर्थ है और सुषुप्तिके अनन्तर किसीकी मुक्ति होती भी नहीं, क्योंकि सुप्तोत्थित पुरुष पूर्ववत् संसारी ही देखा जाता है ।

समाधान—ठीक है, किन्तु यहां देहद्वयाभिमानराहित्यमात्रसे जीवब्रह्मका अभेद विवक्षित है, इसी तात्पर्यसे कहते हैं—देहादिकी याने देह, इन्द्रिय, मन, प्रभृतिकी अध्यक्षताका त्यागकर सुषुप्तिकालमें विज्ञानमय आत्मा स्वात्मस्वरूपमें अवस्थित होता है। इसी बातको 'तानि यदा गृह्णाति' इस श्रुतिसे भी सिद्ध करते हैं एवं स्वपितिसमाख्या द्वारा और युक्तिसे भी उक्तार्थकी सिद्धि करते हैं ॥ ७८ ॥

'स्वप्नस्य' इत्यादि । स्वप्नकी स्वपिति' यह समाख्या 'सर्वसम्मत है । यौगिक शब्दको समाख्या कहते हैं अर्थात् जिसके अर्थका व्युत्पत्तिसे बोध हो, जैसे कर्ता, भोक्ता इत्यादि । एवं स्वपितिका निर्वचन 'स्वमपीत' इत्यादिसे पूर्वमें कह चुके हैं । छन्दोगोंने भी निर्वचन कहा है ।

शङ्का—क्या निर्वचन कहा है ?

समाधान—'स्वमपीतः' ऐसा निर्वचन कहा है । अपीतशब्दका अर्थ लय है, अतः सुषुप्तिमें आत्मा लीन होता है, यह फलित होता है । यद्यपि आत्मा नित्य है, अतएव उसका वास्तविक लय नहीं हो सकता, फिर भी अभेदसे अवस्थान-मात्रके तात्पर्य्यसे लयका प्रयोग किया गया है ॥ ७९ ॥

'अतः समाख्यया' इत्यादि । अतः याने सुषुप्तिकालमें स्वपितिसमाख्यासे आत्माका अनौपाधिकरूपसे अवस्थान सूचित किया गया है । उपाधिका—इन्द्रिय आदिका—उपसंहाररूप युक्ति संसारधर्मकी निवृत्तिके लिए कही गई है ।

वागाद्युपाधिसम्बन्धात् संसारित्वमिवेक्ष्यते ।
ते तूपसंहृताः सर्वे ततोऽसंसारिताऽऽत्मनः ॥ ८१ ॥

श्रुतिः—तानि यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति, गृहीता वाग्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः ॥ १७ ॥

अन्वयव्यतिरेकसे कर्तृत्व आदि सांसारिक धर्मोंका भान इन्द्रियादि उपाधियोंकी समवधानदशामें ही होता है, असमवधानदशामें नहीं होता; इसलिए 'तदागमे हि दृश्यते' इस न्यायसे उक्त धर्म उपाधियोंके ही हैं और उपाधिधर्म आत्माके नहीं हैं, यह निश्चित किया गया है ॥ ८० ॥

'वागाद्युपाधिसम्बन्धात्' इत्यादि । वाक् आदि इन्द्रियरूप उपाधिके संबन्धसे जाग्रत् और स्वप्न अवस्थामें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि संसारधर्मोंकी आत्मामें प्रतीति होती है । उक्त अवस्थामें 'अहं कर्त्ता', 'अहं भोक्ता', यह अभिमान आत्मामें होता है और सुषुप्ति-दशामें उक्त उपाधियोंका संस्काररूपसे अपने कारणमें अवस्थितिरूप उपसंहार होता है, अतः आत्मामें स्पष्टरूपसे असंसारिताका अनुभव होता है, अतएव 'न किञ्चिदवेदिषम्' (मैंने कुछ नहीं जाना), ऐसा जागनेपर पुरुषको स्मरण होता है । यद्यपि उपाधिकी अनुपसंहारदशामें वास्तविक कर्तृत्व आदि आत्मामें नहीं हैं, किन्तु जैसे जपाकुसुमके सन्निधानमात्रसे स्फटिकमें रक्तिमाकी प्रतीति होती है, वैसे ही उक्त धर्मवाले चित्तके सन्निधानसे संसारधर्मकी आत्मामें प्रतीति होती है; इसलिए आत्मा उक्त धर्मवाला नहीं कहा जा सकता, तथापि अविवेकियोंको तादृश प्रतीति होती है, इस अर्थको स्फुट करनेके लिए 'धर्मवानिव' यहाँ 'इव' शब्दका प्रयोग किया गया है ॥ ८१ ॥

'तानि यदा गृह्णाति' इत्यादि श्रुति । जिस कालमें पुरुष वागादि विज्ञान-साधन इन्द्रियोंका ग्रहण करता है; उस कालमें [यहाँ 'पुरुषः' यह प्रथमा षष्ठीके अर्थमें है, 'व्यत्ययो बहुलम्' यह अनुशासन भी है] पुरुषकी 'स्वपिति' ऐसी समाख्या (नाम) होती है अर्थात् 'स्वपिति' इस यौगिक नामसे पुरुष प्रसिद्ध होता है । तत्—तदा—याने स्वापकालमें प्राण भी गृहीत ही हो जाता है ।

शङ्का—प्राण तो उक्त समयमें गृहीत नहीं हो सकता, क्योंकि उसका श्वास-प्रश्वासरूप व्यापार निरन्तर जारी रहता है, अतएव उसे 'अनस्तमिता देवता' पूर्वमें कहा है ।

सुप्तौ क्वाऽभूदितिप्रश्नो यः स एवं विचिन्तितः ।
तेनाऽसंसारितैतस्य स्वभाव इति निश्चितम् ॥ ८२ ॥

समाधान—सत्य है, यहां प्राणशब्द मुख्य प्राणका वाचक नहीं है; किन्तु इन्द्रियोंके प्रकरणके अनुसार घ्राणेन्द्रियका वाचक है। 'वाक्' शब्द कर्मेन्द्रियोंका उपलक्षण है। वागादि कर्मेन्द्रियाँ भी गृहीत हो जाती हैं। श्रोत्र, मन आदि सब गृहीत हो जाते हैं। इस अन्वय-व्यतिरेकसे आत्मामें वागादि उपाधिसे संसारित्व और युक्तितः पारमार्थिक असंसारित्व है, ऐसा स्पष्टरूपसे प्रतीत होता है ॥ १७ ॥

'सुप्तौ' इत्यादि। राजाने बालाकिके प्रति जो यह प्रश्न किया था कि सुषुप्तिकालमें आत्मा कहां है? उस प्रश्नका विचार हो गया। उक्त प्रश्नके विचारका परिणाम यह हुआ कि आत्मा असंसारिस्वभाव है, यह स्पष्टरूपसे निश्चित हुआ। अनेक उपाधियोंके सन्निधानसे प्रतीयमान विविध धर्म वस्तुतः किसमें हैं, इसका विवेक विश्लेषणके बिना नहीं हो सकता। और प्राकृतिक पदार्थोंके विश्लेषणके उपायसे चिदचित्का विश्लेषण ठीक नहीं होता, इसलिए स्वप्नाद्यवस्थारूप विश्लेषणका उपाय परमदयालु परमात्माने ही स्वयं कर दिया है। केवल जिज्ञासुओंका उसके द्वारा लाभ उठानामात्र कर्तव्य है। यह विवेक मनुष्ययोनिमें ही हो सकता है, अन्य योनिमें नहीं हो सकता। यदि अधिकारी उसके द्वारा आत्मतत्त्वका विवेक न करे, तो उसका दुर्भाग्य है; ईश्वरने तो बन्धसे मुक्त करनेका उपाय बन्धके साथ साथ कर ही दिया है, इस विषयका विशेष विस्तार अन्यत्र है।

शङ्का—स्वप्नमें सब इन्द्रियोंका वियोग होनेपर भी आत्मामें सुखादिका अनुभव होता है; इसलिए संसारित्व औपाधिक कैसे कहते हो; मन इन्द्रिय नहीं है, अतः उसका संबन्ध रहनेपर भी इन्द्रियोंका उपसंहार माननेमें कोई क्षति नहीं है।

समाधान—स्वप्नमें जो सुख, दुःख आदिस्वरूप संसार आत्मामें प्रतीत होता है, वह मिथ्या है, आत्माका वस्तुतः न स्वाप है, न प्रबोध है; किन्तु आत्माकी अविद्यासे ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ हैं, क्योंकि 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुतिसे ज्ञात होता है कि असङ्ग आत्मामें जाग्रदादि अवस्थाओंका सङ्ग नहीं हो सकता, अतएव 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' इत्यादि भी उसके पोषक वचन हैं; स्वभावशब्दसे प्रकृतमें अविद्या विवक्षित है ॥ ८२ ॥

सुप्तः प्रबुद्ध इत्येवं स्वप्नं पश्यति चेति यः ।
विकल्प एष भूतानामविद्यारात्रिशायिनाम् ॥ ८३ ॥
चित्तसम्मोहमात्रेऽस्मिल्लोकोऽयं परिखिद्यते ।
दिङ्मोहाकुलविज्ञानो नष्टमार्ग इवाऽध्वगः ॥ ८४ ॥

'सुप्तः' इत्यादि । 'सोया है, जागा है, स्वप्न देखता है' इत्यादि व्यवहार अविद्यारूपी निशामें सोनेवाले अविद्यापरायण पुरुषोंका विकल्पमात्र है अर्थात् 'शब्द-ज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' इस योगसूत्रके अनुसार आकाशपुष्प आदिके प्रत्ययके समान वस्तुशून्य प्रत्ययमात्र है, तीन अवस्थाएँ नहीं हैं। अतएव स्थावर, जङ्गम आदि जो कुछ संसार देखते हो, वह सब मायामात्र है । जैसे रज्जुमें सर्प प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्ममें जगत् प्रतीत होता है । रज्जुके समान प्रकृतमें पर तत्त्व ब्रह्म ही है, निरधिष्ठान भ्रम नहीं माना जाता, अतः तत्त्वका भी निर्देश किया गया है ॥ ८३ ॥

'चित्त०' इत्यादि । संसार केवल चित्तके संमोहसे हुआ है, वास्तविक नहीं है, लोक अर्थात् प्राणिसमुदाय व्यर्थ ही संसारसे खिन्न होते हैं । दिङ्मोह—दिशामें भ्रम—होनेपर जैसे पथिक गन्तव्य मार्गका परित्याग कर यत्र-तत्र पर्यटन कर परिश्रान्त होता है और गन्तव्य स्थलमें न पहुँचकर ऐसी जगह पहुँच जाता है, जहाँ अनेक प्रकारके कष्ट भोगने पड़ते हैं, वैसे ही संसारी पथिक भ्रान्तचित्त होकर गन्तव्य परम पदको न पहुँचकर संसारस्थ अनेक योनियोंमें प्रविष्ट होकर विविध दुःखोंका अनुभव करता है । विचार कर देखनेसे संसार और स्वप्नमें कोई अन्तर नहीं है । अज्ञानसे बन्ध और ज्ञानसे मोक्ष होता है, यह अद्वैत वेदान्तका सिद्धान्त है ।

शङ्का—आत्माको आप स्वयंप्रकाश मानते हैं, उसमें विरोधी अज्ञान तो हो ही नहीं सकता, किन्तु ज्ञान ही हो सकता है, अतः मोक्ष ही होना चाहिए, बन्ध क्यों हुआ ?

समाधान—भगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे गीतामें इसका उत्तर दिया है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ।
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

इति प्रपञ्चमिथ्यात्वं विस्पष्टयितुमञ्जसा ।
महाराजादयः श्रुत्या लोकाः स्वाप्ना उदाहृताः ॥ ८५ ॥

श्रुतिः—स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो

मायासे पार पानेका उपाय भगवान्‌ने स्वयं कहा है—मत्प्रपत्ति अर्थात् मेरी (भगवान्‌की) प्राप्ति ।

शङ्का—भगवत्प्राप्तिका उपाय क्या है ?

समाधान—यह सब जगत् सत्यज्ञानादिलक्षण ब्रह्म ही है; अतिरिक्त नहीं है, इसीकी वैराग्यादि-पुरःस्सर निरन्तर भावना करनी चाहिए । इस भावनाके परिपाकसे आत्मैकत्वकी प्रतिपत्ति अर्थात् भगवत्प्राप्ति होती है ।

शङ्का—क्या प्रत्यक्षसे भगवान्‌की प्रतिपत्ति नहीं होती ?

समाधान—नहीं, प्रत्यक्ष अविद्यासे उत्पन्न द्वैतमात्रमें पर्य्यवसन्न है; अतः प्रत्यक्ष उसका प्रकाशक नहीं हो सकता, उक्त तीन अवस्थाओंमें मिथ्यात्वका निश्चय होनेके बाद तत्पदार्थका परिशोधन होता है; तदनन्तर 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे अविद्यानिवर्त्तक आत्मतत्त्वका निश्चय होता है; उसके बाद सर्वानर्थकी निवृत्ति फलित होती है ॥ ८४ ॥

'इति प्रपञ्च०' इत्यादि । संपूर्ण जगत् मिथ्या है; इसकी अनायास सिद्धिके लिए महाराजादि लोक और स्वप्नका उदाहरण श्रुतिने दिया है; इसका विशेष निरूपण श्रुत्यर्थके निरूपणके समय करेंगे ॥८५॥

यद्यपि वार्तिकसारकी पुस्तकमें पूर्वमें श्रुत्यर्थका निरूपण करके श्रुति लिखी है, पर यह मुद्रणक्रम ठीक नहीं है । क्योंकि पूर्वमें व्याचिख्यासित श्रुति लिखकर अनन्तर उसका व्याख्यान उचित होता है; पूर्वमें ऐसा ही किया गया है; इसलिए यहां व्युत्क्रम मुद्रणके समय हो गया होगा, अतः पूर्वमें श्रुतिका व्याख्यान करके पश्चात् श्लोकार्थ लिखना समुचित समझकर श्रुत्यर्थ लिखनेके लिए श्रुतिका निर्देश करते हैं—**'स यत्रैतत्'** इत्यादि ।

शङ्का—सुख-दुःखादिका उपभोगरूप संसारधर्म आत्मामें औपाधिक है; स्वाभाविक नहीं है, इसमें उपपत्ति यह दी गई है कि सुषुप्त्यवस्थामें वागादि इन्द्रियोंका उपसंहार होनेसे आत्मामें उक्त धर्मकी प्रतीति नहीं होती और जाग्रत्कालमें वागादिके समवधानसे आत्मामें उक्त धर्मकी प्रतीति होती है; अतः अन्वयव्यतिरेकसे उक्त धर्मकी

भवत्युतेव महाब्राह्मण उत वोच्चावचं निगच्छति, स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेतैवमेवैष एतत्प्राणान्गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तते ॥ १८ ॥

प्रतीति आत्मामें इन्द्रियोपाधिक है, स्वाभाविक नहीं है, यह मानना चाहिए, पर यह ठीक नहीं है, कारण कि स्वप्नावस्थामें यद्यपि इन्द्रियोंका उपसंहार सुषुप्तिके समान ही है, तथापि सुखादिकी प्रतीति जाग्रत्कालके समान होती है, इसलिए सुखादि वास्तविक आत्मधर्म ही हैं, औपाधिक नहीं हैं ।

समाधान—नहीं; ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि स्वप्नकालमें प्रतीयमान सुखादि रज्जुसर्पके समान मिथ्या हैं; अतएव जब वे वस्तुधर्म ही नहीं हो सकते, तब आत्मधर्मकी क्या संभावना ? इसीका उपपादन श्रुत्यर्थके निरूपण द्वारा किया जाता है । वह आत्मा जिस समय दर्शनात्मक स्वप्नवृत्तिसे युक्त होता है अर्थात् स्वप्न देखता है उस समय वह लोक याने कर्मफल भोगता है ।

शङ्का—कौन कर्मफल ?

समाधान—शुभाशुभ कर्मफल । शुभ कर्मके फलसे स्वप्नमें छत्र, चामर आदिसे युक्त 'मैं महाराज हूँ' यों अपनेको महाराज देखता है । वास्तवमें महाराजके सदृश अपनेको देखता है, यह ठीक ही है, पर वह द्रष्टा वस्तुतः महाराज नहीं हुआ है; अतः उसका लोक भी महाराजके समान ही है । जागर अवस्थाके महाराजके समान लोक भी नहीं है; अतएव श्रुतिमें इवशब्दका प्रयोग है—'महाराज इव' (महाराजके समान अर्थात् महाराज नहीं) । अतः बन्धुवियोगादिजनित शोक आदिका सम्बन्ध स्वप्नकालमें आत्मामें नहीं है ।

शङ्का—'विमता लोका न मिथ्या, तत्कालाव्यभिचारित्वात्, जाग्रल्लोकवत्', इस अनुमानसे जाग्रत्-कालके समान स्वप्नकालमें महाराजत्वादि लोकोंको भी, उस कालमें अव्यभिचारी होनेसे, सत्य ही मानना चाहिए, अन्यथा जाग्रत्कालिक महाराजत्वादि भी स्वप्नमें व्यभिचरित हैं, इसलिए वे भी सत्य नहीं होंगे, क्योंकि तत्कालाव्यभिचारित्व दोनोंमें समान है, अतः स्वाप्निक महाराजत्वादि अविद्यारोपित हैं; जाग्रत्कालिक महाराजत्वादि नहीं, यह वैषम्य उपपत्तिशून्य है ।

समाधान—ठीक है, यद्यपि पूर्वमें जाग्रत्कार्यकरणात्मत्व और देवतात्मत्व आत्मामें अविद्यासे आरोपित हैं, पारमार्थिक नहीं हैं, पाणिपेषणन्याय द्वारा विज्ञानमय

देहादिसंघातसे अतिरिक्त है तथा जाग्रत्कालिक लोकादि भी मिथ्या है, केवल आत्मा ही परमार्थ सत्य है, यह कहा है; अतः जाग्रत्लोकको दृष्टान्त देकर स्वाप्निक लोकमें सत्यत्वकी शंका नहीं हो सकती, तथापि देह आदिसे आत्माका विवेक करनेके लिए पाणिपेषणादि ग्रन्थ है। 'स्थूलोऽहम्' इत्यादि जाग्रत्कालिक प्रतीति जैसे मिथ्या है, वैसे ही जाग्रत्कालिक अन्य पदार्थोंमें मिथ्यात्व आर्थिक सिद्ध होता है, तो भी इसको अविद्यमान समझकर जाग्रद्-दृष्टान्तसे स्वाप्निक पदार्थोंमें सत्यत्वकी शंका की गई है। इस शंकाका निरासकर स्वाप्निक मिथ्यात्वकी उक्तिसे जाग्रत् भी मिथ्या ही है, ऐसा साधन किया है, अतः देहसे युक्त आत्माकी शुद्धि स्वप्नवाक्यमें अभीष्ट है। वस्तुतः असत् दृष्टान्तको लेकर स्वप्नसत्यत्वकी शंकाकर उसके निराकरणसे आत्मामें सब प्रकारके धर्मोंका निरास स्वप्न-वाक्यसे कहा गया है; जाग्रत् भी स्वप्नके समान मिथ्या होनेसे एकरस परिशुद्ध आत्मा ही आखिरमें सिद्ध होता है।

यदि शङ्का हो कि पाणिपेषणवाक्यसे जगत्को मिथ्या सिद्ध करनेपर आत्मशुद्धि अर्थात् सिद्ध होती है, फिर उसी शुद्धिको स्वप्नवाक्यसे कहते हैं; अतः पुनरुक्ति दोष अपरिहार्य है, तो ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि यत्किञ्चित्सामान्यसे पुनरुक्ति प्रायः सर्वत्र रहती है पर अवान्तर विशेषरूपसे अपुनरुक्ति यहांपर भी है। पूर्वत्र शुद्धि आर्थिक है, यहां वाचनिक है, यह परिहार स्पष्ट है। स्वप्नमें अनुभूत महाराजादि आत्मस्वरूप नहीं हैं, क्योंकि वे भी दृश्य होनेसे घटादिके समान भिन्न हैं। किञ्च जाग्रद्-दृष्टसे स्वप्नदृष्ट भिन्न है, अतः स्वप्नदृष्ट मिथ्या है। राजा पलङ्ग पर सोये हैं, यह पार्श्वस्थ लोग स्पष्टरूपसे देख रहे हैं, पर स्वप्न देखनेवाले देखते हैं कि राजा वनमें शिकार खेल रहे हैं, इसलिए स्वप्नप्रत्यय मिथ्या ही है। और इसपर भी दृष्टि दीजिये—राजा पलङ्गपर सोये हुए हैं और अमात्य आदि परिचारक-गण भी अपने अपने स्थानमें सो गये हैं, ऐसे समयमें राजा स्वप्न देखते हैं कि मैं अपने प्रकृतिवर्गके साथ वनमें घूम रहा हूँ और इष्ट भोगोंका उपभोग कर रहा हूँ, इस प्रकार अपनी स्वप्नवेलामें पलङ्गपर सोये राजासे अतिरिक्त अपने प्रकृतिवर्ग सहित वनमें घूमता हुआ क्या राजा लोकमें प्रसिद्ध है जिसको सोया हुआ राजा देखता है? और उस कालमें चक्षु आदि इन्द्रियोंका उपसंहार होनेसे रूपादि-विशिष्टका दर्शन भी नहीं हो सकता, क्योंकि रूपादिविशिष्टके दर्शनमें चक्षुरादि हेतु हैं और देहमें उस देहके तुल्य अन्य देहका सम्भव भी नहीं है, अतः

पाणिपेषप्रबोधेन देहादीनामनात्मता ।
यद्यप्युक्ता, तथाऽप्यात्मविशुद्धिस्तावता नहि ॥ ८६ ॥
सिद्धा देहादितादात्म्यमात्रस्यैव मृषात्मता ।
न तु देहस्य मिथ्यात्वं तेन सङ्गोऽस्य शङ्क्यते ॥ ८७ ॥

देहके भीतर ही जीव स्वप्न देखता है; यह आगे स्पष्ट होगा । यदि देहसे बाहर निकल कर स्वप्न देखा जाता, तो योग्य देशान्तर होनेसे सत्यताका संभव हो सकता, पर ऐसा होता नहीं है । पर्य्यङ्कमें ही सोया हुआ पुरुष मार्गमें अपनेको देखता है, शरीरसे बाहर होकर नहीं, यह **'स यथा महाराजो'** इत्यादि श्रुति स्पष्ट कहती है ।

जनपद नाम देशका है, उसमें उत्पन्न हुआ जानपद कहलाता है । भृत्यगण तथा अन्य दर्शकगणको लेकर राजा अपने विजित देशमें जैसे यथेष्ट विहार करता है, वैसे ही यह विज्ञानमय आत्मा वागादि इन्द्रियोंको लेकर जागरित स्थानसे उठकर अपने देहमें ही स्वप्नस्थानमें यथेष्ट विहार करता है, यही स्वप्न कहलाता है । कामकर्मानुकूल पूर्वानुभूतकी समुद्बुद्ध वासनासे अनुभूत वस्तुओंके सदृश वस्तुओंको देखता है; अतः स्वप्न मृषा है । अतएव आरोपित लोक अविद्यमान ही रहता है । एवं जागरितमें प्रतीयमान लोक भी मृषा ही समझना चाहिए, अतः दर्शनमात्रसे उक्त दो अवस्थाओंमें वस्तुसत्ता सिद्ध नहीं हो सकती, इससे विशुद्ध तथा क्रियाकारकफलशून्य विज्ञानमय आत्मा है; यह सिद्ध होता है । जैसे स्वप्नमें दीखनेवाला लोक मिथ्या है, वैसे ही जागरितमें भी क्रियाकारकफलात्मक कार्य-करणलक्षण लोक मिथ्या है, उससे अतिरिक्त विज्ञानमय आत्मा विशुद्ध है, यह निष्कर्ष हुआ ॥ १८ ॥

दो श्लोकोंसे शङ्का और समाधान करते हैं—**'पाणिपेष०'** इत्यादिसे ।

यद्यपि देह आदिसे अतिरिक्त आत्मा है, यह पाणिपेषणजन्य बोध द्वारा राजाने बालाकिको स्पष्ट समझा दिया और बालाकि यह अच्छी तरह समझ गये कि आत्मामें देहादितादात्म्य मिथ्या है, अन्यथा जागरित कालके समान स्वप्नकालमें भी नामाभिधानसे ही सुप्तको बोध हो जाता; फिर पाणिपेषणकी आवश्यकता नहीं होती, किन्तु आवश्यकता पड़ी; इसीसे देह आदि अनात्मा और मिथ्या हैं; यह सिद्ध होता है, फिर उसका परिज्ञान करनेके लिए प्रपञ्चमिथ्यात्वकी क्या आवश्यकता है, यह प्रश्न हो सकता है ।

तथापि आत्माकी विशुद्धि उससे सिद्ध नहीं होती, क्योंकि उक्त बोधसे आत्मामें

स्पष्टं देहात्मनोर्भेदमभ्युपेत्याऽपि तार्किकाः ।
रागादिसङ्गमिच्छन्ति तन्निवृत्त्यै प्रयत्यते ॥ ८८ ॥
असङ्गत्वस्वभावोऽस्य सुप्तौ यद्यपि वर्णितः ।
तथाऽपि स्वप्नमालम्ब्य सोऽसिद्ध इति शङ्क्यते ॥ ८९ ॥
सर्वेन्द्रियवियोगेऽपि सुखिदुःखित्वमात्मनः ।
स्वप्ने दृष्टमतः सङ्ग आत्मनस्तात्त्विको भवेत् ॥ ९० ॥

प्रतीयमान देहादितादात्म्यमात्र ही मिथ्या सिद्ध होता है, देहमें मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता, इसलिए प्रपञ्चमात्रमें मिथ्यात्वके बोधन द्वारा देहादिमें मिथ्यात्वका बोध करनेके लिए स्वप्नादिका दृष्टान्त श्रुतिने दिया है, अन्यथा—देहादिके अमिथ्या होनेपर—आत्मामें उनके सङ्गकी प्रसक्ति हो जायगी ॥ ८६,८७ ॥

'**स्पष्टम्**' इत्यादि। नैयायिक आदि तार्किक देह और आत्माका स्पष्ट भेद मानकर भी रागादिका सम्बन्ध आत्मामें मानते ही हैं, उनके मतका निरास करनेके लिए प्रपञ्चमें मिथ्यात्वके साधनका प्रयत्न किया जाता है। प्रपञ्चमें मिथ्यात्वकी सिद्धि होनेपर उसके अन्तर्गत देहादि मिथ्या हैं, यह अनायास सिद्ध हो जाता है; उसमें मिथ्यात्वका सम्बन्ध ही नहीं हो सकता, इसलिए आत्मा परिशुद्ध है, यह निर्विवाद सिद्ध होता है ॥ ८८ ॥

'**असङ्गत्व०**' इत्यादि ।

शङ्का—प्रपंचमिथ्यात्वके साधनका जो यह प्रयोजन कहा कि यदि प्रपञ्चके समान देह आदि भी सत्य होंगे, तो कर्तृत्व आदि सांसारिक धर्म आत्मामें दुर्वार हो जायँगे, इसलिए उसका साधन आवश्यक है, सो ठीक नहीं है, कारण कि सुषुप्ति अवस्थामें स्पष्टरूपसे असंसारित्वका वर्णन करनेसे कर्तृत्वादि धर्मकी प्रसक्तिका निराकरण भी हो जाता है, क्योंकि कर्तृत्वादि धर्मोंका संसर्ग यदि आत्मामें होता, तो उक्त अवस्थामें अवश्य प्रतीत होता, पर सुषुप्तिकालमें कर्तृत्वादि धर्मका भान कोई भी नहीं मानता, इसलिए प्रपंचमिथ्यात्वका साधन निष्प्रयोजन है ।

समाधान—स्वप्नावस्थामें इन्द्रियोंका उपसंहार होनेपर भी कर्तृत्वादिकी प्रतीति आत्मामें सर्वानुभवसिद्ध है । यदि संसारको मिथ्या सिद्ध न करेंगे, तो आत्मामें पाणिपेषणन्यायसे उक्त असंसारित्व सिद्ध नहीं होगा, इसी तात्पर्यसे कहते हैं—'**सोऽसिद्धः**' इत्यादि ।

उक्त असंसारित्व धर्मकी सिद्धि आत्मामें नहीं होगी, ऐसी शंका करते हैं—'**सर्वेन्द्रिय०**' इत्यादिसे ।

नैवं मृषात्वात् स्वप्नस्य मनोमात्रविजृम्भणात् ।
बाह्येन्द्रियविलोपेऽपि न मनो लुप्यते तदा ॥ ९१ ॥
महाराजादयः स्वस्य स्वप्नानुभवगोचराः ।
न वास्तवा इति ज्ञेयाः शयानेभ्यः पृथक्त्वतः ॥ ९२ ॥

शङ्का—यद्यपि स्वप्नावस्थामें सब इन्द्रियोंका उपराम है, तथापि स्वाप्निक सुख, दुःखकी प्रतीति उसमें सर्वानुभवसिद्ध है, इसलिए उसको इन्द्रियोपाधिक नहीं कह सकते; किन्तु उसका सङ्ग तात्त्विक ही कहना पड़ेगा ॥ ९० ॥

समाधान—**'नैवम्'** इत्यादि । स्वप्नकालमें चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियोंका लोप होनेपर भी मनका लोप नहीं होता, अतः जाग्रद्भोगप्रद कर्मोंका क्षय होनेपर भी दृष्ट और श्रुत अर्थकी भावनासे युक्त मन स्वप्न देखता है, इसलिए कहते हैं—मनोमात्र-विजृम्भणात् । यहाँ मात्रशब्दसे विषयादिसत्ताका स्वप्नमें अभाव बोधन करते हैं। उसमें तत्-तत् विषयाकार केवल मनोवृत्ति होती है, वह मिथ्या है । वस्तुतः आत्मामें न स्वाप है, न प्रबोध है, फिर स्वप्न कहां ? अविद्यास्वभाव जाग्रत् , स्वप्न और सुषुप्तिरूप अवस्थाएँ हैं । केवल जाग्रदादि ही नहीं, किन्तु स्थावरजङ्गमात्मक समस्त संसार आभासमात्र है, वास्तविक नहीं है ॥ ९१ ॥

'महाराजादयः' इत्यादि । अपनेको याने स्वप्नद्रष्टाको होनेवाले स्वप्नानुभवके विषयीभूत महाराज वास्तविक नहीं हैं, क्योंकि वास्तविक महाराज तो पलंगपर सोये हैं, यह बगलमें बैठे हुए मनुष्योंके प्रत्यक्षादि प्रमाणसे सिद्ध है और स्वप्न-द्रष्टा उन्हीं राजाको वनमें घूमते हुए देखता है । यह कैसे सम्भव हो सकता है कि एक अयोगी पुरुष एक ही समयमें घरमें पलंगपर सोया रहे और वनमें घूमता भी रहे ।

शङ्का—अच्छा तो स्वाप्निक राजाको ही सत्य मानिए और जागते हुए दृष्ट राजाको मिथ्या मानिये ।

समाधान—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि जाग्रत् राजा तो प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है।

शङ्का—स्वप्नद्रष्टा भी तो उसी कालके प्रत्यक्षसे राजाको देखता है, इसलिए वह सत्य क्यों नहीं होता ?

समाधान—स्वप्नमें जिस राजाको पुरुष वनमें देखता है, वही पुरुष जागनेपर राजाको घरमें ही सोया हुआ देखता है, इसलिए स्वाप्निक राजदर्शन मिथ्या है ।

गृहे शयाना ये दृष्टास्ते तु स्वप्ने वनं गताः ।
जाग्रद्दृष्टं मृषा स्वप्ने स्वप्नस्थं जागरे मृषा ॥ ९३ ॥
अन्योऽन्यव्यभिचारित्वात्स्वप्नजाग्रदवस्थयोः ।
मिथ्यात्वमित्यसावर्थः स्वप्नश्रुत्या विवक्षितः ॥ ९४ ॥
स्वप्ने देहाद्बहिर्गत्वा तत्तद्वस्त्ववलोकनात् ।
व्यभिचारो नेति चेत्, न, निस्तनोर्गत्यसम्भवात् ॥ ९५ ॥

पुरुष अपने घरमें स्थित है; अतः वनको जब वहांसे देख ही नहीं सकता, तब राजाका दर्शन उसे कैसे हो सकता है ? अतः उसका दर्शन मिथ्या है । चक्षु आदिसे ग्रहण करने योग्य देश भी नहीं है, क्योंकि चक्षु आदि केवल बाह्य पदार्थोंकी उपलब्धिके साधन हैं; अतः अन्तःस्थित पदार्थोंके दर्शनमें बाह्य नेत्र प्रमाण नहीं हो सकते और छोटे परिमाणवाले हृदयमें महापरिमाण नदी, पर्वत, समुद्र आदिके अवस्थानका संभव भी नहीं है ॥ ९२ ॥

उसी तात्पर्यसे कहते हैं—**'गृहे'** इत्यादि ।

घरमें जो सोये हैं, वे स्वप्नमें वनगत भी देखे जाते हैं ।

शङ्का—अच्छा, जाग्रद्दृष्टसे स्वप्नदृष्ट भिन्न है, इसलिए यदि स्वप्नदृष्टको मिथ्या मानते हो, तो स्वप्नदृष्टसे भिन्न जाग्रद्दृष्ट भी है; अतः उसे भी मिथ्या मानना चाहिए, न्याय दोनों स्थलमें समान है ।

समाधान—ठीक है; स्वप्नदृष्ट तथा जाग्रद्दृष्ट दोनों मिथ्या हैं । इसी अर्थमें तो वस्तुतः श्रुतिका तात्पर्य ही है ॥ ९३ ॥

'अन्योऽन्य०' इत्यादि । जाग्रद्दृष्टका स्वप्नमें और स्वप्नदृष्टका जाग्रत्में व्यभिचार होनेसे स्वप्न और जाग्रद् अवस्थाओंके दोनों दर्शन मिथ्या हैं, यही अर्थ स्वप्नश्रुतिसे विवक्षित है । यही अद्वैतवेदान्तियोंका भी वक्तव्य है । और इसीसे अद्वितीय ब्रह्मकी सिद्धि होती है ॥ ९४ ॥

'स्वप्ने' इत्यादि ।

शङ्का—स्वप्नमें आत्मा शरीरसे बाहर निकल कर नदी, पर्वत आदि बड़े परिमाणवाली वस्तुओंको देखता है, शरीरके भीतर नहीं देखता, इसलिए व्यभिचार न होनेसे स्वप्नदर्शनको सत्य माननेमें आपत्ति नहीं है ।

समाधान—अच्छा, तो यह बतलाइये कि स्वप्नद्रष्टा देहके साथ बाहर

जाता है अथवा देहको छोड़कर ? प्रथम पक्षमें स्वप्नद्रष्टाकी उपलब्धि शयन-देशमें नहीं होनी चाहिए, किन्तु होती है, अतः ऐसा मानना दृष्टविरुद्ध है । द्वितीय पक्षमें आत्मगतिके साधन तो देह आदि ही हैं, उनके बिना केवल आत्माकी गति अदृष्टचर होनेसे असंभव ही है ।

शङ्का—असंभव कैसे ? मृतकका शरीर इसी लोकमें रहता है और आत्मा अन्य योनिमें जाता है, यह जैसे आस्तिकमात्रका सिद्धान्त है, वैसे ही स्वप्नमें भी देहशून्य आत्माकी गति हो सकती है ।

समाधान—मरणकालमें आतिवाहिक शरीर मिलता है, उसीके द्वारा आत्माका अन्य लोकमें गमन होता है; अशरीर आत्माका नहीं होता, क्योंकि कूटस्थ नित्य होनेसे आत्मा निष्क्रिय है, अतएव शास्त्रोंमें जलूकाका—कृमिविशेषका—उदाहरण दिया गया है । जैसे उक्त कृमिविशेष अग्रिम आलम्बनको पकड़ कर ही पूर्वधृत आलम्बनका त्याग करता है, वैसे ही अग्रिम शरीरका आलम्बन करके ही जीव पूर्व शरीरका त्याग करता है । आतिवाहिक शरीरके समान स्वाप्निक शरीरकी प्राप्ति स्वप्नदशामें जीवको होती है, ऐसा कहीं भी शास्त्रोंमें निर्दिष्ट नहीं है । अलौकिक अर्थ शास्त्र प्रमाणसे ही माने जाते हैं; केवल कल्पनासे नहीं । और प्राणादिसे युक्त जीवका ही अन्य शरीरमें गमन होता है, प्राणादि सुप्त शरीरमें देखे जाते हैं, इसलिए स्वाप्निक शरीर अप्रामाणिक है और उपपत्तिशून्य भी है । स्वाप्निक शरीरको स्वीकारकर उसके द्वारा हिम आदिवाले देशमें जाकर देखता है, ऐसा माननेसे यह प्रश्न होगा कि क्या जीव सुप्त शरीरके साथ सर्वथा संबन्ध छोड़कर उक्त शरीर द्वारा तत्-तत् विषयोंका दर्शन करनेके लिए तत्-तत् देशमें जाता है ? अथवा पूर्व शरीरके साथ सम्बन्ध रखकर जाता है ? प्रथम पक्षमें भय, शब्द, कम्प आदि सुप्त शरीरमें क्यों होते हैं ? आपके मतके अनुसार सुप्त शरीर आत्माके सबन्धसे हीन ही रहता है, निरात्म शरीरमें तादृश धर्म कहीं भी देखे नहीं जाते । द्वितीय पक्षमें पूर्ववत् सुप्त शरीरमें भी यदि आत्माका सम्बन्ध माना जाय, तो दो देहोंसे युगपत् सुख-दुःखानुभव होना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है, अतः स्वाप्निक शरीरमें न तो प्रमाण ही है; न उपपत्ति ही है, इसलिए अशरीर आत्माकी देशान्तरमें गति नहीं हो सकती और न तत्-तत् दृष्ट कार्य ही हो सकते हैं । और यह भी ध्यान देने योग्य दोष है—शरीरके बिना यदि आत्मा स्वप्नमें दृष्ट तत्-तत् कार्योंको करता है, ऐसा मान लिया जाय, तो जाग्रदादि कार्य करनेके

अन्तः कुतः पर्वताद्या इति चेद्, अत एव हि ।
आदायाऽशेषजगतो वासनाः स्वप्नमीक्षते ॥ ९६ ॥
वासनासु च वस्तुत्वधीरविद्याविजृम्भिता ।
इत्यात्मनो विशुद्धत्वं स्वप्ने श्रुत्योपवर्णितम् ॥ ९७ ॥

अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो

लिए देहादिका उपादान व्यर्थ ही हो जायगा, क्योंकि स्वप्नकार्यके समान जाग्रत्कार्य भी देहके बिना ही हो सकेंगे इत्यादि अनेक प्रकारके विचार हो सकते हैं, पर विस्तारके भयसे उपरत होते हैं ॥ ९५ ॥

'अन्तः' इत्यादि ।

शङ्का—शरीरके अन्दर पर्वत आदि हैं नहीं और शरीरसे बाह्य देशमें स्वप्न देखता नहीं है, यह समर्थन कर चुके हैं, पर स्वप्नमें पर्वत आदिका दर्शन कैसे होता है ?

समाधान—इसीसे तो कहते हैं कि संपूर्ण जगत्की वासना लेकर स्वप्न देखता है; केवल पूर्वानुभूतकी वासनासे ही अविद्या तत्-तत् विषयोंके आकारमें परिणत होती है । उसी परिणामको मन देखता है । स्वाप्निक पदार्थ अविद्याका परिणाम है, यों किसीका मत है अथवा स्वप्नमें तत्-तत विषयाकार मनःपरिणाम होता है, यह भी एक मत है, इन दोनोंका विचार विस्तारके भयसे छोड़ते हैं । यहां स्वाप्निक पदार्थोंमें आविद्यिकत्वमात्र वक्तव्य है ॥ ९६ ॥

'वासनासु' इत्यादि । वासनामय पदार्थोंमें वस्तुत्वकी बुद्धि अविद्यावश होती है; इसलिए आत्मामें विशुद्धत्वका प्रतिपादन स्वप्नावस्थाके प्रदर्शन द्वारा श्रुतिने किया है ॥ ९७ ॥

'अथ यदा सुषुप्तो भवति' इत्यादि श्रुति। स्वप्न मिथ्या ही सिद्ध होता है, पर उसका द्रष्टा आत्मा शुद्ध है, यह पूर्वमें कहा गया है । परन्तु 'यथाकामं विपरिवर्तते'; इस कथनसे आत्मामें कामका सम्बन्ध भी प्रतीत होता है, द्रष्टाका दृश्यके साथ संबन्ध स्वाभाविक है; अतः फिर अशुद्धता आत्मामें प्राप्त हुई, इस शंकाकी निवृत्तिके लिए 'अथ यदा' इत्यादि श्रुति है । इसका अर्थ है—जब पुरुष सोता है याने जब स्वाप्निक वृत्ति होती रहती है, तब भी यह पुरुष विशुद्ध ही रहता है। अन्यत्र जब स्वाप्निक वृत्तिका भी त्यागकर सुषुप्त हो जाता है अर्थात् स्वस्वभावसे स्थित

द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति

होता है; जैसे जल पङ्कसंबन्धसे उत्पन्न कालुष्यका त्यागकर अपने स्वच्छ स्वभावसे युक्त होता है; उसी प्रकार सुषुप्तिमें आत्मा सुप्रसन्न होता है ।

शङ्का—कब सुषुप्ति होती है ?

समाधान—जब शब्दादिसे किसी वस्तुका ज्ञान नहीं होता, तब सुषुप्ति होती है । स्वप्नमें विशेषविज्ञानाभाव और सुषुप्तिमें ज्ञानसामान्याभाव रहता है; इसीसे उन दो अवस्थाओंमें वैलक्षण्य भी है ।

शङ्का—किस क्रमसे सुषुप्ति होती है ?

समाधान—हितफलकी प्राप्तिमें निमित्त नाडियां हैं, अतः वे हिता कहलाती हैं । वे देहसम्बद्ध होनेके कारण अन्वयव्यतिरेकसे अन्नरसके विकार हैं । 'नाडी तु धमनि शिरा' इस कोशसे उन्हें शिरा भी कहते हैं । उन नाडियोंकी संख्या बहत्तर हजार है । वे हृदयसे—पुण्डरीकाकार मांसपिण्डसे—पुरीततमें—संपूर्ण शरीरमें—[यद्यपि पुरीतत् हृदयवेष्टन कहलाता है, तथापि तदुपलक्षित शरीर यहां 'पुरीतत्' शब्दसे विवक्षित है] व्याप्त हैं अर्थात् पीपरके पत्तोंके समान वे सब बहिर्मुख हैं । बुद्धिशब्दसे अन्तःकरण अभिप्रेत है । इसका स्थान है—हृदय । वहाँ ही बुद्ध्यधीन इतर इन्द्रियाँ भी रहती हैं । जाग्रद्भोगप्रद कर्मोंसे बुद्धि श्रोत्रादि इन्द्रियोंको मत्स्यजालके समान उक्त नाडियोंसे—कर्णशष्कुल्यादि स्थानोंसे—बाहर फैलाती है, फैलाकर स्वाधिष्ठित करती है—स्वयं तदधिष्ठाता होती है; उसमें विज्ञानमयका चैतन्य अभिव्यक्त—प्रतिबिम्बित—होता है; इसलिए स्वचैतन्याभास द्वारा विज्ञानमय बुद्धिको व्याप्त करता है, वही जागरित है । संकोचन कालमें उसके संकोचका अनुभव करता है; यही स्वापकाल है । जब बुद्धिविकासका अनुभव करता है; तब आत्मा जागता है और जब उसके संकोचका अनुभव करता है, तब सोता है, यह लोकमें व्यवहार होता है । जीव बुद्ध्यादिके स्वभावका अनुशीलन करता है, जैसे जलादिस्वभावके अनुसार चन्द्रादिका प्रतिबिम्ब होता है । अतः जाग्रद्वस्तुविषयक बुद्धिको उक्त नाड़ियों द्वारा विषयसे हटाकर अनात्म-निवृत्ति द्वारा स्वयं भी निवृत्त होकर पुरीततिनाम शरीरमें स्थित होता है । लोहेके तप्त पिण्डमें जैसे सर्वतः अग्नि व्याप्त होता है, वैसे ही शरीरको व्याप्तकर ही आत्मा उसमें स्थित होता है ।

शेते स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वा ऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥ १९ ॥

शङ्का—पहले हृदयाकाश ब्रह्ममें जीवका शयन कहा है; पर यहां श्रुति शरीरमें शयनका बोधन करती है; इसका क्या अभिप्राय ?

समाधान—वास्तवमें अपने-अपने स्वभावके रूपसे अवस्थिति ही शयन है। यहां औपचारिक शयन विवक्षित है, इसी तात्पर्यसे शरीरका उपादान है; क्योंकि सुषुप्तिकालमें शरीरका संबन्ध कहां है। अतएव 'सब शोकोंके पार उतर गये', ऐसा आगे श्रुति कहेगी। सब सांसारिक दुःखोंकी वियुक्तिस्वरूप वह अवस्था है। इसमें दृष्टान्त कहते हैं—'कुमारो' इत्यादिसे। जैसे वह कुमार—अत्यन्त बाल, महाराज—मन्त्री आदि जिसके वशमें हैं, ऐसा तथा महाब्राह्मण—परिपक्वविद्याविनयसंपन्न—अतिघ्नीमें—अतिशयेन दुःखं हन्ति इति अतिघ्नी अर्थात् आनन्दकी अवस्थामें—प्राप्त होकर सोता है। कुमारादि अवस्थामें निरतिशय सुख-विशेष लोकमें प्रसिद्ध है। किसी प्रकारके विकारसे ही उनको दुःख होता है; स्वभावसे नहीं, इस कारण इनकी स्वाभाविक अवस्था दृष्टान्तरूपसे कही गई है।

शङ्का—कुमारादिका स्वाप ही दृष्टान्त है; ऐसा क्यों नहीं कहते ?

समाधान—स्वाप ही दार्ष्टान्तिक है, अतः वह दृष्टान्त कैसे हो सकता है ?

शङ्का—कुमारादिस्वापत्वेन दृष्टान्त हो सकता है।

समाधान—स्वापमात्र समान है, युवा आदिका स्वाप और कुमारादिका स्वाप समान ही है, उनमें कुछ भी विशेष नहीं है और विशेषके बिना दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक-भाव बन नहीं सकता; इसलिए कुमारादिका स्वाप दृष्टान्त नहीं है, किन्तु उनकी उक्तावस्था ही यहां दृष्टान्त है। कुमारादिकी जैसे स्वाभाविक सुखावस्था होती है; वैसे ही विज्ञानमय शयन करता है अर्थात् स्वाभाविक सर्वसंसारधर्मातीत स्वात्मामें स्वापकालमें जीव होता है। 'क्वैष तदाभूत्' इस प्रश्नका यह उत्तर कहा गया है। इस प्रश्नके निर्णयसे स्वभावतः विज्ञानमयकी शुद्धि और असंसारिता बतलाई गई है। प्रथम निर्णयसे जीवकी विशुद्धि और द्वितीयसे ब्रह्माभेद विवक्षित है। 'कुत एतदागात्' इसका द्वितीय प्रश्नके निर्णयके लिए आरम्भ है।

शङ्का—जिस ग्राम या नगरमें जो रहता है, वह यदि अन्यत्र जाता है, तो उसी ग्राम या नगरसे जाता है, अन्यतः नहीं जाता, अतः 'क्वैष तदाभूत्'

इतना ही प्रश्न उचित है। जो जहां होगा वह वहींसे आयेगा, यह तो लोकप्रसिद्ध ही है; इसलिए 'कुत एतदागात्' यह प्रश्न निरर्थक है।

समाधान—क्या श्रुतिमें आक्षेप करते हो ?

शङ्का—नहीं, श्रुतिमें आक्षेप नहीं करते, किन्तु दूसरे प्रश्नका अन्य अर्थ सुनना चाहता हूँ, इसलिए उसमें आनर्थक्यका आक्षेप करता हूँ।

समाधान—अच्छा तो सुनो, 'कुतः' शब्दका 'कहांसे' यह अर्थ नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे उक्त वैयर्थ्य शङ्का होती है; किन्तु 'कुतः' शब्दका अर्थ है—किन्निमित्तात्—किस निमित्तसे—अर्थात् किंनिमित्तक आगमन है।

शङ्का—यह भी कहना ठीक नहीं है, कारण कि उत्तर-वाक्यके साथ सङ्गति नहीं मिलती। उत्तर-वाक्यसे अग्निविस्फुलिङ्गन्यायसे सबकी उत्पत्ति आत्मासे कही गई है। विस्फुलिङ्गोंके (चिनगारियोंके) निकलनेमें अग्नि निमित्त नहीं है, किन्तु अपादान है, एवं परमात्मा विज्ञानमय आत्माका अपादान है, ऐसा ही 'एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि श्रुतियोंसे कहा गया है; अतः उत्तर-वाक्यसे प्रतिकूल होनेके कारण 'कुतः' यह प्रश्न निमित्तार्थक भी नहीं हो सकता।

शङ्का—अच्छा तो अपादानपक्षमें भी तो पुनरुक्तता दोष है ?

समाधान—अपादानपक्षमें यह दोष नहीं है; कारण कि आत्मामें क्रिया-कारक-फलात्मताका निरास यहां विवक्षित है। प्रकृतमें विद्या और अविद्याके विषयोंका उपन्यास है। 'आत्मेत्येवोपासीत', 'आत्मानमेवावेत्', 'आत्मानमेव लोकमुपासीत', यह विद्याका विषय है तथा अविद्याके विषय हैं—पाङ्क्त कर्म और उसका फल नाम-रूपकर्मात्मक अन्नत्रय। इन अविद्याके विषयोंमें जो वक्तव्य था सो सब कह चुके। विद्याविषय आत्माका केवल उपन्यास हुआ, पर निर्णय नहीं हुआ, अतः उसके निर्णयके लिए ही ब्रह्म तुमसे कहता हूँ, यह प्रकरण आया है, इसलिए विद्याविषय ब्रह्मका यथार्थ अवधारण होना चाहिए। और आत्मामें यथार्थत्व क्रिया-कारक-फलभेद-शून्यता-निबन्धन अद्वितीयता ही है; अतः उसके अनुरूप दो प्रश्न श्रुतिने किये—'क्वैष तदाभूत्' और 'कुत एतदागात्'। इनमें जहाँ जो रहता है, वह अधिकरण होता है, वही विवेचनीय है। परन्तु यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि आधार और अधिकरणका भेद लोकमें दृष्ट है—जैसे कुण्ड और बदरका। एवं जहाँसे आता है, वह अपादान होता है और आनेवाला कर्ता होता है। अपादान और कर्ता ये भी दोनों परस्पर भिन्न होते हैं, जैसे ग्राम और देवदत्त। तथा प्रथम प्रश्न-वाक्यसे

व्यतिरेकं विशुद्धिञ्च जागरस्वप्नयोः श्रुतिः ।
प्रदर्श्याऽप्यद्वयानन्दरूपं सुप्तौ ब्रवीत्यसौ ॥ ९८ ॥
यद्यपि द्वैतमिथ्यात्वात् सिध्यत्यद्वयताऽऽत्मनः ।
भात्येवाऽथाऽपि तद्द्वैतं स्वप्नजाग्रदवस्थयोः ॥ ९९ ॥

स्वभिन्न किसीमें आत्मा था और द्वितीय प्रश्न-वाक्यसे स्वभिन्न किसी स्थानसे आत्मा आया, ऐसी प्रतीति होती है। इसी प्रतीतिकी उत्तर-वाक्यसे निवृत्ति की जाती है। यह आत्मा अन्यमें नहीं था, न अन्यसे आया ही है, न कोई रहने और आनेमें अन्य साधन है; किन्तु स्वात्मामें ही था। इस अर्थमें 'स्वमात्मानमपीतो भवति', 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति', 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः', 'पर आत्मनि संप्रतिष्ठते', 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि' इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं। और जब आत्मव्यतिरिक्त वस्तुकी संभावना ही नहीं है तब आत्मा स्वातिरिक्त स्थलमें था तथा वहाँसे आया, इस अर्थकी संभावना ही नहीं हो सकती। अतएव श्रुतिने स्पष्ट ही कहा है कि आत्मामें आत्मा था और वहांसे ही आया है। 'नेह नानास्ति' इत्यादि श्रुतियोंसे अन्य वस्तुका स्पष्ट निषेध है। निष्कर्ष यह निकला कि आत्माकी स्थिति और गतिकी अवधि आत्मा ही है, अन्य वस्तु नहीं है ॥ १९ ॥

'व्यतिरेकम्' इत्यादि। आत्मामें शरीर, इन्द्रिय आदिका भेद तथा विशुद्धि—इन दोनोंका जाग्रत् और स्वप्नमें प्रदर्शनकर श्रुति सुषुप्तिमें आत्मा अद्वयानन्दस्वरूप रहता है, यह भी कहती है। स्वप्नावस्थाके प्रदर्शनसे शरीरादिका अतिरेक (भेद) और सुषुप्ति अवस्थासे आत्मशुद्धिका स्पष्ट निरूपण किया है ॥ ९८ ॥

पुनरुक्तिशङ्काके निराकरणके लिए कहते हैं—**'यद्यपि'** इत्यादिसे।

शङ्का—द्वैतमिथ्यात्वके प्रतिपादनसे ही आत्मामें अद्वितीयत्वकी सिद्धि हो जाती है, फिर उसके लिए सुषुप्ति अवस्थाका उपादान व्यर्थ है।

समाधान—सिद्ध अद्वितीयत्वका ही पुनः संभावित द्वैतशङ्काके निराकरण द्वारा स्पष्टीकरण किया है, इसलिए प्रकृतमें पुनरुक्तत्वदोषकी शङ्का नहीं हो सकती, अतएव द्वैतमिथ्यात्वकी प्रतिपत्ति होनेपर भी द्वैतप्रतीतिकी निवृत्ति नहीं होती, प्रत्युत संसारदशामें द्वैतका भान ही होता रहता है।

शङ्का—किस अवस्थामें ?

समाधान—स्वप्न और जागर दोनों अवस्थाओंमें परोक्ष प्रमासे अपरोक्ष

द्वैतभावप्रतीत्याऽपि हीनं सुप्तावदर्शयत् ।
पूर्वं यद्यप्यथाऽप्यत्र विस्पष्टीक्रियते पुनः ॥ १०० ॥
दृश्यं मिथ्याऽस्तु तद्द्रष्टुर्द्रष्टृता वास्तवी ततः ।
दृश्यं साऽपेक्षतेऽप्येषा शङ्काऽत्र विनिवार्यते ॥ १०१ ॥
न किञ्चन यदा वेद तदा सुप्त इतीरणात् ।
आत्मनो ज्ञानकर्तृत्वं सुप्तौ नाऽस्तीति गम्यते ॥ १०२ ॥

भ्रम निवृत्त नहीं होता, किन्तु पुनः पुनः द्वैतभानसे उसके सत्यत्वका संशय हो जाता है, इसलिए सुषुप्ति अवस्थाके उपन्यास द्वारा अद्वितीयत्व दृढ़ किया है; अतः पुनरुक्त दोष नहीं है । वस्तुतः विशेषानाधायक पुनरुक्त पुनरुक्त दोष माना जाता है; दुरूह अर्थमें पुनरुक्तता गुण है, दोष नहीं है । शब्द परार्थ है । जबतक परकी प्रतिपत्ति न हो, तबतक शब्दका उपादान नहीं देखा जाता, अतएव श्रुतिमें नव बार 'तत्त्वमसि' का प्रयोग किया गया है ॥ ९९ ॥

'द्वैतभाव०' इत्यादि ।

द्वैतमें मिथ्यात्वज्ञानके बाद सुषुप्तिसे पूर्व प्रतीत भी द्वैत सुषुप्तिकालमें प्रतीत नहीं होता; प्रत्युत तद्रहित केवल आत्माकी प्रतीति होती है, इसलिए आत्मामें निष्प्रपञ्चत्वकी सिद्धि हो जाती है; फिर उसके लिए उत्तर श्रुतिकी क्या आवश्यकता ?

समाधान—ठीक है, उक्त रीतिसे सिद्ध निष्प्रपञ्चत्वका, संभावित शङ्काके निराकरण द्वारा, श्रुतिने फिर स्पष्टीकरण किया है ॥ १०० ॥

'दृश्यम्' इत्यादि ।

शङ्का—अच्छा तो भले ही दृश्य प्रपञ्च मिथ्या हो, परन्तु जो आत्मामें द्रष्टृता है, उसे सत्य क्यों न माना जाय ?

समाधान—यदि ऐसा माना जाय, तो दृश्यसत्यता भी माननी पड़ेगी, क्योंकि यदि दृश्य ही सत्य नहीं होगा, तो तत्सापेक्ष द्रष्टृता कैसे वास्तविक हो सकती है ? और उक्त शङ्काकी निवृत्तिके लिए उत्तर ग्रन्थ भी है। उत्तर ग्रन्थसे यह स्पष्ट समझाया गया है कि आत्मामें द्रष्टृता भी पारमार्थिक नहीं है । यदि होती, तो सुषुप्ति अवस्थामें उक्त धर्मकी प्रतीति होती ? परन्तु 'न किञ्चन वेद' इत्यादिसे स्पष्ट ही दर्शनकर्तृत्वका निषेध है; अतः यह भी औपाधिक ही है, वास्तविक नहीं है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है ॥ १०१ ॥

'न किञ्चन' इत्यादि । सुषुप्तिकालमें कुछ नहीं जानता, इसलिए उस

साभासबुद्धिर्ज्ञानस्य कर्त्री तत्सन्निधानतः ।
स्फटिके पद्मरागत्वमिव स्याज्ज्ञातृताऽऽत्मनि ॥ १०३ ॥
परप्रयुक्तं ज्ञातृत्वं परलोपे विलुप्यते ।
अतोऽसंसारिता सुप्तावात्मनः स्वानुभूतितः ॥ १०४ ॥

कालमें पुरुष सोता है, ऐसा कहा जाता है; अतः आत्मामें ज्ञानकर्तृत्व भी वास्तविक नहीं है, यह स्पष्ट ज्ञात होता है ।

शङ्का—आत्मामें ज्ञानकर्तृत्वका निरास करना ठीक नहीं है, परन्तु ज्ञानका साक्षी होनेसे ज्ञानकर्तृत्व उसमें मानना ही आवश्यक है ।

समाधान—यद्यपि आत्मा जानता है, तो भी कूटस्थ होनेसे वस्तुतः नहीं जानता, क्योंकि क्रियामात्रका जिसमें संभव नहीं है, उसमें ज्ञान-क्रिया-विशेषका संभव कहां ? अतएव अभियुक्तोंका वचन है—'पश्यन्नपि न पश्यति' । वस्तुतः ज्ञानकर्त्ताका साक्षी आत्मा है; ज्ञानका नहीं, यह 'अथ यो वेद इदं जिघ्राणीति' इत्यादि उत्तर श्रुतियोंमें स्पष्ट है । 'ज्ञातारं यो वेद स आत्मा' इस वाक्यसे ज्ञातृसाक्षित्व आत्मामें स्फुट है; ज्ञानकर्तृत्व आत्मामें नहीं है ॥ १०२ ॥

'साभास०' इत्यादि । चित्प्रतिबिम्बविशिष्ट बुद्धि (अन्तःकरण) ज्ञानकी कर्त्री है, इसलिए यद्यपि ज्ञानकर्तृत्वसे विशिष्ट बुद्धि ही है, तथापि सन्निधानसे, स्फटिकमें जपा-कुसुमके आरुण्यके समान, आत्मामें औपाधिक कर्तृत्वादि प्रतीत होता है; वास्तविक नहीं । अविवेकी 'अहं जानामि' इत्यादि प्रतीतिसे वस्तुतः आत्मामें ज्ञानकर्तृत्व मान लेते हैं, पर विवेकी पुरुष उक्त अन्वयव्यतिरेक द्वारा उक्त धर्म आत्मामें औपाधिक हैं, वास्तविक नहीं हैं; यों मानते हैं, अन्यथा सुषुप्तिमें भी उनके भानकी प्रसक्ति हो जायगी ॥१०३॥

'परप्रयुक्तम्' इत्यादि । आत्मामें ज्ञातृत्व परप्रयुक्त अर्थात् बुद्धिप्रयुक्त है; अतः परलोप याने बुद्धिका लय होनेपर उसके कर्तृत्व आदि धर्म सुषुप्तिकालमें आत्मामें प्रतीत नहीं होते, इसीसे उस कालमें असंसारिता—संसारधर्मशून्यता—आत्मामें स्वानुभवसिद्ध है । 'न किञ्चिदवेदिषम्' इत्यादि स्वानुभव है। केवल आत्माका सुषुप्तिकालमें अनुभव होता है। यदि उसमें कर्तृत्व आदि धर्म होते, तो वे भी प्रतीत होते। आत्मा स्वप्रकाश है; इसलिए उसके कर्तृत्वादि धर्मोंके भासनके लिए अन्य हेतुकी अपेक्षा है; ऐसा माननेसे तो उसके कर्तृत्वादि औपाधिक हैं, यही प्रकारान्तरसे सिद्ध होगा । यद्यपि सुषुप्तिकालमें आत्माका अनुभव निर्विकल्पक है, इसलिए उस कालमें वह अप-

न यथा श्रोत्रविज्ञानं रूपेणैति समागमम् ।
संसारेण तथैवाऽऽत्मा कौटस्थ्यान्नेति सङ्गतिम् ॥ १०५ ॥
निःसङ्गस्य ससङ्गेन कूटस्थस्य विनाशिना ।
आत्मनोऽनात्मना योगो वास्तवो नोपपद्यते ॥ १०६ ॥
सुप्तौ केन क्रमेणाऽयमुपाधिः प्रविलीयते ।
तत्क्रमस्याऽवबोधाय हृदयादि विविच्यते ॥ १०७ ॥
आनाभितस्तथा कण्ठाहृदयं मध्यतः स्थितम् ।
सनालपद्मकोशाभं पञ्चच्छिद्रमधोमुखम् ॥ १०८ ॥

रोक्षरूपसे प्रतीत नहीं होता, तथापि जागनेपर उक्त परामर्श होता है, इसलिए उस कालमें शुद्ध आत्माका अनुभव सर्वसम्मत है ॥ १०४ ॥

'न यथा' इत्यादि । आत्मामें काम आदि धर्मोंका सम्बन्ध नहीं है, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—जैसे श्रोत्रजन्य ज्ञानका विषय रूप नहीं होता, किन्तु चक्षुर्जन्य-ज्ञानका ही विषय होता है, वैसे ही कामकर्तृत्व आदि संसारधर्मका संबन्ध अन्तःकरणके साथ है, आत्माके साथ नहीं है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—आत्मा कूटस्थ है; क्रियाके संबन्धसे शून्य है ॥ १०५ ॥

'निःसङ्गस्य' इत्यादि । 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतिसे आत्मा असंग है; यह निश्चित है अर्थात् किसी पदार्थका सम्बन्ध आत्मामें नहीं है, असंग कूटस्थ आत्माका ससङ्ग विनाशी अनात्मपदार्थके साथ वास्तविक सम्बन्ध नहीं हो सकता; किन्तु आध्यासिक ही संबन्ध है और यह विचारना चाहिए कि आत्मामें कर्तृत्वादि मल स्वतः हैं या परतः ? आत्मा कूटस्थ है, इसलिए प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। द्वितीय पक्षमें पर वस्तु है या नहीं ? प्रथममें 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति-विरोध स्पष्ट है । द्वितीय पक्षमें यदि आत्मा अवस्तु है, तो मोहात्मक ही है, अतिरिक्त नहीं है, अतः तत्कृत कर्तृत्वादि भी वस्तुसत् नहीं हैं ॥ १०६ ॥

'सुप्तौ केन' इत्यादि ।

शङ्का—सुषुप्ति अवस्थामें किस क्रमसे यह उपाधि लीन होती है ?

समाधान—लयक्रमके बोधके लिए हृदयादिका विवेक करते हैं ॥ १०७ ॥

'आनाभित०' इत्यादि । नाभीसे ऊपर कण्ठसे नीचे तदुभयावधिक मध्य देश हृदयका स्थान है ।

शङ्का—हृदयका स्वरूप कैसा है ?

समाधान—'पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाऽप्यधोमुखम्' इत्यादि श्रुतिके अनुसार ही हृदयका स्वरूप कहते हैं—पद्मकोशेति। सनालपद्मकोशाभ अर्थात् कमलकी डण्ठीसे युक्त जो कमल है उसके भीतरके कोशके समान अतिमृदु तथा पाँच छिद्रोंसे संयुक्त अधोमुख हृदय होता है। छान्दोग्य श्रुतिके अनुसार पञ्चच्छिद्र विशेषण दिया गया है। हृदयका छिद्र ही दो अवस्थाओंका आश्रय है। पूर्व आदि दिक् क्रमसे लोहित, शुक्ल, पिङ्गल श्याम और नील वर्णसे विशिष्ट छिद्र हैं; उनके अधिष्ठातृ देवता आदित्य, चन्द्र, अग्नि, पर्जन्य और वियत्—ये पांच हैं। प्राण, व्यान, अपान, समान और उदान—ये पांच मर्त्य हैं। चक्षु, श्रोत्र, वाक् मन और वायु—ये पांच प्राणविशेष, अधिष्ठातृ देवता, और मुख्य प्राण—ये क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊर्ध्व—इन पाचों छिद्रोंमें रहते हैं। 'तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः' इस प्रकार उपक्रम करके 'य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्' इस श्रुतिसे यह अर्थ विस्तृतरूपसे कहा गया है। ये पांचो छिद्र जाग्रत् अवस्थाके समान स्वप्नमें भी शब्दाद्याकार वासनात्मक ज्ञानकी उत्पत्तिमें हेतु हैं। इन्हीं छिद्रोंसे चारों तरफ एक सौ एक नाडियां फैली हैं। जाग्रत् और स्वप्नकालीन फलके उपभोगके लिए कर्मजन्य विषयग्रहणोन्मुख दश दश नाडियां एक-एक इन्द्रियके प्रति प्रवृत्त हैं। दश इन्द्रियां हैं। एक सौ एक नाडियां हैं। एक-एकके प्रति दश दशका विभाग ठीक ही है। अवशिष्ट रही एक नाड़ी, वह मोक्षमें उपयोगी है; सांसारिक भोगके लिए उपयोगी नहीं है, क्योंकि जपोर्द्धमायन्नमृतत्वमेति' यह श्रुति उक्त अर्थमें प्रमाण है।

शङ्का—ये नाड़ियां भोगकी साधन कैसे हैं ?

समाधान—जैसे नदियोंमें जल बहता है; वैसे ही नाडियोंमें कर्मफल बहता है, अनन्त उर्ध्वगत एक नाड़ी है। उस नाड़ी द्वारा गति होनेसे पुरुष मुक्त होता है। संक्षेपसे एक सौ एक प्रकारकी नाड़ियां कही गई हैं। विस्तारसे उन नाडियोंका सूक्ष्म भेद बहत्तर हजार है—

"द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयादभिनिःसृताः।
हिता नाम हिता नाड्यः तासां मध्ये शशिप्रभम्॥
मण्डलं तस्य मध्यस्थ आत्मा दीप इवाऽचलः।"

यह हृदयस्थ नाडियोंका भेद है।

कदम्बकुसुमोद्भूतकेसरा इव सर्वतः ।
प्रसृता हृदयान्नाड्यो बहुन्नरसपूरिताः ॥ १०९ ॥
निर्गत्य हृदयाद् बुद्धिस्तासु स्वप्नं प्रपश्यति ।
ताभिर्देहाद् बहिर्गत्वा जाग्रतीत्यभिधीयते ॥ ११० ॥
पुनः प्रत्यवसृप्यैषा पुरीतद्धेष्टिते हृदि ।
प्रविश्य लीयते देहं व्याप्य सामान्यवृत्तितः ॥ १११ ॥

देहमें सम्पूर्ण नाडियां साढ़े तीन लाख हैं। उनके भी सुसूक्ष्म भेदके विषयमें यह लिखा है—

"एकोनत्रिंशल्लक्षाणि तथा नव शतानि च ।
षट्पञ्चाशद्विजानीयाच्छिरा धमनिसंज्ञिताः ॥"

इत्यादि विशेष अन्यत्र देखिये ॥ १०८ ॥

हितानामक बहत्तर हजार नाड़ियोंका स्वरूप कहते हैं—'**कदम्ब०**' इत्यादिसे। कदम्बवृक्षके पुष्पके केसर (किञ्जल्क) जैसे चारों ओर होते हैं अर्थात् कदम्बका पुष्प जैसे सर्वतः किञ्जल्कोंसे व्याप्त रहता है, वैसे ही शरीर सर्वतः नाडियोंसे व्याप्त रहता है। कोई भी शरीरका भाग ऐसा नहीं है, जिसमें नाडियाँ न हों। हृदयसे निकलकर नाड़ियां शरीरके प्रत्येक अवयवोंमें व्याप्त होती हैं। वे सब अन्नरससे परिपूर्ण हैं। रुधिरसंचार इन्हींके द्वारा सब शरीरमें होता है। जहां कहीं विकृत हो जाती हैं, उसी जगह शरीरमें विकार हो जाता है; यह लोकसिद्ध है। नाडियां हित फल देती हैं, इसलिए उनका नाम 'हिता' पड़ा है। जैसे सूर्यसे रश्मियां चारों तरफ निकलती हैं, वैसे ही ये हृदयसे निकलकर चारों तरफ शरीरमें प्रविष्ट होती हैं।

'**निर्गत्य**' इत्यादि। अन्तःकरण हृदयसे निकलकर उक्त हिता नामकी नाड़ियोंमें स्वप्न देखता है और जब नाड़ियों द्वारा बुद्धि बाहर जाकर बाह्य विषयोंको ग्रहण करती है, तब जागता है; ऐसा व्यवहार होता है ॥११०॥

'**पुनः प्रत्य०**' इत्यादि। यद्यपि हृदयवेष्टनका वाची 'पुरीतत्' शब्द है, तथापि यहां 'पुरीतत्' शब्दसे लक्षणावृत्ति द्वारा हृदय लिया जाता है। स्वाप्निक अशेष भोग भोगनेके अनन्तर स्वप्नक्रियाकी निवृत्ति होनेपर उक्त नाड़ियोंसे वागादि इन्द्रियोंका उपसंहार कर प्राज्ञ सुषुप्त होता है।

बुद्धेरव्याकृतावस्था वृत्तिः सामान्यशब्दिता ।
व्याप्तो देहस्तया सुप्तौ तैलेनेव तिलोऽखिलः ॥ १११ ॥
व्याकृतोपाधिविलये द्वैतभानं निवर्त्तते ।
स्फुटीभवत्यद्वयत्वं तदानीं प्रत्यगात्मनः ॥ ११३ ॥
सर्वसंसारदुःखानामत्यन्तोपरमात्तदा ।
आनन्दस्य परा निष्ठां दृष्टान्तैः सोपमीयते ॥ ११४ ॥

शङ्का—जीवकी कर्म द्वारा जागरित और स्वप्न अवस्था होती है, यह ठीक है, क्योंकि उन अवस्थाओंमें भोग होता है । पर सुषुप्ति अवस्थासे तो मुक्ति होती नहीं; फिर सषुप्ति अवस्था क्यों मानते हो ?

समाधान—'सामान्यवृत्तितः' अर्थात् जैसे बाज पक्षी दिशाओंमें भ्रमण करनेसे श्रान्त होकर अपने कुलायमें (घोंसलेमें) आकर सुखी होता है, वैसे ही आत्माको जागरित और स्वप्न—इन दो स्थानोंमें जानेसे जो श्रम होता है, उसकी निवृत्तिके लिए वह शब्द आदि बाह्यविषयक विशेष बुद्धिका त्यागकर सामान्यवृत्तिसे—चिन्मात्र-प्रज्ञासे—अपने देहको तप्त लोहेके पिण्डके समान सर्वतः व्याप्तकर प्रत्यक्स्वरूप होनेसे ब्रह्ममें जाकर ब्रह्मके समान असंगोदासीनस्वरूप हो जाता है ।

श्लोकार्थ—स्वाप्निक भोगके अनन्तर उक्त नाड़ियोंसे वागादि इन्द्रियोंका उपसंहारकर पुरीतद्वेष्टित हृदयमें बुद्धि प्रविष्ट होकर सामान्य वृत्तिसे—वक्ष्यमाण-वृत्तिसे—देहको व्याप्तकर लीन हो जाती है; यही सुषुप्ति कहलाती है ॥ १११ ॥

'बुद्धेरव्याकृता०' इत्यादि । बुद्धिकी अव्याकृतावस्था सामान्यवृत्ति कहलाती है । जैसे तैलसे तिल सर्वात्मना व्याप्त रहता है, वैसे ही सुषुप्तिमें उक्त वृत्तिसे देह व्याप्त रहता है । तिलावस्थामें जैसे तैलकी स्वरूपसे अभिव्यक्ति नहीं देख पड़ती, पर सत्कार्यवादके सिद्धान्तके अनुसार अनभिक्त तैलावस्थान माना जाता है, वैसे ही यद्यपि उक्त अवस्थामें बुद्धि अभिव्यक्तरूपसे शरीरमें प्रतीत नहीं होती, तथापि उक्त सामान्यवृत्तिसे शरीरको व्याप्तकर रहती है ॥ ११२ ॥

'व्याकृतो०' इत्यादि । व्याकृतोपाधिकी विलयदशामें द्वैतका भान निवृत्त होता है । तात्पर्य यह है कि जब अन्तःकरणके लीन होनेपर सुषुप्ति होती है तब द्वैतकी प्रतीति निवृत्त होती है और आत्मामें अद्वितीयत्व स्फुट होता है ॥ ११३ ॥

'सर्वसंसार०' इत्यादि। तदा अर्थात् सुषुप्तिकालमें संपूर्ण सांसारिक दुःखोंकी

इन्द्रियस्याऽप्ररूढत्वात् स्वेष्टप्राप्तेर्विवेकतः ।
नीरागाणां बालराजब्राह्मणानां क्रमात् सुखम् ॥ ११५ ॥

निवृत्ति होती है, यह सर्वानुभवसिद्ध है । केवल दुःखकी निवृत्ति ही नहीं होती, किन्तु परम आनन्दकी प्राप्ति भी होती है, इसका अग्रिम दृष्टान्तोंसे प्रतिपादन करते हैं । सुषुप्ति अवस्थाका आनन्द वैषयिक आनन्दके समान सातिशय नहीं है, किन्तु वह आत्मस्वरूप आनन्द है, इसलिए निरतिशय है । उस आनन्दका अन्य प्रकाशक नहीं है, क्योंकि उस कालमें द्वैतमात्रका भान नहीं होता; इसलिए स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूप होनेसे उसे प्रकाशान्तरकी अपेक्षा ही नहीं होती । अतएव मोक्षसुख इसीके समान है, यों समझाया जाता है ॥ ११४ ॥

'**इन्द्रियस्या०**' इत्यादि । सुषुप्तिकालिक सुखमें बालक, राजा, महाब्राह्मण—इन तीनोंके सुखका दृष्टान्तरूपसे श्रुतिने उपादान किया है । उसमें प्रथम बालकके सुखका निरूपण करते हैं—बालकशब्दसे स्तनन्धय विवक्षित है, क्योंकि वह सर्वथा राग और द्वेषसे शून्य है । राग और द्वेषके बिना विषय चित्तको विकृत नहीं कर सकते । यद्यपि विकारके हेतु विषय हैं, तथापि सहकारीरूपसे रागद्वेष भी चित्तके विकारमें कारण हैं, अतएव विषयका सन्निधान होनेपर भी बालकके चित्तमें विकार नहीं होता और इन्द्रियाँ भी अप्ररूढ याने अपने कार्यके जननमें अशक्त हैं । जैसे कोमल अभिनव कण्टक पैर आदिके वेधनमें अशक्त होता है, वैसे ही बालककी इन्द्रियां विषयभोगमें अशक्त होती हैं, इसलिए वे रागद्वेषादिके संपादक नहीं हैं । राजाके प्ररूढेन्द्रियवान् होनेपर उसकी आज्ञाका कोई भङ्ग नहीं कर सकता और सचिव आदि सेवकवर्ग सदा अनुकूल हो तो, वह लोकमें परम सुखी समझा जाता है । अशेष तत्त्वोंका यथार्थतः ज्ञाता और कृतकृत्य ब्राह्मणविशेष भी उत्तम आनन्दमें मग्न रहता है ।

शङ्का—दृष्टान्तस्वरूपसे बाल आदि तीनोंको कहनेका क्या अभिप्राय है ?

समाधान—किसीका मत यह है कि बालक और राजाका दृष्टान्त ठीक नहीं है, कारण कि बालक अतिमूढ़ होता है और राजा प्रायः मदान्ध होता है, इसलिए महाब्राह्मण ही वस्तुतः दृष्टान्त है । उसमें उक्त दोनों दोषोंका सम्भव नहीं है । बालक अविवेकी है और राजा विवेकी होता है, इस अभिप्रायसे बालककी उपेक्षा कर राजाका दृष्टान्त दिया गया है । राजामें भी मदान्धता दोषकी सम्भावना है, अतः उसका त्यागकर महाब्राह्मणका दृष्टान्त दिया गया है और यह ठीक भी है;

दुःखं रागद्वेषजन्यं तदभावे सुखं स्वतः ।
इति व्याप्तिगृहीत्यर्थं बहुदृष्टान्तवर्णनम् ॥ ११६ ॥
यावद्यावत् प्ररूढत्वं रागादेर्जायते हृदि ।
तावत्तावत् प्ररूढत्वं दुःखस्याऽप्यभिजायते ॥ ११७ ॥
यावद्यावत्तनुत्वं स्याद्रागादेः प्रत्यगात्मनि ।
तावत्तावत्तनुत्वं स्याद् दुःखस्याऽपि सुखात्मनि॥ ११८ ॥

क्योंकि इसमें न तो अविवेक ही है और न मदान्धता दोष ही है । अतः अन्तिम उदाहरण ही श्रुतिका अभिप्रेत है । वस्तुतस्तु उक्त बालक, राजा और महा-ब्राह्मण—इन तीनों जीवोंका चित्त निर्विकार होता है; अतएव उनकी आत्मामें अत्यन्त आनन्द होता है, इसलिए तीनों दृष्टान्त ठीक हैं ॥ ११५ ॥

'दुःखम्' इत्यादि । राग और द्वेषसे ही दुःख होता है । जिस विषयमें राग है, वह विषय यदि नहीं मिलता, तो दुःख होता है । यदि राग नहीं होता, तो अनाकाङ्क्षित विषयोंकी अप्राप्तिके समान दुःख न होता अथवा इष्टकी प्राप्तिमें यदि कोई प्रतिबन्धक होता है अथवा इष्टका अपहारक किंवा नाशक कोई होता है, तो उसके द्वेषसे दुःख होता है । यह लोकसिद्ध है कि रागद्वेष-निमित्तक ही दुःख होता है, प्रकृतमें रागद्वेषशून्य तीनों विवक्षित हैं, इसलिए उनमें स्वतः सुख होता है; इस व्याप्तिके ग्रहणके लिए श्रुतिने अनेक दृष्टान्त दिये हैं । 'यत्र यत्र रागद्वेषाभावः तत्र तत्र स्वतः सुखम्' यह व्याप्ति सुषुप्त्यवस्थामें अपने ही शरीरमें गृहीत होती है ॥ ११६ ॥

सुषुप्तिदशामें आत्मामें आनन्दस्वरूपताका उपपादन करते हैं—**'यावद्यावत्'** इत्यादिसे ।

जबजब आत्मामें रागादिकी अधिकता रहती है तबतब उसमें दुःख भी अधिक होता है । जागरादि अवस्थामें अवस्थित प्ररूढ़ रागादि सुषुप्तिमें नहीं हैं, इसलिए प्ररूढ दुःखादिका उद्भव भी उस कालमें नहीं होता, यह सर्वानुभवसिद्ध है ॥ ११७ ॥

'यावद्यावत्' इत्यादि । जबजब प्रत्यगात्मामें रागादिकी न्यूनता होती है; तबतब सुखस्वरूप आत्मामें दुःखादिकी भी न्यूनता होती है । स्वप्नावस्थामें रागादिकी न्यूनतासे सुखादिकी न्यूनता होती है । इस अन्वयव्यतिरेकसे रागादि ही दुःखमें मूल हैं, यह सिद्ध होता है । साधनके प्रकर्ष और निकर्षसे साध्यमें भी प्रकर्ष

अशेषदुःखहेतूनां विलोपात् सुप्त आत्मनि ।
दुःखहीने परा निष्ठाऽऽनन्दस्येत्युपपद्यते ॥ ११९ ॥
आनन्दस्याऽऽत्मरूपत्वाद् विषयीक्रियते न सः ।
स्वप्रकाशचिदात्मत्वात् स्वयमेव विभात्यसौ ॥ १२० ॥
अद्वयानन्दरूपत्वमित्थं सुप्तौ प्रदर्शितम् ।
एतावता स्वभावोऽस्य निर्णीतः प्रत्यगात्मनः ॥ १२१ ॥
श्रुतिः—स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा

और निकर्ष होता है, यह उक्तान्वयव्यतिरेकसे सकललोकप्रसिद्ध है; अतः इसमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ११८ ॥

'अशेषदुःख०' इत्यादि । सुषुप्तिदशामें सम्पूर्ण दुःखोंके हेतुओंका विलोप होनेसे अर्थात् रागादि दोषोंकी निःशेष निवृत्ति होनेसे दुःखहीन (रागादिशून्य) आत्मामें आनन्दकी पराकाष्ठा उपपन्न होती है ॥ ११९ ॥

'आनन्दस्या०' इत्यादि । आनन्दकी सत्तामें प्रकाशमानताका नियम है । अज्ञात आनन्दकी सत्ता नहीं मानी जाती । उक्त अवस्थामें सब प्रकाश ज्ञानोंकी निवृत्ति होनेसे आत्मस्वरूप आनन्द है, इसमें कुछ भी प्रमाण नहीं है, इस प्रकारकी शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं कि आनन्द आत्मस्वरूप ही है और आत्मस्वरूप होनेके कारण स्वयंप्रकाश है, अतः वह ज्ञानका विषय नहीं है अर्थात् वह आत्म-स्वरूप आनन्द स्वयं प्रकाशित होता है ॥ १२० ॥

'अद्वयानन्द०' इत्यादि । पूर्वोक्त प्रकारसे सुषुप्तिकालमें आत्मा अद्वितीया-नन्दस्वरूप है; यह दिखलाया । इसीसे आत्माके स्वभावका भी निर्णय हो चुका । तात्पर्य यह है कि प्रथम प्रश्नके निर्णयका फल यह है कि मोहसे समुत्पन्न निखिल कार्यसे आत्मा परिशुद्ध है। इसको हाथ द्वारा दबानेसे उठे हुए पुरुषके वृत्तान्तके बोधन द्वारा श्रुतिने स्पष्ट समझाया और इसी प्रकार त्वमर्थका परिशोधन भी हुआ । 'कुत आगात्' इस द्वितीय प्रश्नके आशयका स्पष्टीकरण अग्रिम श्रुतिसे करेंगे ॥ १२१ ॥

'स यथोर्णनाभिः' इत्यादि श्रुति। लोकमें प्रसिद्ध ऊर्णनाभि (लूताकीट) अर्थात् मकड़ी एक ही होकर जैसे स्वाभिन्न तन्तुके साथ चलती है, क्योंकि तन्तुकी उत्पत्तिमें लूताकीटसे अतिरिक्त कारण नहीं है और जैसे अग्निसे छोटी चिनगारियां निकलती हैं [ये दोनों दृष्टान्त कारकका भेद न होनेपर भी प्रवृत्ति दिखलाते हैं;

व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति । तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥ २० ॥

इत्युपनिषदि द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

प्रवृत्तिसे पूर्व स्वभावतः एकत्व है] वैसे ही प्रतिबोधसे पूर्व जो आत्माका स्वरूप है; उससे वागादि सब प्राण पृथिवी आदि सब लोक, सब कर्मफल, सब देवता (प्राण और लोकके अधिष्ठाता अग्नि आदि) और सब भूत अर्थात् ब्रह्मादिसे लेकर स्तम्ब पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणिसमुदाय उत्पन्न होते हैं अर्थात् जिस कारणरूप ब्रह्मसे स्थावर-जङ्गमात्मक प्रपञ्च, अग्निविस्फुलिङ्गदृष्टान्तसे, उत्पन्न होता है, जिसमें रहता है और जिसमें जलबुद्बुदके समान लीन होता है, उस आत्मब्रह्मकी उपनिषत् कहते हैं ।

शङ्का—उपनिषत् कौन है ?

समाधान—'सत्यस्य सत्यम्' यह उपनिषत् है, क्योंकि यह अलौकिकार्थक होनेसे दुर्विज्ञेयार्थ है, अतः सर्वत्र उपनिषत् कहलाता है, अतएव उस अर्थका निरूपण करनेके लिए आगेके दो ब्राह्मणोंका आरम्भ है ।

शङ्का—अस्तु, उपनिषत्के व्याख्यानके लिए आगेके दो ब्राह्मण भले ही हों, पर यहाँ प्रश्न यह होता है कि पाणिपेषणसे उठे हुए शब्दादिके भोक्ता संसारी आत्माका इस उपनिषत्से निरूपण है ? अथवा असंसारी किसी आत्माका ?

शङ्का—इससे क्या प्रयोजन ?

समाधान—प्रयोजन यह है कि प्रथम पक्षमें संसारी आत्मा ही ज्ञेय माना जायगा और उसीके विज्ञानसे सब फलोंकी प्राप्ति भी मानी जायगी, वही ब्रह्मशब्दवाच्य होगा और उसकी विद्या ही ब्रह्मविद्या कही जायगी । द्वितीय पक्षमें उसका विज्ञान ही ब्रह्मविद्या माना जायगा और उसके विज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति होगी ।

शङ्का—शास्त्रके प्रामाण्यसे यद्यपि दोनों हो सकते हैं, क्योंकि अदृष्ट विषयमें शास्त्र ही प्रमाण है, तथापि प्रथम पक्षमें 'आत्मेत्येवोपासीत', 'आत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि ब्रह्मात्मैकत्वकी प्रतिपादक श्रुतियोंके साथ विरोध होगा, क्योंकि जब संसारीसे अतिरिक्त आत्मा है ही नहीं, तब अतिरिक्त आत्माका उपदेश कैसे होगा ?

समाधान—ठीक है, यह प्रश्न यद्यपि बड़े-बड़े विद्वानोंको भी मोहमें डालनेवाला है, फिर भी यथाशक्ति इसका विचार करेंगे, अन्यथा ब्रह्मके जिज्ञासुओंकी बुद्धि ब्रह्मप्रतिपादक वाक्योंमें परिनिष्ठित नहीं होगी। यहां पर कोई असंसारी विवक्षित नहीं है, क्योंकि पाणिपेषणसे बोधित सुषुप्तयवस्थाविशिष्ट शब्दादिके भोक्ता संसारी आत्मासे ही जगत्की उत्पत्ति यहां कही गई है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अशनाया आदिसे वर्जित पर कोई नहीं है।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—कारण यह है कि आपको ब्रह्मका उपदेश देंगे, ऐसी प्रतिज्ञा कर सुषुप्त पुरुषको पाणिपेषणसे जगाकर शब्दादिके भोक्ता संसारीको ही दिखलाकर उसीकी स्वप्न द्वारा सुषुप्त्याख्य अवस्थाका अनुमान कर उक्त अवस्थासे विशिष्ट उसी आत्मासे अग्निविस्फुलिङ्गन्याय तथा ऊर्णनाभिके दृष्टान्तसे संसारकी उत्पत्ति 'एवम्' इत्यादिसे श्रुति दिखलाती है। मध्यमें अन्य कोई जगत्की उत्पत्तिका कारण नहीं कहा गया है; प्रकरण भी विज्ञानमयका ही है। अन्य श्रुतिमें आदित्य आदि पुरुषोंका प्रस्ताव कर कहा है कि हे बालाकि ! जो इन पुरुषोंका कर्ता है और जिसका यह कर्म है, उसीको जानना चाहिए, इससे प्रबुद्ध उक्त आत्मा ही स्पष्ट वेदितव्यरूपसे दिखलाया गया है, दूसरा नहीं। एवं 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' यह कहकर जो आत्मा प्रियरूपसे सबको प्रसिद्ध है, वही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है, ऐसा दिखलाया गया है। तथा विद्योत्पत्तिकालमें 'आत्मेत्येवोपासीत', 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्', 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्य उक्त आत्मामें ही अनुकूल होते हैं। आगे भी कहेंगे—'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्' इत्यादि।

और सब वेदान्तोंमें 'अहम्' इत्यादिसे उक्तात्मा ही वेद्य कहा गया है, जो अहंप्रतीतिका विषय नहीं है, ऐसा बाह्य कोई वेद्य नहीं बतलाया गया है; अन्यथा 'असौ ब्रह्म' यों अन्य शब्दसे कहा जाता, परन्तु ऐसा नहीं कहा गया है। एवं कौषीतकी उपनिषत्में 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि वाक्योंसे वागादि करणोंसे व्यावृत्त आत्मा है, ऐसा ही उपदेश दिया गया है।

शङ्का—अन्य अवस्थासे विशिष्ट ही असंसारी क्यों न हो अर्थात् जो जागरित अवस्थामें शब्द आदिका भोक्ता विज्ञानमय है, वही सुषुप्तिरूप अन्य अवस्थाको प्राप्त हुआ असंसारी है।

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि बौद्धोंको छोड़कर दूसरेके मतमें ऐसे पदार्थ नहीं माने जाते। लोकमें भी यह नहीं देखा जाता है कि जो चलती फिरती व्यक्ति हो वह गौ कही जाय और जो बैठी या सोई हो वह अश्व (घोड़ा)। ऐसा न्याय भी है कि यद्धर्मक जो पदार्थ प्रमाणसे निश्चित है, वह देशान्तर, कालान्तर और अवस्थान्तरमें भी तद्धर्मक ही रहता है। यदि ऐसा न माना जाय, तो संसारमें सब प्रमाण-व्यवहार ही लुप्त हो जायगा। अतएव न्यायपरायण सांख्य, मीमांसक आदि विद्वद्गण असंसारी आत्माको नहीं मानते। यदि संसारी ही अवस्थान्तरविशिष्ट असंसारी होगा, तो उक्त न्यायसे विरोध हो जायगा, सो उनको अभीष्ट नहीं है, इसलिए उनके मतमें परका अभाव ही सहनीय है; उक्त न्यायका विरोध सहनीय नहीं है।

ठीक है, आपने विस्तृतरूपसे यह सिद्ध किया कि संसारी ही अवस्थान्तरसे जगत्का कर्ता है; पर यह बन नहीं सकता, कारण कि जगत्को उत्पन्न, स्थित और लीन करनेकी शक्ति और उसके अनुकूल विज्ञानादि साधनोंका अभाव संसारी आत्मामें है, यह सर्वलोकसिद्ध बात है। क्योंकि प्रत्येक मनुष्यको 'मुझ जैसे संसारी मनसे भी अचिन्त्यविन्यासविशिष्ट पृथिवी, पर्वत और समुद्र आदिको कैसे बना सकते हैं' यह अनुभव पद-पदपर होता है। इसलिए यह पक्ष सर्वथा अयुक्त है।

शङ्का—शास्त्र यदि ऐसा ही कहता है; तो उसपर विश्वास कर वैसा ही माननेमें क्या हानि है? क्योंकि शास्त्रप्रामाण्यके भरोसे सब श्रद्धेय हो सकता है।

समाधान—नहीं, यह कभी शास्त्रका वक्तव्य नहीं है, क्योंकि 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्', 'योऽशनायापिपासे अत्येति', 'असङ्गो न हि सज्जते', 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने', 'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्नन्तर्याम्यमृतः' 'स यस्तान् पुरुषान्निरुह्यात्यक्रामत्', 'स वा एष महानज आत्मा', 'एष सेतुर्विधरणः', 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः', 'य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः', 'तत्तेजोऽसृजत', 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' और 'न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' इत्यादि सैकड़ों श्रुतियोंसे और 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' इत्यादि स्मृतियोंसे प्रतीत होता है कि असंसारी परमात्मा संपूर्ण जगत्का कारण है, इसमें सन्देह नहीं है।

शङ्का—अच्छा, तो 'अस्मादात्मनः' इत्यादि वाक्यसे जगत्की संसारी आत्मासे उत्पत्ति श्रुतिने क्यों बतलाई?

क्काऽभूदेष इति प्रश्नं निर्णीय कुत आगतः ।
इति प्रश्नं विनिर्णेतुमूर्णनाभ्यादिका श्रुतिः ॥ १२२ ॥
यत्राऽभूत् तत एवैष आगच्छेदिति यद्यपि ।
ज्ञायतेऽर्थात् तथाऽप्यत्र तदुक्तिरुपयुज्यते ॥ १२३ ॥
अवध्यवधिमद्भेद आधाराधेययोर्भिदा ।
यथा लोके तथा नाऽत्रेत्यसावर्थो विवक्षितः ॥ १२४ ॥

समाधान—'एषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इत्यादि श्रुतिसे परमात्मा ही प्रकृत है। यह आगे स्पष्ट करेंगे। संक्षेपसे श्रुत्यर्थका निरूपण कर अब प्रकृत ग्रन्थका व्याख्यान करेंगे। प्रसङ्गवश श्रुत्यर्थका भी विचार किया जायगा ॥ २० ॥

'क्काऽभूदेष' इत्यादि। यह आत्मा कहाँ था, इस प्रश्नका निर्णयकर कहाँसे आया, इस प्रश्नके निर्णयके लिए 'ऊर्णनाभि' आदि श्रुति है।

शङ्का—जो जिस ग्राम या घरमें रहता है, वह वहींसे आता है; यह तो प्रसिद्ध ही है, फिर इस विषयमें प्रश्नोत्तर ही व्यर्थ है अर्थात् पूर्व प्रश्नसे ही उत्तर ग्रन्थ गतार्थ हो जाता है। स्थितिकी अवधि निश्चित होनेपर गतिकी अवधि निर्णीत हो जाती है, अतः पुनः गतिकी अवधि कहनेसे पुनरुक्त दोष होगा, इससे अतिरिक्त कुछ फल नहीं होगा। यदि अपादानविषयक प्रश्न नहीं है, किन्तु निमित्तविषयक प्रश्न है, यों कहो अर्थात् किस निमित्तसे आया, यह प्रश्नका अभिप्राय है, यों कहो, तो पुनरुक्त दोषकी संभावना यद्यपि नहीं है, तथापि उस तात्पर्यसे ऊर्णनाभि आदि दृष्टान्त असङ्गत होगा; क्योंकि उक्त दृष्टान्तसे प्रश्न निमित्तार्थक नहीं होगा एवं आक्षेपार्थ भी प्रश्न नहीं हो सकता; इससे दृष्टान्त असङ्गत हो जायगा।

समाधान—यदि उक्त रीतिसे निमित्त तथा आक्षेपविषयक प्रश्न नहीं हो सकता तो, 'श्रौत प्रयोग अर्थवाद न होनेसे अनर्थक नहीं होता', इस नियमकी रक्षाके लिए अपादानविषयक ही प्रश्न मानना समुचित है। रह गया केवल पुनरुक्तता दोष, इसका परिहार इस प्रकार है कि संपूर्ण अज्ञानकार्यका नाश प्रकृतमें विवक्षित है, सो आगे विशद होगा ॥ १२२ ॥

'यत्राऽभूत्' इत्यादि। यद्यपि जो जहाँ रहता है, वहींसे वह आता है, यह अर्थात् प्रतीत हो जाता है, इससे उस अर्थके लिए प्रश्नोत्तरकी आवश्यकता नहीं है, तथापि यहाँ प्रश्नोत्तर आवश्यक है ॥ १२३ ॥

'अवध्य०' इत्यादि। अवधि और अवधिमान्का भेद एवं ग्राम और गन्ताका

एतदर्थानुकूलौ द्वौ प्रश्नौ तेनोत्तरं पृथक् ।
उक्तं तस्योत्तरस्यैव तात्पर्यार्थ उदीर्यते ॥ १२५ ॥
नान्यत्राऽभूदयं सुप्तौ नाऽन्यस्मादुत्थितः पुनः ।
सुप्त्युत्थानभ्रमः पूर्णे बुद्ध्युपाधिविजृम्भितः ॥ १२६ ॥

भेद लोकमें प्रसिद्ध है तथा आधार और आधेयका भी भेद याने घट और भूतलका भेद भी लोकमें प्रसिद्ध है। एक ही अवधि और अवधिमान् तथा आधार और आधेय लोकमें कहीं नहीं देखे जाते हैं; अतः 'य एव लौकिकाः त एव वैदिकाः' इस न्यायके अनुसार यहाँ भी उक्त दोनों भेदमें ही होने चाहिएँ, परन्तु यहां ऐसा नहीं है; यहाँ एकमें ही उक्त दोनोंका व्यवहार माना जाता है। यही अर्थ यहां विशेषरूपसे समझाया जाता है ॥ १२४ ॥

'एतदर्था०' इत्यादि। उक्त अर्थके अनुकूल ही दोनों प्रश्न हैं; जैसे लोकमें अवधि और अवधिमान्का एवं गन्तव्य और गन्ताका भेद है तथा आधाराधेयका भेद है, वैसे ही यहाँ भी उक्त पदार्थोंमें भेद मानकर उक्त दोनों प्रश्न किये गये हैं; इसीसे दो उत्तर दिये गये हैं, यह इसका तात्पर्यार्थ कहा गया है ॥ १२५ ॥

'नाऽन्यत्राऽ०' इत्यादि। यह आत्मा सुषुप्तिदशामें स्वातिरिक्त वस्तुमें है नहीं और न अन्य वस्तुसे आकर उठा है; किन्तु पूर्ण आत्मामें सुषुप्ति और उत्थानका भ्रममात्र है। भ्रममें हेतु है—बुद्धिरूप उपाधि। बुद्धिका ही सुषुप्ति-दशामें लय एवं जागर अवस्थामें उत्थान होता है; इसीसे उक्त दोनों अवस्थाओंका आत्मामें भ्रम होता है। तात्पर्य यह है कि प्रकृतमें अधिकरणाधेयभाव, अपादानकर्तृभाव प्रश्नोत्तरवाक्यसे विवक्षित नहीं हैं, किन्तु संपूर्ण अज्ञानकार्यका ध्वंस विवक्षित है, इसीसे आत्मव्यतिरिक्त वस्तुका श्रुतिने निषेध किया है।

शङ्का—उक्तावस्थामें भी तो प्राण आदि रहते ही हैं, फिर आत्मव्यतिरिक्त वस्तुका निषेध कैसे हो सकता है ?

समाधान—हाँ, रहते हैं; लेकिन शुक्तिमें रजतका भान यद्यपि होता है तथापि परमार्थतः शुक्तिरजतका प्रतिषेध होता ही है, इससे केवल ज्ञानमात्रसे वस्तु सिद्ध नहीं होती, किन्तु अबाधित ज्ञानसे वस्तु वस्तुतः सिद्ध होती है, यह ज्ञात होता है।

शङ्का—'एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' इत्यादि श्रुतिसे वास्तवमें प्राणकी आत्मासे

सृष्टि होती है, ऐसा ज्ञात होता है; अतः वैसा ही क्यों नहीं मानते ? आत्मामें प्राणादिका अध्यास है, ऐसा माननेमें क्या साधक है ?

समाधान—कूटस्थ अद्वितीय असङ्ग आत्माका स्वरूप ही अध्यासका साधक है। उक्त स्वरूपसे वास्तविक प्राणादिकी सृष्टि नहीं हो सकती। और यह विचारिये कि असत् प्राणादिकी सृष्टि कहते हो अथवा सत् प्राणादिकी ? प्रथम पक्षमें असत्की आकाशपुष्पके समान सृष्टि ही असंभव है। द्वितीय पक्षमें प्राणादि यदि सत् हैं, तो उनकी सृष्टि क्या होगी ? जन्य पदार्थके स्वरूपके आलोचनसे सृष्टि नहीं हो सकती, यह कहा, अब जनकके स्वरूपके आलोचनसे भी उनकी सृष्टि नहीं हो सकती, यह कहते हैं—कूटस्थ उक्त आत्मामें विकार ही नहीं है, इसलिए उससे प्रतीयमान प्राणादिकी उत्पत्ति भ्रममात्र है।

शङ्का—यदि उक्त सृष्टि अवास्तविक है, तो श्रुतिने उसे क्यों कहा ?

समाधान—उक्त आत्माके स्वरूपके बोधके लिए, क्योंकि कूटस्थ आत्मामें वास्तविक सृष्टिका संभव नहीं है, अतः मृत्, लोह और विस्फुलिङ्ग द्वारा जो सृष्टि कही गई है, वह आत्मज्ञानका उपाय कहनेके लिए कही गई है; इसलिए उपेयकी प्राप्तिके लिए सृष्टि कल्पित है, वास्तविक नहीं है। सृष्टि वस्तुतः अन्यपरक है, ऐसी व्यवस्था करनेसे इस शङ्काका भी समाधान हो जाता है कि कूटस्थसे कैसे अवास्तविक संसार हुआ और चेतनसे चेतनात्मक कार्य न होकर अचेतनात्मक कैसे हुआ ? निमित्त कारण माननेपर भी यह सन्देह होता है कि साधनरहित ब्रह्मसे सृष्टि कैसे हुई ? एक कारणसे विजातीय अनेक कार्य कैसे हुए ? एवं ईश्वरने अपने लिए सृष्टि की अथवा दूसरेके लिए ? प्रथम पक्षमें आप्तकाम ईश्वरमें कामना ही कैसे हो सकती है ? द्वितीय पक्षमें सृष्टिसे पहले कोई दूसरा था ही नहीं, फिर उसके लिए सृष्टि कैसे ? यदि मान लें कि परार्थ सृष्टि की, तो सुखमयी सृष्टि क्यों नहीं की ? कारण कि ईश्वरको किसीसे भी राग और द्वेष तो है नहीं। सृष्टिको बनानेके लिए ईश्वरमें शक्ति नहीं है, ऐसी शंका तो हो भी नहीं सकती, क्योंकि वह सर्वशक्तिसम्पन्न है। खैर, सृष्टिमें विविध दुःखोंसे प्राणी विकल हैं, यह भी तो ईश्वर प्रत्यक्षसे ही देख रहा है, क्योंकि वह सर्वज्ञ और सर्ववित् है। प्राणियोंका उद्धार करनेकी सामर्थ्य उसमें नहीं है, ऐसा सन्देह करना भी पाप है, क्योंकि दयासागर होनेसे वह दयाशून्य भी नहीं है। कोई वैसा करनेमें विरोधी भी नहीं हो सकता,

अथवा दर्शितं सुप्तावसङ्गत्वं चिदात्मनः ।
जगद्धेतुतयोत्थाने ब्रह्मता तस्य वर्ण्यते ॥ १२७ ॥
अवास्तवत्वात् जगतो नाऽद्वयत्वं विहन्यते ।
दृश्यमज्ञानजत्वेन न वस्तु स्वप्नदृश्यवत् ॥ १२८ ॥
नाऽसतो जन्मना योगः सतः सत्त्वान्न चेष्यते ।
कूटस्थे विक्रिया नाऽस्ति तस्मादज्ञानतो जनिः ॥ १२९ ॥

क्योंकि वह सबसे बड़ा है, उससे बड़ा दूसरा है ही नहीं इत्यादि अनेक प्रकारकी शंकाओंका समाधान हो जाता है ॥१२६॥

इसी तात्पर्यसे लिखते हैं—'**अथवा**' इत्यादि ।

सुषुप्ति अवस्थामें आत्मामें असङ्गत्व स्पष्टरूपसे दिखलाया है और उत्थान-दशामें उसीमें जगत्कारणत्वके प्रदर्शन द्वारा ब्रह्मभाव स्फुट कहा गया है, अतः दो अवस्थाओंका प्रदर्शन आत्मस्वरूपके विवेकके लिए है, वास्तविक सृष्टिका प्रदर्शन करनेके लिए नहीं है । इससे साधारण विद्वानोंको ही यह भ्रम हो जाता है कि यह श्रुति वास्तविक सृष्टिका प्रतिपादन करती है । भाष्यकार आदि महाविद्वानोंने इस विषयका विशद विचार कर कहा है कि सृष्टि-श्रुतिका मुख्य तात्पर्य वस्तुतः आत्मै-कत्वके बोधनमें है, आपाततः प्रतीयमान अर्थमें मुख्य तात्पर्य नहीं है ॥ १२७ ॥

जीव अद्वितीय ब्रह्मसे अभिन्न है, इस बोधकी सिद्धिके लिए प्रपञ्चमें जो मिथ्यात्व सिद्ध किया गया है, उसीका यहां स्मरण कराते हैं—'**अवास्तव०**' इत्यादिसे।

जगत् अवस्तु है, इसलिए ब्रह्ममें अद्वयत्वका विघात नहीं है ।

शङ्का—विश्व तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध है, अतः अवस्तु क्यों ?

समाधान—स्वाप्निक पदार्थ भी तो उस कालमें प्रत्यक्षसिद्ध ही प्रतीत होते हैं, किन्तु प्रबोध-समयमें वे नहीं रहते, अतः वे जैसे मिथ्या ही कहे जाते हैं वैसे ही जगत् भी संसारदशामें व्यावहारिक प्रमाणसे सिद्ध होनेपर भी ब्रह्मज्ञानदशामें नहीं रहता, अतः मिथ्या ही माना जाता है; इसमें यह अनुमान भी प्रमाण है—दृश्यं मिथ्या, अज्ञानजत्वात्, स्वप्नदृश्यवत् ॥१२८॥

'**नाऽसतो**' इत्यादि ।

शङ्का—विश्व अज्ञानजन्य है, इसमें क्या युक्ति है ?

समाधान—युक्ति यह है कि सत् जगत्की उत्पत्ति कहते हो या असत्

वास्तवीं जनिमाहुर्ये तैर्वाच्यं सृष्टिकारणम् ।
प्रधानं परमाण्वादिः प्रवर्तकमपेक्षते ॥ १३० ॥
तत्प्रवर्तक ईशश्चेत् सोऽपि केन प्रवर्तितः ।
लीनत्वात् कामकर्मादि न प्रवर्तयितुं क्षमम् ॥ १३१ ॥

जगत्की ? प्रथम पक्षमें यदि जगत् सत् है, तो फिर उसकी उत्पत्ति कैसी ? उत्पन्न घटकी तो फिर उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। द्वितीय पक्षमें असत् आकाशपुष्प आदिका जन्म नहीं देखा जाता है, अतः उसके समान असत् जगत्की भी उत्पत्ति नहीं बन सकती। कार्यके स्वरूपकी पर्यालोचनासे उत्पत्तिका असंभव दिखलाकर कारणके स्वरूपकी पर्यालोचनासे भी जगत्की उत्पत्तिका असंभव दिखलाते हैं—कूटस्थ आत्मामें क्रियाकृत विकार नहीं हो सकता, अतः अज्ञानसे ही संसारकी उत्पत्ति हुई है; यही समझना चाहिए ॥ १२९ ॥

उक्तार्थको दृढ़ करनेके लिए जगत्कारणवादी सांख्य, नैयायिक आदिके मतका निराकरण करते हैं—**'वास्तवीम्'** इत्यादिसे ।

सांख्य और न्याय मतमें क्रमशः प्रधान और परमाणु जो कारण कहे गये हैं, वह ठीक नहीं है, कारण कि वे अचेतन हैं; चेतनके व्यापारके बिना अकेला अचेतन कार्यकारी कहीं भी नहीं देखा गया है, इसलिए उनका प्रवर्तक कौन है ? उसे कहना चाहिए ॥१३०॥

सांख्यमतमें यद्यपि ईश्वर नहीं माना गया है, तथापि योग और न्याय मतमें ईश्वर माना गया है; अतः तदनुसार ईश्वर ही प्रवर्तक होगा, इसे कहते हैं—**'तत्प्रवर्तक'** इत्यादिसे ।

शङ्का—योग तथा न्यायमतमें जीवसे अतिरिक्त ईश्वर है, अतः ईश्वरके द्वारा प्रवर्तित प्रधान वा परमाणु मतभेदसे जगत्सृष्टिका हेतु हो सकता है ।

समाधान—अच्छा, तो यह कहिये कि प्रधान आदिका प्रवर्त्तक ईश्वर है अथवा उसकी शक्ति ? प्रथम पक्षमें ईश्वर निरपेक्ष होकर प्रवर्तक है अथवा कर्मादिकी अपेक्षा रखकर ? प्रथम पक्षमें सृष्टि सदातन होनी चाहिए, क्योंकि जब निरपेक्ष ईश्वर ही कारण (प्रवर्त्तक) है तब वह अपने व्यापारसे कभी विरत नहीं हो सकता और आपके मतमें कारण और प्रेरक दोनों नित्य ही हैं। द्वितीय पक्षमें प्रथम तो यह विरोध है कि जिसको ईश्वर कहते हो उसे पराधीन भी मानते हो, पर यह हो नहीं सकता, क्योंकि ऐश्वर्य और पारतन्त्र्य ये दो विरुद्ध धर्म एक धर्मीमें कैसे रह सकते हैं ?

शक्तिर्नियामिका चेत्सा केनाऽन्येन नियम्यते ।
अविचारितरम्याऽतः सृष्टिरात्मनि कल्पिता ॥ १३२ ॥

दूसरा दोष यह है कि कामकर्मादिसापेक्ष ईश्वर प्रवर्तक है, ऐसा जो कहते हो, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रलयके समय कामकर्मादि भी लीन हैं, इसलिए वे प्रवर्त्तक ही नहीं हो सकते ॥१३१॥

पहलेके द्वितीय पक्षका अनुवाद कर निराकरण करते हैं—'**शक्ति०**' इत्यादिसे।

ईश्वरकी शक्ति ही प्रवर्त्तक है, यह मानना तो सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि शक्ति स्वयं जड़ है, अतः वह सर्वज्ञ ईश्वरकी प्रवर्तिका है; यह कैसे संभव हो सकता है ? अस्तु, दूसरा दोष यह है कि शक्तिका प्रवर्त्तक कौन है ? चेतन तो स्वयं भी प्रवृत्त हो सकता है, पर अचेतन शक्ति स्वयं प्रवृत्त नहीं हो सकती; इस परिस्थितिमें वह प्रवर्त्तिका कैसे होगी ? और इसपर भी दृष्टि दीजिये कि क्या कार्य और कारणका भेद मानते हो या अभेद ? प्रथम पक्षमें उन दोनोंको भिन्न भिन्न स्थानमें स्थित मानो, तो हिमालय और विन्ध्यके समान उनमें कार्यकारणभाव ही नहीं हो सकता । एवं द्वितीय पक्षको लेकर दोनों एक ही हैं, ऐसा यदि मानो, तो भी कार्यकारणभाव नहीं हो सकता, सिद्ध कारण होता है और असिद्ध कार्य । एक ही कालमें एक ही वस्तुमें सिद्धत्व और असिद्धत्व—ये दोनों विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते । एवं इसपर भी दृष्टि दीजिये कि कार्य क्रियमाण होता है अथवा नहीं ? प्रथम पक्षमें घटादि कार्य जैसे क्रियासे साध्य होते हैं, वैसे ही क्रिया भी तो कार्य है, अतः वह भी क्रियासाध्य होगी एवं उसकी कारण क्रिया भी कार्य है; अतः वह भी क्रियासे साध्य ही होगी, इस प्रकार अनवस्था है । द्वितीय पक्षमें अक्रियमाणको कार्य कहा जाय, तो आत्माको भी कार्य कह सकते हैं, पर ऐसा कहा नहीं जाता, बल्कि क्रियाशून्यको अकारक ही कहते हैं ।

शङ्का—'कालः सर्वस्य कारणम्' इत्यादि वाक्यसे काल ही सृष्टिका कारण है ।

समाधान—यह भी ठीक नहीं है, 'स संवत्सरोऽभवत्' इत्यादि श्रुतिसे काल भी कार्य है, ऐसा प्रतीत होता है, इसलिए अपनी उत्पत्तिसे पहले वह भी नहीं है, अतः वह भी अपनी उत्पत्तिमें असमर्थ है । जब स्वरूपसे ही स्वयं नहीं है, तब उसका सृष्टिके प्रति व्यवस्थापक होना तो दूर ही रहा । अपने रक्षणमें जो असमर्थ है, वह दूसरेकी रक्षा कैसे कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता, यह न्याय लोकमें प्रसिद्ध है ।

शङ्का—यद्यपि कालकी उत्पत्ति अभी नहीं हुई है, तो भी कारणात्मना सत् है अर्थात् काल अपने कारणमें सूक्ष्मरूपसे अवस्थित है, इसलिए विश्वकी उत्पत्तिका व्यवस्थापक अनुत्पन्न कारणात्मा काल भी हो सकता है ।

समाधान—इस विषयमें मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या अपने पितामें जनक-रूपसे स्थित अनुत्पन्न कुलाल घटका उत्पादक हो सकता है ? यदि नहीं, तो फिर काल भी उक्त अवस्थामें कैसे व्यवस्थापक हो सकता है ? काल क्रिया है या द्रव्य ? अन्त्य पक्षमें यदि वह निरवयव विभु द्रव्य है, तो आकाशके समान एक ही होगा फिर उससे भूत, भावी और वर्तमानत्व आदि भेद कैसे बनेंगे ? यह कालका मुख्य प्रयोजन है । प्रथम पक्षमें आदित्यकी गति क्रियात्मक काल ही कही जायगी । आदित्यकी उत्पत्तिसे पूर्व उक्त क्रियात्मक काल है नहीं, अतः वह विश्वोत्पत्तिका व्यवस्थापक कैसे बन सकता है ? न्यायमतमें जो यह व्यवस्था की है कि कार्यभूत द्व्यणुकादि द्रव्य अवयवी हैं, कारणरूप परमाणु आदि द्रव्य अवयव हैं और अवयवी अपने अवयवोंमें समवेत होता है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें भी यह प्रश्न होता है कि अवयवी अपने अवयवोंमें एकदेशसे रहता है या सर्वात्मना ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि आरम्भक अवयव ही एकदेश कहलाता है, वह तो आधार ही है, उससे अतिरिक्त एकदेश अवयवीमें है नहीं, इसलिए एकदेशसे वृत्ति तो असंभव ही है । द्वितीय पक्षमें गुप्तिमें तलवारके समान द्व्यणुक यदि सर्वात्मना परमाणुओंमें प्रविष्ट हो जायगा, तो कार्यमें महत्त्व, स्थूलत्व आदि नहीं हो सकेगा इत्यादि अनेक दोष हैं । विस्तारभयसे अधिक नहीं लिखा । पूर्वोक्त रीतिसे कालादिकृत भी वास्तविक भेद नहीं है ।

शङ्का—यदि वास्तविक भेद नहीं है, तो भेदका प्रत्यक्ष क्यों होता है ?

समाधान—आकाशमें जैसे दिशाओंका भेद कल्पित है; वैसे ही जगत्में भी कल्पित भेद ही प्रत्यक्षका विषय है । एवं जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार आत्मामें कल्पित ही हैं, क्योंकि वस्तुस्वभावको देखनेसे सृष्टिका संभव ही नहीं हो सकता ।

शङ्का—सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश और उनमें क्रम—ये दोनों प्रत्यक्षसे प्रतीत होते हैं, अतएव सृष्टि नहीं है; ऐसा कहना ठीक नहीं है ।

समाधान—वस्तुतः उत्पत्ति आदि तो प्रतिक्षण होते रहते हैं और क्रम भी

तथाप्यैकात्म्यबोधाय श्रुत्या सृष्टिरुदीर्यते ।
बुध्यारोहाय मन्दानां सृष्टौ दृष्टान्त उच्यते ॥ १३३ ॥
अचेतनो यथा तन्तुरूर्णनाभेः सचेतनात् ।
जातश्चिदात्मनस्तद्वत् प्राणलोकाद्यचेतनम् ॥ १३४ ॥
विस्फुलिङ्गा यथा वाऽग्नेर्जायन्तेऽग्निस्वभावकाः ।
तथा सुप्तात्मनो जीवा विज्ञानमयनामकाः ॥ १३५ ॥

अविद्यामूलक है, क्योंकि परमार्थतः जब सृष्टि ही नहीं है, तब क्रम कहांसे आयेगा ? ॥ १३२ ॥

'तथाप्यै०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि सृष्टि अवास्तविक है, तो श्रुतिने उसका प्रतिपादन क्यों किया ?

समाधान—ब्रह्मात्मैकात्म्यके बोधके लिए श्रुतिने सृष्टिका प्रतिपादन किया है, वास्तविक सृष्टिकी सत्ताके बोधनके लिए नहीं किया है, अतः श्रुतिका परम तात्पर्य उक्त अर्थमें ही है, सृष्टिके तात्त्विकत्वमें नहीं है ।

शङ्का—यदि ऐसा ही है, तो सृष्टिका समर्थन करनेके लिए ऊर्णनाभि आदि दृष्टान्तोंका कथन क्यों किया ?

समाधान—मन्दबुद्धियोंको समझानेके लिए उक्त दृष्टान्त कहे गये हैं ॥१३३॥

'अचेतनो' इत्यादि । तार्किकोंका यह दावा है कि कार्यकारणभाव समानशीलोंका होता है । मृत्तिकासे मृद्घट होता है और सुवर्णसे स्वर्णघट होता है, विपरीत नहीं होता । शुद्ध स्वयंप्रकाश ब्रह्मसे अशुद्ध जडात्मक प्रपञ्च कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर देनेके लिए उक्त दृष्टान्त दिये गये हैं—समानशीलोंका ही कार्यकारणभाव होता है, यह नियम नहीं है, क्योंकि जैसे चेतन ऊर्णनाभिसे (मकड़ीसे) अचेतन तन्तु पैदा होता है एवं जैसे अचेतन गोमयादिसे वृश्चिक आदि चेतनकी उत्पत्ति देखी जाती है, वैसे ही चिदात्मासे भी चेतनविलक्षण प्राण आदि अचेतन कार्य उत्पन्न होते हैं, अतः इसमें सन्देहका अवकाश ही नहीं है ॥१३४॥

'विस्फुलिङ्गा' इत्यादि । जैसे अग्निसे विस्फुलिङ्ग अग्निके स्वभाववाले ही उत्पन्न होते हैं, वैसे ही सुप्त आत्मासे उसके स्वभाववाले विज्ञानमय जीव उत्पन्न होते हैं । प्रथम दृष्टान्तसे चेतन लूताकीटविशेषसे अचेतन तन्तुकी उत्पत्ति समझाई गई है । और द्वितीय दृष्टान्तसे (अग्निविस्फुलिङ्गदृष्टान्तसे) चेतनकी उत्पत्ति कही

प्राणाद्युत्पत्तिभिर्जीवाः उत्पन्ना इति विभ्रमः ।
आकाशोत्पत्तिविभ्रान्तिर्यथा कुम्भादिजन्मभिः ॥ १३६ ॥
प्राणाद्युत्पत्तिरप्यत्र भ्रान्तैवेति मतं यदि ।
तथाप्यस्ति विशेषोऽत्र तयोः प्राणादिजीवयोः ॥ १३७ ॥

गई है । इससे समस्वभावोंका ही कार्यकारणभाव होता है, अतः चेतन आत्मासे अचेतन जगत्की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? तथा अन्य साधनसे निरपेक्ष अकेले सुप्त चेतनसे चेतन कैसे होगा ? इत्यादि शङ्काका समाधान हो जाता है । जैसे केवल अग्निसे अग्निस्वभाववाले विस्फुलिङ्गकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही अज्ञानोपहित ब्रह्मसे सब जीवोंकी उत्पत्ति होती है । माध्यन्दिन शाखामें 'सर्व एवात्मानः' ऐसा पाठ है; इसलिए जीवोंकी उत्पत्ति कही गई है ॥ १३५ ॥

'**प्राणाद्यु०**' इत्यादि ।

शङ्का—यदि जीवकी उत्पत्ति मानोगे; तो कृतविनाश और अकृताभ्यागमकी प्रसक्तिरूप दोष होगा याने कृतका—शुभाशुभ कर्मोंका—भोगके बिना नाश मानना पड़ेगा और अकृत कर्मोंका भोग मानना पड़ेगा, क्योंकि यदि जीव अनित्य है; तो जो कर्म कर चुका है, उनका, कर्ताका नाश होनेपर, भोग तो हो नहीं सकता, अतः भोगके बिना ही उनका नाश मानना पड़ेगा । एवं प्राथमिक उत्पत्ति भी कर्मानुष्ठानके बिना ही माननी पड़ेगी, जो सर्वथा अनुचित है । यदि अन्य जीवोंके कर्मोंसे अन्य जीवकी उत्पत्ति मानी जाय, तो मुक्तोंकी भी उत्पत्तिका प्रसङ्ग हो जायगा ।

समाधान—ठीक है, यहांपर यद्यपि वस्तुतः प्राणकी उत्पत्ति विवक्षित है, जीवकी नहीं; तथापि 'जीवा उत्पन्नाः' यह लोगोंको वैसे ही भ्रम होता है जैसे घटकी उत्पत्तिसे उससे अवच्छिन्न आकाशकी उत्पत्तिका भ्रम होता है । वास्तवमें आकाश उत्पन्न नहीं होता । प्रकृतमें भी जीवकी उत्पत्तिका भ्रम है । यदि जीवकी उत्पत्ति मानी जायगी, तो वह विनाशी हो जायगा; ऐसी परिस्थितिमें मोक्षशास्त्र ही व्यर्थ हो जायँगे । अतएव 'उत्पत्त्यसंभवात्' इस वेदान्तसूत्रसे भागवतमतके खण्डनमें जीवोंकी उत्पत्तिका असंभव ही मुख्य हेतु कहा गया है । 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंसे जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, यही निश्चय कराया जाता है; अतः जीवोंकी उत्पत्तिका भ्रम ही है ॥ १३६ ॥

'**प्राणाद्युत्पत्ति०**' इत्यादि ।

स्वरूपतो जन्मतश्च प्राणादिर्भ्रान्तिकल्पितः ।
जीवस्य कल्पितं जन्म स्वरूपं तु न कल्पितम् ॥ १३८ ॥
उद्भूतिस्थितिनाशाः स्युर्जगतोऽस्य प्रतिक्षणम् ।
अविद्यामात्रहेतुत्वान्नाऽमीषां विद्यते क्रमः ॥ १३९ ॥
यस्मादविद्ययैवाऽऽत्मा प्राणक्षेत्रज्ञरूपभाक् ।
स्वतोऽतः स परं ब्रह्म तस्योपनिषदुच्यते ॥ १४० ॥
यद् गुह्यं ब्रह्मणो नाम बोधायोपासनाय वा ।
तत् स्यादुपनिषच्छब्दवाच्यं तच्चाऽत्र बुद्धये ॥ १४१ ॥

शङ्का—अद्वैतमतमें उक्त रीतिसे जब सृष्टि ही परमार्थ सत्य नहीं है, तब प्राणादिकी एवं जीवकी सृष्टि भी भ्रान्त ही होगी । फिर जीव और प्राणमें भेद ही क्या रहा ?

समाधान—जीव और प्राणमें भेद अवश्य है । यद्यपि उनमें उत्पत्ति आदिको लेकर भेद नहीं है, यह कहना ठीक है, तथापि उनमें स्वरूपकृत भेद अवश्य है ॥ १३७ ॥

'स्वरूपतो' इत्यादि । स्वरूपसे तथा जन्मसे प्राण आदि भ्रान्तिसे कल्पित हैं तथा जीवका यद्यपि जन्म कल्पित है, तथापि उसका स्वरूप तो कल्पित नहीं है, क्योंकि उसीका स्वरूप तो परमार्थ सत् है ॥ १३८ ॥

'उद्भूति०' इत्यादि । इस जगत्की प्रतिक्षण उत्पत्ति, स्थिति और नाश होते रहते हैं । इस परिस्थितिमें जगत् ही जब स्थिर नहीं है; तब उसमें क्रम ही कैसे कहा जा सकता है ? क्रम स्थिर वस्तुओंमें होता है, क्षणिकोंमें नहीं होता, क्योंकि क्षणिक पदार्थ तो केवल अविद्यासे ही होते हैं ॥ १३९ ॥

'यस्माद०' इत्यादि । प्राण, जीव और परब्रह्म—ये तीनों पदार्थ उपासनाके लिए अपेक्षित हैं । उनमें ब्रह्म ही परमार्थ सत् है । चूँकि आत्मा अविद्यासे ही प्राण और जीवके स्वरूपको प्राप्त होता है और स्वतः याने उससे अनुपहित ब्रह्म है, अतः ब्रह्मकी उपनिषत् कहते हैं, क्योंकि उपासनाके लिए उपनिषत् (सत्यस्य सत्यम्) आवश्यक है ॥ १४० ॥

'यद् गुह्यम्' इत्यादि । बोधके लिए तथा उपासनाके लिए जो गुह्य (गोप्य) ब्रह्मका नाम है, वह उपनिषत्का अर्थ है, अर्थात् जिस शब्द द्वारा ब्रह्मका चिन्तन

सत्यस्य सत्यमित्येतन्नाम ब्रह्मावबोधकम् ।
प्राणा आपाततः सत्याः सत्यं ब्रह्मैव वस्तुतः ॥ १४२ ॥
असत्यो देह उदित एकजन्मन्युपक्षयात् ।
सत्याः प्राणा लिङ्गरूपा आमोक्षमनुपक्षयात् ॥ १४३ ॥

करनेसे ब्रह्मस्वरूपका साक्षात्कार होता है और उस साक्षात्कारसे आत्माके अज्ञानकी निवृत्ति द्वारा ब्रह्मके स्वरूपकी प्राप्ति होती है, वह उपनिषत् कहलाता है। 'उपनिषत्' शब्दका वाच्य परब्रह्म है। प्रकृतमें उपनिषत्-शब्द ब्रह्मबोधके लिए प्रयुक्त हुआ है ॥ १४१ ॥

'सत्यस्य' इत्यादि । 'सत्यस्य सत्यम्' (सत्यका भी सत्य) यह नाम ब्रह्मतत्त्वके अवबोधके लिए प्रयुक्त है ।

शङ्का—'प्राणा वै सत्यम्' इस श्रुतिमें प्राणका स्पष्ट निर्देश है, इसलिए प्राण भी ब्रह्मके समान सत्य है, अज्ञानकल्पित नहीं है, यह मानना चाहिए ।

समाधान—प्राणको आपाततः सत्य कहा है, जो आगेके श्लोकमें स्पष्ट होगा; अतएव 'तेषामेष सत्यम्' इससे स्फुट निर्देश किया गया है कि प्राण आदिमें आत्मा ही परमार्थ सत्य है, अतः ब्रह्ममें ही वास्तविक सत्यता है, प्राणमें नहीं है ॥ १४२ ॥

'असत्यो' इत्यादि । शरीर असत्य है, क्योंकि एक ही जन्ममें वह नष्ट हो जाता है । उसकी भी अपेक्षा लिङ्गात्मक प्राण सत्य कहलाता है, क्योंकि जबतक मोक्ष नहीं होता, तबतक उक्त प्राण नष्ट नहीं होता । कल्पके आदिसे लेकर कल्पके अन्त तक एक ही लिङ्गात्मा प्राण रहता है । वे ही शुभाशुभ याने स्वर्ग और नरक आदि तथा ऊँच और नीच योनियोंको भोगता है, अतः कल्प तक स्थायी होनेसे शरीर आदिकी अपेक्षा वह प्राण सत्य कहलाता है । वास्तवमें यह प्राण भी सत्य नहीं है, क्योंकि कल्पके अन्त और मोक्षमें उसका भी नाश हो ही जाता है । परमार्थ सत्य तो वह है, जो कल्पान्तमें भी नष्ट न हो अर्थात् जो कालत्रयमें अबाध्य हो । ऐसा तो ब्रह्म ही है, दूसरा पदार्थ ऐसा नहीं है । एवं सकल बाधोंका साक्षी भी ब्रह्म ही है । असाक्षिक बाध माना नहीं जाता । यदि ब्रह्मका भी बाध मानें, तो वह बाध असाक्षिक ही होगा, इससे शून्यवादकी आपत्ति हो जायगी ॥ १४३ ॥

मोक्षेऽप्यक्षीण आत्मा तु सत्यात्सत्य उदाहृतः ।
सत्यस्य सत्यं प्रोवाच ब्रह्म बालाकये नृपः ॥ १४४ ॥
एतद्ब्राह्मणतात्पर्यविचारस्य प्रसङ्गतः ।
कृत्स्नशास्त्रस्य तात्पर्यमिहेदानीं निरूप्यते ॥ १४५ ॥
संसार्येव किमात्मा स्यादुताऽसंसार्यपीश्वरः ।
स चेशो भिद्यते जीवादथवा नहि भिद्यते ॥ १४६ ॥

'मोक्षेऽप्य०' इत्यादि । राजाने बालाकि ब्राह्मणसे यह कहा कि मोक्षमें भी अविनाशी आत्मा तो सत्य प्राणसे भी सत्य है। अभिप्राय यह है कि शुक्तिमें रजतके समान ब्रह्ममें नामरूपात्मक प्राण कल्पित है। जैसे भ्रमदशामें रजत यद्यपि सत् प्रतीत होता है, तथापि उसमें वास्तविक सत्ता नहीं रहती; किन्तु अधिष्ठानभूत शुक्तिमें रहनेवाली सत्तासे रजत सत् कहा जाता है, वैसे ही उक्त प्राण संसारदशामें ब्रह्मसत्तासे ही सत् कहलाता है। उस ब्रह्मसत्तासे अतिरिक्त सत्ता प्राणमें नहीं है । ब्रह्म सत्यका भी सत्य इसलिए कहा जाता है कि उसमें स्वरूपसे ही परमार्थ सत्ता है, प्राणके समान वह अन्यकी सत्तासे सत्य नहीं है ॥ १४४ ॥

'एतद्०' इत्यादि । इस ब्राह्मणका तात्पर्य किसमें है ? इसका निर्णय करनेके लिए प्रवृत्त विचारके प्रसङ्गसे सम्पूर्ण प्रकृत ग्रन्थके तात्पर्यका यहां निरूपण किया जाता है। विचारका अङ्ग संशय है, क्योंकि 'सन्दिग्धे हि न्यायः प्रवर्तते' यह प्रसिद्ध है। संशय यह है कि 'सत्यस्य सत्यम्' यह उपनिषत् (गुह्य) नाम किसका है ? संसारीका अथवा असंसारीका ? यदि कहो कि पाणिपेषणसे प्रबुद्ध संसारी जीवका यह नाम है, तो वही ज्ञेय होगा और उसीके ज्ञानसे मुक्ति मानी जायगी। और हम लोग भी वही ब्रह्मशब्दवाच्य है, संसारी आत्माकी विद्या ही ब्रह्मविद्या है, ऐसा ही मानेंगे। अथवा न्यायतः यदि असंसारी आत्माका उक्त नाम है, तो वही ब्रह्म है, उसकी विद्या ही ब्रह्मविद्या होगी और उसीसे मुक्ति मानी जायगी ॥ १४५ ॥

'संसार्य्येव' इत्यादि । उक्त रीतिसे संसारी आत्मा ब्रह्म है अथवा असंसारी ? ब्रह्म जीवसे भिन्न है अथवा अभिन्न ? यों और भी संशय हो सकते हैं ॥ १४६ ॥

नानारसमभेदेऽपि ब्रह्मैकरसमेव वा ।
सति चैकरसेऽन्योक्तविरोधोऽत्राऽस्ति वा न वा ॥ १४७ ॥
संसार्येवाऽस्ति नेशोऽन्यो यस्मादत्र श्रुतिः स्वयम् ।
सुप्तात् संसारिणो जीवात्प्राणाद्युत्पत्तिमब्रवीत् ॥ १४८ ॥
मैत्रेयी ब्राह्मणेऽप्येवं भार्यादिप्रीतिसूचितम् ।
संसारिणमुपक्रम्य द्रष्टव्यः स इतीर्यते ॥ १४९ ॥

'नानारस०' इत्यादि । अभेदपक्षमें यह विकल्प होगा कि ब्रह्म नानारस है ? या एकरस ? यदि एकरस है, तो उक्त विरोध अर्थात् नानारसकथनके साथ यहाँ विरोध है अथवा नहीं ? यही सब विचारना है ॥ १४७ ॥

'संसार्येवा०' इत्यादि । पहला पक्ष ग्रहण करते हैं---संसारी जीवात्मा ही ईश्वर है, उससे अतिरिक्त ईश्वर है नहीं, कारण कि यहाँ स्वयं श्रुति कहती है---सुषुप्त संसारी जीवसे प्राणादिकी उत्पत्ति हुई । यदि संसारीसे अतिरिक्त ईश्वर होता, तो श्रुति भी उसीसे जगत्की उत्पत्ति कहती । ईश्वरका असाधारण कार्य तो प्राणनिर्माण नहीं है, क्योंकि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुति और 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि सूत्रसे जगत्की उत्पत्त्यादिका कर्ता ही ईश्वर कहा गया है । श्रुति यदि संसारीसे प्राण आदिकी उत्पत्ति स्पष्ट कहती है, तो वही ईश्वर है, अन्य नहीं है, यह मानना चाहिए ॥ १४८ ॥

'मैत्रेयी' इत्यादि । 'न वा अरे भार्यायाः कामाय भार्या प्रिया भवति आत्मनस्तु-कामाय भार्या प्रिया भवति' इत्यादि वाक्योंसे भार्या, पुत्र आदिकी प्रीति द्वारा संसारी आत्माका ही द्रष्टव्यत्वरूपसे मैत्रेयीके प्रति श्रीयाज्ञवल्क्य मुनिने उपदेश दिया है, अन्यका (ईश्वरका) नहीं दिया । यदि संसारी आत्माके ज्ञानसे मुक्ति न मानकर अतिरिक्त ईश्वरके ज्ञानसे मुक्ति मानी जाय, तो मुक्तिकी इच्छासे प्रश्न करनेवाली मैत्रेयीके प्रति उक्त मुनिका वह वचन ही असंगत हो जायगा । अतः संसारी ही आत्मा द्रष्टव्य है, उसीको ईश्वर तथा ब्रह्म भी कहते हैं । इसी अभिप्रायसे संसारीका उपक्रम कर वही द्रष्टव्य है, ऐसा याज्ञवल्क्यने भी कहा है । सब वेदान्तोंमें प्रत्यगात्मा ही द्रष्टव्य कहा गया है, उससे अन्य नहीं, क्योंकि तुमसे हम ब्रह्म कहें, यह प्रतिज्ञा कर राजाने बालाकिको सुप्त पुरुषके पास ले जाकर हाथसे दबाकर उसे जगाया, इससे जीव ही ब्रह्मशब्दवाच्य है ॥१४९॥

न चाऽसौ मुक्त्यवस्थायामसंसारी भविष्यति ।
स्वभावस्याऽन्यथाभावो यस्मान्न क्वाऽपि दृश्यते ॥ १५० ॥
साङ्ख्यादयस्तथेशस्य ह्यभावं बहुयुक्तिभिः ।
आपादयन्ति यत्नेन तेभ्योऽन्यः कोऽधिको धिया ॥ १५१ ॥

'न चाऽसौ' इत्यादि । सुषुप्ति आदि अवस्थाओंसे विशिष्ट जीवसे जगत्के जन्म आदि कहे गये हैं । और मैत्रेयी ब्राह्मणसे उसीमें द्रष्टव्यत्व भी कहा गया है, अतः जीवसे ईश्वर अतिरिक्त नहीं है, इस पूर्वपक्षमें ईश्वरवादी कहता है कि यद्यपि उक्त अवस्थामें आत्मा संसारी ही है, फिर भी मुक्तिदशामें असंसारी हो सकता है, इसका खण्डन करते हैं—स्वभावका अन्यथाभाव कहीं भी नहीं देखा गया है । सारांश यह है कि अन्य अवस्थामें जीव ईश्वर हो जाता है, इस वाक्यका तात्पर्य क्या है ? अन्यजातीय हो जाता है अथवा पूर्वविलक्षण अन्य धर्मसे विशिष्ट हो जाता है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि गमन, शयन आदि अवस्थाओंके विशेषसे गाय कभी भी अश्व नहीं हो सकती, अतएव महाभाष्यकारने परिहास किया है कि 'नहि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवति' (गोह सरकनेके कारण क्या सर्प हो जाती है ?) । ईश्वरवादीके मतमें भी ईश्वरको छोड़कर अन्य हेतुसे उक्त घटना नहीं होती । द्वितीय पक्षमें अग्नि किसी अवस्थामें भी शैत्य गुणसे विशिष्ट नहीं होती, अन्यथा प्रमाण आदि ही अव्यवस्थित हो जायँगे अर्थात् देखनेके समय कुछ और रहेगा और प्रवृत्तिके समय कुछ और मिलेगा । संसार व्यवस्थित है, स्वामिकके समान अव्यवस्थित नहीं है ॥ १५० ॥

'सांख्यादय०' इत्यादि । उक्त न्यायसे जो जागरादि अवस्थाओंसे विशिष्ट स्वापाद्यवस्थाविशिष्ट आत्मा है, वह संसारी ही है, उससे अतिरिक्त ईश्वर नहीं है; अन्यथा ईश्वरके सद्भावमें यह प्रश्न होगा कि ईश्वर देहादिसे युक्त है या उससे रहित है ? प्रथम पक्षमें हम लोगोंकी नाईं वह भी जगत्का कर्ता नहीं हो सकता । द्वितीय पक्षमें भी मुक्तके समान जगत्का कर्तृत्व ही उसमें असंभव है ।

शङ्का—तो क्या जगत् नित्य है ?

समाधान—नित्य नहीं है, किन्तु जीव ही अदृष्ट द्वारा जगत्का कर्ता है, क्योंकि जीवोंके अदृष्टसे सुख, दुःख आदिके उपभोगके लिए ही संसार होता है, अतः जीव ही कर्ता है । इस परिस्थितिमें ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है इत्यादि अनेक युक्तियोंसे ईश्वरके अभावका ही सांख्यादि प्रतिपादन करते हैं ।

एवं प्राप्ते वदामोऽत्र बहुश्रुत्युपजीवनात् ।
असंसारी परोऽस्तीशो यस्य सर्वमिदं वशे ॥ १५२ ॥
यः सर्वज्ञः सर्ववित्च योऽशनायादिवर्जितः ।
यः पृथिव्यामिति तथा नेति नेतीति चाऽऽगमः ॥ १५३ ॥
ब्रह्म ब्रवाणीत्युक्तत्वादत्राऽपि ब्रह्मणः श्रुतिः ।
प्राणाद्युत्पत्तिमाचष्टे न तु संसारिजीवतः ॥ १५४ ॥

शङ्का—सांख्यादिसे भी अधिक जो कोई विद्वान् होगा, वह ईश्वरका समर्थन करेगा ?

समाधान—सांख्यादिसे बुद्धिमें अधिक कौन हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं हो सकता, क्योंकि सांख्याचार्यकी प्रशंसा श्रुतियोंने भी की है। कल्पके आदिमें ही आठों सिद्धियोंसे युक्त विद्वान् कपिल हुए, ऐसा पुराणोंमें भी पाया जाता है। एवं 'विमतो न जगज्जन्मादिहेतुः, तत्राऽसमर्थत्वात्, संसारिवत्, इस अनुमानसे भी ईश्वरमें जगत्कर्तृत्वका अभाव ही सिद्ध होता है, यों यह पूर्वपक्ष प्राप्त हुआ ॥ १५१ ॥

उस बड़े पूर्वपक्षका समाधान करते हैं—**'एवं प्राप्ते०'** इत्यादिसे ।

यद्यपि उक्त रीतिसे ईश्वरका अभाव ही प्राप्त होता है, तथापि अनेक श्रुतियोंके अनुसार जिस ईश्वरके वशमें सारा संसार है, वह असंसारी है, यही पक्ष सयुक्तिक और प्रामाणिक है ॥ १५२ ॥

'यः सर्वज्ञः' इत्यादि । 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः', 'यो ऽशनायापिपासे अत्येति', 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः' और 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियाँ जिस ईश्वरके सद्भावमें प्रमाण हैं वही ईश्वर जगत्का कर्ता है। श्रुतियोंने ईश्वरका स्वरूप सत्य, ज्ञान और आनन्द कहा है ॥ १५३ ॥

'ब्रह्म ब्रवाणी' इत्यादि । जो यह कहा है कि 'एतस्मादात्मनः' इत्यादि श्रुतिसे प्रकृत संसारी आत्माका 'एतत्' शब्दसे निर्देश कर उसीसे प्राणादिकी उत्पत्ति श्रुतिने कही है, ईश्वरसे नहीं, सो ठीक नहीं है, कारण कि 'ब्रह्म तेऽहं ब्रवाणि' इत्यादि राजाके वाक्यसे बालाकिके प्रति ब्रह्म ही प्रक्रान्त है और 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इस श्रुतिमें आकाशशब्दवाच्य ब्रह्मका ही सर्वनाम 'एतत्' शब्दसे परामर्श है; जीवका नहीं, अन्यथा प्रकरण और राजाकी उक्त प्रतिज्ञाका भङ्ग हो जायगा ॥ १५४ ॥

सता सोम्येत्यादिशास्त्रात् सुप्तौ ब्रह्मावशेषतः ।
जगत्सृष्टिर्युज्यतेऽसौ सृष्टिप्राप्त्यात्पुराऽऽत्मनः ॥ १५५ ॥
द्रष्टव्यश्च परात्मैव सर्वमात्मेति वर्णनात् ।
अभेदाभिप्रायतोऽत्र भवेत् संसार्युपक्रमः ॥ १५६ ॥

'सता सोम्ये०' इत्यादि । यदि 'एतत्' शब्दसे सुषुप्त संसारी आत्माका परामर्श करें, तो भी उक्त अवस्थामें दो देहोंके अभिमानसे शून्य अतएव केवल स्वरूपमात्रसे अवशिष्ट उक्त आत्माको अज्ञात ब्रह्मके साथ अभेदकी विवक्षासे जगज्जन्मादिका हेतु कहना युक्त ही है । इस प्रकार अर्थ करनेसे सकल श्रुति और स्मृति आदिसे प्रसिद्ध ईश्वरमें जगज्जन्मादिहेतुत्वका विरोध नहीं होता और विवक्षित जीवब्रह्ममें अभेद भी सिद्ध हो जाता है । अतएव 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' यहांसे आरम्भ कर 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिसे ब्रह्मका लक्षण कहकर 'तस्मात्' इसका अनुकर्षण कर और वहां आत्मशब्दका प्रयोग कर ब्रह्मवाची 'तत्' शब्द और आत्मशब्दके सामानाधिकरण्यसे प्रत्यक् ब्रह्मसे आकाशादिकी सृष्टि कही है । तात्पर्य यह है कि 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' इस श्रुतिसे ज्ञात होता है कि सुषुप्तिकालमें जीव वास्तवमें ब्रह्मभावापन्न हो जाता है, क्योंकि उस कालमें जीवभावप्रयोजक उपाधिभूत देह आदिसे आत्मा रहित रहता है । जैसे घट आदि उपाधिकी विगमदशामें घटाकाश महाकाश-स्वरूपापन्न हो जाता है, वैसे ही उपाधिकी विगमदशामें जीव, वास्तविक स्वरूपापन्न होनेसे, ब्रह्मस्वरूप ही अवशिष्ट रह जाता है, अतः उससे जगत्की सृष्टि कहना युक्त ही है । अन्तःकरण आदि उपाधिकी सृष्टिसे विश्वतैजसत्व आदिकी प्राप्ति होती है; इससे पहले तो कोई भेदक नहीं है, इसलिए इस सृष्टिसे पूर्व प्रतिपादित आत्माकी सृष्टिका तात्पर्य पर आत्मसृष्टिमें ही है ॥ १५५ ॥

'द्रष्टव्यश्च' इत्यादि । जो यह कहा था कि वाक्यशेषमें भोक्ताका उपक्रम कर उसीको द्रष्टव्य कहा है, इससे सूचित होता है कि संसारीसे अतिरिक्त ईश्वर नहीं है, अन्यथा उसीको द्रष्टव्य कहा जाता; सो ठीक नहीं है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—परमात्मा ही द्रष्टव्य कहा गया है, जीव नहीं । जीव तो द्रष्टा है । द्रष्टा ही द्रष्टव्य नहीं हो सकता, अतएव 'सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि वाक्यसे कार्य-

जगत्सृष्ट्यादिसामर्थ्यं नेशादन्यस्य तेन ते ।
साङ्ख्यादयो बुद्धिहीना बुद्धिमन्तश्च तार्किकाः ॥ १५७ ॥

कारणके अभेदकी विवक्षासे निखिल विश्वको आत्मा कहा है । जीव विश्वका कारण नहीं होता है, यह अग्रिम श्लोकमें व्यक्त करेंगे ।

शङ्का—अच्छा, तो उपक्रमोपसंहारके ऐक्यका लाभ करनेके लिए ब्रह्मसे ही उपक्रम करना उचित था, संसारीसे उपक्रम क्यों किया ?

समाधान—जीव और ब्रह्मके अभेदके अभिप्रायसे उक्त उपक्रम हुआ है । जीव तो वस्तुतः ब्रह्म ही है, अतिरिक्त नहीं है, इसलिए उपक्रमोपसंहारके ऐक्यमें कोई क्षति नहीं है ॥ १५६ ॥

'**जगत्सृष्ट्या०**' इत्यादि । ईश्वरसे अतिरिक्तमें जगत्को बनानेकी शक्ति नहीं है, अतएव प्रधानसे जगत्को माननेवाले सांख्यादि बुद्धिसे शून्य ही हैं, बल्कि उनकी अपेक्षा नैयायिकादि बुद्धिमान् हैं, क्योंकि वे लोग ईश्वरसे ही सृष्टि मानते हैं । अभिप्राय यह है कि दुःखी संसारी जीवमें जगत्की रचनाकी सामर्थ्य तथा उसकी अनुकूल सामग्रीके संपादनकी क्षमता कहां ? जैसे हम लोग किञ्चिद्ज्ञ तथा थोड़ी सामर्थ्यवाले हैं; वैसे ही अन्य भी संसारी हो सकता है ।

शङ्का—'एवमेव' इत्यादि श्रुति संसारीसे ही जगत्की उत्पत्ति कहती है, अतः सामर्थ्य आदिके अभावकी आपादक युक्ति आभास है; जैसे जीव और ब्रह्मके अभेदमें श्रुति प्रमाण है, वैसे ही जीवसे संसारकी सृष्टिमें भी उक्त श्रुति प्रमाण है ।

समाधान—शास्त्र अपूर्व शक्तिका उत्पादक नहीं होता, किन्तु विद्यमान शक्तिका केवल ज्ञापक होता है; इसलिए शास्त्र द्वारा संसारीमें उक्त शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती ।

शङ्का—शास्त्र उत्पादक होता है, यह कहना ठीक नहीं है, किन्तु ज्ञापक होता है, यह कहना तो ठीक है, अतः यदि संसारीसे ही जगत्की उत्पत्तिका ज्ञापक शास्त्र होगा, तो भी विवक्षित अर्थकी सिद्धि हो सकती है ।

समाधान—अन्य प्रमाणके साथ विरोध न होनेपर ही शास्त्र ज्ञापक होता है, प्रकृतमें संसारी पुरुषोंमें उक्त सामर्थ्यका अभाव प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध है, इसलिए उस अर्थका शास्त्र ज्ञापक भी नहीं हो सकता ।

शङ्का—अच्छा, उक्त श्रुति और युक्तिसे जीवसे अतिरिक्त ईश्वरको भले

जीवेशभेदमाहुस्ते तस्माज्जीवो महेश्वरम् ।
आराधयेदहं ब्रह्मेत्येवं मत्वा पतत्यसौ ॥ १५८ ॥

ही मानो, किन्तु परस्परकी अपेक्षा न करनेवाले अन्धकार और प्रकाशके समान विरुद्ध स्वभाववाले जीव और ईश्वरका अभेद कैसे हो सकता है ? क्योंकि 'जीवेश्वरौ मिथो भिन्नौ, विरुद्धस्वभावत्वात्, तमःप्रकाशवत्; इस अनुमानसे दोनों स्वतन्त्र तथा भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। इस परिस्थितिमें यदि कोई भी पुरुष 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा मानेगा, तो वह अवश्य अपराधी समझा जायगा। जैसे कोई अमात्य कहे कि हम ही राजा हैं, तो वह अमात्य अवश्य अपराधी अतएव दण्डनीय कहा जायगा, वैसे ही 'अहं ब्रह्मास्मि' यह धारणा भी अनुचित ही है, ऐसा करनेसे प्रत्यवाय होगा। यदि कहो कि उक्त ज्ञानरूप अपराध होनेपर मुक्ति कैसे होगी ? तो इसका उत्तर यह है कि पुष्प, उदकाञ्जलि, स्तुति, नमस्कार, बलिका उपहार, स्वाध्यायाध्ययन, योग आदि द्वारा जगत्के कारण परमेश्वरकी आराधनासे उसको जानकर मुक्त हो सकता है। पञ्चरात्रमें लिखा है—

'परब्रह्मत्वमायाति मत्कर्मपरमः पुमान्' इत्यादि ।
ये संश्रयन्ति तं भक्त्या सूक्ष्ममध्यात्मचिन्तकाः ।
ते यान्ति वै पदं विष्णोर्जरामरणवर्जितम्' ॥ इत्यादि ।

शङ्का—यदि ऐसा मानते हो, तो 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यकी क्या गति होगी ?

समाधान—यह 'आदित्यो यूपः' और 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादिके समान अर्थवाद है, अतएव 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इत्यादि वाक्य भी सङ्गत होते हैं। संपत्तिके आधिक्यसे जैसे यह पुरोहित राजा है, ऐसा केवल व्यवहार होता है, उसका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है, वैसे ही उक्त वाक्योंका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है, अन्यथा प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके साथ विरोध अपरिहार्य्य होगा। उक्त वाक्योंको अर्थवाद माननेसे जीव और ब्रह्मका वस्तुतः भेद ही सिद्ध होगा। अतः ईशिता, ईशितव्य आदि जो भेद तर्कशास्त्र, लोक और न्यायसे सिद्ध हैं, उनके साथ विरोध भी शान्त हो जायगा ॥ १५७ ॥

'जीवेशभेद०' इत्यादि। तार्किकोंने जीव और ईश्वरका भेद कहा है; अतः जीव परमात्माकी उक्त प्रकारसे आराधना करके उसके प्रसादसे उक्त

नैतदेवं ब्रह्मणोऽत्र मन्त्रब्राह्मणमानतः ।
प्रवेशः श्रूयते तस्मान्नाऽस्ति जीवेशयोर्भिदा ॥ १५९ ॥
तत्सृष्ट्वाऽनुप्राविशत्तत्पुरः पुरुष आविशत् ।
इत्यादीन्यत्र वाक्यानि सन्ति ब्राह्मणमन्त्रयोः ॥ १६० ॥

ब्रह्मस्वरूपापत्तिरूप मोक्ष पाता है और 'अहं ब्रह्मास्मि' इस बुद्धिसे उपासना करनेसे तो उक्त अमात्यके दृष्टान्तानुसार वह पतित हो जाता है, इसलिए भेदबुद्धिसे ही उपनिषत्में ईश्वरकी उपासना विहित है; अभेद बुद्धिसे नहीं; यह द्वैतवादियोंका पूर्वपक्ष है ॥ १५८ ॥

इसका उत्तर अद्वैतवादी देते हैं—**'नैतदेवम्'** इत्यादिसे ।

उक्त पूर्वपक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि मन्त्र और ब्राह्मणके प्रामाण्यसे ब्रह्मका ही प्रवेश सृष्टिमें सुना जाता है; अतः जीवेश्वरका परस्पर भेद नहीं है, यही उपनिषत्का सिद्धान्त है ॥ १५९ ॥

'तत्सृष्ट्वा' इत्यादि । 'पुरश्चक्रे' इत्यादिका आरम्भ कर 'पुरः पुरुष आविशत्', 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय', 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते' इत्यादि सकल शाखाओंमें सृष्टिके प्रतिपादक हजारों मन्त्र हैं तथा ब्राह्मणमें भी 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, 'स एतमेव सीमानं विदार्य्य एतया द्वारा प्रापद्यत', 'सेयं देवता....इमा तिस्रो देवता' 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य', 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते', 'एष सर्वभूतान्तरात्मा', 'एकमेवाद्वितीयम्', 'ब्रह्मैवेदम्', 'आत्मैवेदम्' इत्यादि श्रुतियोंसे 'अहं ब्रह्मास्मि' यही धारणा समुचित है। यदि यही शास्त्रार्थ है, तो परमात्मा संसारी है, यह सिद्ध होता है ।

शङ्का—यदि ब्रह्म ही संसारी है, तो शास्त्र और उपदेश—ये दोनों अनर्थक हो जायँगे, यह दोष अतिस्पष्ट है और यदि परमात्मा ही सब भूतोंका अन्तरात्मा है, ऐसा माना जाय, तो सब प्रकारके शरीरोंके सम्बन्धसे जायमान दुःखोंका वही अनुभव करता है, यह प्राप्त होगा; ऐसी परिस्थितिमें पर असंसारी है, इस अर्थकी बोधक श्रुतियाँ तथा स्मृतियां विरुद्ध होंगी । प्राण और शरीरके संबन्धसे जायमान सुख और दुःखोंका अनुभव नहीं करता, ऐसा समर्थन किसी प्रकार नहीं कर सकते एवं परमात्माका न कोई साध्य है और न कोई परिहार्य्य है; फिर उसके लिए उपदेश निरर्थक है ॥ १६० ॥

जीवो ब्रह्मविकारोऽतो ब्रह्म नानारसं ततः ।
बन्धमोक्षव्यवस्थेति केचित् तत्तु न युज्यते ॥ १६१ ॥

इस पूर्वपक्षका कुछ विद्वान् जिस मतसे समाधान देते हैं,उस मतका अनुवाद करते हैं—**'जीवो ब्रह्म०'** इत्यादिसे ।

जीव ब्रह्मका विकार है, अतः ब्रह्म नानारस है। 'समुद्रवीचितरङ्ग' न्यायसे जीव और ब्रह्ममें भेद और अभेद दोनों हैं। भेदांशसे संसारित्वप्रतिपादक श्रुतिकी और अभेदांशसे ऐक्यप्रतिपादक श्रुतिकी उपपत्ति हो सकती है। भाव यह है कि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इस श्रुतिसे अविकृत परमात्मस्वरूपका सृष्टिमें प्रवेश कहा गया है या विकृत स्वरूपका ? प्रथम पक्षका अङ्गीकार करनेसे पूर्वोक्त दोष आते हैं, इसलिए विकार-भावको प्राप्त हुए विज्ञानात्माका ब्रह्मादिसे लेकर स्थावरपर्यन्त भूतयोनिमें प्रवेश हुआ, इस अर्थमें उक्त श्रुतिका तात्पर्य माना जाय, तो कोई दोष नहीं आता। विज्ञानात्मा ब्रह्मसे भिन्न और अभिन्न है। भेदको लेकर बन्ध और मोक्ष आदिका व्यवहार और अभेदांशको लेकर आत्मैकत्वोपदेश दोनों अविरुद्ध हो जाते हैं। जिस अंशसे अन्य है, उस अंशसे 'संसारी' और जिस अंशसे अनन्य है, उस अंशसे 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अवधारण होता है, यों सब अविरुद्ध है ।

समाधान—यहांपर ये विकल्प होते हैं कि क्या विज्ञानात्मा पृथिवीके* समान अनेकद्रव्यसमुदायात्मक सावयव परमात्माका एकदेश-परिणाम है ? अथवा † पूर्व संस्थानावस्थित परमात्माका एकदेश-विकार है ? किंवा ‡ दूधके समान सर्वात्मरूपसे परमात्माका परिणाम है ? प्रथम §कल्पमें जैसे पृथ्वीके

---

* जैसे लोकमें पृथ्वीशब्दसे कहलानेवाला द्रव्य अनेकविध अवयवोंका समुदाय ही है। और घट आदि उसी समुदायात्मक पृथ्वीके एकदेशके परिणाम हैं, वैसे ही परमात्मा भी अनेकविध भूत और भौतिक द्रव्योंका समुदाय है, उसीका एकदेश-विकार जीव है, यह प्रथम कल्पका भाव है ।

† जैसे अवयवी भूमिका ऊषर आदि देश उसीका विकार कहलाता है अथवा जैसे पुरुषके केश, नख आदि पुरुषके विकार कहलाते हैं, वैसे ही जीव भी अवयवीभूत परमात्माका एकदेश-विकार है, यह द्वितीय कल्पका भाव है। पूर्व कल्पमें अवयवी विकृत होता है और इस कल्पमें अविकृत रहता है, इस प्रकार दोनों कल्पोंमें विलक्षणता है ।

‡ जैसे क्षीर अथवा सुवर्ण दधिके रूपमें या कटकके रूपमें सर्वात्मना परिणत होते हैं, वैसे ही परमात्मा भी सर्वात्मना जीवके रूपमें परिणत होता है, यह तृतीय कल्पका भाव है ।

§ सारांश यह है कि यदि परमात्मा अनेक द्रव्योंका समुदायरूप मान लिया जाय,

घटकेशदधीनीव विकारो भवतीति यः ।
युतसिद्धः पृथिव्यंशो मृत्पिण्डो घटतां व्रजेत् ॥ १६२ ॥
केशस्त्वयुतसिद्धांशः पलितत्वं समश्नुते ।
क्षीरं सर्वं दधि भवेद्भवेद् ब्रह्म न तु त्रिधा ॥ १६३ ॥

कुछ अंशका परिणाम घट बन जाता है, वैसे ही समानजातीय अनेकद्रव्यसमुदायका कुछ अंश विज्ञानात्माका स्वरूप बन जाता है, यह मानना होगा। इस परिस्थितिमें ब्रह्ममें वस्तुतः एकत्व नहीं है, किन्तु उसमें रहनेवाली जातिके एकत्वसे एकत्व है, यों औपचारिक ही एकत्व माना जायगा, ऐसा माननेमें सिद्धान्तविरोध होगा। द्वितीय पक्षमें सर्वदा भिन्नरूपसे अवस्थित अवयवोंमें अनुस्यूतरूपसे रहनेवाले अवयवी परमात्माका एकदेश जीवात्मा संसारी है, ऐसा माननेपर भी सब अवयवोंमें अनुस्यूतरूपसे रहनेवाला अवयवी परमात्मा अपने अवयवभूत विज्ञानात्माके गुण वा दोषसे मुक्त नहीं हो सकेगा अर्थात् जीवके गुण और दोषसे परमात्मामें भी गुण और दोषका प्रसङ्ग हो जायगा, यह भाव है। इसलिए यह द्वितीय कल्प भी समुचित नहीं है। क्षीरके समान परमात्माका सर्वात्मना जीवके रूपमें परिणाम होता है, यह तृतीय कल्प भी अयुक्त है, क्योंकि इस पक्षमें 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्', 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः', 'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः', 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'स वा एष महानजः', 'आत्माऽजरोऽमरोऽमृतः', 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' और 'अव्यक्तोऽयम्' इत्यादि सब श्रुतियां विरुद्ध हो जायँगी, इसलिए ये तीनों पक्ष श्रुति, स्मृति और न्यायसे विरुद्ध हैं। यही विषय अग्रिम श्लोकोंसे भी स्फुट किया जायगा ॥ १६१ ॥

'घटकेश०' इत्यादि। घट, केश और दधिके समान अर्थात् विकृत अवस्थावाले मृत्पिण्डका विकार घट है, अविकृत अवस्थावाले अवयवीके विकार केश, नख आदि हैं और दूधका सर्वात्मना परिणाम दधि है, इस प्रकार जिन तीन परिणामोंको क्रमशः पहले कह चुके हैं, उनके समान जीव परमात्माका विकार है। उनमें जैसे युतसिद्ध पृथिवीका अंश मृत्पिण्ड घटस्वरूप होता है ॥ १६२ ॥

'केशस्त्व०' इत्यादि। जैसे केश, नख आदि अयुतसिद्धांश समय आनेपर

अथवा अन्योऽन्यसापेक्ष द्रव्य परमात्मा मान लिया जाय, तो अनेक द्रव्यात्मक परमात्मामें मुख्य एकत्व नहीं हो सकेगा अर्थात् एक ही परमात्मा है, यह पक्ष सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि समुदाय समुदितसे भिन्न है या अभिन्न है? यों विकल्पपरम्पराके प्रसङ्गसे एकत्वका निर्णय नहीं हो सकेगा, इससे वेदान्तसिद्धान्तके साथ विरोध होगा।

कूटस्थत्वान्निरंशत्वाद् ब्रह्मणो नाऽस्ति विक्रिया ।
दिव्यो ह्यमूर्त्त इत्यादिश्रुतिवाक्यसहस्रतः ॥ १६४ ॥
विस्फुलिङ्गश्रुतेर्जीवो ब्रह्मांशः संसरेद्यदि ।
तर्ह्यंशस्फुटनाद् ब्रह्म संयुज्येत व्रणेन तत् ॥ १६५ ॥
अकायमव्रणं चेति श्रुतिर्व्रणनिषेधिनी ।
स्वप्नसंसारवत् तस्मात् जीवसंसार इष्यताम् ॥ १६६ ॥

शरीरमें ही वृद्धावस्थासे श्वेत हो जाते हैं और जैसे क्षीर सर्वात्मना दधिरूप हो जाता है; वैसे ब्रह्मका जीवरूपमें त्रिविध परिणाम नहीं हो सकता ॥ १६३ ॥

'कूटस्थत्वा०' इत्यादि । ब्रह्म निरंश तथा कूटस्थ है, इसलिए उसमें विकार नहीं हो सकता । परिणामी पृथिव्यादि सांश और अकूटस्थ हैं, इसलिए उनका परिणाम होता है। ब्रह्म तो उनसे विलक्षण है, इसलिए उक्त त्रिविध परिणाम ब्रह्मका नहीं हो सकता । उक्त स्वभावमें 'दिव्योऽह्यमूर्त्तः' इत्यादि पूर्वोक्त हजारों श्रुतियाँ प्रमाण हैं । यदि जीवको ब्रह्मका एकदेश मानियेगा, तो संसारका ही अभाव हो जायगा एवं जीवका स्वर्गादिमें गमन भी नहीं हो सकेगा । यदि जीवका गमन मानेंगे, तो परमेश्वरमें भी गति माननी पड़ेगी, क्योंकि पटावयवके चलनेसे पटमें जैसे गति मानी जाती है, वैसे ही परावयव जीवकी गतिसे परमें भी गतिका स्वीकार अनिवार्य हो जायगा ॥ १६४ ॥

'विस्फुलिङ्ग०' इत्यादि । अग्निसे स्फुटित अग्निका एकदेश जैसे विस्फुलिङ्ग कहा जाता है, वैसे ही ब्रह्मसे स्फुटित ब्रह्मका एकदेश विज्ञानात्मा जीव कहलाता है; यह भी कल्पना ठीक नहीं है, कारण कि ब्रह्मका एकदेश यदि ब्रह्मसे फूटकर पृथक् जीव होगा, तो ब्रह्म व्रणसे संयुक्त हो जायगा, पर श्रुतियोंमें ब्रह्म अव्रण कहा गया है । और जहां ब्रह्मके अवयवभूत जीवका गमन होगा, वहां ब्रह्मके अवयवमें उपचय (शोथ) होगा, क्योंकि ब्रह्म सर्वव्यापक है, अतः उससे शून्य देश तो कोई हो ही नहीं सकता । अग्नि तो अव्यापक है, अतः उसका विस्फुलिङ्ग अनग्निदेशमें प्राप्त होता है । वैसा यहाँ हो नहीं सकता, इसलिए जहांसे अवयव निकलेंगे, वहां क्षति हो जायगी और जहाँ संसरण करेंगे, वहां अवयव अधिक संयुक्त हो जायँगे और उन अवयवोंसे ब्रह्मको हृदयशूलके समान दुःख हो जायगा ॥ १६५ ॥

'अकाय०' इत्यादि ।

शङ्का—विस्फुलिङ्गश्रुतिके प्रामाण्यसे ब्रह्ममें व्रण भी मान सकते हैं।

समाधान—'अकायमव्रणम्' इत्यादि श्रौत वचनके अनुसार जब ब्रह्ममें शरीरसम्बन्ध ही नहीं है, तब व्रणकी क्या सम्भावना? अव्रणमें अकाय भी हेतु है, यही श्रुति ब्रह्ममें व्रणका निषेध करती है।

शङ्का—उक्त रीतिसे ब्रह्म यदि एकरस है, तो उससे अभिन्न जीवमें संसारकी प्रतीति कैसे होगी?

समाधान—गज आदिके न रहनेपर भी स्वप्नमें जैसे गज आदिकी प्रतीति होती है, वैसे ही परमार्थतः संसारके न रहनेपर भी भ्रमात्मक संसारकी प्रतीति होती है।

शङ्का—यदि अग्निविस्फुलिङ्गादि दृष्टान्तसे ब्रह्मका परिणाम जीव है, यह मानते हो, तो ब्रह्मको परिणामी और जीवको परिणाम मानना पड़ेगा, इस परिस्थितिमें दोनोंमें अनित्यताकी आपत्ति हो जायगी।

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि शास्त्र-प्रामाण्यसे जीवमें नित्यत्व आदि भी मानेंगे, शास्त्र यथास्थित वस्तुका ज्ञापकमात्र है, कारक नहीं है, यह अनेक बार कह चुके हैं। अतएव प्रमाणसिद्ध पदार्थको कोई भी प्रमाण अन्यथा नहीं कर सकता।

शङ्का—यदि प्रमाणसिद्ध ही पदार्थका शास्त्र ज्ञापक है, ऐसा मानते हो, तो शास्त्रकी क्या आवश्यकता? बोध्य पदार्थ ज्ञापक प्रमाणसे ही बुद्ध हो जायगा?

समाधान—मूर्त या अमूर्त जो पदार्थ जिस प्रमाणसे सिद्ध होता है, उसीके दृष्टान्तसे तज्जातीय अपूर्व पदार्थ भी शास्त्र-प्रमाणसे मनाया जाता है, उससे विपरीत नहीं, इसलिए शास्त्र आवश्यक है। अग्नि अत्यन्त शीत है, इसको हजारों दृष्टान्त देकर इन्द्र भी सिद्ध नहीं कर सकते।

शङ्का—अन्य प्रमाणसे विरोध रखनेवाला भी प्रमाण अद्वैतवेदान्ती मानते हैं, क्योंकि 'हम ईश्वर नहीं हैं' इस प्रत्यक्ष प्रमाणके विरुद्ध 'तत्त्वमसि' इस शब्द-प्रमाणसे जीव और ईश्वरके अभेदका बोध माना ही जाता है।

समाधान—औपनिषद पुरुष प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका विषय ही नहीं है, क्योंकि 'अहं गौरः कृशः' इत्यादि प्रत्यक्षाभासके समान ही उक्त प्रतीति भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि जब जीवका ही वास्तविक प्रत्यक्ष संसारदशामें नहीं होता, तब ईश्वरका प्रत्यक्ष कहां? प्रतियोगी और अनुयोगीके प्रत्यक्षके बिना उसके भेदका प्रत्यक्ष असंभव ही है, प्रत्यक्षगोचर पद और उसके अर्थका अनादर कर आगममात्रसे कोई

विस्फुलिङ्गाद्युपन्यासः क्षेत्रज्ञपरमात्मनोः ।
ऐकात्म्यप्रतिपत्त्यर्थो न जीवं भेत्तुमर्हति ॥ १६७ ॥
मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा ।
उपायः सोऽवतारायेत्याहुरागमवेदिनः ॥ १६८ ॥

अर्थ कोई पुरुष नहीं जान सकता । कल्पित द्वैत प्रत्यक्षादिका विषय है, उसके अगोचर अद्वैतमें आगम ही प्रमाण हो सकता है, अन्य नहीं; अतः उक्त वाक्यमें प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोध नहीं हो सकता । सारांश यह निकला कि लोकप्रसिद्ध अग्निविस्फुलिङ्ग आदि दृष्टान्तोंसे अंशांशित्वकी कल्पना समुचित नहीं है, कारण कि निष्कलत्व, अद्वयत्व आदिकी प्रतिपादक श्रुतिके साथ विरोध व्यक्त है, अतः दृष्टान्त-श्रुति उक्त प्रमाणविरुद्धार्थकी बोधक नहीं हो सकती ॥ १६६ ॥

'विस्फुलिङ्गा०' इत्यादि ।

शङ्का—उक्त विस्फुलिङ्गादिदृष्टान्तसे यदि अंशादिभाव विवक्षित नहीं है, तो फिर क्या विवक्षित है ?

समाधान—क्षेत्रज्ञ परमात्माका ऐक्य विवक्षित है अर्थात् विस्फुलिङ्ग अग्नि ही है, उससे अतिरिक्त नहीं, ऐसा लोकमें जैसे व्यवहार देखा जाता है, वैसे ही जीव भी ब्रह्म ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, इसी अर्थका बोध करानेके लिए उक्त दृष्टान्त हैं, इसलिए परमात्माके विकारांशके वाचक शब्द परमात्माके साथ जीवका ऐक्य है, ऐसे ज्ञानके उत्पादनके लिए प्रयुक्त हुए हैं । उपक्रमोपसंहारसे यही अर्थ सब श्रुतियोंसे प्रतीत होता है । सब उपनिषदोंमें प्रथम एकत्वकी प्रतिज्ञा कर दृष्टान्त और हेतुओंसे जगत् परमात्माका अंश (विकार) है, ऐसा प्रतिपादन कर फिर एकत्वका उपसंहार किया है । जैसे यहींपर 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (यह सब आत्मा है) ऐसी प्रतिज्ञा कर उत्पत्ति, स्थिति और लयके हेतुमें दृष्टान्तसे विकार-विकारित्वादि एकप्रत्ययहेतुत्वका प्रतिपादन कर 'अनन्तरमबाह्यम्' 'अयमात्मा ब्रह्म' ऐसा उपसंहार करेंगे । इस कारणसे उपक्रमोपसंहार द्वारा यह अर्थ निश्चित होता है कि परमात्मैकत्वप्रत्ययको दृढ़ करनेके लिए ही उत्पत्ति, स्थिति और लयके बोधक वाक्य हैं; अन्यथा वाक्यभेद हो जायगा ॥ १६७ ॥

उक्त अर्थमें श्रीगौड़पादाचार्यकी कारिकाका उदाहरण देते हैं—'मृल्लोह०' इत्यादिसे ।

विस्फुलिङ्गो यथोत्पत्तेः पूर्वमग्न्यात्मकस्तथा ।
क्षेत्रज्ञः सृष्टितः पूर्वं परमात्मैव नाऽपरः ॥ १६९ ॥
भ्रान्त्या क्षेत्रज्ञता भाति बोधादेषा निवर्तते ।
इत्यत्र राजपुत्रस्य व्याधता स्यान्निदर्शनम् ॥ १७० ॥
राजपुत्रो रोगवशादुन्मत्तः सन् वनं गतः ।
चिरं व्याधगृहे स्थित्वा व्याधोऽस्मीत्यभिमन्यते ॥ १७१ ॥
उन्मादशान्तावप्येष न तां सस्मार राजताम् ।
अभिज्ञः कश्चिदागत्य स्मारयामास राजताम् ॥ १७२ ॥

मृत्तिका, लोह और विस्फुलिङ्ग आदि दृष्टान्तोंके द्वारा जो सृष्टि पूर्वमें कही गई है, वह वस्तुतः सृष्टि है नहीं; किन्तु स्वप्नके समान वह केवल प्रतीत होती है । वह आत्मैकत्वके बोधके उपायकी अवतरणिका है, यों शास्त्रमर्मज्ञोंका कथन है । जैसे मृत्तिकाका घटादि विकार वस्तुतः मृदादिस्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं है, वैसे ही ब्रह्मविकार जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है, इसीमें उक्त दृष्टान्तोंका तात्पर्य है ॥१६८॥

'विस्फुलिङ्गो' इत्यादि । जैसे उत्पत्तिसे पूर्व विस्फुलिङ्ग अग्निस्वरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, वैसे ही सृष्टिसे पूर्व क्षेत्रज्ञ जीव भी परमात्मस्वरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है ॥ १६९ ॥

'भ्रान्त्या०' इत्यादि ।

शङ्का—संसार भ्रमकल्पित है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस अर्थमें श्रुतिका अनुग्राहक कोई दृष्टान्त नहीं है ।

समाधान—भ्रान्तिसे क्षेत्रज्ञता प्रतीत होती है और तत्त्वबोधसे वह निवृत्त हो जाती है, इसमें राजव्याधका पूरा दृष्टान्त है, यह संप्रदायको जाननेवाले आचार्योंका उदाहरण है ॥ १७० ॥

'राजपुत्रो' इत्यादि । कोई युवा चक्रवर्ती राजाका पुत्र था, वह व्याधि आदिके योगसे उन्मत्त होकर वनमें चला गया । वनमें उसे अकेला देख व्याधोंने पकड़ लिया और अपने घरमें रक्खा । चिरकाल तक व्याधके घरमें वास करनेके कारण राजपुत्र भी व्याधका कर्म करने लगा और अपनेको व्याध मानने लगा, क्योंकि चिरकालके व्याधोंके सहवाससे उसमें राजपुत्रके संस्कार नष्ट हो गये थे ॥ १७१ ॥

'उन्माद०' इत्यादि । कुछ समयके बाद शुभ औषधका सेवन करनेसे

ततो राज्येऽभिषिक्तः सन् व्याधतां नैव मन्यते ।
ब्रह्मण्येवं योजनीयौ बन्धमोक्षौ प्रकल्पितौ ॥ १७३ ॥
ब्रह्मैवाऽविद्यया देहं प्राप्य रागादिदोषतः ।
सदसत्कर्मजन्मादिबन्धमात्मन्यमन्यत ॥ १७४ ॥

उन्माद रोग निवृत्त हो गया और वह प्रकृतिस्थ हो गया तथा पूर्व क्षत्रियत्व जातिके संस्कारके प्रादुर्भावसे यद्यपि व्याधस्वभावसे उपरत हो गया फिर भी स्वजातिका पूरा स्मरण न होनेके कारण अपनेको व्याध ही मानता था। किसी समय राजपुत्रके पिताके सुहृद् मन्त्रीको किसी तरह यह पता लगा कि राजपुत्र अमुक वनमें व्याधोंके साथ व्याधस्वभावमें है। मन्त्रीने जाकर देखा कि इस बालकमें क्षत्रिय जातिके धर्म और परिपालन आदि कर्म—इन दोनोंका सद्भाव है और चक्रवर्ती राजा होनेके लक्षण भी पाये जाते हैं। देखनेके बाद वह इस नतीजे पर पहुँचा कि यही वस्तुतः वह राजपुत्र है। यह निश्चय कर उस पुरुषसे बोला कि आप अपनेको जैसा समझते हैं, वस्तुतः वैसे आप नहीं हैं, किन्तु अतिश्रेष्ठ राजपुत्र हैं, किसी तरह व्याधोंके नगरमें आकर उनके साथ रह गये हैं। यह सुनकर राजपुत्र अपने स्वरूपका परिचय पाकर, व्याधस्वभावाभिमानको छोड़कर अपनेको राजपुत्र मानकर पुनः अपने नगरमें आया और प्रजाओंसे सम्मानित हुआ।

'ततो राज्ये०' इत्यादि। वह युवा राजपुत्र पिताका सिंहासन पाकर अपने राज्यमें अभिषिक्त होता है और अपने को वस्तुतः क्षत्रिय राजा मानता है, शबर नहीं मानता, इसी प्रकार ब्रह्ममें भी कल्पित बन्ध और मोक्षकी योजना करनी चाहिए अर्थात् ब्रह्म ही अविद्यारूप दोषोंसे भ्रान्त होकर अपनेको जीव मानता है। 'तत्त्वमसि' आदिके उपदेशसे अपनेको ब्रह्मस्वरूप मानकर जीवभाव और बन्धादि संसारका त्यागकर अपने स्वरूपको प्राप्त होता है। शबरके घरमें निवास करनेसे राजपुत्रत्वकी प्राप्तिमें तथा सांसारिक जीवभावसे पुनः ब्रह्मत्वकी प्राप्तिमें ज्ञान-जन्य प्रतिबन्धक अज्ञानरूप दोषके ध्वंससे अतिरिक्त उपाय कर्तव्यस्वरूपसे अपेक्षित नहीं है, यह स्पष्ट है ॥ १७३ ॥

'ब्रह्मैवा०' इत्यादि। ब्रह्म ही स्वगत अविद्यासे देहधारण कर राग, द्वेष,

नित्यकर्मविपाकेन रागाद्यपगमे सति ।
गुरुशास्त्रोपदेशेन ब्रह्मत्वं स्वस्य बुध्यते ॥ १७५ ॥

मोह आदि दोषों द्वारा सदसत् कर्मोंसे अर्थात् विहितानुष्ठान और निषिद्धाचरण आदिसे शुभाशुभ जन्मरूप बन्ध अपनेमें स्वयं मानता है ।

दो शरीरोंका अभिमान करनेवाला 'अहं कर्ता, भोक्ता, स्थितः' ऐसा जो मानता है और अधिकारी है, उसके प्रति तत्त्ववित् गुरुका यह कर्तव्य है कि वास्तविक परिस्थितिपर उसका ध्यान दिलावे अर्थात् विविध योनियोंमें निरन्तर परिभ्रमण करता हुआ संसारी पुरुष अनेक जन्ममें संचित सुकृतसे किसी समय तत्त्ववित् गुरुके चरणोंका दर्शन पाता है और शम-दमादि-सम्पत्ति-प्रभृति चार साधनोंसे सम्पन्न होनेपर सब कर्मोंका त्याग कर देता है । उक्त स्वभाववाले मुमुक्षु पुरुषरत्नको तत्त्वज्ञ गुरु यों तत्त्वका उपदेश दे कि तुम अपनेको जैसा समझ रहे हो कि मैं संसारी कर्ता, भोक्ता और ब्रह्मसे भिन्न हूँ, वैसे तुम नहीं हो; किन्तु साक्षात् असंसारी स्वयंप्रकाश ब्रह्मस्वरूप हो । उक्त राजपुत्रके समान तुम अपने वास्तविक स्वरूपपर यदि ध्यान दोगे, तो सकल सांसारिक दुःखोंसे विमुक्त नित्यानन्दब्रह्मस्वरूप ही अपनेको समझोगे । इसीको हृदयंगम करानेके लिए श्रुतिमें अग्निविस्फुलिङ्ग आदि दृष्टान्त दिये गये हैं । जैसे विस्फुलिङ्ग अग्निसे पृथक् होनेके पहले अग्नि ही था, वैसे ही सृष्टिमें आनेके पहले तुम भी ब्रह्म ही थे, उससे भिन्न नहीं थे, अतः जीव और ब्रह्मका एकत्व दृढ करनेके लिए ही उक्त दृष्टान्त हैं, उत्पत्ति आदि द्वारा भेदका प्रतिपादन करनेके लिए नहीं हैं; अतएव सैन्धवघनके समान एकरस ब्रह्म कहा गया है । 'य इह नानेव पश्यति' इत्यादिसे भेदकी निन्दा भी की गई है, इसलिए हर एक वेदान्तमें उत्पत्ति, स्थिति और लयकी कल्पना आत्मैकत्वको दृढ़ करनेके लिए ही कही गई है, यह अनायास प्राप्त होता है । यदि ऐसा न होता, तो निरवयव असंसारी परमात्मामें अंशान्तर और संसारित्वका प्रतिपादन करना अत्यन्त अनुचित होता । अतः उक्त शिष्यके प्रति उन दृष्टान्तों द्वारा गुरुको आत्मैकत्वका उपदेश ही करना चाहिए ॥१७४॥

शङ्का—क्या गुरुके उपदेशसे शिष्यको आत्मैकत्वका ज्ञान हो जायगा ?

समाधान—'**नित्यकर्म०**' इत्यादिसे ।

चित्तमें विद्यमान राग, द्वेष और मोह—ये ज्ञानकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक दोष हैं,

जीवन्मुक्तिं ततः प्राप्य स्वस्य बन्धं न मन्यते ।
इत्थं बन्धस्य मिथ्यात्वाद् ब्रह्मैकरसमेव हि ॥ १७६ ॥
अपूर्वानपराद्युक्तेः प्रज्ञानघनशब्दतः ।
भेददृष्ट्यपवादाच्च ब्रह्मैकरसमिष्यताम् ॥ १७७ ॥

उनकी निवृत्तिका कारण नित्यकर्मानुष्ठान है, अतः नित्यकर्मानुष्ठानके परिपाकसे तत्त्व-ज्ञानकी उत्पत्तिके प्रतिबन्धक राग आदि दोषोंकी निवृत्ति होनेपर गुरु और शास्त्रके 'तत्त्वमसि' आदि उपदेशसे शिष्य अपनेको ब्रह्मस्वरूप समझता है। अतएव 'ज्ञान-मुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' इत्यादि वचन तथा 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इत्यादि श्रुति एवं 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते' इत्यादि भगवद्वचन भी अनायास संगत होते हैं ॥ १७५ ॥

'जीवन्मुक्तिम्' इत्यादि । आत्मैकत्वज्ञान दो प्रकारका होता है—एक परोक्ष और दूसरा अपरोक्ष । पहला आत्मैकत्वज्ञान निर्विचिकित्स शाब्द-ज्ञानात्मक है, जो गुरु और शास्त्रके उपदेश द्वारा प्राप्त होता है । इसी ज्ञानके होनेपर मुमुक्षु जीवन्मुक्त कहा जाता है । इस अवस्थामें बन्धका भान होनेपर भी उसमें मिथ्यात्वदृष्टि होनेके कारण अधिकारी अपनेको वस्तुतः बद्ध नहीं समझता । जैसे मिथ्या धनसे अपनेको कोई वस्तुतः धनी नहीं समझता, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए । द्वितीय अपरोक्ष ज्ञान देहपातसे पूर्वक्षणमें होता है, जिसके विषयमें कहा है—

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥'

'विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः' (विद्वान्—आत्मैकत्वसाक्षात्कारवान्—नामरूपात्मक बन्धसे मुक्त हो जाता है), 'अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः' (द्वैताभावो-पलक्षित आत्मस्वरूप ही मोक्ष पदार्थ है) इत्यादि । अतएव 'निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः' इत्यादि वचन भी सङ्गत होते हैं । इस सारे प्रपञ्चसे निष्कर्ष यह निकला कि उक्त अग्निविस्फुलिङ्गादि दृष्टान्त अभेदके प्रतिपादनके लिए ही हैं, सृष्टिके प्रतिपादनके लिए नहीं हैं ॥ १७६ ॥

इसीमें साधक हेतु कहते हैं—**'अपूर्वा०'** इत्यादिसे ।

'तत्त्वमसि' आदि वाक्य ऐक्यपरक हैं और सृष्ट्यादिके प्रतिपादक वाक्य उसके

केचिदेकरसे तत्त्वे विरोधं मानमेययोः ।
बहुधा चोदयन्त्यत्र पण्डितम्मन्यतां गताः ॥ १७८ ॥

शेष हैं, इसलिए अन्यपरक सृष्ट्यादिबोधक वाक्योंके अनुसार जीव और ईश्वरमें अंशांशिभावकी कल्पना अयुक्त है, अन्यथा अन्य श्रुतिके साथ विरोध स्पष्ट ही है। यदि समुद्रतरङ्गादिन्यायसे जीव और ईश्वरमें अंशांशिभाव श्रुति द्वारा विवक्षित होता, तो 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह', 'तदेतदपूर्वमनपरम्', 'प्रज्ञानघन एव' इत्यादि वाक्योंसे 'ब्रह्म वाणी और मनसे अतीत है', ऐसा प्रतिपादन न किया जाता, क्योंकि सविशेष तो वाङ्मनोगोचर ही है; अतएव 'प्रज्ञानघन एव' यह विशेष-रूपसे एवकारसहित प्रयोग किया गया है। एवं 'यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' इत्यादि वाक्योंसे अशेष विशेषका स्पष्ट निषेध किया गया है। अतएव 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इत्यादि वाक्योंसे भेदकी निन्दा की गई हैं। निन्दा त्यागके लिए होती है, अतः भेद विवक्षित नहीं है, किन्तु एकरस अद्वितीय ब्रह्म ही विवक्षित है, यह स्पष्ट है। इसलिए उक्त दृष्टान्त सृष्टिका प्रतिपादन करनेके लिए नहीं हैं, बल्कि एकत्वकी प्रतिपत्तिके लिए ही हैं; इसकी उपपत्ति पूर्वमें कर चुके हैं ॥ १७७ ॥

'केचिदेक०' इत्यादि। वास्तवमें पण्डित तो हैं नहीं, किन्तु अपनेको जबरदस्ती पण्डित माननेवाले बहुतसे लोग चिदेकरस ब्रह्म माननेमें प्रमाण, प्रमेय आदि भावोंका विरोध उपस्थित करते हैं। यद्यपि इस प्रकारकी शङ्काओंका अनेक बार उत्तर दिया जा चुका है कि व्यावहारिक भेद मानकर व्यवहारदशामें उक्त व्यवहार करनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है और परमार्थदशामें जब व्यवहार ही नहीं है, तब उसके साथ विरोधका प्रसङ्ग ही नहीं हो सकता, तथापि दूसरे प्रकारसे उत्तर देनेके लिए पुनः उसका उत्थान हुआ है। भाव यह है कि उक्त दृष्टान्तसे ब्रह्ममें अंशांशिभावकी विवक्षा न हो तो न सही, पर उपादानभूत मृत्तिका जैसे सावयव होती है, वैसे ही जगत्का उपादानभूत ब्रह्म भी सावयव होना चाहिए।

शङ्का—अच्छा तो इस विषयमें हम पूछते हैं कि क्या स्वतः अंशांशिभावकी कल्पना करते हो या परतः ?

समाधान—प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, कारण कि निरंश असंसारी आत्माका स्वतः अंशांशिभाव ही असंभव है। द्वितीय पक्षमें भी यह प्रश्न होता है कि

क्या उक्त भेद कल्पित है या अकल्पित ? इस कल्पके प्रथम पक्षमें कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि कल्पित देह आदि उपाधिके भेदसे संसारित्वकी कल्पना अद्वैतवादियोंको इष्ट ही है, क्योंकि वह सत्य नहीं है, मृषा है। द्वितीय पक्ष तो असंभव ही है, क्योंकि जब ब्रह्मातिरिक्त कोई सत्य ही नहीं है तब अकल्पित उपाधिभेद आवेगा ही कहांसे ? यद्यपि 'अहं कर्ता, अहं भोक्ता' इत्यादि बुद्धि लोकमें व्यवहारदशामें पायी जाती है, तथापि अविवेकियोंकी वह बुद्धि मिथ्या है। मिथ्या बुद्धिसे किसी पदार्थकी सिद्धि नहीं होती।

शङ्का—क्या विवेकियोंको भी ऐसी बुद्धि होती है ?

समाधान—हां, होती है, किन्तु व्यवहारमात्रके लिए, अतः उनकी भी वह बुद्धि मिथ्यात्मक ही है। 'पश्वादिभिश्चाऽविशेषात्' इत्यादि वाक्यसे व्यवहारमें विवेकियोंकी बुद्धि भी अविवेकी पुरुषकी बुद्धिके समान मिथ्या ही होती है, ऐसा भाष्यकारने स्पष्ट ही कहा है। अतएव 'नील आकाशः' यह बुद्धि विवेकियोंको भी संसारदशामें होती है, परन्तु उसके अनुसार आकाश नीला नहीं माना जाता; इसलिए पण्डितोंको ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्तिके विषयमें अंशांशित्व, एकदेशैकदेशित्व और विकारविकारित्वकी कल्पना नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकारकी कल्पनाओंके निराकरणके लिए ही सब उपनिषत् हैं, अतः सम्पूर्ण कल्पनाओंका त्याग-कर आकाशके समान आत्माको निर्विशेष ही मानना चाहिए। इस अर्थमें 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' इत्यादि श्रुतियां प्रमाण हैं। ब्रह्मसे विलक्षण आत्माकी कल्पना वैसी ही अत्यन्त अनुचित और उपपत्ति-शून्य है, जैसी उष्णात्मक वह्निके एकदेशमें शीतात्मकत्वकी कल्पना या प्रकाश-मय सूर्यके एकदेशमें अन्धकारमयत्वकी कल्पना अत्यन्त अनुचित और उपपत्ति-शून्य है; अतः असंसारी आत्मामें सब व्यवहार नामरूपोपाधिनिमित्तक ही होते हैं। 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव', 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते' इत्यादि मन्त्रवर्णोंसे भी उक्त अर्थ ही स्फुट होता है। आत्मामें स्वतः संसारित्व नहीं है, किन्तु जपाकुसुमके सन्निधानसे स्फटिक मणिमें जैसे रक्त गुण औपाधिक प्रतीत होता है, वास्तविक प्रतीत नहीं होता, वैसे ही संसारिधर्मवाले अन्तःकरण आदि उपाधिके सन्निधानसे आत्मामें संसार-धर्मकी प्रतीति होती है, स्वतः नहीं; क्योंकि 'ध्यायतीव लेलायतीव', 'न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान्', न कर्मणा लिप्यते पापकेन', 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तम्', 'शुनि चैव श्वपाके च'

सर्वाद्वैतं बोधयेत् चेदधीतोपनिषत् तदा ।
स्वप्रामाण्यं कर्मकाण्डप्रामाण्यमपि हन्त्यसौ ॥ १७९ ॥
गुरुशास्त्राद्यभावेन स्वप्रामाण्यमसम्भवि ।
निषेधविध्यभावेन कर्मकाण्डेऽप्यमानता ॥ १८० ॥

इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंसे परमात्मा असंसारी है, यही अर्थ माननीय है । अतः एकदेशविकार आदिकी कल्पना असंगत ही है । जब उक्त रीतिसे सब उपनिषदोंका तात्पर्य्य आत्मैकत्वमें ही है, तब भेद आदिकी कल्पना सर्वथा असंगत ही है ॥ १७८ ॥

शङ्का—विज्ञानका भेद माननेसे ही कर्मकाण्डके प्रामाण्यके विरोधका परिहार होता है, अन्यथा नहीं होता, इसलिए विज्ञानका भेद मानना आवश्यक है, इस आशयसे कहते हैं—**'सर्वाद्वैतम्'** इत्यादि ।

यदि एकात्ममात्र जगत्को निर्विकार असङ्ग उदासीन चैतन्यस्वरूप मानो, तो कोई पुरुषार्थ भी नहीं हो सकेगा, इस परिस्थितिमें कर्मकाण्डके विधि और निषेध निर्विषयक ही हो जायँगे । केवल कर्मकाण्डका ही वैयर्थ्य नहीं होगा, किन्तु जब आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वभाव है, तब उसमें बन्धकी सम्भावना न होनेके कारण उसकी निवृत्तिके लिए वेदान्त भी व्यर्थ ही हो जायँगे । इसी बातको कहते हैं—यदि अधीत उपनिषत् सर्वाद्वैतका बोध कराती है, तो वह स्वकीय प्रामाण्यको और कर्मकाण्डके प्रामाण्यको भी नष्ट करती है, क्योंकि वस्तुतः बोध्यबोधकभाव भेदघटितमें ही होता है । यदि उक्त भेद नहीं होगा, तो प्रमाणप्रमेयभाव कैसे होगा ? इससे कर्मकाण्डके प्रामाण्यका विघात भी स्पष्ट ही है ॥ १७९ ॥

'गुरुशास्त्रा०' इत्यादि । ऐकात्म्यपक्षमें यथार्थतत्त्वको जाननेवाले गुरु और तत्त्वको न जाननेवाले शिष्यकी व्यवस्था नहीं हो सकती तथा बन्ध और बद्धकी भी व्यवस्था नहीं हो सकती अर्थात् ऐकात्म्यपक्षमें गुरु एवं शिष्य तथा बन्ध और बद्ध हो ही नहीं सकते । इस अवस्थामें यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि किस बद्धकी मुक्तिके लिए उपनिषत्का आरम्भ है ? क्योंकि बन्धके नाशके लिए ही उपनिषत्का आरम्भ है । जब बन्ध वस्तुतः है नहीं तब उपनिषत् निर्विषय ही होगी ।

एवं 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इत्यादि कर्म-काण्डके विधि-निषेध-बोधक उपदेश भी व्यर्थ ही हैं, क्योंकि अधिकारीके लिए उपदेश सार्थक होता है। अधिकारीके न होनेसे उपदेश भी व्यर्थ ही होता है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि 'तम और प्रकाशके समान' परस्पर विरोधी कर्मकाण्ड और उपनिषत्—ये दोनों प्रमाण तो हो ही नहीं सकते, इसलिए 'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः' इस न्यायके अनुसार दोमें से किसी एकका प्रामाण्य मान सकते हैं। इसमें भी यदि उपनिषत्को प्रमाण मानते हैं, तो केवल कर्म-काण्डका ही प्रामाण्य नहीं चला जायगा, किन्तु उपनिषत्का भी प्रामाण्य चला जायगा, क्योंकि भेदके बिना प्रमाणप्रमेयभाव हो ही नहीं सकता, ऐसी परिस्थितिमें कर्मकाण्डको ही प्रमाण मानना चाहिए। कर्मकाण्ड भेदाश्रित है, भेदके सिद्ध होनेपर गुरु-शिष्य आदिका भी लाभ हो सकेगा एवं उसके द्वारा उपनिषत् भी प्रमाण हो सकेगी। और आत्माके एकत्वका प्रतिपादन करनेवाली उपनिषदें केवल अपने प्रामाण्यकी तथा कर्मकाण्डके प्रमाण्यकी विघातक ही नहीं हैं, किन्तु प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे विरुद्ध भी हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण स्वरूपसे ही द्वैतका ग्रहण करते हैं, इसलिए उपनिषदोंको अप्रमाण माननेमें ही कल्याण है।

शङ्का—आखिर उपनिषत् भी तो वेद ही हैं, उनको सर्वथा अप्रमाण मानना भी तो ठीक नहीं है।

समाधान—अच्छा, तो उन्हें अन्यार्थक मानिये अर्थात् प्रलयादिदशामें भी अद्वैत आत्मा अवशिष्ट रहता है, ऐसा उपनिषदोंका तात्पर्य है अथवा सजातीय अद्वैतमें उनका तात्पर्य है याने ब्रह्मके समान दूसरा नहीं है, इस अर्थमें उपनिषदोंका तात्पर्य है। अनेकेश्वरवाद तो माना नहीं जाता, अतः द्वैतनिषेधमें उपनिषदोंका तात्पर्य नहीं है, यह पूर्वपक्ष है।

समाधान—'प्रमाणत्वं प्रमोत्पादनिमित्तम्, अप्रमाणत्वं प्रमोत्पादानिमित्तम्' अर्थात् जिससे प्रमा उत्पन्न होती है, वह प्रमाण है और जिससे प्रमा उत्पन्न नहीं होती, वह अप्रमाण है। यदि प्रमाका अनुत्पादक भी प्रमाण माना जाय, तो स्तम्भ आदि भी शब्दादिके प्रमेयमें प्रमाण क्यों न कहे जायँ? प्रकृतमें ध्यान दीजिये—उपनिषत्से आत्मैकत्वकी प्रमा होती है या नहीं? यदि प्रथम पक्ष माना जाय, तो उपनिषत् अप्रमाण कैसे हो सकती है। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है,

क्योंकि वह अनुभवविरुद्ध है, अतः आपका उक्त कथन 'अग्नि शीत है' इस कथनके समान ही होनेसे अनुपादेय है ।

शङ्का—उपनिषत्में अनुत्पादकत्वरूप अप्रामाण्य न सही, पर निष्प्रयोजनत्व-रूप अप्रामाण्य है ही ।

समाधान—अग्निदाहका फल जैसे फोड़ा होता है और उदकपानका फल जैसे तृषानिवृत्ति होती है, वैसे ही आत्मैकत्वज्ञानका फल बन्धविनाश स्पष्ट है, अतः निष्प्रयोजनत्वरूप अप्रामाण्यकी शङ्का नहीं हो सकती । जो यह आक्षेप किया था कि स्वार्थका विघातक होनेसे उपनिषत् अप्रमाण है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उपनिषद्-वाक्यसे आत्मैकत्वकी प्रतिपत्ति होनेमें बाध नहीं है । यदि उक्त वाक्यसे एक अद्वैत ब्रह्म है और नहीं भी है, ऐसा बोध होता, तो स्वार्थका पक्षमें विघात हो सकता, सो तो होता है नहीं । अतः 'अग्निरुष्णः शीतश्च' यह वाक्य जैसे स्वार्थका विघातक है, वैसा उक्त वाक्य नहीं है । अभ्युपगमवादको लेकर यह कहा कि उक्त वाक्यसे विरुद्ध अर्थोंकी प्रतीति नहीं होती, इसलिए वह अप्रमाण नहीं है। परमार्थतः 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवाऽर्थं बोधयति' इस न्यायसे एक वाक्यका एक ही अर्थ माना जाता है, दो अर्थ नहीं । यदि दो अर्थ माने जायँ, तो वाक्यभेद हो जायगा । एकवाक्यताका संभव होनेपर वाक्यभेद मानना बड़ा भारी दोष है, इसलिए उपनिषदें आत्मैकत्वपरक तथा स्वार्थविघातक भी हैं, इस प्रकार अर्थोंका संभव ही नहीं है, क्योंकि वाक्यसे प्रमाज्ञान माननेवालोंके मतमें एकवाक्य विरुद्ध और अविरुद्ध दो अर्थोंका प्रतिपादक नहीं हो सकता । शास्त्रकारोंका यह समय—संकेत—है कि 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं विभागे साकाङ्क्षं स्यात्' इस न्यायसे एकार्थता एकवाक्यत्वमें प्रयोजक है । कोई भी उपनिषद्-वाक्य ब्रह्मैकत्वका प्रतिषेध नहीं करता । जो 'अग्निरुष्णः शीतश्च' इत्यादि लौकिक वाक्य है, उसमें एकवाक्यता नहीं है, किन्तु उसमें जो अग्नि उष्ण है, ऐसा एकदेशवाक्य है, वह प्रत्यक्षप्रमाणसे प्राप्त उष्णत्वका अनुवाद करता है । 'अग्निः शीतः' यह एक दूसरा वाक्य है ।

शङ्का—शीत अग्नि तो प्रमाणान्तरसे सिद्ध नहीं है ।

समाधान—शिशिर कालमें हिमप्रदेशमें अग्नि भी शीत प्रतीत होती है अथवा जाड़ेमें अधिक शीतकीकी निवृत्ति पूर्णरूपसे न होनेपर अग्निमें शीत-शब्दका प्रयोग किया जाता है; अतएव

मेयं चाऽद्वैतवस्त्वत्र सर्वमानैर्विरुध्यते ।
भिन्ना रूपादिविषया मीयन्ते चक्षुरादिभिः ॥ १८१ ॥

'शैशिरोऽग्निर्भवेच्छीतस्तथोष्णः पार्थिवो भवेत् ।
भिन्नार्थत्वावबोधित्वाद् वाक्ययोर्न विरुद्धता ॥'

इत्यादि अन्यत्र विस्तार है । 'अग्निरुष्णः' यह वाक्य अन्य प्रमाणसे उत्पन्न अनुभवका स्मारक है, स्वयं अर्थका बोधक नहीं है, अतः 'अग्निः शीतः' इसके साथ एकवाक्यता नहीं है । और जो यह कहा था कि कर्मकाण्डके प्रामाण्यका विघात करनेवाला उपनिषद्-वाक्य है, सो भी ठीक नहीं है, कारण कि उक्त उपनिषदोंका आत्मैकत्व अर्थ है, कर्मकाण्डके प्रामाण्यका निषेध अर्थ नहीं है । और न वे इष्ट अर्थकी प्राप्तिमें साधनका उपदेश ही करती हैं और न उसमें पुरुष-प्रवृत्तिको ही रोकती हैं, क्योंकि ऐसा माननेसे अनेकार्थकत्व दोष प्रसक्त हो जायगा । यह भी नहीं है कि कर्मकाण्डवाक्य स्वार्थमें प्रमाका उत्पादक न हो, इसलिए असाधारण स्वार्थमें प्रमोत्पादक वाक्य अन्यसे विरुद्ध क्यों होगा ?

शङ्का—ब्रह्म ही एक है, दूसरा कुछ भी नहीं है, ऐसा माननेसे कर्मकाण्ड ही निर्विषय हो जाता है; फिर उससे प्रमा कैसे उत्पन्न होगी ?

समाधान—प्रमा तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है । यदि उपनिषद् ब्रह्मैकत्वकी बोधक होगी, तो 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः', 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि विधिनिषेधबोधक वाक्योंसे जायमान प्रमा न होगी, यह अनुमान है । प्रत्यक्षके साथ विरोध होनेपर अनुमान प्रमाण नहीं माना जाता, यह सबका सिद्धान्त है, इसलिए यह अत्यन्त असत् कहते हो कि प्रमा ही नहीं होती ।

शङ्का—अद्वैत ब्रह्म शास्त्रका प्रमेय ही नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण-प्रमेयभाव द्वैतमें ही होता है, जैसे घट प्रमेय है, अतः घटविषयक प्रत्यक्ष या तज्जनक चक्षु आदि प्रमाण कहा जाता है । प्रकृतमें ब्रह्मसे अतिरिक्त जब कुछ है ही नहीं, तब प्रमाण क्या होगा ? ॥ १८० ॥

इसीको कहते हैं—**'मेयं चा०'** इत्यादिसे ।

अद्वैत वस्तु शास्त्रकी प्रमेय है, यह कहना समस्त प्रमाणोंसे विरुद्ध है । लोकमें रूपादि विषय और उनके ग्राहक चक्षु आदि प्रमाण परस्पर भिन्न देखे जाते हैं । अभेदमें प्रमाणप्रमेयभाव कहीं भी नहीं देखा जाता, इसलिए यदि ब्रह्म ही एक परमार्थ वस्तु है, अन्य वस्तु नहीं है, तो यह स्पष्टरूपसे सिद्ध होता है कि

नानाऽऽत्मानोऽनुमीयन्ते सुखदुःखव्यवस्थया ।
आगमेनाऽपि गम्यास्ते ग्रामकामादिभेदतः ॥ १८२ ॥
प्रत्यक्षेणाऽनुमानेन शास्त्रेणाऽपि विरुद्धताम् ।
एवमुद्भावयन्त्येते ब्रह्मैकत्वप्रदूषकाः ॥ १८३ ॥

ब्रह्ममें कुछ प्रमाण नहीं है एवं प्रमाण, प्रमाता और प्रमेय (देवदत्तादि प्रमाता, शब्द प्रमाण और घटादि प्रमेय)—ये तीन जैसे शब्दादिप्रमाणमें स्पष्टरूपसे देखे जाते हैं वैसे ही उपनिषत्प्रमाणमें भी उनका होना आवश्यक है, परन्तु एक वस्तु होनेपर वे हो नहीं सकते, इसलिए उपनिषत् प्रमाण ही नहीं है अथवा अद्वैत उसका प्रमेय नहीं है, यही मानना चाहिए ॥ १८१ ॥

'नानाऽऽत्मानो' इत्यादि । संसारमें कोई प्राणी सुखी है और कोई दुःखी है, ऐसा प्रत्यक्षसे देखा जाता है, यह प्रत्यक्षदृष्ट व्यवहार आत्माके भेदके बिना नहीं हो सकता । आगमसे भी ग्रामकामनादिभेद द्वारा आत्माका भेद सिद्ध होता है । 'ग्रामकामः सांग्रहिण्या यजेत' इत्यादि विधिवाक्य ग्रामकामीके प्रति ही उसके साधन यागका उपदेश देता है, सबके प्रति नहीं । एकात्मवादमें सुख और दुःख आदिकी व्यवस्था, ग्रामादिकामना और उसके अभाव आदिका समर्थन नहीं हो सकता; अतः प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि प्रमाणके साथ विरोध होनेसे उपनिषत् एकात्मवस्तुका प्रतिपादन करती है, यह कथन युक्तिसङ्गत नहीं है ॥ १८२ ॥

'प्रत्यक्षेणा०' इत्यादि । एक ही ब्रह्म परमार्थ सत् है, इस सिद्धान्तमें दूषण देनेवाले प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—इन तीनों प्रमाणोंके विरोधका उद्भावन करते हैं । जन्म, मरण, सुख, दुःख आदिके भेदसे आत्मा भिन्न-भिन्न है, यही प्रत्यक्षसे सिद्ध होता है। आत्माको एक माननेमें परस्पर विरुद्ध उक्त धर्म एकमें कैसे रह सकेंगे । सुख, दुःख आदिके तारतम्यसे उसके कारण अदृष्टमें भी तारतम्य माना जाता है । अदृष्टका तारतम्य पुरुषभेदके बिना नहीं हो सकता, इसलिए पुरुष अनेक हैं, ऐसा मानना आवश्यक है । सत्त्व, रज, और तम—इन तीन गुणोंके न्यूनाधिकभावसे अवस्थान द्वारा अर्थात् कोई पुरुष सात्त्विक होता है, कोई राजस होता है और कोई तामस होता है इत्यादि गुणभेदसे भी पुरुषभेद प्रत्यक्षसिद्ध है । आगम भी आत्माके भेदका अवलम्बन करता है—पुरुषके भेदसे कामनाओंका भेद और कामनाके भेदसे अधिकारीका भेद,

नैष दोषोऽप्रमाणत्वं कदोपनिषदो वद ।
बोधात् प्रागथवा पश्चान्न प्राक्तद्वैत्वसम्भवात् ॥ १८४ ॥
गुरुशास्त्रादयः सन्ति बोधात् पूर्वमबाधिताः ।
अबोधसंशयभ्रान्तिशङ्का नाऽस्त्यप्रमा कुतः ॥ १८५ ॥

अधिकारीके भेदसे उपायका भेद इत्यादि मानकर ही कर्मकाण्ड सविषयक होता है; अन्यथा उक्त शास्त्र ही निर्विषय हो जायगा । एवं उपनिषद् भी बद्ध, मुक्त, गुरु, शिष्य आदिके भेदके बिना अनुपपन्न है, अतः आत्मभेद आवश्यक है, इस परिस्थितिमें आत्मैकत्व उपनिषद्का अर्थ नहीं हो सकता ॥ १८३ ॥

उक्त सारे पूर्वपक्षका समाधान करते हैं—**'नैष दोषो'** इत्यादिसे ।

उपनिषत् यदि आत्मैकत्वका प्रतिपादन करेगी, तो उसमें अप्रामाण्यकी प्रसक्ति हो जायगी, इस प्रकार आपका आक्षेप है, उसमें प्रश्न यह होता है कि अप्रामाण्यकी प्रसक्ति किस अवस्थामें आप कहते हैं ? उपनिषत्के अर्थके बोधके पहले या पीछे ? प्रथम पक्षमें उक्त अर्थके बोधके पहले भेदभासक अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हुई है, अतः द्वैत भासमान ही है, इसलिए गुरु, शिष्य आदि पूर्वके समान अनुवृत्त ही हैं, अतः प्रमाण, प्रमेय आदि भाव पूर्वके समान अनायास ही सिद्ध होते रहेंगे, क्योंकि उसका निवर्तक तो आत्मैकत्वज्ञान ही है, सो अभी हुआ ही नहीं है, इसलिए आपका उक्त आक्षेप ही निर्बीज है ॥ १८४ ॥

'गुरुशास्त्रा०' इत्यादि । आत्माके बोधसे पहले पूर्ववासनाके अनुसार गुरु, शिष्य आदिका प्रवाह अबाधितरूपसे चलता ही है, इससे उक्त अर्थके बोधके पहले उनका बाध हो ही नहीं सकता, क्योंकि उनका बाध करने-वाला उक्त ज्ञान ही माना जाता है, वह तो अभी हुआ ही नहीं है । एवं अबोध, संशय और भ्रान्तिकी शङ्का न होनेके कारण उपनिषत्में अप्रमात्व कैसे हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि जो वाक्य व्युत्पन्नको भी अपने अर्थका बोध नहीं करा सकता, उसीमें अबोधकत्वरूप अप्रामाण्य होता है; जैसे 'दश दाडिमानि षडपूपाः' इत्यादि, 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादिके समान संशयोपादक वाक्यमें निश्चयबोधाजनकत्वरूप अप्रामाण्य होता है एवं जो विपर्ययशङ्कासे कलंकित बोधका जनक होता है, उसमें भी निश्चयबोधाजनकत्वरूप अप्रामाण्य होता है । प्रकृतमें वे तीनों अप्रामाण्यके प्रयोजक नहीं हैं, इसलिए उक्त उपनिषत्

बोधादूर्ध्वं च नैष्फल्यादमात्वं किं भवेच्छ्रुतेः ।
मानान्तरविरोधाद्वा मेयस्याऽसम्भवादुत ॥ १८६ ॥
संसारानर्थहानाख्ये वेदान्तज्ञानजे फले ।
प्रत्यक्षेणाऽनुभूतेऽत्र नैष्फल्यं कथमुच्यते ॥ १८७ ॥

अप्रमाण नहीं हो सकती। वे सब अप्रामाण्यके प्रयोजक दोष प्रायः पौरुषेय वाक्यमें ही हुआ करते हैं। यदि शब्दमें स्वतः कोई दोष होता, तो वह अप्रमात्मक बोधका उत्पादक हो सकता, पर वैसा है नहीं, किन्तु वक्ताके दोषके संक्रमणसे वह अयथार्थ बोधका जनक होता है। नित्य अतएव निर्दोष वेदमें तो किसी भी प्रकारसे दोषकी संभावना ही नहीं हो सकती, इसलिए प्रकृतमें अप्रमात्वशङ्का सर्वथा अयुक्त ही है ॥ १८५ ॥

उपनिषत्में अप्रामाण्यके हेतुओंका अभाव है, ऐसा उपपादन करते हैं— **'बोधादूर्ध्वम्'** इत्यादिसे ।

संसारदशामें जब तक उपनिषदोंका व्यवहार होता है, तब तक वे बाधित नहीं होतीं और व्युत्पन्न पुरुषको श्रवणके बाद अपने अर्थका बोध कराती हैं, अतः उनमें अबोधकत्वरूप अप्रामाण्यकी शङ्का ही नहीं हो सकती। आत्मज्ञानके बाद अप्रमात्व आदिका विचार ही निष्फल है। प्रमात्वादिका विचार असंदिग्ध प्रवृत्तिका निदान माना जाता है, अर्थकी प्राप्तिके अनन्तर अर्थात् उपेयकी प्राप्तिके बाद उसके उपायमें प्रमात्वादिका विचार निष्प्रयोजन है, इसलिए उपनिषत्में अप्रामाण्यकी शङ्का नहीं हो सकती। श्लोकार्थ यह है कि ज्ञानके बाद उपनिषत् अप्रमाण है, ऐसी शङ्का करनेवालेके प्रति यह प्रश्न होता है कि क्या उक्त अर्थमें अन्य प्रमाणके साथ विरोध है ? अथवा श्रुतिप्रतिपाद्य तथाभूत प्रमेय ही नहीं है ? ॥ १८६ ॥

'संसारानर्थ०' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि अद्वैत ब्रह्मके ज्ञानके बाद द्वैतसमुदायमें मिथ्यात्वबुद्धि होनेके कारण विहित आदि कर्म तथा उनके फलोंमें स्पृहा नहीं होती, अतएव जिसको ब्रह्मज्ञान हुआ है, वह किसीमें प्रवृत्त नहीं होता। उसके लिए सभी प्रकारके विधि आदि अप्रवर्तक होनेसे निष्फलके समान ही हैं। इष्ट और अनिष्टमें अप्रवर्तक और अनिवर्तक वाक्य प्रमाण नहीं माने जाते। एवं प्रकृतमें अद्वैतोपनिषत् अपने वाक्यार्थका श्रावण ज्ञान कराकर पुरुषको किसमें प्रवृत्त करावेगी ? अर्थात् किसीमें नहीं, कारण कि परमार्थतः ब्रह्मभिन्न कोई है

नहीं। प्रवृत्तिके बिना फल नहीं हो सकता। इसलिए निष्फल जलताडन आदिके बोधक वाक्यके समान उपनिषद्-वाक्य भी अप्रमाण है, यह आक्षेप सर्वथा अयुक्त है। हां, यह कहना ठीक है कि निष्फल बोधका जनक वाक्य प्रमाण नहीं होता, परन्तु फल प्रवर्तक वाक्यके ज्ञानसे ही होता है, यह नियम नहीं है, क्योंकि फल दो प्रकारका होता है—एक क्रियासाध्य और दूसरा ज्ञानसाध्य। प्रथम तो अनुष्ठेय अर्थके बोधक प्रवर्तक वाक्यसे ही होता है, इसमें विवाद नहीं है। द्वितीय अप्रवर्तक अतएव वस्तुतत्त्व-ज्ञापक वाक्यसे होता है—जैसे 'नाऽयं सर्पः रज्जुरेषा' (यह सर्प नहीं है, किन्तु रस्सी है)। यह वाक्य यद्यपि अनुष्ठेयरूपका प्रकाशक नहीं है, तथापि रज्जु-तत्त्वका ज्ञापक होनेसे भय, कम्प आदिके निवर्तन द्वारा सप्रयोजन और प्रमाण है; एवं सांसारिक दुःखसे दुःखित पुरुषके प्रति 'न त्वं संसारी अपि तु ब्रह्मस्वरूपः' (तुम संसारी जीव नहीं हो, किन्तु ब्रह्म हो) यों कहनेसे वह अपने स्वरूपको जाननेकी चेष्टा करता है। बोधक 'तत्त्वमसि' आदि उपनिषत् संसारके कारण अविद्या आदि दोषकी निवर्तक और आत्मैकत्वज्ञानकी उत्पादक होनेके कारण परम पुरुषार्थ फलको देनेवाली है। वेदान्तसे जानने योग्य आत्माके ज्ञानका फल मोक्ष है, यह श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदिमें सुप्रसिद्ध है—'तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्य्यश्च' इत्यादि आर्ष (ऋषिका) प्रत्यक्ष भी उक्त अर्थमें मूल है; फिर उपनिषत् निष्फल है, यह कैसे कहते हो? यदि कर्तव्य अर्थका उपदेशक नहीं है, इसलिए उसे निष्फल कहते हो, तो क्या कर्तव्य अर्थके बोधक सब वाक्य सप्रयोजन होते हैं? यदि हां, तो 'स्वर्ग-कामः चैत्यं वन्देत जलं वा ताडयेत्' इत्यादि कर्तव्यार्थबोधक वाक्य भी प्रमाण हो जायँगे। यदि नहीं, तो क्यों नहीं?

समाधान—ये पौरुषेय वाक्य हैं; वक्ताको उक्त कर्ममें उक्तफलसाधनत्वका ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए वाक्य उक्तार्थमें प्रमाण नहीं हो सकते।

शङ्का—ईदृशार्थक अपौरुषेय वाक्य ही क्यों प्रमाण माने जाते हैं?

समाधान—ठीक है, अपौरुषेय वाक्य कर्तव्यार्थक हो या अकर्तव्यार्थक हो, उसे प्रमाण मानना ही चाहिए। उपनिषत् अकर्तव्यार्थ होनेपर भी प्रमाण ही है।

शङ्का—फिर भी इष्टसाधनत्वके बिना उपदिष्ट अर्थमें श्रोताकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए शास्त्रसे कर्तव्यार्थका ही उपदेश होना चाहिए।

समाधान—प्रथम इसपर ध्यान दीजिये कि फल दो प्रकारका होता है—

किमेकविषयत्वेन किं वा विषयभेदतः ।
विरोधः शङ्क्यते तत्र नैकार्थ्येऽस्ति विरुद्धता ॥ १८८ ॥

एक क्रियासाध्य और दूसरा ज्ञानसाध्य। प्रथम पक्षमें तो आपका कहना समुचित है; परन्तु द्वितीय पक्षमें ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे रज्जुमें किसीको सर्पभ्रान्ति हो गई और भय, कम्प आदिसे विकल हो गया, उसके प्रति यदि यह कहा जाय कि यह सर्प नहीं है, किन्तु रज्जु है और इस कथनसे उसका भय, कम्प आदि निवृत्त हो जाय, तो क्या यह वाक्य निष्फल है, ऐसा कह सकते हो ? यदि नहीं, तो इसी प्रकार प्रकृतमें संसारदुःखसे परितप्त पुरुषके प्रति यह कहा जाता है कि वस्तुतः तुम दुःखशील नहीं हो; तुम तो समस्त उपाधियोंसे रहित, आनन्द और चिदेकरसस्वरूप हो, अज्ञानवश तुम अपनेको भूल गये हो, श्रवण, मनन आदि उपायसे फिर आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करो तो सदाके लिए दुःखसे मुक्त हो जाओगे। इसके अनुसार अनेक मुमुक्षु पुरुष आत्माका साक्षात्कार करके विष्णुपदको प्राप्त कर चुके हैं। इस परिस्थितमें यह कहा जाय कि अप्रवर्तक होनेसे यह वाक्य निष्प्रयोजन अतएव अप्रमाण है, तो यह कितना अनुचित और हठाग्रह है ॥१८७॥

द्वितीय पक्षमें दोषं देनेके लिए विकल्प करते हैं—'**किमेक०**' इत्यादिसे ।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तथा अद्वैतोपनिषद्—इन दोनोंका परस्पर विरोध समानविषयक मानकर कहते हो या विभिन्नविषयक मानकर ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, कारण कि अन्य प्रमाणसे अधिगत अर्थमें अन्य प्रमाणकी प्रवृत्ति होनेपर उसको अनुवादक कहते हैं, विरोधी नहीं कहते ? जैसे भूतलमें घटको आंखसे देखकर कहे कि भूतलमें घट है, तो पीछेसे प्रवृत्त शब्द पहले प्रत्यक्ष द्वारा अवगत अर्थका अनुवादक कहा जाता है और पहलेके प्रमाणसे अवगत अर्थसे प्रतिकूल अर्थका बोधक विरोधी कहा जाता है—जैसे, किसीने कहा कि भूतलमें घट है, पीछे दूसरेने कहा—नहीं, घटाभाव है। यहांपर एक कालमें एक ही धर्मीमें घट और उसका अभाव दोनों नहीं रह सकते, इसलिए ये परस्पर विरोधी हैं। इनमें एक प्रमाण होगा और दूसरा आभास। किन्तु यह कथा विभिन्न-विषयक प्रमाणोंमें होती है। प्रथम कल्प तो समानविषयक प्रमाणोंका है, इसमें विरोधकी क्या संभावना है ? प्रथम कल्पका इस श्लोकसे निराकरण करते

विभिन्नविषयत्वे तु नितरामविरुद्धता ।
नैवाऽसम्भवशङ्काऽस्ति सर्वार्थेष्ववभासनात् ॥ १८९ ॥

हैं—'नैकार्थ्ये' इत्यादिसे । वस्तुतः एक प्रमाणसे निश्चित अर्थमें उसके अनुकूल अन्य प्रमाणकी प्रवृत्ति प्रमाणोंका संप्लव कहा जाता है, उसे संवाद भी कहते हैं । दो प्रकारके विषय माने गये हैं—एक वे हैं जिनमें प्रमाणोंका संप्लव होता है—जैसे ब्रह्मादि । इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—इन तीनों प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होती है । स्वतन्त्ररूपसे तीनोंसे अर्थका परिच्छेद होता है। दूसरे वे हैं—जो एक-एक प्रमाणके विषय हैं, जैसे इक्षु और क्षीरका माधुर्य्यविशेष, सामग्री, स्वर्ग-पूर्व, देवता आदि । ये यथायथ प्रत्यक्षादिमात्रके विषय हैं, सर्वसाधारण नहीं, अतः समान विषयमें प्रवृत्त प्रमाणान्तर अनुवादक होता है, विरोधी नहीं है । प्रकृतमें प्रत्यक्ष आदि उपनिषत्के विरोधी नहीं हो सकते ॥ १८८ ॥

दोनों काण्ड विभिन्न-विषयक हैं, इस द्वितीय कल्पमें दोष कहते हैं—**'विभिन्न०'** इत्यादिसे ।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तथा उक्त उपनिषत् भिन्न-भिन्न अर्थके प्रकाशक हैं; ऐसा यदि मानते हो, तो नितरां अविरोधिता है, अर्थात् परस्परकी अपेक्षा न करनेवाले स्वकीय विषयोंकी प्रमितिके उत्पादक हैं, इससे विरोध शङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि कर्मकाण्ड दृष्टादृष्ट अनेक फलोंके साधनोंका उपदेश देता है । उनका विषय आत्मा नहीं है और ज्ञानकाण्डके उक्त फल तथा उसके साधन विषय नहीं है, किन्तु उसका आत्मतत्त्व ही विषय है । ज्ञानकाण्ड संसारसे विरक्त जो मुमुक्षु हैं, उनके लिए मोक्षसाधन आत्मज्ञान और उसका उपाय प्रदर्शन कराता है; इसका सांसारिक फलभेद और उसका उपायादि भेद विषय नहीं हैं । एक विषय होनेपर विरोधकी शङ्का हो भी सकती, पर विभिन्न-विषय होनेपर नितरां उक्त शङ्का नहीं हो सकती ।

शङ्का—'तत्त्वमसि' आदि वाक्यमें प्रत्यक्षादि प्रमाण उक्त रीतिसे विरोधी नहीं हैं, यह ठीक है; किन्तु स्वयं उक्त उपनिषत् गुरु, शिष्य आदि सापेक्ष होकर भी उनके अभावका प्रतिपादन करती है। यदि ब्रह्मातिरिक्त मिथ्या है; तो बद्ध ही कोई नहीं है, फिर उसकी मुक्तिके लिए साधनोपदेशकी क्या आवश्यकता है ? यदि प्रकृतोपदेशयोग्य कोई बद्ध पुरुष है, तो अद्वितीय ब्रह्मका प्रतिपादन असङ्गत होता है ।

समाधान—ठीक है, इसका उत्तर संबन्धनिरूपणके समय कह चुके हैं;

प्रमाणमप्रमाणं च प्रमाभासस्तथैव च ।
कुर्वन्त्येव प्रमां यत्र तदसम्भवना कुतः ॥ १९० ॥
इष्टः प्रबुध्य ऐकात्म्ये गुरुशास्त्राद्यसम्भवः ।
मानस्य चरितार्थत्वात् स्वप्रामाण्यं न हन्त्यतः ॥ १९१ ॥

फिर आगे भी कहेंगे । तृतीय पक्षका निराकरण करते हैं—नेत्यादिसे । अद्वैत आत्मा प्रमेय ही नहीं है, ऐसा जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर यह है कि जितने विषयके प्रकाशक प्रमाण हैं, उनके द्वारा विषयप्रकाशके समय आत्माका भान अवश्य होता है । यह घट है, ऐसा ज्ञान होनेपर घटप्रकाशके साथ आत्मप्रकाश न होता, तो यह घटज्ञान हमको हुआ या दूसरेको ऐसा संशय होता । पर उक्त संशय किसीको कभी नहीं होता, कारण कि विषयके साथ स्वात्मज्ञान भी हो ही जाता है, अतएव प्रभाकरमिश्रके मतमें त्रिपुटीवाद है—ज्ञान विषयविधया घटादिका, स्वतः स्वरूपका और आश्रयतया आत्माका नियमसे भासक होता है । न्यायमतके समान मिश्रमतमें भी आत्मा जड़ है और घटादिकी तरह ज्ञानसे ही प्रकाशित होता है; अतः सर्वप्रमाणसिद्ध मेयके अभावकी शङ्का अयुक्त है । स्वमतमें तो आत्मा स्वयंप्रकाश है, अतः उसके भानकी शङ्काका लेश भी नहीं हो सकता ॥ १८९ ॥

'प्रमाण०' इत्यादि । प्रमाण, अप्रमाण और प्रमाभास जिस आत्माके नियमसे भासक अर्थात् जिस आत्माकी प्रमाका उत्पादन करते हैं; उसकी असंभावना कैसे ? घटादिविषयक प्रमाण ज्ञान उक्त रीतिसे आत्मविषयक प्रमाका जनक होता है, यह ज्ञान हमको हुआ, यह हमारा ज्ञान संशय और विपर्यय है, हमको ज्ञान नहीं हुआ इत्यादि रीतिसे आत्माका सर्वत्र भान होता है; इसलिए प्रमेयके असम्भवकी शङ्का ही नहीं हो सकती । जिसकी केवल प्रमा ही साधक है, ऐसे पदार्थका यदि अभाव कोई कहे, तो वह जैसे नहीं माना जाता, वैसे ही जिसके प्रमा, अप्रमा और प्रमाभास ये सब साधक हैं; उसका यदि अभाव कोई कहे, तो वह कैसे माना जा सकता है ? ॥ १९० ॥

'इष्टः' इत्यादि । अद्वितीय आत्माका निर्विचिकित्स ज्ञान होनेपर गुरु, शास्त्र आदिका असंभव इष्ट ही है । प्रमाण चरितार्थ हो गया है, अतः स्वप्रामाण्यकी विघातक उपनिषत् नहीं है । भाव यह है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म',

कर्मकाण्डस्य मात्वं च हन्यादुपनिषत्कथम् ।
काण्डयोरेकवाक्यत्वमथवा भिन्नवाक्यता ॥ १९२ ॥

'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियोंसे होनेवाला—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे प्रबोधित निखिल प्रपञ्च ब्रह्म ही है, उससे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है—ऐसा बोध यदि प्रमा माना जाय, तो गुरु, शिष्य आदिका अभाव स्पष्ट सिद्ध होता है और ऐसी परिस्थितिमें उक्त उपदेश ही व्यर्थ होता है, क्योंकि ज्ञानी गुरुका उपदेश अज्ञानी शिष्यके प्रति ही सर्वत्र लागू होता है । ब्रह्म तो अज्ञानी है नहीं, अतः अधिकारीके अभावसे गुरुका या श्रुतिका उपदेश अनर्थक और निष्प्रयोजन होनेके कारण अपने प्रामाण्यका विघातक होगा, यह आक्षेप आत्मैक्य-दूषणवादियोंका है । उत्तर यह है कि आत्मैकत्वके बोधसे पहले गुरु, शिष्य आदि हैं, अतः उसी समयके लिए गुरु या शास्त्रका उपदेश है । उपदेशके बाद तत्त्वज्ञान होनेपर अर्थात् 'अहं ब्रह्मैवास्मि' (मैं ब्रह्म ही हूँ) ऐसा ज्ञान होनेपर गुरु, शिष्य आदिका अभाव हो जाता है, सो तो इष्ट ही है । प्रमाण तो चरितार्थ हो गया, क्योंकि ज्ञानोत्पत्तिके लिए ही उक्त वाक्य है, एवंभूत ज्ञानकी उत्पत्तिके अनन्तर प्रयोजन न होनेसे उसको निष्प्रयोजन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ब्रह्मज्ञान ही उसका प्रयोजन स्पष्ट है । दूसरी बात यह है कि स्वार्थघातकत्व क्या है ? क्या स्वविषयघातकत्व स्वार्थघातकत्व है या स्वप्रयोजनघातकत्व ? प्रथम पक्ष असङ्गत है, क्योंकि 'यह सब आत्मा है' इस प्रकारकी प्रमा यदि वेदान्तवाक्यसे होती है, तो वेदान्त स्वविषयका घातक है, ऐसा कहना एक प्रकारसे निर्लज्जताकी भी पराकाष्ठा है, क्योंकि विश्वमात्रमें स्वविषयत्वकी प्रमाका जनक होनेके कारण वह घातक नहीं हो सकता । द्वितीय पक्ष भी असङ्गत है, क्योंकि परम पुरुषार्थरूप मोक्षकी प्राप्ति और सकल दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिरूप दो फलोंकी प्राप्ति ही उसका प्रयोजन है, अतः उसे निष्फल कहना जननीको वन्ध्या कहनेके समान व्याहत है । इससे सर्व-फलप्रदको निष्फल कहना परम धृष्टता है ॥ १९१ ॥

'कर्मकाण्डस्य' इत्यादि । कर्मकाण्डके प्रामाण्यका विघातक वेदान्त नहीं है, यह यद्यपि पूर्वमें कह चुके हैं, तथापि विस्ताररूपसे फिर उसीको कहते हैं—संक्षेप और विस्ताररूप उद्देश्यके भेदसे कथनमें भी भेद होता है, इसलिए

उपायोपेयबोधित्वात् कृत्स्नवेदैकवाक्यता ।
यदि तर्ह्यविरुद्धत्वात् कुतः प्रामाण्यघातिता ॥ १९३ ॥
अथाऽत्र भिन्नवाक्यत्वं सिद्धसाध्यार्थभेदतः ।
तदाऽपि न विरोधोऽस्ति विभिन्नविषयत्वतः ॥ १९४ ॥

पुनरुक्त दोषकी आशङ्का नहीं है । कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डकी एकवाक्यता मानते हो अथवा भिन्नवाक्यता ? इन दोनों कल्पोंमें भी उपनिषत् कर्मकाण्डके प्रामाण्यका विघात नहीं कर सकती ॥ १९२ ॥

प्रथम पक्षमें उपनिषत् कर्मकाण्डके प्रामाण्यका विघात नहीं करती, यह कहते हैं—**'उपायो०'** इत्यादिसे ।

कर्मकाण्डमें कहे गये नित्य आदि कर्मोंके अनुष्ठानके द्वारा चित्तकी शुद्धि होती है । रज और तमसे असंसृष्ट सत्त्व चित्तकी शुद्धि है । शुद्धि ही चित्तकी एकाग्रतामें कारण है । जिस परिशुद्ध चित्तमें विक्षेपादि वृत्तियां नहीं होतीं, वह स्थिर होता है; उसीमें ब्रह्मध्यानयोग्यता भी होती है । संबन्धकथनके समय मतभेदसे चित्तशुद्धि द्वारा कर्मानुष्ठान ब्रह्मविविदिषामें करण है, ऐसा कहा है । यहांपर इस विषयमें संक्षेपसे कुछ कहते हैं—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इत्यादि श्रुतियोंसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि कर्मानुष्ठान ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए है, इससे ज्ञानकाण्डके साथ कर्मकाण्डका उपायोपेयभाव सम्बन्ध प्रतीत होता है। कर्मकाण्डमें कहे गये कर्मोंका अनुष्ठान उपाय है और ज्ञानकाण्डमें प्रदर्शित ज्ञान उपेय है, इस प्रकार दोनोंका सम्बन्ध परस्पर माना जाता है । इसीसे दोनोंकी एकवाक्यता कही जाती है । दोनोंका तात्पर्य आत्मतत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिमें है । अतएव मन्त्रोपनिषद्रूप संपूर्ण वेदकी एकवाक्यता मानी जाती है । ऐसी परिस्थितिमें परस्पर अङ्गाङ्गिभाव होनेसे विरोध ही नहीं बन सकता, फिर उपनिषत् कर्मकाण्डके प्रामाण्यका विघात करती है, यह कैसे कहा जा सकता है ? जब दोनोंका परम तात्पर्य आत्मैकत्वज्ञानमें है, तब गुणप्रधानभावसे एकफलार्थ दोनों सम्बद्ध ही हैं, इसलिए उपनिषत्में उक्त आक्षेप मिथ्या है ॥ १९३ ॥

'अथाऽत्र' इत्यादि । सिद्धस्वरूप आत्मैकत्वका बोधक वेदान्तवाक्य है और साध्यभूत धर्मादिका बोधक कर्मकाण्डवाक्य है—इन दोनोंके प्रतिपाद्य

निषेधति विधत्ते वा नाऽसावुपनिषत् क्रियाम् ।
प्रत्यक्तत्त्वैकसम्बोधे तद्वाक्योपक्षयो यतः ॥ १९५ ॥

विषय भिन्न भिन्न हैं; अतः उक्त वाक्योंका परस्पर जब विरोध ही नहीं है तब बाध्यबाधकभावकी संभावना ही कैसे हो सकती है ? जैसे 'घटोऽस्ति' इस वाक्यका 'पटोऽस्ति' इस वाक्यके साथ विरोध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे दोनों वाक्य स्वतन्त्ररूपसे घट और पटकी सत्ताके बोधक हैं, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। यद्यपि संसारी और असंसारी पुरुषके भेदसे उक्त दो वाक्य व्यवस्थितविषयवाले हैं, ऐसा 'हिंसाविधिनिषेधवत्' इत्यादिसे पूर्वमें भी परिहार कर चुके हैं, अतएव इस विषयमें विशेष प्रतिपादन करनेकी आवश्यकता नहीं है, तथापि विशेष जिज्ञासुओंके लिए फिर उक्त विरोधका परिहार करते हैं ॥ १९४ ॥

'निषेधति' इत्यादि। सूक्ष्म दृष्टिसे विचार कीजिये, तो प्रकृतमें वेदान्त-वाक्यके साथ कर्मकाण्डके विरोधकी संभावना ही नहीं है, बाध्यबाधक-भाव तो दूर ही रहा। उपनिषद्-वाक्य न तो इष्टविशेषकी प्राप्तिमें उपायके उपदेशका निराकरण ही करता है और न उसमें पुरुषप्रवृत्तिको ही रोकता है, किन्तु अद्वैत ब्रह्ममात्रका प्रतिपादन करता है। इसीमें वेदान्तवाक्य उपक्षीण हो जाता है, इसलिए उक्त अर्थका अभिधान और द्वैतका निषेध—ये दोनों अर्थ उपनिषद्-वाक्यसे प्रतीत होते हैं, ऐसा मानकर कर्मकाण्डके साथ जो विरोध कहा जाता है, वह वस्तुतः असङ्गत है, क्योंकि 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवाऽर्थं बोधयति' (एक बार कहा गया शब्द एक ही अर्थका बोधन कराता है) इस न्यायसे एक वाक्यका अनेक अर्थ मानना अन्याय्य है। पौरुषेय वाक्यमें किसी तरह ऐसी शङ्का हो भी सकती है, परन्तु अपौरुषेय वेदवाक्यमें ऐसी शङ्का करना सर्वथा अनुचित है। कर्मकाण्ड 'जुहुयात्', 'यजेत' और 'दद्यात्' इत्यादिसे पशु, स्वर्ग आदि दृष्ट और अदृष्ट फल चाहनेवालोंके प्रति उनके साधनविशेषोंका उपदेश और तत्-तत् नियोगमें पुरुषोंकी केवल प्रेरणा करता है, अतः उसका व्यापार तत्-तत् साधन आदिमें पारमार्थिक सत्ताके बोधनमें या अद्वैत ब्रह्मके निषेधमें नहीं है। इसलिए विरोधशङ्का सर्वथा निर्मूल है। इस तात्पर्यसे कहते हैं कि उपनिषत् न किसी यागादि क्रियाका विधान ही करती है और न

द्वैतेऽस्मिन् बाधिते बोधात्कर्मकाण्डस्य सर्वथा ।
अपहीयेत विषय इति शङ्का न युज्यते ॥ १९६ ॥
न द्वैतसत्यता कर्मकाण्डस्य विषयोऽपि तु ।
साध्यसाधनसम्बन्धो न त्वसाविह बाध्यते ॥ १९७ ॥

किसी क्रियाका निषेध ही करती है अर्थात् उपनिषत् अन्यान्य क्रियासे सर्वथा निरपेक्ष होकर केवल प्रत्यक्-तत्त्वके बोधमात्रमें ही अपना व्यापार रखती है और इसीमें वह उपक्षीण और कृतकृत्य हो जाती है, फिर अन्य कुछ व्यापार नहीं करती । जो वाक्य अपने अर्थका बोध करानेपर भी परपूर्ण नहीं होता, उसीका अगत्या अन्य व्यापार माना जाता है, दूसरेका नहीं, अन्यथा वाक्य-पर्यवसान ही दुर्घट हो जायगा । और वेदान्तवाक्य कर्मकाण्डवाक्यकी प्रमाके उत्पादनमें विरोधी भी नहीं है, जिससे कि उसमें प्रमानुत्पत्तिलक्षण अप्रामाण्यकी भी प्रसक्ति हो जाय, कारण कि प्रमाकी उत्पत्ति प्रत्यक्षसिद्ध है, अतः उसका अपलाप नहीं किया जा सकता। कर्मकाण्ड स्वार्थप्रमाका उत्पादक होनेपर भी वेदान्तके साथ विरोध होनेके कारण अप्रमाण हो जायगा, ऐसा यदि कहो, तो वह वदतोव्याघात है । यदि प्रमाका उत्पादक है, तो अप्रमाण क्यों होगा ? प्रमाका अनुत्पादक ही अप्रमाण माना जाता है ॥ १९५ ॥

'द्वैतेऽस्मिन्' इत्यादि । अद्वैत-ब्रह्मबोधक वेदान्तवाक्य द्वारा उत्पन्न होनेवाले अद्वैत-ब्रह्मबोधसे ब्रह्मभिन्न समस्त वस्तुओंका निराकरण होनेपर कर्मकाण्डवाक्यका अर्थ ही अपहृत हो जाता है, अतः कर्मकाण्डवाक्यसे प्रमा ही उत्पन्न नहीं होगी ।'इसमें यह अनुमान प्रमाण है—'विमतं न प्रमोत्पादकम्, प्रमाणापहृत-विषयत्वात्, अग्निरनुष्णः इत्यादिवाक्यवत्' । जैसे 'अग्निरनुष्णः' यह वाक्य प्रमाका उत्पादक होनेपर भी प्रमाण नहीं होता, कारण कि अग्निमें उष्णत्वग्राही प्रत्यक्ष प्रमाणसे उसके विषय अनुष्णत्वका अपहार हो जाता है, वैसे ही ब्रह्मवाक्यसे कर्म-वाक्यके विषयका अपहार होनेके कारण उक्त वाक्य भी प्रमाण नहीं हो सकता, पर यह ठीक नहीं है, कारण कि प्रत्यक्ष अनुमानसे प्रबल होता है अतः प्रमाका उत्पाद प्रत्यक्षसिद्ध है और उसका अनुत्पाद अनुमानसे सिद्ध है, ऐसा जो आप कहते हैं वह कैसे हो सकता है ? क्योंकि प्रत्यक्षविरुद्ध अनुमान तो निर्दुष्ट नहीं होता, अतः अनुमानाधीन अप्रामाण्यकी शङ्का अयुक्त है ॥ १९६ ॥

'न द्वैत०' इत्यादि ।

द्वैतसत्यत्वमिथ्यात्वे अविचार्यैव मानवः ।
इष्टप्राप्तिमनिष्टस्य निवृत्तिमभिवाञ्छति ॥ १९८ ॥

शङ्का—कर्मकाण्डका वाक्य यदि स्वार्थकी प्रमाका जनक माना जाय, तो उसका अर्थ प्रामाणिक होनेसे अबाध्यसत्ताक ही माना जायगा । इस परिस्थितिमें द्वैत वस्तु ही सिद्ध होगी, फिर उपनिषत् अद्वैतमें प्रमाण नहीं हो सकती, किन्तु अनुष्ण अग्नि है, इस वाक्यके समान अपहृतविषयक होनेसे अप्रमाण ही मानी जायगी ।

समाधान—द्वैतकी पारमार्थिक सत्ता कर्मकाण्डवाक्यकी विषय नहीं है, किन्तु साध्य-साधन संबन्ध ही उसका विषय है, वह चाहे व्यावहारिकसत्ताक हो या पारमार्थिकसत्ताक । इसमें विशेष आग्रह नहीं है कि उक्त संबन्ध पारमार्थिक-सत्ताक ही हो । सो प्रकृतमें अबाधित है । जो बाधित पारमार्थिक सत्ता है, वह उक्त विधिकी विषय नहीं है, इसलिए कर्मवाक्यके साथ उपनिषत्का कुछ भी विरोध नहीं है । भाव यह है कि 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि श्रुति केवल स्वर्गार्थी पुरुषके प्रति उसके उपायभूत अग्निहोत्र कर्मका ही उपदेश देती है, विशेषरूपसे यह नहीं कहती कि अग्निहोत्र कर्म तथा उसके फल आदि परमार्थ सत् हैं । केवल उपायके प्रतिपादनमात्रमें कर्मश्रुतिका तात्पर्य है । यह बात तो स्पष्ट ही है कि कामना मिथ्याज्ञाननिमित्तक ही होती है, फिर भी यथाप्राप्त कामोंको लक्ष्य कर तथाविध साधनका ही उपदेश देती है । यह नहीं कहती कि काम मिथ्याज्ञाननिमित्तक होनेसे वस्तुतः अर्थ नहीं है, किन्तु अनर्थस्वरूप है, इसलिए उसकी प्राप्तिके लिए चेष्टा मत करो । एवं यथाप्राप्त क्रियाकारकभेदको लेकर इष्टविशेषकी प्राप्ति और अनिष्टविशेषकी निवृत्तिके बोधक कर्मकाण्डके वाक्य हैं । तत्तत् फलकी इच्छावाला पुरुष भी तत्तत् इष्टादि फलप्राप्तिके तत्तत् साधनोंमें प्रवृत्त होता है । यह अवधान नहीं देता कि ये फल-साधनादि पारमार्थिक हैं या अपारमार्थिक ? अविद्वान् पुरुष तत्तत् कर्मोंमें प्रवृत्त ही देखे जाते हैं। अविद्यावश उन कर्मोंमें तथा उनके फल आदिमें पारमार्थिकत्वका ही अभिनिवेश रहता है ॥ १९७ ॥

'द्वैत०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि अद्वैतवाक्यसे स्वर्गादि फल और उसके साधनोंमें मिथ्यात्वज्ञान हो जाता है, तो मिथ्याभूत यागादिमें अविद्वान् पुरुषकी भी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए ।

साध्यसाधनसम्बन्धं तादृशः कामिनोऽर्कवत् ।
कर्मकाण्डो भासयते कामी तत्र प्रवर्तते ॥ १९९ ॥

समाधान—उक्त श्रुतिवाक्यसे मिथ्याज्ञान होनेपर भी अविद्वान् पूर्णरूपसे विचार नहीं करते, इसलिए पूर्ण निश्चय न होनेके कारण सामान्यतः ज्ञात इष्टसाधनमें प्रवृत्त होते हैं और अनिष्टसाधनसे निवृत्त होते हैं। अनभिज्ञोंकी कामना कभी समाप्त नहीं होती, अतः धर्मशास्त्रकारोंने स्पष्ट ही कहा है—

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ॥'

काष्ठसे जैसे अग्निकी शान्ति नहीं होती है, प्रत्युत और भी उसकी अधिक वृद्धि होती जाती है, वैसे ही कामियोंको कामोपभोगसे कभी भी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। शान्ति तो दूर रही, प्रत्युत उनकी कामनाओंकी उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती जाती है।

शङ्का—कर्म अविद्वानोंके लिए हैं, ऐसा कहना तो उचित प्रतीत नहीं होता, कारण कि पूर्वमीमांसामें अध्ययनसिद्ध विद्यावान्का ही कर्ममें अधिकार है, ऐसा निश्चय किया गया है।

समाधान—ठीक है, वहां द्रव्य, देवता आदिका ज्ञान ही विद्यापदसे विवक्षित है, ब्रह्मविद्या नहीं। जिसको ब्रह्मविद्या प्राप्त हुई है, ऐसे विद्वान्का तो कर्ममें अधिकार ही नहीं है, यह अनेक बार कह चुके हैं ॥ १९८ ॥

'साध्यसाधन०' इत्यादि।

शङ्का—कर्मकाण्ड साध्यसाधनसंबन्धका बोधन कराता हुआ तत्-तत् विहित कर्मोंमें पुरुषकी प्रवृत्ति भी कराता है, अतः प्रवर्तकशास्त्रीय विषय द्वैतको सत्य ही मानना चाहिए, अन्यथा प्रवृत्त्यादिबोधक शास्त्र शास्त्र ही नहीं हो सकता। मिथ्या वस्तुमें तो शास्त्र किसीकी प्रवृत्ति नहीं कराता, अन्यथा वञ्चकवाक्यके समान शास्त्रमें भी प्रामाण्यका परिज्ञान नहीं हो सकेगा, अतः अर्थापत्तिप्रमाणसे द्वैतमें सत्यत्वकी सिद्धि होती है।

समाधान—शास्त्र प्रवर्त्तक वा निवर्तक नहीं होता, किन्तु जिनका अनेक प्रकारके राग, द्वेष और मोह आदि दोषोंसे चित्त कलुषित है, ऐसे पुरुष स्वयमेव अपनी अपनी रुचिके अनुसार साधनविशेषोंमें प्रवृत्त होते रहते हैं। जैसे—सूर्य वस्तुका प्रकाश करता है, प्रकाशमें अनेक पुरुष अनेक कार्य अपनी इच्छासे आप ही करते

अकामतः क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कस्यचित् ।
यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत् कामस्य चेष्टितम् ॥ २०० ॥

हैं—कोई अध्ययन करता है, कोई लिखता है, कोई घट आदिको बनाता है इत्यादि । ये सब कार्य जैसे श्रीसूर्य भगवान्‌के प्रकाशमें ही किये जाते हैं, परन्तु उन कार्योंमें सूर्य ही प्रवर्त्तक हैं, ऐसा नहीं माना जा सकता, वैसे ही शास्त्र भी उत्तम, अधम आदि अनेक फलोंका तथा उनके अनुकूल साधनविशेषोंका प्रकाशक ही है । रही प्रवृत्ति और निवृत्तिकी बात, सो तो शास्त्र द्वारा बोधित साधनविशेषोंमें तत्तत्फलार्थियोंकी अपनी अपनी रुचिके अनुसार स्वयं हुआ करती है, अतः उनमें प्रवर्तक शास्त्र है, ऐसा नहीं माना जाता । और यह भी देखा जाता ही है कि शास्त्र परमपुरुषार्थ मोक्षको सर्वसाधारणके प्रति समानरूपसे प्रकाशित करता है, लेकिन किसी पुरुषको दोषादिवश वह अपुरुषार्थके समान ज्ञात होता है, अतएव वह पुरुष उसके साधनमें प्रवृत्त नहीं होता । पूर्वके सुकृत कर्मोंके परिपाकसे किसीको शास्त्रप्रकाशित वह परम पुरुषार्थ वस्तुतः सत्य प्रतीत होता है, इसलिए वह सकल सांसारिक सुख और उनके साधनोंसे विरक्त होकर स्वतः उसमें प्रवृत्त होता है । जिसको जैसा भान होता है, वह वैसा ही प्रवृत्त या निवृत्त होता है । एवं 'मा हिंस्यात्' इत्यादि निषेधवाक्य हिंसा अनर्थसाधन है, ऐसा सामान्यतः सर्वसाधारणके प्रति प्रकाश करते हैं, पर पुरुषमतिविशेषसे किसीकी उससे निवृत्ति होती है और किसीकी नहीं होती, अतः ब्रह्मैकत्वज्ञापक वेदान्त कर्मविधिशास्त्रादिके प्रामाण्यका बाधक नहीं है और न कर्मकाण्ड ही वेदान्तके ब्रह्मैकत्व अर्थके प्रामाण्यका बाधक है, क्योंकि प्रमाण स्वविषयमें ही शूर होते हैं, ऐसा शास्त्रकारोंका सिद्धान्त है अर्थात् वे अपने अपने विषयके ही केवल ज्ञापक होते हैं । स्वर्ग आदिके साधनोंमें कामी पुरुषोंकी प्रवृत्ति या निवृत्ति स्वतः होती है, यह निष्कर्ष निकला ॥ १९९ ॥

'अकामतः' इत्यादिसे ।

शङ्का—यद्यपि काम्य कर्मोंमें भले ही कामना प्रवर्तक हो, तथापि नित्य-कर्मोंमें कामना प्रवर्तक नहीं हो सकती, कारण कि उनमें किसी भी प्रकारकी कामनाका श्रवण नहीं है, इस परिस्थितिमें उसमें शास्त्रको ही प्रवर्तक कहना होगा, क्योंकि इसके सिवा दूसरा कोई उपाय ही नहीं हो सकता । अतः शास्त्र प्रवर्तक नहीं है, किन्तु फलसाधनका केवल प्रकाशक ही है, यह कहना ठीक नहीं है ।

न निवर्तयितुं शक्ता पुरुषान्कामिनः श्रुतिः ।
नाऽपि प्रेरयितुं शक्ता विरक्तान्कर्मसु क्वचित् ॥ २०१ ॥

समाधान—इस संसारमें कोई भी क्रिया ऐसी नहीं की जाती, जिसमें कोई भी कामना न हो । प्राणिमात्र चाहे वह विद्वान् हो, पशु या पक्षी हो या छोटेसे छोटा कीट, पतङ्ग आदि हो, उसकी कोई भी प्रवृत्ति कामनाके बिना नहीं होती। जो कुछ कोई भी करता है, वह कामनासे ही करता है । भाव यह है कि चेतनमात्रकी प्रवृत्ति इष्टसाधनताके ज्ञानके बिना नहीं होती । प्रवृत्तिसे पहले इष्टसाधनताका ज्ञान अवश्य माना जाता है । 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' इत्यादि भाष्यसे यह स्पष्टरूपसे सूचित किया गया है कि पशु, पक्षी आदिकी प्रवृत्ति भी मनुष्यकी प्रवृत्तिके समान इष्टसाधनताके ज्ञानसे ही होती है । इसलिए नित्यकर्मानुष्ठानमें भी प्रवृत्ति कामनासे ही होगी । यद्यपि वहां स्वर्गादिविशेषकी कामना हेतु नहीं हो सकती है, तथापि प्रत्यवायनिवृत्तिरूप फलकी कामना अवश्य हेतु हो सकती है, अन्यथा उक्त रीतिसे उनका अनुष्ठान ही असंभव हो जायगा । कुछ लोग नित्यकर्मका भी फल पण्डापूर्व (स्वर्गापूर्व) मानते हैं । एवं अन्य मतमें 'विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम्' इत्यादि अर्थवादोंमें उक्त ही फल मानते हैं। फल माननेसे भी नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका जैसा भेद है, उसका पूर्वमें प्रतिपादन कर चुके हैं, इसलिए दोनोंमें परस्पर भेद ही सिद्ध नहीं होगा, यह शङ्का नहीं हो सकती ॥ २०० ॥

'न निवर्तयितुम्' इत्यादि । फलकी इच्छावाले पुरुषोंकी फलसाधनोंसे श्रुति न निवृत्ति ही करा सकती है और न विरक्त पुरुषोंकी फलसाधनमें प्रवृत्ति ही करा सकती है । भाव यह कि 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' यह श्रुति सब पुरुषोंके प्रति समान है । पर कोई अग्निहोत्र करता है, कोई नहीं करता; यह लोकमें प्रसिद्ध है । यदि उस कर्ममें श्रुतिसे ही प्रवृत्ति मानी जाय, तो सबकी उक्त कर्ममें प्रवृत्ति होनी चाहिए, पर ऐसा होता नहीं, इसलिए यह मानना बहुत ठीक है कि शास्त्र ज्ञापक होता है, कारक नहीं होता । तात्पर्य यह निकला कि हजारों वचनोंसे भी पुरुषकी प्रवृत्ति तबतक उस कर्ममें नहीं होती, जबतक इष्ट-साधनताका ज्ञान नहीं होता, अतएव जिसको इष्टसाधनताज्ञान होता है, वह उक्त कर्ममें प्रवृत्त होता है । जिसको नहीं होता, उसकी प्रवृत्ति नहीं होती, यह

यथोचितं बोधयन्ती श्रुतिः कामिविरागिणौ ।
वर्तते कर्मकाण्डस्य मानत्वं हन्यते कुतः ॥ २०२ ॥
नाऽप्यद्वैतविरोधोऽस्ति रूपादिग्राहकेन्द्रियैः ।
किं भो गवादिभेदेन व्योमैकत्वं विरुध्यते ॥ २०३ ॥

मानना चाहिए एवं निवृत्ति भी अनिष्टसाधनताज्ञानसे ही होती है, केवल निषेध-वाक्यसे नहीं होती, अतएव 'यजेत' और 'परदारां नोपगच्छेत्' इत्यादि वचन समान होनेपर भी उनसे प्रवृत्ति और निवृत्ति नहीं होती, किन्तु उक्त ज्ञानादिसे ही हो जाती है, ऐसा देखा जाता है ॥ २०१ ॥

वेदान्त कर्मकाण्डके प्रामाण्यका विघातक नहीं है, इसका उपसंहार करते हैं—**'यथोचितम्'** इत्यादिसे ।

कर्मकाण्ड-श्रुति कामनाके अनुसार कामीको केवल फलसाधनका बोध कराती है, साधनमें सत्यत्वादिका बोध नहीं कराती और अद्वैतश्रुति विरक्तके प्रति ब्रह्ममें सत्यत्वमात्रका बोध कराती है, स्वर्गादि फलके साधनोंमें असाधनत्वका बोध नहीं कराती, इसलिए परस्पर विरोध न होनेके कारण वेदान्तवाक्योंमें प्रामाण्य-विघातकत्वकी शङ्का सर्वथा निर्मूल है ॥ २०२ ॥

'नाऽप्यद्वैत०' इत्यादि । अपने पक्षमें अन्यान्य प्रमाणोंके साथ आनेवाले विरोधोंका परिहार कर वेदान्त स्वार्थमें प्रमाण है, यह निरूपण किया जा चुका । अब नैयायिकमतके अनुसार पुनः आक्षेप किया जाता है कि वेदान्तशास्त्रगम्य आत्मैक्यको माननेसे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम आदि प्रमाणोंके साथ विरोध अपरिहार्य होगा ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—प्रत्यक्षविषय घटादि चक्षु आदिसे अतिरिक्त हैं, यह घटग्राही प्रत्यक्षसे ही सिद्ध होता है । इससे ब्रह्मैकत्व ही परमार्थ सत् है, उससे अन्य परमार्थ सत् नहीं है, ऐसा माननेवाले ब्रह्मवादियोंको स्पष्ट ही प्रत्यक्ष विरोध है, एवं श्रोत्र, शब्द और उसके ज्ञाता आदिमें भेद प्रत्यक्ष प्रमाणसे अवगत होता है, एवं 'स्वदेहसमवेतचेष्टातुल्यचेष्टा देहान्तरे दृष्टा, सा च प्रयत्नपूर्विका, विशिष्ट-चेष्टात्वात्, सम्मतवत्' इत्यादि अनुमानसे प्रत्येक शरीरमें प्रयत्नके समान आत्म-भेदकी सिद्धि होती है । 'पशुकामो यजेत', 'ग्रामकामो यजेत' इत्यादि आगम-

मायाकल्पितरूपादीन् प्रभिन्नांश्चक्षुरादयः ।
गृह्णन्त्वेव किमायातमद्वैते परमार्थतः ॥ २०४ ॥

विरोध स्पष्ट ही है, क्योंकि ग्राम, पशु आदि फल, उनके साधन और उन साधनोंके अनुष्ठाता आदिके भेदके बिना उक्त वाक्य ही असङ्गत हो जायँगे। इसका उत्तर देते हैं—'नाऽप्य०' इत्यादिसे ।

रूप आदिके ग्राहक चक्षु आदि इन्द्रियोंके साथ अद्वैत-प्रतिपादक आगमका विरोध नहीं है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—विरोध किसके साथ कहते हो ? क्या ब्रह्मैकत्वके साथ विरोध कहते हो अथवा अद्वैतांशके साथ ? प्रथम पक्षका दृष्टान्तके प्रदर्शन द्वारा निराकरण करते हैं—जैसे सब भूतोंमें रहनेवाला आकाश एक है, ऐसा कहनेसे गाय आदिके भेदका ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्षसे विरोध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनों विभिन्न-विषयक हैं, वैसे ही आगमका ब्रह्मैकत्व विषय है और प्रत्यक्षका गवादि । ये दोनों अपने-अपने विषयमें परिनिष्ठित हैं, इसलिए सब भूतोंमें स्थित एक ब्रह्म है, ऐसा कहनेपर भी प्रत्यक्षादिके साथ विरोध नहीं हो सकता, इसी तात्पर्यसे वक्ष्यमाण शङ्का और समाधान करते हैं—

शङ्का—क्यों जी, गऊ आदिके भेदसे आकाशका एकत्व विरुद्ध है, ऐसा कहा जा सकता है ?

समाधान—नहीं, कभी नहीं कहा जा सकता ॥ २०३ ॥

'माया०' इत्यादि । चक्षु आदि प्रमाण मायाकल्पित रूप आदिका भले ही ग्रहण करें पर इससे प्रकृत अद्वैतमें क्या आया ? अर्थात् कुछ नहीं । तात्पर्य यह है कि क्या प्रत्यक्ष आदि प्रमाण केवल अपने अपने विषयके ही ग्राहक होते हैं अथवा स्वेतरव्यावृत्तिसे (स्वविषयभिन्न पदार्थके भेदसे) विशिष्ट स्वार्थके ? प्रथम पक्षमें विरोधकी शङ्का ही नहीं हो सकती, कारण कि ऐसा माननेसे प्रत्यक्ष आदि भेदके ग्राहक कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते । आत्मैकत्वका भेद घटादिमें जब गृहीत ही नहीं हुआ तब अभेद-ग्राही उपनिषत्का भेदग्राही प्रत्यक्ष विरोधी कैसे कहा जा सकता है ? द्वितीय पक्षमें विरोधका भय था, पर आत्माश्रयादि दोषोंसे स्वेतरव्यावृत्तिका ग्रहण ही दुघर्ट है, क्योंकि अपने ग्रहणके बिना स्वव्यावृत्तिका ग्रहण नहीं हो सकता। स्वशब्दसे यदि अपने आपका ही ग्रहण करें, तो आत्माश्रय दोष स्फुट ही है । वैधर्म्यलक्षण

नानाऽऽत्मानोऽनुमीयन्त इत्येदपि दुर्घटम् ।
किमप्रमेये नानात्वमाहोस्विन्मेय आत्मनि ॥ २०५ ॥

अन्योन्याभावके ग्रहणमें भी उक्त रीतिसे अन्योन्याश्रयादि दोष प्रसक्त होते हैं। अतः द्वैतग्राही प्रत्यक्ष आदि अद्वैत अर्थमें विरोधी नहीं हैं। इस विषयका आगे भी अच्छी तरह प्रतिपादन करेंगे। वास्तवमें कल्पित पदार्थ अधिष्ठानके परिच्छेदक भी नहीं हो सकते ॥ २०४ ॥

'नानाऽऽत्मानोऽ०' इत्यादि। पहले जो यह कहा था कि प्रत्येक शरीरमें शब्दादिके उपलब्धा, धर्माधर्मके कर्ता एवं सुख, दुःख आदिके भोक्ता आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, ऐसा अनुमानसे सिद्ध होता है। ऐसी स्थितिमें ब्रह्मैकत्वमें अनुमानका विरोध कोई नहीं हटा सकता। उसमें प्रश्न यह होता है कि आत्मभेदका अनुमान कौन करता है? यदि कहो कि अनुमाननिपुण हम सब लोग करते हैं, तो इसमें भी हम आपसे पूछते हैं कि 'हम लोगोंसे' आपका तात्पर्य किसमें हैं? क्या स्थूल देहमें है? या करणसमुदायमें? किं वा दो देहोंसे भिन्न आत्मामें? प्रथम और द्वितीय पक्ष तो असङ्गत हैं, क्योंकि अचेतन होनेके कारण स्थूल शरीर आदिमें अनुमान करनेका कौशल ही नहीं हो सकता। तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा तो सर्वथा अविकारी होनेसे अनुमाता ही जब नहीं हो सकता तब उसमें अनुमानकुशलताकी बात तो दूर ही रही। ठीक है, देह, इन्द्रिय आदिसे विशिष्ट आत्मा अनुमानकुशल है, यह मेरा तात्पर्य्य है, क्योंकि क्रिया अनेक कारकोंसे साध्य होती है, इस प्रकारके विशिष्टात्मकर्तृक अनुमानसे प्रत्येक देहमें आत्मभेद सिद्ध होता है।

इस पूर्वपक्षमें प्रश्न यह पूछना चाहिए कि यदि प्रधानभूत अनुमानक्रिया कारकत्वविशिष्ट वस्तुमें मानते हो, तो प्रत्येक शरीर आदि कारकमें प्रधान क्रियाकी उत्पत्तिमें उपयोगी अवान्तरक्रियाकारणत्व भी मानना ही पड़ेगा, क्योंकि शास्त्रकारोंका यह कहना है कि सब कारक अपने अपने अवान्तर व्यापारोंके द्वारा प्रधानभूत क्रियाके उत्पादक होते हैं। अतएव कर्तासे भिन्न कारकमें भी स्वातन्त्र्यकी विवक्षा करनेपर कर्तृत्व माना जाता है—जैसे 'काष्ठानि पचन्ति', 'तण्डुलाः प्रच्यन्ते', 'स्थाली पचति' इत्यादि। यदि उनमें व्यापार न माना जाय, तो स्वातन्त्र्यकी विवक्षा कैसे होगी? इसलिए यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रत्येक कारकमें क्रिया उत्पन्न होती है। अब यहाँपर इस प्रश्नका होना

अप्रमेयेऽनुमानस्य प्रवृत्तिर्न कथञ्चन ।
प्रमेयस्य तु नानात्वाद् भेदोऽस्माभिरपीष्यते ॥ २०६ ॥

स्वाभाविक है कि आपके सिद्धान्तके अनुसार यदि क्रिया अनेक साधनोंसे साध्य होती है, यह माना जाय, तो प्रश्न होगा कि क्या देहमें समवेत अप्रधानभूत क्रिया भी अनेक देहोंसे साध्य होती है या नहीं ? प्रथम पक्षमें फिर अवान्तर प्रश्न यह होगा कि क्या वह आत्मासे भिन्न अनेक कारकोंसे साध्य है अथवा आत्मासे अभिन्न अनेक कारकोंसे साध्य है ? प्रथम पक्षमें अनवस्थारूप दोष स्फुट है। द्वितीय पक्षमें आत्मामें अनेकत्वकी आपत्ति होगी। यह कहना तो निर्युक्तिक है कि प्रधान क्रिया ही अनेक साधनोंसे साध्य होती है, अवान्तर क्रिया नहीं; क्योंकि अवान्तर क्रियाके अनुसार प्रधान क्रियामें भी तदभाव (अनेककारकसाध्यत्वाभाव) कह सकते हैं, कारण कि विनिगमक प्रमाण तो कुछ है नहीं। नैरात्म्यप्रसक्ति आदि दूषणोंसे जैसे आत्मामें कारकत्व नहीं हो सकता, वैसे ही देह, इन्द्रिय आदिमें भी कारकत्वका निरास कर सकते हैं। सारांश यह निकला कि अनुमानक्रिया संघातकर्तृक है, केवल आत्मकर्तृक नहीं है। समुदायमें शरीर, इन्द्रिय आदि अनात्म पदार्थ भी प्रविष्ट हैं, अतः जिसको आत्मतत्त्वका विवेक नहीं है, वही यह कह सकता है कि 'वयमनुमानकुशलाः'। इससे स्फुट होता है कि नैयायिकोंको वस्तुतः आत्माका परिचय नहीं है। लौकिक पुरुषोंके समान वे भी इस विषयमें कोरे ही हैं। आत्माके भेदका साधक जो यह अनुमान करते हैं कि 'आत्मा आत्मप्रतियोगिकभेदवान्, वस्तुत्वात्, घटवत्' उसमें यह प्रश्न होता है कि आत्मा सुज्ञात है ? अथवा नहीं ? अन्तिम पक्षमें जो धर्मिस्वरूप आत्माको ही नहीं जानता, वह उसके आश्रित भेद अथवा अभेदको ही कैसे जान सकेगा और उसमें किस हेतुसे किस साध्यका अनुमान करेगा ? पक्षज्ञानके बिना अनुमान कहां ? साध्यकी प्रतिज्ञा और हेतुका दर्शन आदि कहां होगा ? एवं अनुमित साध्यकी स्थिति भी कहां होगी ? इत्यादि अनेक दूषण हैं। श्लोकका वाच्यार्थ संक्षेपसे यह है कि अप्रमेय, स्वप्रकाश, चिदेकरस आत्मामें भेदका अनुमान करते हैं या अन्तःकरणविशिष्ट आत्मामें ? ॥ २०५ ॥

'**अप्रमेयेऽ०**' इत्यादि। प्रथम पक्षमें पक्ष आदिके ज्ञानका अभाव होनेके कारण उक्त रीतिसे अनुमानकी प्रवृत्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती। द्वितीय पक्षमें हम लोग

भी अनेक प्रमेय मानते ही हैं, अतः सिद्धसाधन होगा। भाव यह है कि आत्मभेदके साधक जिन-जिन हेतुओंको आप कहते हैं, जैसे—जन्म, मरण, करणनियम, अयुगपत्प्रवृत्ति आदि, वे स्वतः आत्मभेदके साधक नहीं हो सकते, कारण कि वे तो शरीर आदिके भेदमें भी उपपन्न हो सकते हैं। जन्म, मरण आदि नामरूपगत हैं, आत्मा तो आपके मतसे भी अमर है, अतएव अज है, फिर उसके स्वतः जन्म, मरण आदि कहां? वे जन्म आदि तो विनश्वर शरीर आदिमें रहनेवाले धर्म हैं, उसके द्वारा ही आत्मामें व्यवहृत होते हैं, जैसे घट, करक आदिगत आकाशमें घटादिगत उत्पत्ति और विनाशका आरोप कर घटाकाश उत्पन्न हुआ, नष्ट हुआ इत्यादि व्यपदेश लोकमें होता है, वैसे ही शरीरादिगत धर्मोंका उनसे अवच्छिन्न चैतन्यमें आरोप कर जन्म आदिका व्यवहार होता है, अतः वे जन्मादि औपाधिक भेदके ही साधक हो सकते हैं। औपाधिक भेद तो हम भी मानते ही हैं, इसलिए इस भेदके अनुमानमें सिद्धसाधन दोष है। अनौपाधिक आत्मभेद प्रत्यक्षविषय नहीं है। यदि अनौपाधिक आकाशका भेद किसीके प्रत्यक्षके योग्य होता, तो तथाभूत आत्मभेद भी प्रत्यक्ष हो सकता, अन्यथा नहीं; अतः आत्मभेदके साधक हेतुके अभावसे आत्मभेदसाधक अनुमान नहीं हो सकता। स्वतः आत्मभेदका साधक अनुमान तो असंभव ही है, क्योंकि आत्मा ज्ञानमात्रका जब अविषय है, तब अनुमानज्ञानका विषय कैसे हो सकता है?

शङ्का—'आत्मा द्रव्यत्वातिरिक्तापरजातीयः, अश्रावणविशेषगुणवत्त्वात्, घटवत्', इस अनुमानसे आत्मत्व अपर जाति ही सिद्ध होती है, आत्मत्वजाति आत्माके भेदके बिना नहीं हो सकती, क्योंकि

'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथाऽनवस्थितिः।
रूपहानिरसंबन्धो जातिबाधकसंग्रहः॥'

इस प्रामाणिक उक्तिसे आकाशत्वजाति माननेमें जैसे आकाशव्यक्ति एक होनेके कारण व्यक्त्यभेद बाधक होता है, वैसे ही आत्मव्यक्तिको एक माननेपर आत्मत्वजातिमें व्यक्त्यभेद बाधक होगा। प्रकृत अनुमानसे आत्मत्वजातिके सिद्ध होनेपर तो 'अधिकरणसिद्धान्तन्याय' से आत्मभेद भी सिद्ध होगा। प्रकृत अनुमानसे आकाशत्वजाति सिद्ध न हो, इसलिए विशेषगुणवत्त्व हेतुमें अश्रावणत्व विशेषण दिया गया है। यदि उस विशेषणको न देकर केवल विशेषगुणवत्त्व ही हेतु कहते, तो विशेष गुणवान् आकाश भी है, पर उसमें

ग्रामकामादिवाक्योक्तं भेदं चैवं नयेद् बुधः ।
इष्टो भेदः प्रमेयाणां काम्यन्तःकरणात्मनाम् ॥ २०७ ॥

द्रव्यत्वावान्तर जाति नहीं है, अतः उक्त हेतु व्यभिचारी हो जायगा और आकाशत्व जातिके माननेपर अपसिद्धान्त होगा, अतः इसके परिहारके लिए उक्त विशेषण दिया गया है। विशेषगुण पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश और आत्मामें रहते हैं, अन्य द्रव्योंमें नहीं रहते। आकाशमें उक्त अवान्तर जाति न्यायमतसे भी नहीं है। आत्मामें आत्मत्वजाति नैयायिक मानते हैं, किन्तु वेदान्ती नहीं मानते, इसलिए आत्मत्वजाति मनवानेके लिए उक्त अनुमान वेदान्तियोंके प्रति किया गया है।

समाधान—आप (नैयायिक) जो आत्मधर्म मानते हैं, वे सब नामरूपात्मक हैं और आत्मा नामरूपसे परे है। वह न तो स्वयं नामरूपात्मक है और न उसमें नामरूपात्मक धर्म ही रहते हैं। 'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता', 'ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' यह श्रुति है। एवं 'नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यादि श्रुतिके अनुसार नामरूप भी उत्पत्ति और प्रलयात्मक हैं और ब्रह्म उनसे विलक्षण है। ब्रह्म ही नामरूपात्मक अशेष वस्तुकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका कारण है, अतएव वह अविषय माना जाता है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह', 'अविज्ञातं विजानताम्' इत्यादि श्रुतियोंसे शुद्ध आत्मामें जब ज्ञानमात्राविषयत्व सुप्रसिद्ध है, तब अनुमानविषयत्वकी तो उसमें संभावना भी नहीं हो सकती, अतः प्रकृत अर्थमें अनुमानविरोध नहीं है ॥ २०६ ॥

'ग्रामकामा०' इत्यादि। अन्तःकरणसे विशिष्ट आत्मा कामनावान् कहा जाता है, क्योंकि काम आदि आत्माके धर्म नहीं हैं, किन्तु 'एतत्सर्वं मन एव' इत्यादि श्रुतिसे वे अन्तःकरणके धर्म हैं। 'ग्रामकामः सांग्रहिण्या यजेत' इस श्रुतिसे ग्रामप्राप्तिका साधन 'सांग्रहिणी' याग है, ऐसा स्पष्ट ज्ञात है। अब विचारना यह है कि ग्रामकामना अन्तःकरणमें होती है ? या आत्मामें ? उक्त विचारसे यह सिद्ध हो चुका है कि नामरूपात्मक कोई वस्तु आत्मामें नहीं रहती। और उक्त कामना भी उत्पत्ति और विनाशसे युक्त है, अतः वह नाम-रूपात्मक ही है, इसलिए यह आत्मामें नहीं रह सकती, किन्तु अन्तःकरणमें रहती है, इसी तरह 'स्वर्गकामः', 'यशःकामः' इत्यादि श्रुतिबोधित कामनाएँ अन्तःकरणमें ही रहती हैं। अन्तःकरणको आत्मा मानकर यदि आत्मभेद कहते

हो, तो उसमें हमारा कोई विवाद नहीं है, क्योंकि हम भी उसका भेद मानते ही हैं। केवल हमारा कहना यही है कि वह वस्तुतः आत्माका भेद नहीं है। इन सब बातोंको लक्ष्यमें रखकर अनुमानविरोधके निराकरणका अतिदेश आगम-विरोधके निराकरणमें भी करते हैं—'एवम्' इत्यादिसे। ग्रामकामादि वाक्य द्वारा उक्त भेद भी आनुमानिक आत्मभेदके समान ही है अर्थात् जैसे आनुमानिक भेद अन्तःकरणगत है, वैसे ही उक्त वाक्योक्त भेद भी अन्तःकरणगत ही है, आत्मगत नहीं है, उसको हम भी मानते ही हैं।

शङ्का—अच्छा, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमका अद्वैतश्रुतिके साथ विरोध नहीं है, यह कहना यद्यपि ठीक है, तथापि यह नहीं कह सकते कि अद्वैतश्रुतिका प्रमाणके साथ विरोध ही नहीं है, क्योंकि अर्थापत्तिप्रमाणके साथ उक्त श्रुतिका विरोध है, जिसके लिए उपदेश किया गया है, और जिसको उपदेशग्रहणका फल होता है, वे यदि ब्रह्मस्वरूप ही हैं, तो उपदेश निष्प्रयोजन होगा।

समाधान—उसमें यह प्रश्न होता है कि क्रिया अनेक कारकोंसे साध्य होती है और निरुपाधिक ब्रह्म एक होनेके कारण अनेक कारकात्मक है नहीं, इसलिए क्या उक्त उपदेश व्यर्थ है अथवा ब्रह्म नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त-स्वरूप है, इसलिए उपदेश व्यर्थ है? प्रथम पक्षमें शरीरादिमें अनेकत्वापत्ति दोष कह चुके हैं, इस कारण उक्त नियम ठीक नहीं है। द्वितीय पक्षमें नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वरूप ब्रह्म है, ऐसा ज्ञान होनेपर उपदेश व्यर्थ है या उक्त ज्ञानके न होनेपर व्यर्थ है? प्रथम पक्षमें इष्टापत्ति है, क्योंकि उस दशामें न उपदेश है, न उपदेष्टा है और न उपदेश ग्रहणका फल ही है। द्वितीय पक्षमें उक्तरूपसे यदि ब्रह्म ज्ञात नहीं है, तो उपदेश व्यर्थ कैसे हो सकता है? इसी ज्ञानके लिए उपदेश है, इसीसे उपदेश सप्रयोजन है। सब आत्मवादियोंके मतमें उपदेश आत्मज्ञानके लिए है, इस उपदेशसे पूर्व ईदृश आत्मा अज्ञात है, इसलिए उस अवस्थामें आनर्थक्य कहना असंगत है। फलोत्पत्तिके बाद उपायका कर्तव्यत्वरूपसे उपदेश ही नहीं होता, फिर वैयर्थ्यकी क्या संभावना?

शङ्का—आत्मैकत्वमें प्रमाणविरोध है नहीं, यह कहना ठीक है, किन्तु तार्किकसमयके (न्यायसिद्धान्तके) साथ विरोध तो अवश्य है।

प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च प्रत्युताऽद्वये ।
आत्मन्येव प्रसिध्यन्ति सुतरां सुविचारिणाम् ॥ २०८ ॥

समाधान—प्रकृत विषयमें तार्किकोंका प्रवेश ही नहीं हो सकता, इसलिए उनके विरोधकी क्या चिन्ता ? यह बड़ा गहन विषय है, अल्पबुद्धिगम्य नहीं है । शास्त्र और गुरुप्रसादसे शून्य पुरुष इसको जान ही नहीं सकता, अतएव 'कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति', 'देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा', 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' इत्यादि अनेक श्रुतियां उसकी गहनार्थताका प्रतिपादन करती हैं । इसलिए ब्रह्मातिरिक्त कोई संसारी नहीं है, यह ठीक ही कहा है । एवं 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेत् अहं ब्रह्मास्मीति', 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ' इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे उक्तार्थ ही निश्चित होता है ॥२०७॥

प्रत्यक्षादि भेदसाधक नहीं हैं, प्रत्युत अभेदके साधक हैं, ऐसा निरूपण करते हैं—**'प्रत्यक्ष०'** इत्यादिसे ।

प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र अद्वितीय आत्मामें ही प्रसिद्ध हैं, यह साधारण पुरुष भी उक्त रीतिसे जान सकता है और जो इस विषयमें विशेषविचार-शील हैं, वे तो अनायास जानते ही हैं ।

शङ्का—कौन प्रत्यक्ष आत्मैक्यमें प्रमाण है ?

समाधान—'आत्मन्येव०' इत्यादिसे । सब पुरुषोंके अन्तःकरणमें 'अहम्, अहम्' यों समानाकार बुद्धि एकरूपसे उत्पन्न होती है । यदि अहंपदार्थ परस्पर भिन्नस्वरूप होता, तो समानाकार प्रतीति कैसे होती ? एक विषयके बिना समानाकार प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि विषयभेद प्रतीतिभेदका साधक है, अतएव 'घटः' इत्याकारक प्रतीति घटमात्रमें ही हुआ करती है, पटादिमें नहीं ।

शङ्का—एक घटव्यक्तिसे दूसरी घटव्यक्ति भिन्न है, तो भी प्रतिव्यक्तिमें उक्त समानाकार प्रतीति होती है ।

समाधान—हां, होती है, किन्तु उक्त प्रतीतिका विषयविधया नियामक घटत्व है, सो प्रत्येक व्यक्तिमें एक ही है ।

शङ्का—अच्छा तो यहां भी आत्मत्वजातिको एक मानकर उक्त प्रतीति उपपन्न हो जायगी और उसके समान आत्मभेद भी सिद्ध होगा ?

समाधान—नहीं, 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्माके भेदका

आत्मावभासिकाऽहंधीः सा चैकत्रैव जायते ।
निपुणोऽप्यहमित्येवं नाऽनेकत्राऽभिमन्यते ॥ २०९ ॥
एकात्मवन्तो देहाः स्युर्विवादो यत्र वर्तते ।
शरीरत्वाविशेषत्वात् प्रतिवादिशरीरवत् ॥ २१० ॥

पूर्वमें ही निषेध कर चुके हैं, इसलिए उक्त जातिके बाधक व्यक्त्यभेदके विद्यमान होनेसे आकाशत्वके समान आत्मत्वजाति नहीं बन सकती । अतः उसको लेकर समानाकार प्रतीतिका समर्थन किसी प्रकार नहीं हो सकता एवं 'अहं निपुणः' यह प्रतीति भी सर्वत्र एक ही व्यक्तिका अवगाहन करती है; इसलिए अनेकात्मक संघातरूप आत्मा भी उक्त प्रतीतिका विषय नहीं है, किन्तु एक ही आत्मा उक्त प्रतीतिका विषय है। आत्मा स्वप्रकाश है, इसलिए वह अन्य प्रमाणसे गृहीत नहीं हो सकता, क्योंकि स्वप्रकाश विषयी माना जाता है, वषय नहीं। प्रतियोगीके ग्रहणके बिना भेदका ग्रहण सर्वथा दुर्घट है, अतः उक्त विषयमें प्रमाणविरोधकी शङ्का नहीं हो सकती। एवं अनुमानविरोधका भी निराकरण करना चाहिए । सांख्योक्त भेदके साधक जन्मादि शरीरगत हैं, आत्मगत नहीं हैं। और तार्किकोक्त अश्रावणत्वे सति विशेषगुणवत्त्वरूप हेतु भी वेदान्तिमतमें स्वरूपासिद्ध है, क्योंकि 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इत्यादि श्रुतिसे जब आत्मामें सामान्यगुणवत्त्व ही नहीं है, तब विशेगुणवत्त्वकी क्या संभावना ? 'सर्वं मन एव' इत्यादि श्रुतिके अनुसार तार्किकोक्त गुण मनके हैं, आत्माके नहीं हैं ॥ २०८,२०९ ॥

आत्माके अभेदका साधक अनुमान कहते हैं—**'एकात्मवन्तो'** इत्यादि ।

'सर्वदेहा एकात्मवन्तः, देहत्वात्, संप्रतिपन्नदेहवत्' अर्थात् सब देहोंमें एक ही आत्मा है, क्योंकि देहत्वरूपहेतु सब देहोंमें रहता है; जैसे हमारे देहमें देहत्व है, और उसमें एक ही आत्मा है, वैसे ही देहान्तरमें भी देहत्व है, इसलिए वहां भी एक ही आत्मा है, अन्य नहीं अर्थात् जो मेरी देहमें आत्मा है वही अन्य देहमें भी है, अन्य नहीं है । इसी प्रकार देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और विषयमें इसी न्यायका अतिदेश समझना चाहिए—विमतानि प्रतिवादि-भोगसाधनानि, इन्द्रियत्वात्, प्रतिवादीन्द्रियवत्' । इसी प्रकार मनःप्रभृतिमें भी अभेदानुमान करना चाहिए । जो शङ्का और समाधान एकात्मवादमें हैं, वे ही शरीरादिके ऐक्यमें हैं । समष्टिव्यष्टिभावसे एकत्वानेकत्वविचार है । तात्पर्य यह है

वेदान्तेष्वखिलेष्वात्मवस्त्वेकमिति डिण्डिमः ।
तस्मादेकरसेऽन्योक्तविरोधो नाऽस्ति कश्चन ॥ २११ ॥

इति श्रीविद्यारण्यमुनिप्रणीते वार्तिकसारे द्वितीयाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

सब चराचर शरीरोंमें स्वप्रकाश चिदेकरस आत्मा विद्वानोंके अनुभवसे एक ही सिद्ध होता है, अतः उससे विरुद्ध अनेकत्वानुमान अयुक्त है ॥ २१० ॥

'वेदान्तेषु' इत्यादि । श्रुतिमें एक ही आत्मा माना जाता है, यह अति-प्रसिद्ध है । यही कहते हैं—अद्वितीय इस आत्मामें दूसरोंके द्वारा बतलाये गये विरोध कुछ भी नहीं हैं, क्योंकि सम्पूर्ण वेदान्तमें एक ही आत्मा है, यह ध्वनि डंकाकी ध्वनिके समान प्रसिद्ध है अर्थात् छिपी नहीं है । इस विचारका निष्कर्ष यह है कि प्रत्यक्स्वरूप असंसारी ब्रह्ममें वेदान्त ही प्रमाण हैं । उसीके विषयमें 'सत्यस्य सत्यम्' यह उपनिषत् है ।

इति म० म० पण्डितप्रवर श्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिविरचितवार्तिकसार-भाषानुवादमें द्वितीय अध्यायका प्रथम ब्राह्मण समाप्त ।

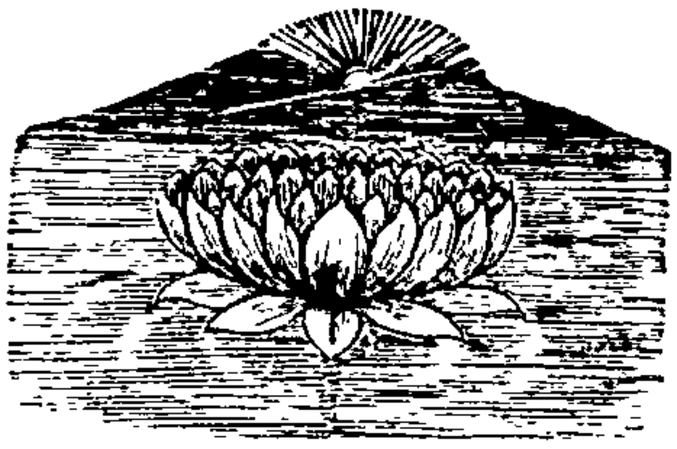

अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्

पूर्वस्मिन् ब्राह्मणे प्राणादन्य आत्मेति विस्तृतम् ।
सङ्गृहीतं च तात्पर्यं सत्यसत्येति नामतः ॥ १ ॥
वस्तुसङ्ग्रहवाक्यत्वात् सूत्रप्रायमिति श्रुतिः ।
सत्यशब्दद्वयस्याऽर्थौ प्राणान्मानावबोचत ॥ २ ॥

द्वितीय ब्राह्मण

पूर्वग्रन्थकी उत्तरग्रन्थके साथ सङ्गतिका प्रदर्शन करनेके लिए पूर्वकथित वृत्तका अनुवाद करते हैं—**'पूर्वस्मिन्'** इत्यादिसे ।

पूर्वब्राह्मणके आरम्भमें अजातशत्रु राजाने बालाकिके प्रति यह कहा था कि तुमको ब्रह्मका उपदेश देंगे और वहांपर यह भी समझाया था कि जिससे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय होता है, वही एक ब्रह्म है ।

शङ्का—जो उत्पन्न और लीन होता है, उस जगत्का स्वरूप क्या है ?

समाधान—पांच भूत ही उसका स्वरूप है ।

शङ्का—भूत क्या है ?

समाधान—नामरूपात्मक ही भूत है । नामरूपमें सत्यत्व भी कहा है, उस पञ्चभूतात्मक सत्यका भी सत्य ब्रह्म है ।

शङ्का—ब्रह्म सत्यका भी सत्य है, ऐसा कहनेसे नामरूपमें बाध्यत्व अनायास प्रतीत होता है, इसलिए नाम और रूप सत्य कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—'सच्च त्यच्च सत्यम्' इस श्रुतिसे नामरूपमें भी सत्यत्वका प्रयोग किया गया है, अतः इसी तात्पर्यसे भूत भी सत्य कहलाते हैं । भूत कार्य-करणात्मक अर्थात् शरीर और इन्द्रियात्मक हैं, अतः भूत एवं प्राण भी सत्य कहे जाते हैं । अतएव 'प्राणा वै सत्यम्' इत्यादि श्रुति सङ्गत होती है । श्लोकार्थ यह है कि पूर्व ब्राह्मणमें प्राणसे अन्य आत्मा है, ऐसा विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है और 'सत्यस्य सत्यम्' इस नामसे जगत्के जन्म आदिके कारण ब्रह्मका संक्षेपसे कथन किया गया है ॥ १ ॥

'वस्तुसङ्ग्रह०' इत्यादि । वस्तुका—चिदेकरस ब्रह्मका—संग्रह करनेवाली अर्थात् संक्षेपसे अभिधान करनेवाली श्रुति सूत्रप्राय याने सूत्रके सदृश है । सूत्र थोड़े अक्षरोंका और अधिक अर्थवाला होता है, यह प्रसिद्ध है । सत्य-

आविष्क्रियेते तावर्थौ क्रमेण ब्राह्मणद्वये ।
भवत्येतावता स्पष्टं गार्ग्यराजमतद्वयम् ॥ ३ ॥
तत्र प्राण उपाधिः स्यादात्मोत्क्रान्तिप्रवेशयोः ।
अत आत्मत्वविभ्रान्तिर्बालाकेरभवत् पुरा ॥ ४ ॥

शब्दके यहां दो अर्थ हैं—एक प्राण और दूसरा आत्मा । अतः ये दोनों अर्थ यहां सत्यशब्दसे कहे गये हैं ॥ २ ॥

'आविष्क्रियेते' इत्यादि । इन दोनों ब्राह्मणोंमें क्रमसे उन दोनों अर्थोंका स्पष्टीकरण किया जाता है । इस अर्थके स्पष्टीकरणसे बालाकि और राजाके दो मत स्पष्ट हो जाते हैं अर्थात् बालाकिके मतमें आत्मा कैसा है और राजाके मतमें कैसा है, यह अनायास ज्ञात हो जाता है ॥ ३ ॥

'तत्र प्राण' इत्यादि । शरीरसे आत्माके उत्क्रमणमें तथा शरीरमें होनेवाले आत्माके प्रवेशमें प्राण उपाधि है । आत्मा इन्द्रियका विषय नहीं है, अतः उसके उत्क्रमण और प्रवेशका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । प्राण ऐन्द्रियक (इन्द्रियों द्वारा वेद्य) है, अतः उसके उत्क्रमण और प्रवेश ऐन्द्रियक हैं, अतः प्राणके उत्क्रमण और प्रवेशके द्वारा ही आत्माका उत्क्रमण और प्रवेश जाना जाता है। अतएव मूर्च्छा आदि अवस्थाओंमें जीता है कि नहीं ? ऐसा सन्देह होने-पर मूर्च्छित आदि पुरुषकी लोग नासिकाका स्पर्श करते हैं। उस समय जब नासिका द्वारा वायुका संचार ज्ञात होता है, तब अभी जीवित है, अतः औषध आदिके उपचारसे संभव है कि जी जाय, इस आशासे वैद्यको लानेका प्रयत्न करते हैं और वायुका संचार यदि नहीं हो रहा हो, तो यह जाना जाता है कि यह मर गया, और ऐसा जानकर उसके अन्तिम संस्कारके लिए प्रयास करते हैं । इसीसे बालाकिको भ्रम हुआ । उन्होंने प्राणको ही आत्मा समझ रक्खा था। यद्यपि उसकी सत्ता और उसके अभावसे ही शरीर सजीव तथा निर्जीव कहलाता है, तथापि अजातशत्रु वस्तुतः आत्मज्ञानी थे, इसलिए उन्होंने प्राणसे अतिरिक्त आत्माको समझाया। सुषुप्ति अवस्थामें प्राणका संचार पूर्णरूपसे शरीरमें होता है, किन्तु चैतन्यका प्रादुर्भाव नहीं होता, प्राण ही यदि आत्मा हो, तो उस समय विषयका ज्ञान दुर्निवार हो जायगा, अतः आत्माके शरीरमें प्रवेश या उत्क्रमणमें प्राण उपाधि है। प्राणके प्रवेशसे ही आत्माका प्रवेश और प्राणके निर्गमसे ही आत्माका निर्गम जाना जाता है । यद्यपि यह ठीक

आत्मोपाधितयैवाऽस्य प्राणस्य स्यादुपास्यता ।
स प्राणस्तदुपाधिश्च ब्राह्मणेऽस्मिन्निविच्यते ॥ ५ ॥

श्रुतिः—यो ह वै शिशुꣳ साधानꣳ सप्रत्याधानꣳ सस्थूणꣳ सदामं

है, तथापि जड़ात्मक प्राण आत्मा नहीं है, परन्तु उससे अतिरिक्त है; जिसका विशेष निरूपण आगे किया जायगा ।

'**आत्मोपाधि०**' इत्यादि । आत्माकी प्राण उपाधि है, इसलिए प्राण उपास्य कहा गया है । उपाधिभूत प्राण और उपधेयभूत आत्मा—इन दोनोंका इस ब्राह्मणमें विवेचन किया जाता है । प्राण और आत्मा—इन दोनोंका भेद स्फुट नहीं है, अन्यथा बालाकिसदृश विद्वानोंको इसमें भ्रम न होता । अतः सर्व-साधारणको विवेक हो, इस कामनासे दोनोंका विवेक किया जाता है, जो उपासकोंके लिए अत्यावश्यक है ।

शङ्का—वास्तविक विवेक तो आत्माका ही आवश्यक है, क्योंकि आत्म-ज्ञानसे ही मुक्ति होती है, अतएव 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' ऐसा श्रुतिने कहा है । मुमुक्षु को आत्माका ही विवेक करना चाहिए, प्राणका नहीं; अतः प्राणका विवेक निष्प्रयोजन है ।

समाधान—प्राणके विवेकके बिना आत्माका विवेक नहीं हो सकता, इसलिए उसके उपायभूत प्राणका विवेक भी आवश्यक है और मार्गमें यदि कोई रमणीय कूप या तालब प्राप्त होता है, तो पथिककी यह स्वतः जिज्ञासा होती है कि इसका निर्माता कौन पुरुषरत्न था ? उस जिज्ञासाकी निवृत्तिके लिए यदि उस पुरुषका परिचय कराया जाय, तो वह प्रासंगिक होनेके कारण अजिज्ञासित नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार प्रकृतमें भी आत्माके निरूपणके समय प्राप्त प्राणका निरूपण अजिज्ञासित नहीं हो सकता ।

'**यो ह वै शिशुम्**' इत्यादि श्रुति । जो विषयकी अभिलाषासे शून्य पुरुष साधान, सप्रत्याधान, सस्थूण और सदाम प्राणको जानता है अर्थात् साधानत्व आदि गुणोंसे विशिष्ट प्राणकी उपासना करता है, उसको यह फल मिलता है कि वह अपने सात विरोधी शत्रुओंपर विजय पाता है याने उन शत्रुओंका निग्रह करता है, यह सामान्यतः अर्ध श्रुतिका अक्षरार्थ हुआ । साधानशब्दका अर्थ है शरीराश्रय, क्योंकि 'आधीयतेऽस्मिन् इति आधानं आश्रयः—शरीरम्,

वेद सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणस्तस्येदमेवाधानमिदꣳ प्रत्याधानं प्राणः स्थूणाऽन्नं दाम ॥ १ ॥

शिशुवद्विषयासङ्गरहितः प्राण इष्यते ।
वागादीनामिव यतो विषयोऽस्य न दृश्यते ॥ ६ ॥

तेन सहितं साधानम्'—शरीराश्रय । शरीरमें आश्रित ही वागादि इन्द्रियाँ उपलब्धिकी साधन होती हैं । तात्पर्य यह है कि देहाश्रित प्राणमें इन्द्रियाँ सम्बद्ध है, देहानाश्रित प्राणमें नहीं, यह आगे स्पष्ट होगा । सप्रत्याधान शब्दका अर्थ है कि सिरमें रहनेवाला । सिर ही प्रत्याधान है । सिरके प्रदेशविशेषमें नेत्र, नासिका आदि स्थानविशेष हैं, इसलिए सिर ही प्रत्याधान है । 'प्रति आधीयते इति प्रत्याधानम्' यह प्रत्याधानशब्दकी व्युत्पत्ति है । सस्थूण—स्थूणा अन्नपान जनित शक्ति । जैसे वत्स स्थूणामें—कीलविशेषमें—बद्ध रहता है, वैसे प्राण भी उक्त शक्तिमें (बलमें) बद्ध रहता है । जब तक शरीरमें बल रहता है, तब तक प्राणकी स्थिति रहती है । बलक्षयके अनन्तर ही शरीरसे प्राणका वियोग हो जाता है । यह सबके अनुभवसे सिद्ध है । सदाम—प्रकृतमें अन्न ही रस्सी है, जैसे वत्स रस्सीसे खूँटेमें बँधा रहता है, वैसे ही शिशु (प्राण) अन्नके द्वारा बँधा रहता है । भुक्त अन्नके परिणाम तीन प्रकारके होते हैं—स्थूल अंश मूत्र-पुरीष होकर बाहर निकल जाता है और जो मध्यम रस होता है, वह रुधिरादिपरिणाम द्वारा शरीरका पोषक होता है । योग्य अन्नके न मिलनेपर शरीर क्षीण होने लगता है, यह भी अनुभवसिद्ध ही है । एवंभूत प्राणको जो जानता है, उसका फल यह है कि वह प्राणोपासक सात विरोधी सिरमें स्थित चक्षु आदि इन्द्रियोंको रोकता है । भ्रातृव्य दो प्रकारके होते हैं—एक विरोधी, दूसरा अविरोधी । अविरोधी भ्रातृव्यके परिहारके लिए द्विषतः यह विशेषण दिया गया है । श्रुति पूर्वपादमें उक्त अर्थको उत्तर पाद द्वारा स्फुट करती है । मध्यम प्राणको शिशु कहते हैं । मुख और नासिकाके मध्यमें संचारी वायुविशेषको मध्यम प्राण कहते हैं । शेष स्फुट कर चुके हैं ॥ १ ॥

'शिशुवद्' इत्यादि ।

शङ्का—उक्त प्राण शिशुशब्दसे क्यों कहा गया ?

समाधान—तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार 'शिशु' विषयासङ्गसे रहित

शरीरमस्याऽऽधानं स्याद्देहमापादमस्तकम् ।
सामान्यवृत्त्या संव्याप्य चेष्टयत्यनिशं यतः ॥ ७ ॥

रहता है, उसी प्रकार उक्त प्राण भी विषयोंके आसङ्गसे दूर रहता है, अतः शिशुसादृश्यसे प्राणमें शिशुशब्दका गौण प्रयोग किया गया है। बालकका हृदय प्रथम राग, द्वेष आदिसे शून्य होता है, अतएव परिशुद्ध रहता है। विषयासङ्गियोंके संसर्गसे धीरे-धीरे विषयाभिमुख होता है और सङ्गवश ही चरित्रभेद भी होता है। विषयासङ्गकी निवृत्ति भी सत्सङ्गवश धीरे-धीरे होती है, इसलिए ये जीवात्माके स्वाभाविक धर्म नहीं है, अतएव नित्य नहीं हैं, पर दुस्त्याज्य अवश्य हैं। उक्त अर्थमें दृष्टान्त कहते हैं—वागादीनामित्यादिसे। वागादि इन्द्रियोंके जैसे वचन आदि विषय नियत हैं, वैसे प्राणका कोई विषय नियत नहीं है, अतएव प्राण वागादिसे श्रेष्ठ कहा गया है। विषयासङ्गियोंकी अपेक्षा विषयपराङ्मुख सज्जन श्रेष्ठ माने ही जाते हैं ॥ ६ ॥

'शरीर०' इत्यादि। इस प्राणका शरीर आधान—अधिष्ठान या आश्रय—है, इन्द्रियोंका भी आश्रय शरीर ही है। उनसे प्राण बँधा है, शरीरमें जबतक प्राण रहता है तबतक ही इन्द्रियाँ भी उसमें रहती हैं। अतएव दृष्टान्त दिया गया है कि जैसे अरबी घोड़ेके चारों पैर चार कीलोंमें बँधे रहते हैं, परन्तु चारों कीलोंको क्रमशः उखाड़कर वह भाग जाता है, वैसे ही प्राण वागादि इन्द्रियों द्वारा शरीरमें बँधा रहता है, किन्तु निकलनेके समय इन्द्रियोंको खींचकर साथ ही निकल जाता है। इससे इन्द्रियाँ कीलस्थानापन्न हैं और शरीर भूमिके समान आश्रय है। प्राणसे संबद्ध इन्द्रियाँ शरीराधिष्ठानके बिना उपलब्धिकी साधन नहीं होतीं, किन्तु शरीरमें ही प्राणसंबद्ध ही इन्द्रियाँ पुरुषकी उपलब्धिकी साधन होती हैं, इसलिए शरीर आधान है। वागादिके समान शरीरके एक देशमें ही प्राण नहीं रहता, किन्तु पैरसे लेकर मस्तक-पर्य्यन्त प्राणकी स्थिति रहती है। इसमें प्रमाण यही है कि जिस भागमें प्राणका संचार नहीं होता। वह शरीरभाग सूख जाता है और उसके द्वारा उपलब्धि भी नहीं होती, इस तात्पर्यसे कहते हैं कि सामान्यवृत्तिसे शरीरको व्याप्तकर सतत शरीरमात्रमें व्यापार कराता रहता है अर्थात् स्पन्दनरूप सामान्यवृत्तिसे प्राण शरीरको जीवित रखता है ॥ ७ ॥

प्रत्याधानं शिरो ज्ञेयं प्रतिच्छिद्रं व्यवस्थितः ।
प्रसारयति नेत्रादीन् प्राणो मूर्ध्नि विशेषतः ॥ ८ ॥
प्राणस्य बन्धनस्तम्भः शारीरं बलमिष्यते ।
दौर्बल्ये सति देहस्य प्राणोत्क्रान्तिर्हि दृश्यते ॥ ९ ॥

'प्रत्याधानम्' इत्यादि। सिरको प्राणका प्रत्याधान जानना चाहिए, कारण कि वह सिरके प्रदेशविशेषोंमें—श्रोत्र, अक्षि, नासिका इत्यादि अवयवविशेषोंमें—व्यवस्थित होकर नेत्रादि इन्द्रियोंको अपने अपने विषयोंमें प्रवृत्त कराता है। यद्यपि प्राण पैरसे लेकर सिर तक सम्पूर्ण शरीरावयवोंमें रहता है, यह पूर्वमें कह चुके हैं, तथापि उनमें सामान्यरूपसे रहता है और यहांपर विशेषरूपसे रहता है। प्राणाधीन ही इन्द्रियोंकी गति होती है।

शङ्का—इन्द्रियोंका प्रवर्त्तक तो मन माना गया है, प्राणको उनका प्रवर्त्तक कैसे कहते हो ?

समाधान—तात्पर्य यह है कि प्राण ही इन्द्रियोंमें बल देता है। प्राण प्रबल रहता है, तो इन्द्रियाँ बलवती रहती हैं, अन्यथा वे भी क्षीण हो जाती हैं, अतएव रुग्ण प्राणियोंकी इन्द्रियाँ भी कमजोर हो जाती हैं। मनकी प्रेरणासे निर्बल इन्द्रियाँ अपने विषयका ग्रहण नहीं कर सकतीं, इसलिए प्राण इन्द्रियोंका प्रसारक कहा गया है, प्रेरक नहीं। मूर्द्धस्थित प्राण ही विशेषरूपसे इन्द्रियोंका प्रसारक है ॥ ८ ॥

'प्राणस्य' इत्यादि। शरीरका जो बल है, वही प्राणके बन्धनके लिए स्तम्भ है। जब शरीर अति दुर्बल हो जाता है, तब प्राणकी उत्क्रान्ति अर्थात् निष्क्रमण हो जाता है। इसलिए डाक्टर दुर्बल शरीरमें बल पहुँचानेके लिए विशेषरूपसे यत्न करते हैं। श्रुतिमें 'प्राणः स्थूणा' कहा है। यहाँपर प्राणशब्दका बल अर्थ है, क्योंकि प्राणका ही कार्य बल है, इसलिए कार्यमें कारणका गौण प्रयोग है। किन्तु भाष्यकारने लिखा है कि 'स्थूणा अन्नपानजनिता शक्तिः प्राणोर्बलमिति पर्य्यायाः'। भर्तृप्रपञ्चके मतमें 'उच्छ्वासनिःश्वासकर्मा वायुः शारीरः' यों शरीरपक्षपाती प्राण यहाँ कहा गया है। इसी शारीर वायुसे करणदेवतालिङ्गपक्षपाती शिशु प्राण लिया जाता है। वही प्राण इस बाह्य प्राणमें बँधा है। इस पक्षका 'अन्नं हि भुक्तं त्रेधा परिणमते' इत्यादिसे भाष्यकारने उपपादन किया है—वही कहते हैं ॥ ९ ॥

बन्धनायाऽस्य दामान्नं वत्सबन्धनरज्जुवत् ।
अन्नो त्रेधा विभिन्नोऽस्मिन्भागाभ्यां बध्यते द्वयम् ॥ १० ॥
स्थूलभागः पुरीषं स्यान्मध्यमो देहपोषकः ।
प्राणं तर्पयते सूक्ष्म इति बद्धं वपुर्द्वयम् ॥ ११ ॥
एवं विवेचितं प्राणं य उपास्ते रुणद्धि सः ।
भ्रातृव्यान्द्विषतः सप्त मूर्द्ध्नि छिद्रव्यवस्थितान् ॥ १२ ॥

'बन्धनायाऽस्य' इत्यादि । जैसे बछड़ेको बांधनेके लिए रस्सी होती है, वैसे ही इस शिशु प्राणको बांधनेके लिए अन्न दाम (रस्सी) है । पीत और भुक्त अन्नादि तीन राशियोंमें विभक्त होता है—एक स्थूल, दूसरा मध्यम, और तीसरा सूक्ष्म । जो स्थूल अंश होता है, वह मूत्र और पुरीषके रूपसे बाहर निकल जाता है, जो मध्यम अंश होता है, वह रस, रुधिर आदि क्रमसे अपने कार्य सप्तधातुक शरीरका वर्द्धक होता है ।

शङ्का—सात धातु कौन हैं ?

समाधान—त्वग्, असृक्, मांस, मेदा, मज्जा, अस्थि, शुक्र—इन्हीं सात धातुओंसे बने शरीरको सप्तधातुक कहते हैं । यह अन्वयव्यतिरेकसिद्ध है कि अपने भोगयोग्य अन्नके सेवनसे शरीर मोटा होता है और इस प्रकारके अन्नके अभावसे शरीर क्षीण हो जाता है । जो सूक्ष्मरस होता है, जिसको अमृत, ऊर्क् और प्रभाव कहते हैं । वह नाभीसे ऊपर हृदयदेशमें आकर हृदयमें फैली हुई जो बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, उनमें प्रविष्ट होकर जो करणसंघातरूप लिङ्ग शिशुसंज्ञक है, उसकी शरीरमें स्थितिका कारण होता है । इसलिए अन्न स्थूणाख्य बलको उत्पन्न करता हुआ शरीर और प्राण दोनोंका बन्धन है । रस्सी जैसे वत्सको कीलमें और कीलको वत्समें बांधती है, वैसे ही अन्न प्राणको शरीरमें और शरीरको प्राणमें बाँधता है अर्थात् अन्न शरीर और प्राण दोनोंके बन्धनका कारण है ॥ १० ॥

'स्थूलभाग०' इत्यादि । स्थूलभाग पुरीष होता है, मध्यम भाग देहका पोषक है और सूक्ष्म भाग प्राणका तर्पक याने तृप्तिका कारण है । इसलिए लिङ्ग शरीर और स्थूल शरीर—ये दोनों शरीर अन्नसे बद्ध हैं । इसका निरूपण पूर्व श्लोकमें विशेषरूपसे कर चुके हैं, अतः संक्षेपसे कहा ॥ ११ ॥

'एवम्' इत्यादि । इस प्रकारसे विवेचित—परिचित—याने निश्चितस्वरूप

भ्रातृव्याः स्युः सहोत्पत्तेः शब्दाद्यासङ्गवृत्तयः ।
द्विषन्ति च मुमुक्षुं ताः प्रत्यगृदृष्ट्यपहारतः ॥ १३ ॥
सेवन्तेऽक्षिस्थितं प्राणं सप्त रुद्रादिदेवताः ।
अक्षीणा इत्युपास्ते यः सोऽन्नाक्षयमुपाश्नुते ॥ १४ ॥

प्राणकी जो पुरुष उपासना करता है, [यहाँ श्रुतिस्थ वेदशब्दका उपासना अर्थ है ।] वह उपासक सातों शत्रुओंको रोक सकता है याने नष्ट कर सकता है, यह भाष्यसंमत अर्थ है, यही उचित भी है । 'द्विषन्तः' इस विशेषणसे उन सातों भ्रातृव्योंमें शत्रुत्वकी प्रतीति होती है । शत्रुओंका नाश करना ही उचित है, जो कि सातों सिरके छिद्रविशेषोंमें व्यवस्थित हैं । सिरके सात छिद्र पूर्वमें कहे जा चुके हैं । भातृव्यशब्दके दो अर्थ होते हैं—एक भाईका अपत्य—लड़का । यह 'भ्रातुर्व्यच्च' इस पाणिनीय सूत्रसे 'भ्रातुरपत्यम्' इस विग्रहमें भ्रातृशब्दसे व्यत्प्रत्यय करनेसे सिद्ध होता है । दूसरा शत्रु यह 'व्यन्सपत्ने' इस सूत्रसे शत्रु अर्थमें व्यन् प्रत्यय करनेसे सिद्ध होता है । प्रकृतमें पूर्वोक्त भ्रातृव्यशब्दका ही ग्रहण है, कारण कि शत्रु अर्थके बोधक 'द्विषत्' शब्दका पृथक् प्रयोग है । यद्यपि भ्रातृव्यशब्दका मुख्य अर्थ भाईका लड़का ही होता है, इन्द्रियाँ आत्माके भाईके लड़के नहीं हैं, तथापि सहोत्पत्तिके तात्पर्यसे उक्त शब्दका प्रयोग उक्त अर्थमें किया गया है ।

शङ्का—आत्माकी तो उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि वह नित्य है; फिर उक्तार्थ भी कैसे हो सकता है ?

समाधान—ठीक है, यहाँ उत्पत्तिका तात्पर्य अभिव्यक्तिमें है, उत्पत्तिके अनन्तर दोनों साथ ही ज्ञात होते हैं । भ्रातृव्य दो प्रकारके होते हैं—एक भाई, जैसे श्रीरामचन्द्रजीके श्रीभरतजी थे । दूसरोंके उदाहरणकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इस युगमें सर्वत्र उपलब्ध है, इसलिए 'द्विषत्' यह विशेषण दिया गया है, जिससे कि शत्रुके नाशका बोध हो, भक्तके नाशका नहीं ।

शङ्का—अच्छा, तो वागादि इन्द्रियां शत्रु कैसे हैं ? वे तो विषयोपलब्धि-द्वारा सुखकी साधन हैं ।

समाधान—उक्त इन्द्रियां मोक्षसाधन आत्मदृष्टिको विषयोन्मुख कर देती हैं, इसीसे आत्मा सांसारिक विविध दुःखोंका अनुभव करता है, इस अर्थमें

श्रुतिः—तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते तद्या इमा अक्षन् लोहिन्यो राजयस्ताभिरेनं रुद्रोऽन्वायत्तोऽथ या अक्षन्नापस्ताभिः पर्जन्यो या कनीनिका तयाऽऽदित्यो यत्कृष्णं तेनाग्निर्यच्छुक्लं

'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' यह काठक श्रुति-प्रमाण है। अतएव मुमुक्षुओंको शत्रुके समान इन्द्रियोंपर विजय पानेके लिए शम, दम आदि साधनोंकी परमावश्यकता होती है ॥ १२,१३ ॥

'यो ह वै शिशुम्' इत्यादिसे निर्दिष्ट शिशुशब्दार्थको स्फुटकर उत्तर ग्रन्थका तात्पर्य दिखलाते हैं—**'सेवन्तेऽ०'** इत्यादिसे ।

सात रुद्र आदि देवता, जिनका स्फुट निर्देश आगे किया जायगा, नेत्र-स्थित प्राणकी सेवा करते हैं। अतएव वे अक्षिति—अक्षीण—हैं, यह जो जानता है अर्थात् प्राणकी अन्नभूत सातों इन्द्रियाँ सतत प्राणकी उपासना करती हैं, ऐसी भावनासे जो प्राणकी उपासना करता है, वह अक्षय अन्न पाता है अर्थात् उसको कभी भी अन्नकी कमी नहीं होती ॥ १४ ॥

'तमेताः सप्ताक्षितयः' इत्यादि श्रुति। ये सात अक्षितियां सातों इन्द्रियाँ इस करणात्मक प्राणकी उपासना करती हैं।

शङ्का—'उपान्मन्त्रकरणे' भगवान् पाणिनिके इस सूत्रसे मन्त्रकरणक उपासनारूप अर्थमें उपपूर्वक स्था धातुसे आत्मनेपद होता है, प्रकृतमें मन्त्रका निर्देश नहीं है, अतः आत्मनेपद कैसे हुआ ?

समाधान—यहांपर सातों देवताओंके जो रुद्रादि नाम हैं, वे ही मन्त्र-स्थानापन्न हैं। इसलिए आत्मनेपदका प्रयोग समुचित है।

शङ्का—कौन-कौन अक्षितियां है ?

समाधान—जो आंखमें लाल रेखाकी धारियाँ हैं, उन्हींके द्वारा रुद्र देवता मध्यम प्राणकी उपासना करते हैं और जो आँखमें जल है—धूमादिके संयोगवश आँखसे जलात्मक अश्रु गिरता है, इसलिए आँखमें जल रहता है, यह निश्चित है—उसके द्वारा पर्जन्य देवता नेत्रमें स्थित होकर प्राणकी उपासना करता है। वही अन्न होकर प्राणका अक्षिति कहलाता है। समयपर आवश्यकतानुसार जलके बरसनेसे प्रजावर्गको आनन्द होता है, यह लोकमें प्रसिद्ध है। जो नेत्रमें कनीनिका—काली पुतली—है, उसके द्वारा आदित्य भगवान् उक्त मध्यम प्राणकी उपासना करते हैं और जो नेत्रमें कृष्ण रूप है, उसके द्वारा अग्नि और जो शुक्ल रूप है, उसके द्वारा इन्द्र उपासना

तेनेन्द्रोऽधरयैनं वर्त्तन्या पृथिव्यन्वायत्ता द्यौरुत्तरया नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद ॥ २ ॥

तदेष श्लोको भवति—अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् । तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति । अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न-

करते हैं और नेत्रकी नीचेकी पलकोंमें पृथ्वी स्थित होकर उक्त उपासना करती है, जैसे पलक आँखसे नीचे है, वैसे ही पृथ्वी भी नीचे है । इसलिए नीचे रहनेके कारण निचिले पलकोंमें पृथिवीका रहना ठीक ही है । और नेत्रकी ऊपरकी पलकोंमें द्यौ रहकर उक्त प्राणकी उपासना करती है, क्योंकि इन दोनोंमें ऊर्ध्वत्व समान है । ये सातों देवता अन्नभूत होकर प्राणकी सतत उपासना करते हैं । इस प्रकारकी जो प्राणोपासना करता है, उससे यह फल होता है कि उसको अन्नका घाटा नहीं रहता ॥ २ ॥

'तदेतच्श्लोको भवति अर्वाग्बिल०' इत्यादि श्रुति । उक्त अर्थमें यह मन्त्र है । (प्रकृतमें श्लोकशब्दका मन्त्र अर्थ है) अर्वाग्बिलश्चमस' इत्यादि । चमस सोमरसके आधारभूत पात्रविशेषका नाम है, इसके समान सिर होता है । सादृश्य कहते—अर्वाग्बिल याने नीचे बिल (रन्ध्र) रहता है, जैसे चमसमें—उक्त यागके पात्रविशेषमें—नीचे छिद्र रहता है वैसे ही मुखस्वरूप छिद्र सिरके नीचे है । तथा ऊर्द्धबुध्न—बुध्नका अर्थ है प्रकृतमें मूल, क्योंकि 'मूलं बुध्नोऽङ्घ्रिनामकः' ऐसा अमरकोश भी है—एवं 'बुध्नो ना मूलरूद्रयोः' यह कोशान्तर भी है ।

शङ्का—सिर मूल है, इसमें क्या प्रमाण ?

समाधान—'ऊर्द्धमूलमधःशाखम्' इत्यादि भगवद्गीताका वचन ही प्रमाण है ।

शङ्का—यह वचन तो संसाररूप वृक्षका मूल परमात्मा है, इस अर्थमें प्रमाण है, शरीरका मूल सिर है, इसमें प्रमाण नहीं है ।

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं है, किन्तु दोनों अर्थोंमें उक्त वाक्य प्रमाण है । मूल ही पूर्वाङ्ग कहलाता है, वृक्षमें जैसे मूल पूर्वाङ्ग है । वैसे शरीरमें सिर पूर्वाङ्ग है । सबसे पहले सिर ही अभिव्यक्त होता है, और प्रकृतार्थमें यह श्रुति ही स्वयं प्रमाण है । चमस भी ऊर्ध्वमूल है और सिर भी ऊर्ध्वमूल है, इसलिए सिर चमस कहा गया है । उसमें विश्वरूपनामक यश रक्खा है ।

स्तास्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति, प्राणा वै यशो विश्वरूपं प्राणानेतदाह तस्यासत ऋषयः सप्त तीर इति, प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्ध्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते ॥ ३ ॥

इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्र-जमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसि-

शङ्का—यश प्रकृतमें क्या है ?

समाधान—विश्वरूप प्राण, श्रोत्रादि और सात प्रकारसे उनमें स्थित वायु यश कहलाते हैं, क्योंकि वे ही शब्दादि-ज्ञानके हेतु हैं, उसके तीरमें सात ऋषि रहते हैं।

शङ्का—सात ऋषि कौन हैं ?

समाधान—परिस्पन्दात्मक प्राण द्वारके भेदसे सात माने जाते हैं। सो सिरके तीररूपी छिद्रोंमें रहते हैं। वाग् आठवें प्रकारकी है। ब्रह्मप्रतिपादक वर्णराशिसे (शब्दसमूहसे) संसृष्ट तादृश शब्दराशिका उच्चारण करनेवाली वाग् आठवीं ही है।

शङ्का—पूर्वमें सात प्राण हैं, ऐसा कहा, उनमें रसनेन्द्रिय भी आ गई है; फिर वह आठवीं कैसे हो सकती है ?

समाधान—भक्षणकर्तृत्व और उच्चारणकर्तृत्व—ये दो धर्म रसनेन्द्रियमें हैं, प्रथमोक्त-धर्ममात्रके तात्पर्यसे सात हैं, ऐसा कहा, और द्वितीय धर्मकी भी विवक्षा करनेसे आठवीं प्रकारकी कही गयी है। अतएव कार्यभेदका स्फुटीकरण करनेके लिए इसके दो नाम कहे गये हैं। 'रसना' नाम रसका ग्रहण करनेसे पड़ा है, और उच्यते अनया (जिससे बोला जाता हो) इस तात्पर्यसे वाक् हो जाती है ॥३॥

शङ्का—फिर कहिए, चमसरूपी सिरके तीरमें रहनेवाले वे सात ऋषि कौन-कौन हैं ?

समाधान—'**इमावेव गोतमभरद्वाजा०**' इत्यादि श्रुति।

दोनोंके नाम क्रमशः गोतम और भरद्वाज हैं। दक्षिण कर्ण गोतम है और वाम कर्ण भरद्वाज है, इस क्रममें प्रमाण नहीं है, इसलिए विपरीत भी हो सकता है, इस तात्पर्यसे श्रुतिमें समस्तासमस्तभेदसे दो बार नाम लिया गया है। चक्षुके तात्पर्यसे विश्वामित्र और जमदग्नि कहे गये हैं। दक्षिण चक्षु विश्वामित्र है और वाम चक्षु जमदग्नि है अथवा पूर्वके समान यहाँपर भी विपरीत क्रम समझना चाहिए। नासिकाके तात्पर्यसे 'इमावेव वसिष्ठकश्यपौ' यह निर्देश है।

ष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

इत्युपनिषदि चतुर्थाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥ २ ॥

कर्णादिसप्तच्छिद्रेषु गौतमाद्यृषिनामकाः ।
स्थिताः प्राणा इति ध्यायेद्वाचं च ब्रह्मवादिनीम् ॥ १५ ॥
हिरण्यगर्भरूपेण सर्वभुक् स्यादुपासकः ।
इति गार्ग्यमतं ब्रह्म ब्राह्मणेऽस्मिन्प्रपञ्चितम् ॥ १६ ॥

इति वार्तिकसारे द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयं
ब्राह्मणं समाप्तम् ॥ २ ॥

यहां भी दक्षिणोत्तर नासिकाके भेदसे वसिष्ठ और कश्यपका कथन है और पूर्ववत् विपरीत भी हो सकता है, इसी तात्पर्यसे असमस्त पदसे भी दोनोंका निर्देश किया गया है । वाक् सप्तम अत्रि है । अदनक्रियाके (भक्षणक्रियाके) योगसे उसका 'अत्रि' नाम पड़ा है । अत्रिका परोक्ष नाम अत्रि है । वाचा—वागिन्द्रियसे अन्न खाता है, इसलिए अत्रि नाम अन्वर्थक है । श्रुति उपासकका फल कहती है—सर्वस्यात्ता । उपासकका सभी अन्न होता है और वह सबका अत्ता होता है अर्थात् उपासकका जो भोज्य है वह उपासकके प्रति भोक्ता नहीं है, किन्तु भोग्य है, यह परम तात्पर्य है ॥ ४ ॥

'**कर्णादि०**' इत्यादि ।

कर्ण आदि सात छिद्रोंमें दो कान, दो नेत्र, दो नासिकाएँ—ये छः और एक मुख, यों सात छिद्र हैं, उनमें उक्त गोतमादि सात ऋषि रहते हैं, वे ही प्राण हैं ऐसा ध्यान करना चाहिए । और आठ प्रकारकी ही ब्रह्मवादिनी वाणीका भी ध्यान आवश्यक है ॥ १५ ॥

शङ्का—यद्यपि उपासक मनुष्य है, अतः अपने अधिकार और सामर्थ्यके अनुसार सब वस्तुओंका भोक्ता नहीं हो सकता, इसलिए सबमें भोग्यत्वका चिन्तन करना भी अनुचित ही है ।

समाधान—ठीक है, इसीलिए कहा जाता है कि '**हिरण्यगर्भ०**' इत्यादि ।

उपासक अपनेमें हिरण्यगर्भ जो उपास्य है, उसके स्वरूपका अनुचिन्तन कर

अर्थात् 'मैं हिरण्यगर्भ हूँ' ऐसा ध्यानकर तद्रूपसे उक्त ध्यान कर सकता है। हिरण्यगर्भ सब जीवोंकी समष्टि है, किसी जीवका कोई भी भोज्य है ही, अतः उक्त ध्यान समुचित ही है। आधे श्लोकसे उपासकमें सर्वभोक्तृत्व फलका समर्थनकर उत्तरार्द्धसे उक्त ब्राह्मणके अर्थका उपसंहार करते हैं—'इति' आदिसे। गार्ग्यको जो ब्रह्म अभिमत था अर्थात् जैसा वे ब्रह्मको मानते थे, वैसा ही इस श्रुतिमें निरूपण किया गया है, परन्तु यह मत राजाको मान्य नहीं है, सो आगे ब्राह्मणसे स्फुट होगा।

इति द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्।

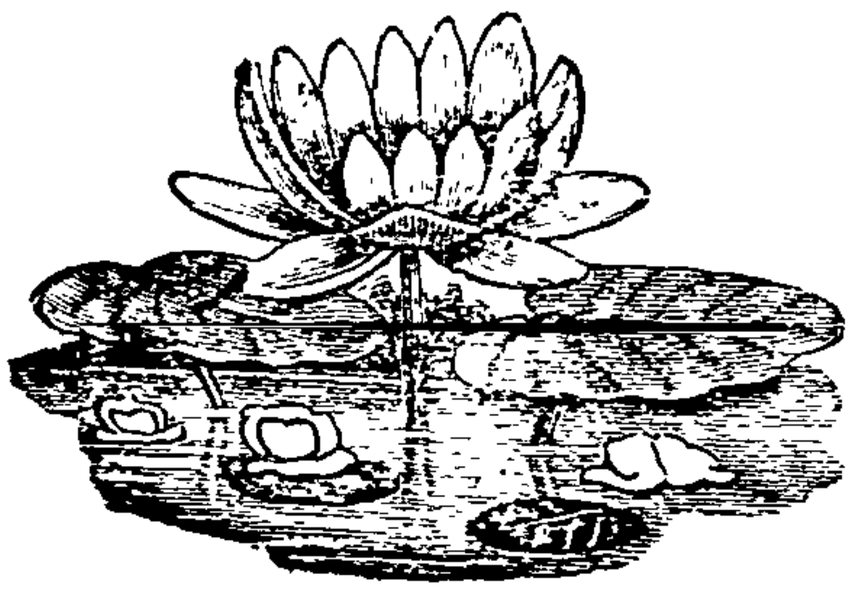

अथ तृतीयं ब्राह्मणम्

गार्ग्योक्तं ब्रह्म विस्तृत्य तन्निरासाय साम्प्रतम् ।
तृतीयब्राह्मणे प्राह राज्ञोक्तं ब्रह्म विस्तृतम् ॥ १ ॥

तृतीय ब्राह्मण

'गार्ग्योक्तम्' इत्यादि । गार्ग्योक्त ब्रह्मका विस्तारसे निरूपण कर उसके मतका निराकरण करनेके लिए सम्प्रति तृतीय ब्राह्मणमें राजा अजातशत्रु द्वारा उक्त विस्तृत ब्रह्मको कहते हैं—

शङ्का—इस कथनका प्रकृतमें क्या प्रयोजन है ?

समाधन—प्रतिपादयिताके लिए संबद्ध अर्थका प्रतिपादन इसलिए अत्यावश्यक है कि प्रकृत अर्थका श्रवण करनेके लिए श्रोताकी साभिलाष प्रवृत्ति हो । यह तभी हो सकता है, जब अजिज्ञासित अर्थका अभिधान न हो । अन्यथा अभिधीयमान अर्थमें विनेयकी (शिष्यकी) श्रद्धा, विश्वास आदि पूर्वक श्रवणमें प्रवृत्ति आदि नहीं होते, प्रत्युत वक्ताके उपदेशमें अनवधानादि दोष मानकर श्रवण आदिसे उपरत हो जाता है। इसलिए वक्ताका यह परम कर्तव्य है कि समय-समयपर उक्त आशङ्काके निरासार्थ पूर्वोत्तर वाक्योंका संबन्ध पहले कह देना चाहिए । अध्याय, पाद आदिमें तो यह अवश्य ही स्मरण कराना चाहिए कि उक्त अर्थकी वक्ष्यमाण अर्थसे यह सङ्गति है । अतः गार्ग्योक्त ब्राह्मणकी राजोक्त ब्राह्मणके साथ सङ्गति इस श्लोकसे स्फुट की गई है ? जो श्रोताकी बुद्धिके समवधानके लिए अत्यावश्यक है । अतएव भाष्यकारने 'प्राणा वै सत्यम्' इत्यादि वाक्यसे उक्त संगति स्फुट की है।

शङ्का—अच्छा, तो प्रकृतमें कौन-सी संगति सिद्ध हुई ?

समाधान—ब्रह्मोपनिषत्के प्रसंगसे प्राणोपनिषत्का व्याख्यान किया गया, जिससे विशिष्ट नाम-उपासनाकी व्याख्या हुई और प्राण कौन है ? और कितने हैं ? इस शङ्काकी भी उक्त व्याख्यान द्वारा निवृत्ति की गई है अर्थात् यद्यपि व्यष्टिरूपसे प्राण अनन्त हैं, अतः उनकी गणना असंभव है, तथापि श्रोत्रादि-स्थानवश सात और शब्दादि कार्योपाधिसे आठ प्राण पूर्वमें कह चुके हैं । ऋषि द्वारा उनका विशेषरूपसे सभी प्रकारसे परिचय कराया गया और वे सत्य हैं, ऐसा भी कहा

गया है। इसमें यह सन्देह होता है कि प्राण सत्य कैसे कहे जाते हैं? इसको समझानेके लिए उत्तर ब्राह्मणका आरम्भ होता है।

शङ्का—'सत्या वै प्राणास्तेषामेष सत्यम्' इस श्रुति-वाक्यसे प्राणमें सत्यत्व दूसरा है, यह स्फुट प्रतीत होता है, कारण कि 'सत्यस्य सत्यम्' (सत्यका भी सत्य) इसमें पहलेके षष्ठ्यन्त सत्यसे द्वितीय सत्य भिन्न होना ही चाहिए, इसलिए परम सत्य तो आत्मा ही है। दूसरा सत्य प्राण कैसे है? इसका अवधारण करनेके लिए षष्ठ्यन्त सत्यशब्दसे कथित कार्य शरीर, करण इन्द्रियादि और तदात्मक पांच भूतोंमें सत्यत्वके अवधारणके लिए तृतीय अध्यायका आरम्भ है।

शङ्का—तृतीय अध्याय ब्रह्मस्वरूपके निरूपणके लिए है? या प्राणसत्यत्वके निरूपणके लिए है? प्रथम पक्षमें 'द्वे वाव' इत्यादि वाक्य व्यर्थ है, क्योंकि इसके द्वारा ब्रह्मका निरूपण नहीं किया गया है, किन्तु 'अथात आदेशो नेति नेति' इससे ही ब्रह्मका निरूपण है। द्वितीय पक्षमें ब्रह्मस्वरूपका निरूपण ही नहीं करना चाहिए, प्रत्युत प्राणके सत्यत्वका निरूपण ही आदिसे अन्ततक करना चाहिए, क्योंकि यही अध्यायका उद्देश्य माना गया है।

समाधान—'सत्यस्य सत्यम्' इस उपनिषत्-वाक्यसे प्राण और ब्रह्म—ये दोनों सत्यशब्दसे कहे गये हैं, दोनोंमें एक-सा सत्यत्व नहीं हो सकता, यह कहना भी ठीक ही है। सत्यस्वरूप ब्रह्मका ही निरूपण करना प्रकृत अध्यायका विषय है, जिसका निरूपण 'अथात' इत्यादिसे होता है, यह भी कहना ठीक है। अब शङ्का यह रही कि ऐसी परिस्थितिमें 'द्वे वाव' इत्यादिसे प्रकृत अध्यायका आरम्भ क्यों हुआ? इसका उत्तर यह है कि त्याग अथवा उपादान अज्ञात पदार्थका नहीं हो सकता, इसलिए किसी पदार्थका निरूपण त्यागके लिए किया जाता है और किसीका उपादानके लिए। प्रकृतमें उपाधिरहित ब्रह्म ज्ञेयत्वरूपसे अभीष्ट है, इसलिए अविद्यासे आरोपित उपाधियोंके स्वरूपका जबतक निर्णय नहीं कराया जायगा, तब तक उनके त्यागकी शिक्षा देना व्यर्थ है, इसलिए उपाधियोंके स्वरूपका परिचय करानेके लिए 'द्वे वाव' इत्यादि श्रुतियां आवश्यक हैं।

और यह भी शङ्का हो सकती है कि प्राण चेतन है अथवा अचेतन? द्वितीय पक्षमें कारणात्मा है अथवा विकारात्मा? प्रथम पक्षके प्रथम पक्षका तो सम्भव नहीं है, क्योंकि प्राण अनात्म-पदार्थोंमें परिगणित है, द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इत्यादि श्रुतियोंसे

प्रथमब्राह्मणे राजा ब्रह्म यद्यप्यशेषतः ।
उवाचाऽथाऽपि सत्यस्य सत्यता नहि विस्तृता ॥ २ ॥
सत्यसत्यत्वविस्तारमुखेन प्रतिपाद्यते ।
निष्प्रपञ्चब्रह्मतत्त्वं तृतीयब्राह्मणे स्फुटम् ॥ ३ ॥
श्रुतिः । द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च ॥ १ ॥
द्वे एव ब्रह्मणो रूपे प्रपञ्चत्वमुपागते ।
मूर्त्तामूर्त्तात्मके याभ्यामरूपं ब्रह्म रूप्यते ॥ ४ ॥

विकारात्मना उपदिष्ट हुआ है । 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्यादि श्रुतियोंसे पारमार्थिक सत्यता प्राणमें सिद्ध नहीं हो सकती, इत्यादि शङ्काओंका निराकरण करनेके लिए तृतीय ब्राह्मणका कुछ अंश है । 'अथात' इत्यादि अंश परब्रह्मके स्वरूपका निरूपण करनेके लिए है । प्रश्न तो प्राणस्वरूप और उसके सत्यत्वका ही है, अतः अग्रिम श्रुतिसे उसका निरूपण होना चाहिए, परन्तु निरूपण किया गया है पांच भूतोंका । सो क्यों ?

समाधान—यहां सत्यशब्दका अर्थ कार्य शरीर और करण इन्द्रियां हैं और ये पञ्चभूतात्मक हैं, इसलिए पांच भूतोंका निरूपण प्राणके निरूपणके तात्पर्य्यसे ही है ॥ १ ॥

'प्रथम०' इत्यादि । द्वितीय अध्यायके प्रथम ब्राह्मणमें राजा अजातशत्रुने अशेषतः ब्रह्मके स्वरूपका निरूपण किया है, फिर भी 'सत्यस्य सत्यम्' इतना ही सत्यताके विषयमें कहा, इतनेसे यह नहीं जाना जा सकता कि प्राण कैसे सत्य है और उसका भी सत्य ब्रह्म कैसे है ? इसलिए इस विषयमें विशेष निरूपणकी आकाङ्क्षा है, उसकी निवृत्तिके लिए उत्तर ब्राह्मणके कुछ अंशका आरम्भ है ॥ २ ॥

'सत्यसत्यत्व०' इत्यादि । सत्यका जो सत्य है, उसके विस्तृत निरूपण द्वारा निष्प्रपञ्च—प्रपञ्चाभावोपलक्षित—ब्रह्मतत्त्वके स्वरूपका निरूपण तृतीय ब्राह्मणमें किया जाता है ॥ ३ ॥

'द्वे एव' इत्यादि । मूर्त और अमूर्त—ये ही दो ब्रह्मके रूप हैं, प्रपञ्चात्मक होनेसे ये प्रपञ्च भी माने जाते हैं। ब्रह्म यद्यपि 'अरूपमस्पर्शम्', 'क इत्था वेद यत्र सः', 'अविज्ञातं विजानताम्', 'यतो वाचो निवर्त्तन्तेऽप्राप्य मनसा

मूर्त्तामूर्त्तप्रपञ्चश्च वासना चेति वा द्वयम् ।
सवासनमिदं रूपमनिदं चेति वा द्वयम् ॥ ५ ॥
सन्निवेशो नेत्रदृश्यो यस्य तन्मूर्त्तमुच्यते ।
क्षित्यम्बग्नित्रयं मूर्त्तममूर्तं त्वितरद् द्वयम् ॥ ६ ॥

सह', 'अगृह्यो नहि गृह्यते' इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार अरूप माना गया है, तथापि व्यवहारदशामें अविद्यासे आरोपित शरीर, इन्द्रिय आदि आत्मामें प्रतीत होते हैं, अतः 'रूप्यते बोध्यते याभ्यां ते रूपे मूर्त्तामूर्त्ते' अर्थात् जिनसे ज्ञात होता है, वे दो रूप मूर्त और अमूर्त हैं, इस व्युत्पत्तिसे ब्रह्म सरूप कहा गया है ॥४॥

शङ्का—मूर्त्तामूर्त्तमय तो स्थूल शरीर आदि हैं, इससे कारणभूत सूक्ष्म शरीरका संग्रह नहीं हुआ और वह भी उपाधि है, इसलिए दूसरा अर्थ कहते हैं—**'मूर्त्तामूर्त्त०'** इत्यादिसे ।

मूर्त्तामूर्त्त—स्थूल-सूक्ष्म पृथिव्यादि भूत और वासनाएँ ये दो रूप ब्रह्मके विविक्षित हैं, अथवा वासनासहित जड़ और अजड़ । 'इदम्'से प्रथम और अनिदंसे अजड़ विवक्षित है । अन्तिम अर्थ भाष्यसम्मत है । भाष्यकारने यह कहा है कि पृथिवी आदि पांच भूतोंसे जन्य शरीर, इन्द्रिय आदिसे संबद्ध मूर्त्तामूर्त्तनामक वासनासे सहित सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसे समन्वित ब्रह्मका एक रूप है, यही सोपाख्य कहा जाता है और सोपाख्य ही सकल व्यवहारका विषय है तथा कारणत्व, ज्ञातृत्व, प्रमाण-प्रमेयत्व, अधिष्टातृ देवतात्व, अधिष्ठेय इन्द्रियादिमत्त्व, अन्तर्यामित्व, साक्षित्व, असर्वज्ञत्व इत्यादि सकल धर्म व्यवहारमें जो अप्रमेय ब्रह्ममें अविद्यासद्भावदशामें प्रतीत होते हैं, वे सब सोपाख्य ब्रह्मके ही धर्म माने जाते हैं, ब्रह्मज्ञानके उत्पन्न होनेपर उक्त सब धर्मोंके साथ अविद्या भी निवृत्त हो जाती है, तब 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतिके अनुसार ब्रह्म सकलधर्मातीत शुद्ध माना जाता है और उसीके ज्ञानसे मोक्ष होता है, जिसका विशेष निरूपण आगे किया जायगा ॥५॥

'सन्निवेशो' इत्यादि । जिनके अवयवसन्निवेश (अवयवोंकी गठन) चाक्षुष—प्रत्यक्ष—होते हैं, वे मूर्त कहे जाते हैं । इसमें उदाहरण है—पृथिवी, जल और तेज । इन तीन पदार्थोंके स्वरूपका नेत्रसे प्रत्यक्ष होता है, इसलिए ये तीनों मूर्त्त कहे जाते हैं । भाव यह है कि वेदान्तमें पाँच भूतोंका दो श्रेणियोंमें विभाग किया गया है—पृथिवी, जल और तेज—ये तीन मूर्त एवं वायु और आकाश

मूर्त्तामूर्त्तस्वभावत्वमशेषजगतीक्षितुम् ।
आविष्कृतस्तत्स्वभावो मर्त्यत्वादिविशेषणैः ॥ ७ ॥

ये दो अमूर्त कहे जाते हैं। मूर्तका लक्षण चाक्षुषत्व है, उक्त तीनोंमें उद्भूत रूप है, इसलिए वे चाक्षुष हैं।

शङ्का—पृथिवी आदि तीनोंके परमाणुओंमें उद्भूत रूप न होनेसे उनमें मूर्तलक्षणकी अव्याप्ति होगी।

समाधान—वेदान्तमतमें वैशेषिकाभिमत परमाणु नहीं माने जाते, प्रत्युत वेदान्तसूत्रसे परमाणुवादका पूर्ण निराकरण किया गया है। इसलिए यह दोष नहीं हो सकता।

अब अमूर्त कहते हैं—इतर दो अर्थात् पृथिवी आदि तीनोंसे भिन्न वायु और आकाश अमूर्त हैं। यद्यपि वैशेषिकमतानुयायी लोग मूर्तका लक्षण अपकृष्टपरिमाणवत्त्व आदि करके पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन—इन पाँचोंकोमूर्त मानते हैं, तथापि यह सिद्धान्त वेदविरुद्ध होनेसे वेदान्तियोंको मान्य नहीं है ॥ ६ ॥

'मूर्तामूर्त०' इत्यादि।

शङ्का—ब्रह्मके मूर्त और अमूर्त ये ही दो रूप हैं, यदि यही अर्थ अभिमत है, तो अग्रिम मर्त्य, स्थित आदि विशेषण व्यर्थ होंगे। यदि वे भी विवक्षित हैं, तो 'दो ही' यह अवधारण अयुक्त है।

समाधान—वक्ष्यमाण विशेषण उक्त विशेषमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं, इसलिए अवधारण युक्त है।

शङ्का—विशेषण प्रधानभूत विशेष्यके अनुयायी होते हैं। यदि प्रधानके साथ संबन्धमें कोई बाधक हो, तो कथंचित् विशेषणोंमें भी संबन्ध हो सकता है, अन्यथा प्रधान विशेष्यके साथ ही सकल विशेषणोंका संबन्ध होता है, अतएव 'अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या' इत्यादिका प्रधानभूत क्रयणक्रियामें ही अन्वय माना जाता है। उन दोनोंका मिथः संबन्ध पीछे हो जाता है, जिससे विशिष्टार्थका ही ग्रहण होता है। एवं प्रकृतमें अविद्यावत्परब्रह्म विशेष्य है, उसके अधीन निखिल विशेषणोंका अन्वय हो सकता है, तो फिर 'नहि भिक्षुको भिक्षुकान्तरं याचते सति अभिक्षुके' (जब तक अभिक्षुककी सम्भावना हो तबतक भिक्षुक भिक्षुकसे याचना नहीं करता) इस न्यायके विरुद्ध विशेषणोंकी परस्पर संगति क्यों मानते हो ?

मूर्त्तं स्थूलवपुर्मर्त्यं सूक्ष्मात्क्षिप्रं विनाशतः ।
अमूर्त्तं सूक्ष्ममामृतमामोक्षमविनाशतः ॥ ८ ॥

समाधान—विशेषणका अन्वय मानोगे, तो शुद्धत्वका ही व्याघात हो जायगा, शुद्ध तो सर्वथा असङ्ग अतएव उदासीन है। यदि विशिष्टमें अन्वय मानोगे, तो विशेषणान्वयके बिना विशिष्टमें अन्वय हो ही नहीं सकता, इसलिए उक्त विशेषणमें ही वक्ष्यमाण विशेषणोंका अन्वय इष्ट है।

शङ्का—उक्त रूप और रूपी (ब्रह्म) इनमें भेद मानते हो या नहीं ? यदि भेद मानते हो, तो अद्वैतकी हानि होगी, यदि भेद नहीं मानते हो, तो विशेष्यविशेषणभावकी अनुपपत्ति ही दोष है।

समाधान—कल्पित सर्पका अज्ञात रज्जूरूप अधिष्ठानके साथ जैसे वास्तविक भेद या अभेद नहीं है, क्योंकि कल्पित पदार्थ अकल्पित धर्मीका धर्म हो नहीं सकता, वैसे एवं प्रकृतमें कल्पित मूर्तत्व आदि वस्तु ही नहीं हैं, तो उनके साथ वास्तविक भेदाभेदका विचार ही व्यर्थ है, किन्तु ब्रह्मभेदके निरासके द्वारा वे भी केवल ब्रह्म ही हैं, यह 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इस अधिकरणमें स्पष्ट है। प्रकृतमें वक्ष्यमाण मर्त्यादि विशेषण ब्रह्मके उक्त दो रूपोंमें ही अन्तर्भूत होते हैं, यह आगे व्यक्त किया जायगा, इस तात्पर्यसे कहते हैं—सम्पूर्ण जगत्में मूर्तामूर्तस्वभाव जाननेके लिए वक्ष्यमाण मर्त्यत्वादि विशेषण द्वारा स्वस्वभावका प्रकाश कराया गया है अर्थात् निखिल भूत-भौतिक प्रपञ्चमात्र मूर्तादिस्वभाव है ॥ ७ ॥

'मूर्तं स्थूल०' इत्यादि। मूर्तामूर्त स्थूल-सूक्ष्म शरीरमें मर्त्यत्व-अमृतत्वका क्रमशः उपपादन करते हैं, मूर्त जो स्थूल शरीर है, वह मर्त्य है।

शङ्का—सूक्ष्म शरीर भी तो मर्त्य ही है, फिर स्थूल शरीरमें ही मर्त्यत्व कहनेका क्या अभिप्राय है ?

समाधान—अभिप्राय यह है कि स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीरकी अपेक्षा शीघ्र विनाशी है और सूक्ष्म शरीर अमृत—अविनाशी है, मोक्षकालतक स्थायी रहता है। अमृतत्व भी मर्त्यत्वके समान ही आपेक्षिक है। सूक्ष्म शरीरकी अपेक्षा स्थूल शरीर मर्त्य है और स्थूल शरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म शरीर मोक्षकालतक रहनेसे अमृत कहा गया है, वस्तुतः दोनों शरीर मर्त्य ही हैं। यह व्यवस्था आध्यात्मिक और आधिदैविक दोनों स्थूल-सूक्ष्म शरीरोंके लिए समान है ॥ ८ ॥

पाञ्चभौतिकता तुल्या यद्यपि स्थूलसूक्ष्मयोः ।
तथाऽप्यत्र विशेषोऽस्ति प्रधानगुणभावतः ॥ ९ ॥
स्थूलस्य मूर्त्तप्राधान्याच्चक्षुषा तद्विलोक्यते ।
अमूर्त्तस्य प्रधानत्वात् सूक्ष्मं नैव विलोक्यते ॥ १० ॥
पाञ्चभौतिकयोः स्थूलसूक्ष्मयोर्मर्त्यतामृते ।
यथा तद्वत्परिच्छेदव्यापित्वे च विशेषणैः ॥ ११ ॥
सदिति त्यदिति प्रोक्ते प्रत्यक्षत्वपरोक्षते ।
मूर्त्तामूर्त्ते च तादृक्त्वाद्रूपे द्वे सत्यनामनी ॥ १२ ॥

'पाञ्चभौतिकता' इत्यादि ।

शङ्का—स्थूल और सूक्ष्म—इन दोनों शरीरोंके पाञ्चभौतिक होनेसे इनमें चाक्षुषत्वादिरूप मूर्तत्वादिकी व्यवस्था कैसे बन सकती है ?

समाधान—पाञ्चभौतिकत्व दोनोंमें समान है, यह कहना ठीक है, परन्तु मूर्त शरीर मूर्तप्रधान है, क्योंकि उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है और सूक्ष्म शरीर वायु-आकाशप्रधान है, वायु और आकाशका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए वह अमूर्त माना जाता है, उक्तार्थको अग्रिम श्लोकसे भी स्फुट करेंगे ॥ ९ ॥

'स्थूलस्य' इत्यादि । स्थूल शरीर मूर्तप्रधान है, इस कारण उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है । सूक्ष्म शरीर अमूर्तप्रधान है, इसलिए वह चाक्षुष प्रत्यक्षका विषय नहीं होता ॥ १० ॥

स्थित और यत्—इन दो पदोंका अर्थ कहते हुए ये दोनों मर्त्य और अमर्त्यके सदृश मूर्त और अमूर्तमें विशेषण हैं ऐसा कहते हैं—**'पाञ्चभौतिकयोः'** इत्यादिसे ।

गति पूर्वक अव्याप्य आश्रित स्थितशब्दका भाष्यानुसारी अर्थ है । उसीका फलितार्थ प्रकृतमें परिच्छिन्नरूप अर्थ मूलकारने किया है, उससे विपरीत व्यापक 'त्यत्' शब्दका अर्थ है, इसका वार्तिककारने अर्थ किया है—'एत्येव न तिष्ठति' अर्थात् चलता ही रहता है, स्थिर नहीं रहता । पर आकाशका यह धर्म नहीं है, इसलिए संभव है कि वार्तिककारने व्यापकमात्र ही अर्थ किया हो । भूतत्रयसे वायु दशांश अधिक होनेसे उसकी अपेक्षा व्यापक है और आकाश तो न्यायादिमतमें व्यापक माना ही गया है ॥ ११ ॥

'सदिति' इत्यादि । सच्च त्यच्च—इन दो पदोंका अर्थ कहते हैं—सत्का अर्थ अपरोक्षत्व, और त्यत्का अर्थ परोक्षत्व है ।

अध्यात्ममधिदैवं च यथा सत्यं व्यवस्थितम् ।
प्रसिद्धमुभयस्याऽपि स्थूलसूक्ष्मवपुर्द्वयम् ॥ १३ ॥

शङ्का—मूर्तत्वका भी अपरोक्षत्व ही अर्थ किया गया है और 'सत्' शब्दका भी यदि वही अर्थ है, तो पुनरुक्त दोष हो जायगा।

समाधान—पूर्वमें चाक्षुप अपरोक्ष मूर्तशब्दका अर्थ किया गया है, यहांपर गुणक्रियासाधारण अपरोक्षत्व कहा जाता है, इसलिए उक्त दोषकी शङ्का नहीं है। स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्चमात्र उक्त विशेषणविशिष्ट है, अतः सत् और त्यत्शब्दका वाच्य है, अतः उक्त रूप सत्यके नाम हैं। सारांश यह है कि मूर्त, मर्त्य, स्थित और सत्—इन चार विशेषणोंसे संयुक्त पृथिवी, जल, तेज ये तीनों भूत हैं। इन चारों विशेषणोंमें परस्पर हेतुहेतुमद्भाव विवक्षित है, मूर्तत्वहेतुक मर्त्यत्व है, मर्त्यत्वहेतुक स्थितत्व है, स्थितत्वहेतुक है—इन्द्रियग्राह्यत्व। वायु और आकाश—ये दोनों अमूर्तत्व, अमृतत्वआदि विशेषणोंसे युक्त हैं। अमूर्तसे अमर्त्य, त्यत्से अतीन्द्रिय, अतीन्द्रियसे व्यापी, व्यापीसे अमृत माने जाते हैं। 'मूर्तं विनाशि, परिच्छिन्नत्वात्, घटादिवत्', 'अमूर्तम् अविनाशि, अपरिच्छिन्नत्वात्, आकाशवत्' इत्यादि अनुमानके लिए पूर्व-पूर्वकी उत्तरोत्तरके साथ संगति है, उसे पूर्वमें स्फुट कर चुके हैं ॥ १२ ॥

'अध्यात्म०' इत्यादि। किसीका यह मत है कि स्थूलशरीरावच्छिन्न आधिदैविक लिङ्गसे अतिरिक्त आध्यात्मिक लिङ्ग नहीं है, इसका निराकरण करते हुए मूलकार कहते हैं कि जैसे उक्त चार विशेषणोंसे विशिष्ट सत्य आध्यात्मिक और आधिदैविक भेदसे द्विधा व्यवस्थित है, वैसे ही आध्यात्मिक और आधिदैविक भेदसे अमूर्त भी दो प्रकारसे व्यवस्थित है, यह प्रसिद्ध है। स्थूल मूर्त और सूक्ष्म अमूर्त एतदुभयात्मक जैसे आधिदैविक सूर्यादिशरीर है, वैसे ही उक्तोभयात्मक आध्यात्मिक शरीर भी है। सांख्यका यह जो सिद्धान्त है कि इन्द्रियां आहंकारिक होनेसे व्यापक हैं, क्योंकि अहंकार जगन्मण्डलवृत्ति होनेसे व्यापक है; इसलिए तत्कार्य इन्द्रियां भी व्यापक हैं, केवल वृत्तिलाभ (विषयग्रहण) शरीरके बाहर नहीं होता, इसलिए प्रादेशिक (शरीरान्तर्गत) कही जाती हैं, तन्निवर्त्तक ही इहलोक और परलोकमें, गति तथा आगतिका शास्त्रादिमें व्यवहार है, अतएव 'प्राणा सर्वेऽनन्ताः' इत्यादि श्रुति भी सुसंगत होती है, सो ठीक नहीं है

श्रुतिः—तदेतन्मूर्त्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो य एष तपति सतो ह्येष रसः ॥ २ ॥

कारण कि सर्वगत होनेपर गति और आगतिके बोधक आगमके मुख्यार्थका बाध हो जायगा और व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तुके ग्रहणकी भी आपत्ति होगी। यदि सर्वगत होनेपर भी वृत्तिका लाभ शरीरमें ही होता है, यह माना जाय, तो प्राप्ताप्राप्त-विवेकन्यायसे शरीरके भीतर ही इन्द्रियां कही जा सकती हैं। अहंकार-विकारको बाह्य माननेपर भी उसे इन्द्रिय नहीं कह सकते, अतः इन्द्रियोंको अव्यापक ही मानना उचित है। व्यापकबोधक उक्त श्रुति उपासनार्थ है, स्वरूपनिर्णायक नहीं है। उपासना आरोपितरूपसे भी होती है, अतः अन्यपर वाक्यसे इन्द्रियस्वरूपका निर्णय समुचित नहीं है, उक्त संक्षिप्त अर्थका श्रुति स्वयं विभाग करती है—**'तदेतन्मूर्तम्'** इत्यादिसे।

मूर्त और अमूर्तोंमें मूर्त—परस्परमिलितावयव समुदाय—वायु और आकाश-रूप अमूर्तसे अतिरिक्त है; परिशेषसे पृथिवी आदि तीन ही मूर्त मर्त्य हैं, विनाशी हैं।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—क्योंकि वे स्थित हैं, अर्थात् परिच्छिन्न हैं, अन्य अर्थके साथ एक समयमें एक अधिकरणमें वे नहीं रह सकते, क्योंकि जिस स्थलमें जिस समयमें घट है, उस स्थलमें उसी समय अन्य घट नहीं रह सकता, यह सर्वानुभव सिद्ध है। अतएव शास्त्रकारोंका वचन है' मूर्तयोः सहावस्थानविरोधः' अर्थात् मूर्तोंका एकाधिकरणमें एक साथ रहनेमें विरोध है। अमूर्तकी अपेक्षा मूर्तका यह असाधारण धर्म है। अमूर्त वायु और आकाश संघटितावयव नहीं हैं। इसलिए उनमें उक्त विरोध नहीं होता। स्थित होनेसे सत् है। मूर्तत्व, मर्त्यत्व, स्थितत्व और सत्त्व—इन चारों धर्मोंमें व्यभिचार अर्थात् एककी सत्तामें अपरोंका अभाव नहीं है, प्रत्युत नियमेन सद्भाव ही रहता है; इसलिए इनमें विशेष्यविशेषणभावका कामचार है—परस्परमें विशेष्यविशेषणभाव वक्ताकी .इच्छापर निर्भर है, विषयस्वभावके अनुसार अन्यत्रके सदृश नियत नहीं है एवं हेतुहेतुमद्भाव भी परस्पर समुचित है। सर्वथा तीन भूत—मूर्तत्वादिचतुष्टयविशेषणसे विशिष्ट मूर्त—ब्रह्मके रूप हैं, इन चार विशेषणोंमें एकका ग्रहण करनेसे उससे भिन्न विशेषणत्रयका ग्रहण हो जाता है, क्योंकि ये चारों परस्पर अव्यभिचरित हैं, यह कह चुके हैं, इसीसे फिर

अथामूर्त्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यदेतत्यं तस्यैतस्यामूर्त्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्त्यस्य ह्येष रस इत्यधिदैवतम् ॥ ३ ॥

श्रुतिने चारों विशेषणोंका अनुवाद कर इनमें सारभूत पदार्थका निर्णय किया है। इससे पुनः कथनके बिना भी उक्त चार विशेषणोंका उपादान सिद्ध ही था, पुनः उक्त चारोंका कथन पुनरुक्तदोषोत्पादक होनेसे व्यर्थ है, यह शङ्का भी निरस्त हो जाती है; क्योंकि उक्त चार विशेषणोंसे युक्त तीन भूतोंका कार्य सूर्यमण्डल है, एक-एकका कार्य नहीं है, इस विशेष अर्थका बोधन करनेके लिए फिर उक्त विशेषणोंका अनुवाद श्रुतिने किया है। अविशेष अर्थका अभिधान करनेवाला पुनरुक्त पुनरुक्त दोष माना जाता है। उक्त चार गुणोंसे विशिष्ट तीन भूतोंका रस—सार—सविता (सूर्य) है।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—'यद्रोहितं तदग्नेः यच्छुक्लं रूपं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' इत्यादि श्रुतिसे रोहित, शुक्ल और कृष्ण—ये तीनों असाधारण विशेषण तीनों भूतोंके हैं, उक्त तीन रूप सूर्यसे ही विभक्त होते हैं। अतः मधुविद्यामें 'रोहिताभी रश्मिनाडीभिः शुक्लाभिः कृष्णाभिः' इत्यादि विशेषण सूर्यकी रश्मियोंमें दिये गये हैं। आधुनिक वैज्ञानिक सूर्य्य-रश्मि-तरङ्गको ही रंग मानते हैं। वेदसे भी ऐसा ही प्रतीत होता है, भूतत्रयके कार्य-वर्गोंमें सूर्य्य प्रधान है। 'य एष तपति' इसका अर्थ यह है, चूँकि भूतत्रयका सविता रस (सार) है, अतः तपति—मूर्त ही सविता संसारको प्रकाशित करते हैं। यद्यपि श्रुतिमें 'सतो ह्येष रसः' ऐसा कहा है, तथापि उक्त मूर्तत्वादि तीन गुणोंका 'सत्' शब्द उपलक्षण है; जो आधिदैविक करण है, उसे आगे कहेंगे ॥ २ ॥

'अथामूर्तम्' इत्यादि श्रुति। मूर्तके निरूपणके बाद अमूर्त पदार्थका निरूपण श्रुति करती है—जो अपरिछिन्न दो भूत हैं, वायु और अन्तरिक्ष—ये दोनों अमृत हैं, अमूर्त होनेसे अस्थित हैं, अतएव अविरुद्धद्यमान हैं, इनका किसीके साथ विरोध नहीं है, हो भी कैसे ? ये मूर्तके समान दृढ़ावयवसंघटित नहीं हैं, एक स्थलमें अन्यके साथ रहते हैं, तथा अमृत—अविनाशी—और स्थितसे विपरीत हैं, व्यापी और अपरिच्छिन्न हैं। जिस कारणसे अमूर्त अन्यसे अविभज्यमानविशेष है,

अथाध्यात्ममिदमेव मूर्त्तं यदन्यत्प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्त्तस्यैतस्य सत एष रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष रसः ॥ ४ ॥

स्थूलसारतया ज्ञेये चक्षुरादित्यमण्डले ।
मूर्तमर्त्यपरिच्छिन्नप्रत्यक्षत्वविशेषिते ॥ १४ ॥
अमूर्त्तामृतसंव्याप्तपरोक्षत्वैस्तु संयुतम् ।
उभयत्र स्थितं लिङ्गममूर्तरस उच्यते ॥ १५ ॥
हिरण्यगर्भक्षेत्रज्ञममूर्तरसमूचिरे ।
केचिन्मेधाकर्ममुख्याद्वियद्वाय्वादिसर्जनात् ॥ १६ ॥

अतः 'त्यत्' कहलाता है । त्यत् परोक्षको कहते हैं, वह अचाक्षुष है । अमूर्त, अमृत, यत् और त्यत्—इन चार विशेषणोंसे विशिष्ट अमूर्तके रसभूत आदित्यमण्डलमें जो करणात्मक पुरुष हिरण्यगर्भ है, वही प्राण कहा जाता है । वह दो अमूर्तोंका रस है अर्थात् पूर्ववत् सार है । पुरुषसार ही अमूर्त (वायु और आकाश ये दो भूत) है । हिरण्यगर्भरूप लिङ्गके आरम्भके लिए दो भूतोंकी अभिव्यक्ति है । अव्याकृत दो भूतोंका सार हिरण्यगर्भ है । सूर्यमण्डलस्थ पुरुष जो सूर्यमण्डलके समान दृष्टिगोचर नहीं होता, वही उक्त दो भूतोंका सार है । उस पुरुष और दो भूतोंमें अमूर्तत्वादि-विशेषण-चतुष्टयवैशिष्ट्य साधर्म्य है; अतः 'त्यस्य एष रसः' ऐसा श्रुतिका उद्घोष है । अथवा सूत्रात्मा लिङ्ग शरीरके आरम्भके लिए ही तीन मूर्तोंको उपसर्जन कर दो अमूर्तोंकी सृष्टि परमात्माने की, इसलिए दो भूतोंका सार सूत्रात्मा है। जैसे मण्डल तीन मूर्तोंका सार है, इसमें हेतु मूर्तत्वादि-चतुष्टयानुवृत्ति है, वैसे ही लिङ्गात्मा दो भूतोंका सार है, इसमें उक्त अमूर्तत्वादि-विशेषणचतुष्टयानुवृत्ति हेतु है । श्रुतिमें त्यत्-ग्रहण अन्योंका उपलक्षक है, यह भाष्यकारका मत है । श्रुत्यर्थके व्याख्यानसे 'स्थूलसारतया' और 'अमूर्ता०' इत्यादि दो श्लोकोंका भी व्याख्यान हो चुका, अतः पृथक् नहीं कहते ॥ ३,४,१४,१५ ॥

स्वमतकी परिशुद्धिका ज्ञापन करनेके लिए भर्तृप्रपञ्चके मतका निर्देश करते हैं **'हिरण्यगर्भ०'** इत्यादिसे ।

उनका आशय यह है कि 'त्यस्य रसः' इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें रसशब्द कारणके तात्पर्य्यसे प्रयुक्त हुआ है, कार्यमें कारण ही सार—तत्त्व—

नैवं मूर्त्तरसेनाऽस्य विरूपत्वप्रसङ्गतः ।
वाक्यप्रयुक्तौ तुल्यायां न युक्तार्थविरूपता ॥ १७ ॥

है, कार्य तो वाचारम्भणमात्र है । कारण चेतन ही हो सकता है, अचेतन नहीं, पुरुषशब्दका उपादान भी इस अर्थमें अनुकूल है। यद्यपि जीव भी चेतन है, तथापि सृष्टिकरणमें असमर्थ होनेके कारण वह प्रकृतमें कारणरूपसे विवक्षित नहीं है । ब्रह्म कूटस्थ और उदासीन है, इससे वह भी कारणरूपसे विवक्षित नहीं हो सकता अतः चेतन क्षेत्रज्ञ ही यहाँ कारणरूपसे अभिप्रेत है ।

शङ्का—वह भी दो भूतोंका कारण कैसे है ?

समाधान—जो इस मण्डलमें विज्ञानात्मा पुरुष है, उसीका भुक्तसे अवशिष्ट पूर्वजन्मार्जित प्रज्ञा-कर्म आदिके फलके भोगके लिए ही मण्डलमें विज्ञानात्मरूपसे आविर्भाव हुआ है । जिसके भोगके लिए जिनका आरम्भ होता है, वे उसके कारण माने जाते हैं, उसका यह कर्म वायु और अन्तरिक्षका प्रयोजक है ।

शङ्का—हिरण्यगर्भका शरीर केवल भूतद्वयात्मक नहीं है, किन्तु पञ्च-भूतात्मक माना जाता है, अतः उसके लिए पाँच भूतोंकी आवश्यकता है, दो भूतोंका ही अभिधान क्यों ?

समाधान—ठीक है, किन्तु प्रथम आकाशकी उत्पत्ति हुई, उसके बाद आकाशाधार परिस्पन्दात्मक वायुकी, उसके अनन्तर उन दोनोंके सम्बन्धसे तेजकी, इत्यादि क्रमसे जल और पृथिवीकी भी उत्पत्ति विवक्षित है । भूतत्रयोपसर्जन वायु और आकाशकी उत्पत्ति यहां अभिप्रेत है, अतएव 'मेधया तपसाऽजनयत् पिता' इत्यादि श्रुतिका स्वारस्य सङ्गत होता है । न्यायसे भी यही अर्थ ठीक है । भोग्यकी सृष्टि भोक्ताके अदृष्टसे होती है, इसलिए वह भोगार्थ है । जो जिसके अदृष्टसे होता है, उससे उसको साक्षात् या परम्परया सुख और दुःखका साक्षात्कार (भोग) होता है, यह मानी हुई बात है ॥१६॥

किन्तु, उक्त मत ठीक नहीं है, उसे कहते हैं,—'**नैवम्**' इत्यादिसे ।

जैसा मूर्तरस है, वैसा ही अमूर्तरस भी होना चाहिए एवं मूर्तरस आदित्य-मण्डल जैसे अचेतन है, वैसे ही अमूर्तरसको भी अचेतन मानना चाहिए। उक्त मतमें विज्ञानात्मा अमूर्तरस कहा गया है, इसलिए दोनों रसोंमें समानता नहीं आती ।

शङ्का—दोनोंमें असमानता होनेसे क्या दोष है ?

समाधान—वाक्यवैरूप्य दोष स्पष्ट है । मूर्त, मर्त्य, स्थित और सत्—ये चार धर्म

यद्वन्मूर्त्तरसोऽभीष्टश्चतुर्विधविशेषणः ।
अचेतनस्तथैवाऽयममूर्त्तरस इष्यताम् ॥ १८ ॥
अचेतनोऽप्यन्नमयो देहः पुरुषशब्दितः ।
श्रुत्यन्तरे तथा चाऽस्तु लिङ्गं पुरुषशब्दभाक् ॥ १९ ॥

मूर्तके हैं । अमूर्त, अमृत, व्यापी और त्यत्—ये चार धर्म अमूर्तके कहे गये हैं । जैसे मूर्तामूर्तमें समानधर्मता है, वैसे ही उसके रसोंमें भी समानता होनी चाहिए, मूर्तरस अचेतन है और अमूर्तरस चेतन है, ऐसा व्याख्यान करनेसे अर्द्धजरतीय दोष होता है, जो अप्रामाणिक होनेसे मान्य नहीं हो सकता । इसलिए उक्त दोषके परिहारके लिए अचेतनको ही अमूर्तरस कहना ठीक है, अतः उक्त मत हेय है ॥१७॥

'यद्वन्मूर्त०' इत्यादि । जैसे तीन मूर्तोंका रस मूर्त ही सूर्यमण्डल है और वह भूतत्रयका समानजातीय है, वैसे ही अमूर्त दो भूतोंके रसको अमूर्त भूतद्वयका समानजातीय ही मानना समुचित है । अमूर्तरस यदि चेतन न माना जायगा, तो रसोंमें वैलक्षण्य हो जायगा ।

शङ्का—उक्त दोषके समाधानके लिए यदि कहा जाय कि मूर्तरस भी मण्डलोपाधिक चेतन ही विवक्षित है, अचेतन मण्डल नहीं ।

समाधान—यह तो बहुत थोड़ा कहते हो, मण्डल ही चेतनकार्य होनेसे चेतन क्यों ? समस्त संसार ही चेतनरूप ब्रह्मका कार्य होनेसे चेतन है; फिर रसमें 'चेतन' विशेषण ही व्यर्थ है । विशेषण इतरकी व्यावृत्ति द्वारा ही सार्थक होता है, अन्यथा व्यर्थ ही है, प्रकृतमें तदितर है नहीं, तो व्यावृत्ति किसकी हो सकती है ? ॥१८॥

'अचेतनोऽ०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि अमूर्त भूतसारके करण अचेतन ही हैं, तो उनमें पुरुषशब्दका प्रयोग क्यों हुआ ? उक्त प्रयोग चेननमें ही होता है, यह सर्वत्र दृष्ट है ।

समाधान—श्रुतिमें अचेतन अन्नमय देहमें भी पुरुषशब्दका प्रयोग पाया जाता है, इसलिए अचेतनके बोधके तात्पर्यसे पुरुषशब्दका प्रयोग श्रुतिमें नहीं पाया जाता, यह कहना ही असङ्गत है । 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः', 'ते प्राणा न शक्ता विभक्ता व्यवहारं जनयितुमिति कृतालोचनास्त्वक्चक्षुःश्रोत्रजिह्वाप्राणवाङ्मनोरूपानेतान् पुरुषानेकं लिङ्गात्मकं पुरुषमकुर्वन्' इत्यादि वाक्य उक्त अर्थमें

ब्रह्मोपास्तिस्थानतया रव्यक्ष्णोरतिसारता ।
व्यवहारोपाधितया लिङ्गस्याऽपि च सारता ॥ २० ॥

प्रमाण हैं । एवं जैसे गोलकात्म चक्षुमें करणात्मा अचेतन इन्द्रियकी स्थिति है, वैसे ही आदित्यमण्डलमें करणात्मा प्राणकी स्थिति विवक्षित है ।

शङ्का—अच्छा, तो विज्ञानात्मा कहां है ?

समाधान—वह भी आदित्य-मण्डलमें ही है । मण्डल जैसे लिङ्गोपाधिक है, वैसे विज्ञानोपाधिक भी माना जाता है । इसमें कोई विरोध नहीं है ।

शङ्का—असामर्थ्यसे जीवमें अमूर्तादिके प्रति कारणता मानते नहीं हो, और कूटस्थ अविकारी परात्मामें तो कारणत्वका सम्भव ही नहीं हो सकता, फिर प्रपञ्चका कारण कौन है ?

समाधान—वस्तुतः प्रपञ्च कोई वस्तु हो, तो उसका कोई कारण कहा जाय, परन्तु प्रपञ्च ही जब अविद्यासे परमें आरोपित प्रतीत होता है, तब 'यक्षानुरूपो बलिः' इस न्यायके अनुसार कारणत्व भी उसमें आरोपित ही है । अज्ञातस्वरूपत्व कारणत्वके और मिथ्याज्ञानरूपत्व कार्यत्वके व्यवहारमें हेतु है ।

आधिदैविक मूर्तामूर्तका विवेचन हो गया । एवं परपक्षका सयुक्तिक निराकरण तथा स्वाभिप्रेत ही अर्थ श्रुतिसंमत है, इसका विवेचन समाप्त हुआ ॥१९॥

'ब्रह्मोपास्ति०' इत्यादि । चक्षु सार है, इस कथनमें कारण यह भी है—यद्यपि शरीरमात्रका निष्पादक तेज सब अङ्गोंमें सदा सन्निहित रहता है, तथापि तेजोविशेषका प्रकाशक तेज चक्षुमें ही अधिक रहता है । 'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्' यह श्रुति इस अर्थमें प्रमाण है; अतः तेजःपर्याय रसशब्दका चक्षुमें प्रयोग उचित ही है । अतएव चक्षु तैजस है, यह सर्वत्र प्रसिद्धि है । चक्षु मूर्त हैं, इसलिए मूर्तका कार्य है । देहावयवोंमें अन्यकी अपेक्षा चक्षु प्रधान माना जाता है । त्यत्का सारभूत रस यह है, जो दक्षिण आँखमें पुरुष है ।

शङ्का—वाम अक्षिमें भी उक्त रस है, फिर दक्षिण अक्षिका विशेष निर्देश क्यों ?

समाधान—उक्त तेज अतीन्द्रिय है, उसमें शास्त्र ही विशेषरूपसे प्रमाण माना जाता है । शास्त्रमें कहा गया है कि विशेषरूपसे दक्षिण नेत्रमें ही तेजोविशेषका अवस्थान रहता है । और लोकमें भी अनुमानादि द्वारा यह जाना

सारासारयुते रूपे मूर्त्तामूर्त्ते उदीरिते ।
अरूपं ब्रह्म रूपाभ्यां व्यवहारे निरूप्यते ॥ २१ ॥
मूर्त्तामूर्त्तव्यवस्थेयं यथाश्रुत्युपवर्णिता ।
अथ युक्त्यनुसारेण साऽन्यथाऽप्युपवर्ण्यते ॥ २२ ॥

जाता है कि दक्षिण नेत्रमें विशेषरूपसे उक्त तेज रहता है। अनुमानका आकार इस प्रकार है—दक्षिणनेत्रं वामनेत्रापेक्षया अतिशयवत्, दक्षिणाङ्गत्वात्, हस्तादिवत्। अतः उपासनाके लिए दक्षिण नेत्रका ही निर्देश युक्तियुक्त है, इस तात्पर्यसे लिखते हैं—ब्रह्मकी उपासनाका स्थान रवि और दक्षिण अक्षि है, इसलिए वे दोनों अतिसार हैं—अतिश्रेष्ठ हैं। लिङ्ग भी व्यवहारोपाधि होनेसे सार है ॥ २० ॥

'सारासार०' इत्यादि। मूर्त और अमूर्तका निरूपण किया गया तथा उन दोनोंमें सार और असारका भी विशेषरूपसे निरूपण किया गया। यद्यपि ब्रह्म स्वतः अरूप है; तो भी अविद्यारोपित इन्हीं दोनों रूपोंसे व्यवहारदशामें निरूपित होता है। इससे जो विद्वान् यह कहते हैं कि उक्त श्रुतिसे अरूप निर्विशेष ब्रह्म सिद्ध नहीं होता, क्योंकि श्रुति स्पष्ट रूपसे मूर्तामूर्तादि-स्वरूपका बोधन कराती है; अतः सविशेष ही ब्रह्म श्रुतिको सम्मत है; निर्विशेष नहीं; पर उनका मत ठीक नहीं है, क्योंकि यहां औपाधिक स्वरूपका उपासनाके लिए निर्देश है, वास्तविक स्वरूपका नहीं; 'योषा वाव गोतमाग्निः' इत्यादिके समान यहां भी आरोपितरूपसे उपासनाके लिए उक्त रूपका निर्देश है, अन्य वाक्यसे स्वरूपसत्ताकी निश्चिति सर्वत्र मानी जाती ॥ २१ ॥

'मूर्तामूर्त०' इत्यादि। यह मूर्तामूर्त व्यवस्था जैसे श्रुतिमें कही गई है; वैसे ही उसकी यहां व्याख्या की गई है, किन्तु उससे अभीष्ट अर्थ पूर्ण नहीं होता, इस लिए वह व्यवस्था युक्तिके अनुसार प्रकारान्तरसे अब कही जाती है। उपेयकी प्राप्तिके लिए उपायका निर्देश किया जाता है, इसलिए उपेयकी अपेक्षा उपाय अव्यवस्थित रहता ही है और उक्त उपायसे अतिरिक्त उपाय यदि आवश्यक हो, तो उसके निर्देशके लिए शास्त्रकारोंमें स्वतन्त्रता है और यह उचित भी है; अतएव अभियुक्तोंका वचन है—उपेयकी प्रतिपत्तिके लिए उपाय अव्यवस्थित हैं। भाव यह है कि अद्वैत ब्रह्मतत्त्वका निश्चय हो, इसीलिए श्रुति प्रतियोगिभूत द्वैतस्वरूपका परिचय मूर्तामूर्तरूपसे कराती है, वह द्वैतमात्रका स्वरूप अधिदैवत और

अमूर्त्तताऽतिसूक्ष्मेऽत्र समाप्ता मूलकारणे ।
मूर्तत्वमप्यतिस्थूले कार्ये ह्यन्ते समाप्यते ॥ २३ ॥
मध्यकारणकार्याणां मूर्तताऽमूर्तते इमे ।
आपेक्षिक्यौ यथायोग्यमुदाहरणमिष्यताम् ॥ २४ ॥

अध्यात्मके उक्त विभाग द्वारा संगृहीत नहीं होता, अतः केवल प्रतियोगीके ज्ञानके लिए अन्य प्रकारका अनुसरण आवश्यक है; अन्यथा मूल कारणका संग्रह नहीं हो सकेगा; इसलिए श्रौत विभागका उल्लङ्घन करके भर्तृप्रपञ्चके मतके अनुसार मूर्तामूर्तविभागकी ही कल्पना प्रकृतमें उपयोगिनी है । कारण कि मूर्तामूर्तसे निखिल ब्रह्मरूप संगृहीत होना चाहिए । अमूर्तत्व अव्याकृतमें ही मुख्य है, अतः वास्तवमें अव्याकृत ही अमूर्त है, वाय्वादि नहीं । मूर्तत्व भी वास्तविक घटादि कार्यमें ही है, बीचवाले पदार्थोंमें मूर्तत्व और अमूर्तत्व आपेक्षिक है । किसीकी अपेक्षा किसीमें मूर्तत्व है, और किसीमें अमूर्तत्व । जैसे पृथिव्यादिकी अपेक्षा वायु अमूर्त है और वाय्वादिकी अपेक्षा पृथिव्यादि मूर्त हैं, वास्तवमें लक्षण लक्ष्यमें रहनेसे ही लक्ष्यका व्यापक होता है; अन्यथा लक्षणमें अव्यापकत्व दोष आ जाता है, प्रकृतमें दोनों लक्षण मुख्य वृत्तिसे लक्ष्यके व्यापक नहीं होते ॥ २२ ॥

'अमूर्तताऽ०' इत्यादि । अतिसूक्ष्म मूल कारण (जगत्का मूल कारण) अव्याकृत जो आकाशशब्दका वाच्य है । उसीमें निरवयव अमृतत्व सर्व-कार्य्यव्यापी परोक्षत्व है, अतः अमूर्तलक्षणका मुख्य लक्ष्य वही है एवं मूर्तत्वलक्षणका मुख्य लक्ष्य अतिस्थूल अन्त्य कार्य पृथिवी ही है, शेष मध्यम गोलादिक हैं, उनमें आपेक्षिक अतएव अमुख्य ही लक्षण है । उक्त दो लक्षणोंको मध्यम वर्गोंके अमुख्य ही लक्षण कह सकते हैं, मुख्य नहीं कह सकते । जहां तक संभव हो सके वहां तक मुख्यार्थ ही श्रुत्यर्थ सर्वमान्य होता है ॥ २३ ॥

'मध्यकारण०' इत्यादि ।

शङ्का—मध्यवर्ती पदार्थोंकी क्या गति होगी ?

समाधान—उनमें से किसीको यथायोग्य उक्त लक्षणका लक्ष्य समझना चाहिए अर्थात् आपेक्षिक ही उक्त व्यवहार है, अतः वे दोनों उक्त लक्षणोंसे संगृहीत हो जायँगे । मध्यवर्तियोंमें भी उक्त गौण व्यवहार होता ही है, इसलिए उनका भी संग्रह हो जायगा ॥ २४ ॥

अविद्यामात्रगं ब्रह्म कारणं बुद्ध्युपाधिगम् ।
ज्ञातृतद्वृत्त्युपाधिस्थं ज्ञायमानं घटादिकम् ॥ २५ ॥
एवं च सत्युपाधीनां ह्रासे ह्रसति मूर्तता ।
उपाधिवृद्धौ मूर्तत्वं वर्द्धतेत्युदितं भवेत् ॥ २६ ॥
मूर्तामूर्तं ब्रह्मरूपे इति पक्षो निरूपितः ।
प्रपञ्चतद्वासने द्वे रूपे इत्येष वर्ण्यते ॥ २७ ॥

'अविद्यामात्रगम्' इत्यादि । कारणत्व आदि भी अतिरिक्त नहीं है, किन्तु अविद्यारूप उपाधिसे विशिष्ट ब्रह्म ही कारण है, कार्यभूत मूर्तादिकी अपेक्षा उसमें कारणत्व है, स्वतन्त्र नहीं है। इसका यथायोग्य मूर्तादिमें ही अन्तर्भाव हो जाता है, एवं ज्ञातृत्व भी स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु बुद्ध्युपाधिक चैतन्यमें ही ज्ञातृत्व है । जिस समय घटादिविषयक बुद्धि होती है, उसी समय उसमें ज्ञातृत्वका व्यवहार होता है, अतः ज्ञातृत्व भी स्वतन्त्र नहीं है । बुद्धिवृत्त्युपाधिकका ज्ञान-रूपसे व्यवहार होता है, अतः यह भी अतिरिक्त नहीं है एवं प्रमाणादि भी अतिरिक्त नहीं हैं, यह पूर्वमें भी कह चुके हैं ॥ २५ ॥

'एवं च' इत्यादि । अनिर्वचनीय अविद्यारूप उपाधिके ह्राससे मूर्तता घटती है और उसकी वृद्धिसे मूर्तत्वकी वृद्धि होती है। उदाहरण—पृथिवी आदिसे उत्तरोत्तर ह्रास देखनेमें आता है, अतः अन्यथानुपपत्त्यादि प्रमाणसे उसके कारण उपाधिकी न्यूनता ही ज्ञात होती है । एवं आकाश आदिकी अपेक्षा वायु आदि उत्तरोत्तरमें मूर्तत्वकी वृद्धिसे उसकी मूलभूत उपाधिकी वृद्धि ही सिद्ध होती है, एवं देहादिसंबन्ध, सुखदुःखादिकी अभिमानता, गो, धनादिका संबन्ध सब उपाधिनिब-न्धन हैं, वास्तविक नहीं हैं ॥ २६ ॥

'मूर्तामूर्तं' इत्यादि। ब्रह्मके मूर्त और अमूर्त—इन दोनोंके स्वरूपोंका निरूपण हो चुका; अतः यह पक्ष समाप्त हुआ। अब प्रपञ्च और प्रपञ्चके द्वारा ये दोनों ब्रह्मके रूप हैं, इस पक्षके विचारका आरम्भ किया जाता है । सन्देहके विषयमें विचारसे ही तत्त्वनिर्णय होता है और उस अर्थमें तात्पर्य होनेसे आगम प्रमाण माना जाता है। पूर्वोत्तरकी सङ्गति यह है कि पिण्ड-प्राणके विभाग द्वारा अध्यात्म और अधिदैवत मूर्तामूर्तनामक ब्रह्मके रूप कहे गये । 'तस्य ह' इत्यादिसे करणात्मक लिङ्गस्वरू-पका प्रस्ताव कर उसका निरूपण किया जायगा, उक्त स्वरूप मूर्तामूर्तवासना और

प्रपञ्चो नाम पूर्वोक्तमूर्तामूर्तद्वयं भवेत् ।
तद्वासना विचित्राः स्युरनन्ता लिङ्गमाश्रिताः ॥ २८ ॥
अनेकवासनाचित्रं तल्लिङ्गं पटभित्तिवत् ।
मायेन्द्रजालसदृशं व्यामोहास्पदमात्मनः ॥ २९ ॥

विज्ञानमयके संयोगसे हुआ है। वह विचित्र पटादिचित्रके समान तथा मायेन्द्रजाल एवं मृगतृष्णिकाके समान है अर्थात् सबको मुग्ध करनेका एक विषयन्त्र है ॥२७॥

'प्रपञ्चो नाम' इत्यादि। पूर्वोक्त मूर्तामूर्त ही प्रपञ्च है तथा उसकी विचित्र, अनिर्वचनीय और अनन्त अपरिसंख्येय वासनाएँ लिङ्गात्मा शरीरमें रहती है, इससे वासना आत्मसमवेत है, यह तार्किकोंका मत अश्रद्धेय है। अन्तःकरणका ही मूर्तामूर्त सब विषयोंके साथ सम्बन्ध है, अतः उसकी निमित्त वासना अन्तःकरणाश्रित ही है, ऐसी परिस्थितिमें 'योऽयं दक्षिणोऽक्षन् पुरुषः' इस वाक्यमें पुरुषशब्दसे कथित लिङ्गका ही प्रकरण होनेसे लिङ्गप्रधान अन्तःकरणका ही 'तस्य हैतस्य' इत्यादि वाक्यसे परामर्श होता है। वक्ष्यमाण अनेकों उदाहरणोंके सार्थक्यके लिए विचित्र और अनन्तका अभिधान है ॥ २८ ॥

शङ्का—यदि अन्तःकरण ही रागादिमान् है, तो पुरुष क्यों तन्मय देखे जाते हैं ?

समाधान—**'अनेक०'** इत्यादिसे। पट और भित्तिके चित्र जैसे पट और भीतमें प्रतीत होते हैं, वैसे ही अन्तःकरणमें अनेक वासनाएँ रहती हैं।

अच्छा, तो यह कहिए कि अन्तःकरणमें वासनाएँ आरोपित हैं या अनारोपित? प्रथम पक्षमें पुरुषमें भी तो आरोपित ही मानते हैं, फिर क्या कारण है कि वासनाएँ अन्तःकरणमें ही कही जायँ, पुरुषमें नहीं। द्वितीय पक्षमें यदि अनारोपित हैं, तो धर्मी भी अनारोपित होना चाहिए। प्रायः समसत्ताकका ही धर्मधर्मिभाव युक्तिसङ्गत है। अद्वैतके व्याघातके भयसे धर्मीकी यदि अकल्पित सत्ता नहीं है, तो धर्मकी ही वह सत्ता कैसे हो सकती है ? अतः अन्तःकरणकी ही धर्मवासना है, आत्माकी नहीं, यह कथन प्रमाणशून्य है और 'अहं जानामि, सुखी' इत्यादि प्रतीति अचेतन लिङ्ग शरीरमें कैसे होगी ? अहमर्थसे अतिरिक्त आत्मामें प्रमाण नहीं है, यह आक्षेप ठीक नहीं है, कारण कि धर्म और धर्मी दोनों कल्पित ही हैं। उसके अनुसार ही दोनोंका संबन्ध भी कल्पित ही है और उसमें हेतु

एतावन्मात्र आत्मेति तत्र भ्रान्ता निरागमाः ।
बौद्धकाणादसाङ्ख्याद्यास्तर्कमात्रोपजीविनः ॥ ३० ॥

अनिर्वचनीयत्वादि है । माया अघटितघटनापटीयसी है । आत्मत्वसामानाधिकरण्यसे जो सुखादिकी प्रतीति होती है । उसमें कारण यह है कि अन्तःकरण अति स्वच्छ द्रव्य है, अतः उसमें चित्का आभास पड़नेसे वह भी अपनेको चेतन मानने लगता है । जैसा कि सांख्याचार्योंने माना है—

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव भवति ।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥

अर्थात् आत्मसंयोगसे अचेतन बुद्धितत्त्व चेतनके समान होता है तथा अन्तः-करणगत भी कर्तृत्व आदि उदासीन आत्मामें उपलब्ध होते हैं। 'व्यामोहास्पदमात्मनः' का स्फुट अर्थ यह है कि स्वाभासका निदान व्यामोह ही है । व्योमाह अज्ञान-प्रयुक्त है । अज्ञान और आत्माका संबन्ध भी आध्यासिक ही है । केवल साधारण मोह नहीं है, किन्तु विशिष्ट है । विशिष्ट होनेपर भी यत्किञ्चिद्विषयक नहीं है, किन्तु आ-समन्तात् अर्थात् सर्वव्यवहारविषयक है ॥ २९ ॥

आत्मभ्रान्तिका विषय लिङ्ग है, इसको स्फुट करनेके लिए प्रथम विज्ञानवादी बौद्धकी भ्रान्ति कहते हैं—**'एतावन्मात्र'** इत्यादिसे ।

अहमाकारवृत्तिसे विशिष्ट प्रतिक्षण भङ्गुर राग आदि दोषसे कलुषित बुद्धिमात्र आत्मा है, उससे अतिरिक्त स्थायी कोई है ही नहीं, इस प्रकार बौद्धोंकी भ्रान्ति जिसमें है, उसके स्वरूपका विशेषरूपसे निरूपण करेंगे; जिससे स्पष्टरूपसे सूचित होगा कि बौद्धोका मत वस्तुतः भ्रान्तिपूर्ण है ।

शङ्का—उनकी इस भ्रान्तिका कारण क्या है ?

समाधान—केवल तर्कका आश्रयण और आगमका अभाव । आत्मा केवल आगमका ही विषय है, तर्क आदिका विषय नहीं है, किन्तु वे लोग आगमपर भरोसा न रख केवल तर्कके बलसे ही आत्मस्वरूपका निरूपण करते हैं । तर्क जब अपने विषयमें भी प्रतिष्ठित नहीं माना जाता, तब अपने अविषयमें तो कहना ही क्या है ? अतएव 'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' यह श्रुति संगत होती है । ब्रह्म केवल उपनिषद्से ही पुरुष गम्य है, प्रमाणान्तरसे नहीं, अतः 'औपनिषद' विशेषण सार्थक होता है ॥३०॥

एकैकां वासनां तत्र प्रतिक्षणविनश्वरीम् ।
आहुः क्षणिकमात्मानं बौद्धा विज्ञानवादिनः ॥ ३१ ॥
आत्मनो द्रव्यभूतस्य गुणा बुद्ध्यादयो नव ।
वासनात्वेन वेदोक्ता इति वैशेषिकादयः ॥ ३२ ॥

उक्त अर्थको अतिस्फुट करनेके लिए कहते हैं—**'एकैकाम्'** इत्यादि ।

यहां वासनाशब्द वासनाकी निदानभूत तत्-तत् मूर्तामूर्तविषयक बुद्धिवृत्तिके तात्पर्यसे प्रयुक्त है, अतएव क्षणिकत्व आदि विशेषणका उपादान किया गया है, अन्य मतमें विषयेन्द्रियके सन्निकर्षके भेदसे बुद्धिवृत्तिके भेदकी व्यवस्था है । विज्ञान-वादियोंके मतमें विज्ञानसे अतिरिक्त अन्य वस्तु ही नहीं है, अतः स्वाप्निक वृत्तिके भेदके समान जागरित वृत्तियां भी संस्कारसे ही होती हैं, अन्यथा स्वाप्निक-पदार्थ-विषयक वृत्तियोंकी उत्पत्तिका समर्थन ही अन्य प्रकारसे अशक्य हो जायगा ॥ ३१ ॥

एवं बौद्धके समान वैशेषिक आदि तार्किकोंकी भी भ्रान्ति कहते हैं—**'आत्मनो'** इत्यादिसे ।

वे पृथिवी आदि द्रव्यके समान आत्मा भी अचेतन द्रव्य है, ऐसा कहते हैं और गन्ध आदि गुणोंके समान बुद्धि आदि नौ गुण आत्मामें मानते हैं। वे नौ गुण वेदमें वासनाशब्दसे कहे गये हैं । ये लोग बुद्धि आदिके धर्मी अन्तःकरणको ही भ्रमसे आत्मा मानकर उसके गुणोंको आत्मगुण कहने लगे । यद्यपि ये आगम मानते हैं, तथापि तर्कमें इनकी पूर्ण आस्था है, इसलिए ये लोग आगमनिरपेक्ष केवल तर्कसे आत्माकी सिद्धि मानकर तर्कानुसारी आगमद्वारा उसकी पुष्टि करते हैं । एक प्रकारसे तर्कसिद्ध आत्माका आगम अनुवादक है, ऐसा उनका भाव है । उनके मतसे आत्माके विशेष गुण संसार और उनका आत्यन्तिक उच्छेद मोक्ष कहा जाता है । सुखके समान दुःखकी निवृत्ति भी स्वतन्त्र पुरुषार्थ है । वे निवृत्तिकी निवृत्ति नहीं मानते, इसलिए मुक्तको पुनः संसार नहीं होता, मुक्त सदा मुक्त ही रहता है। 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' यहां पञ्चमीका अभेद अर्थ है अर्थात् अपाय ही अपवर्ग है । अपवर्ग नित्य है । यह सब शास्त्रकारोंको अभिमत है । इसीके लिए विविध प्रकारसे उसके स्वरूपकी व्यवस्था करते हैं । द्वैतवादी आत्मस्वरूप मोक्ष नहीं मानते एवं भावात्मक भी नहीं मानते, क्योंकि ऐसा माननेपर उसका जन्म होनेसे भावान्तरके समान वह भी विनाशी हो जायगा,

त्रिगुणं यत्प्रधानं तत्पुरुषार्थेन हेतुना ।
प्रवर्तते वासनात्वक्लप्तिस्तत्रेति कापिलाः ॥ ३३ ॥

इसलिए अभावात्मक मानते हैं । इस मतमें आत्मा और मनके सन्निकर्षके बलसे जायमान ज्ञान ही आत्मगुण चैतन्य है, सुषुप्ति अवस्थामें मनके सन्निकर्षके अभावसे आत्मामें कोई ज्ञानादि गुण नहीं होते, अतएव' सुखमहमस्वाप्नं न किञ्चिदवेदिषम्' इत्यादि सुप्तोत्थितके ज्ञानको अनुमान कहते हैं, स्मरण नहीं, क्योंकि तद्विषयक अनुभव न होनेसे संस्कार ही नहीं हो सकता और संस्कारके बिना स्मरण असम्भव है ॥ ३२ ॥

अब सांख्यकी भ्रान्तिका कारण कहते हैं—**'त्रिगुणम्'** इत्यादिसे ।

सांख्यके मतमें सुख आदि आत्मधर्म हैं । अन्तःकरण ही आत्मा है, यह भ्रान्ति नहीं है, कारण कि वे आत्माको वेदान्तियोंके समान ही सब विकारोंसे रहित अतएव उदासीन, कूटस्थ और स्वप्रकाश मानते हैं । अतः आत्माके स्वरूपमें विवाद नहीं है, किन्तु उनके मतमें प्रकृति सत्त्व, रज और तम एतद्गुणत्रयात्मक है, अन्तःकरण तत्स्थ अतएव तत्परिणामविशेष है; अतः वह भी प्रधानके समान गुणत्रयात्मक है । वह पुरुषके भोग और अपवर्गके साधनके लिए ही आत्मासे संयुक्त और वियुक्त होता है । वे अन्तःकरणका पुरुषके साथ संबन्ध होनेमें कारण भोगको ही मानते हैं—'पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्' अर्थात् पुरुषार्थ ही प्रकृतिके परिणामका कारण है, कोई चेतन ईश्वर आदि प्रकृतिका प्रेरक नहीं है । इसीसे वे लोग निरीश्वरवादी कहे जाते हैं । पुरुषके भोगके लिए समयपर प्रकृति स्वयं जगत्के आकारमें परिणत हो जाती है, जैसे दूध आदि बालककी शरीरकी वृद्धिके लिए परिणत होते हैं, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए । वे आत्मभेद-वादी हैं, अतः सांख्योक्त तत्त्वज्ञानके द्वारा जिस पुरुषको प्रकृति और पुरुषके भेदका साक्षात्कार हो जाता है अर्थात् 'अहं प्रकृतेर्भिन्नः' यों तत्त्वापरोक्ष हो जाता है, उसके प्रति प्रकृतिकी संसारभोगार्थक प्रवृत्ति नहीं होती, कारण कि उनके मतमें प्रकृति कुलाङ्गनासे भी अधिक सुकुमार और लज्जावती है, जिसको एक समय भी यदि पुरुष देख ले, तो फिर वह वैसी चेष्टा करती है, जिससे कि फिर वह पुरुष प्रकृतिको कभी भी न देख पावे ।

'प्रकृतेः सुकुमारतरन्न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।
या दृष्टाऽस्मीति न पुनर्दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥'

अप्यौपनिषदम्मन्याः प्रक्रियां कल्पयन्त्यमुम् ।
वस्तूनां राशयः प्रोक्ता उत्तमाधममध्यमाः ॥ ३४ ॥
उत्तमः परमात्मा स्यान्मूर्तामूर्तात्मकोऽधमः ।
जीवात्मा मध्यमः साकं वासनाज्ञानकर्मभिः ॥ ३५ ॥

इत्यादि उनका अभिधान उक्त अर्थमें प्रमाण है। सारांश यह निकला कि जिस अन्तःकरणके विषयमें वे भी भ्रान्त हैं, उस अन्तःकरणके स्वरूपका यहां विशेष-रूपसे निर्धारण करेंगे, कारण कि यह विषय अतिजटिल और अवश्य विवेचनीय है। इसी विषयमें दार्शनिकोंकी अधिक भूल होती है। कापिल—सांख्य—लोग अन्तःकरणको ही श्रुत्युक्त वासना पदार्थ मानते हैं ॥३३॥

'अप्यौपनिषद०' इत्यादि। वस्तुतः औपनिषद नहीं हैं, किन्तु अपनेको औपनिषद माननेवाले पुरुष इस अनुपद वक्ष्यमाण प्रक्रियाकी कल्पना करते हैं, उनकी कल्पनाके अनुसार पदाथाकी तीन राशियां हैं। उत्तम, मध्यम और अधम ॥३४॥

'उत्तमः' इत्यादि। उत्तम राशि परमात्मा है, मूर्त्तामूर्तात्मक जगत् अधम राशि है तथा वासना, ज्ञान और कर्मके साथ जीवात्मा मध्यम राशि है। उत्तमकी अपेक्षा मध्यम और अधम राशियोंमें विशेष यह है कि कर्मराशि प्रयोक्ता—उत्पादक—है और मूर्तामूर्तराशि प्रयोज्य—उत्पाद्य—है। यहां कर्मपद विद्या और पूर्व प्रज्ञाका भी उपलक्षण है, अतः वे भी प्रयोजक हैं। साधन—ज्ञानकर्मका कारण—भी प्रयोज्य है। इस कल्पनासे तार्किकोंके साथ ये सन्धि करते हैं। कर्मराशि लिङ्गाश्रय है, ऐसा कहनेसे भय करने लगे कि यह तो सांख्यमत हो गया, इससे नैयायिक सन्तुष्ट न होंगे, इसलिए फिर यह कहने लगे कि पुष्पका गन्ध पुष्पके वियोगकालमें जैसे पुटतैलवासित तैलके आश्रित हो जाता है, वैसे ही लिङ्गवियोगके समय कर्मराशि परमात्माके एकदेशमें आ जाती है। वह परमात्मैकदेश अन्य स्थलसे आये हुए गुण और कर्मोंसे निर्गुण भी सगुण, और अकर्ता भी कर्ता हो जाता है तथा भोक्ता, बोद्धा, मुक्त, विज्ञानात्मा इत्यादि व्यवहारोंका विषय माना जाता है। इस कथनसे वैशेषिकोंके चित्तको सन्तुष्ट करते हैं। जीव परमात्मैकदेश होनेसे यद्यपि स्वतः निर्गुण है, तथापि भूतराशिसे कर्मराशि घृततैलवत् आत्मामें भी प्रतीत होती है। इसलिए यह कहा जाता है कि भूतराशिनिष्ठ कर्मराशि जब उसके द्वारा आत्मामें भी आती है, तब जीव कर्तृत्वादि संसारका अनुभव करता

कृष्णशक्तिरविद्याख्या परमात्मन उत्थिता ।
विकृत्य परमात्मांशं जीवभावं नयत्यमुम् ॥ ३६ ॥
यथोपरात्मको दोषो भूमेर्जातो विकृत्य तम् ।
भूम्यंशमास्ते तद्वत्स्यादविद्येयं परात्मनः ॥ ३७ ॥
अनात्मधर्म एवेयमविद्या भ्रान्तिलक्षणा ।
अंशेऽस्मिन्साङ्ख्यसिद्धान्तमनुवर्त्तामहे ततः ॥ ३८ ॥
वासनाकामकर्माणि लिङ्गस्थान्येव तान्यपि ।
लिङ्गादात्मानमायान्ति गन्धः पुप्पपुटं यथा ॥ ३९ ॥

है, कर्मराशिको अन्तःकरणमें मानकर सांख्यके चित्तका अनुरोध किया और पुट-तैलन्यायसे आत्मामें भी मानकर वैशेषिकोंको सन्तुष्ट किया, पर इस प्रकारसे उन दोनोंका चित्त भी पूर्ण सन्तुष्ट नहीं हुआ और उपनिषत्सिद्धान्तपर तो ध्यान ही नहीं दिया था, न्यायविरोध भी नहीं देखा था जो आगे स्फुट होंगे ॥ ३५ ॥

'**कृष्णशक्ति०**' इत्यादि । भगवान् कृष्णकी शक्तिका नाम अविद्या है। यद्यपि यह परमात्मामें स्वभावतः रहती है, तथापि भोक्ता प्राणियोंके अदृष्टसे परमात्मामें ही अभिव्यक्त होकर, उसके एकदेशको विकृत कर, अन्तःकरणमें ही स्थित होकर उसी ब्रह्म अंशको जीवभावापन्न करती है ॥ ३६ ॥

शङ्का—जिससे अविद्या उत्थित हुई, उसीका आश्रयण करना चाहिए अन्तःकरणका आश्रयण क्यों किया ?

समाधान—'**यथोपरात्मको**' इत्यादि । जैसे भूमिसे समुत्पन्न ऊषर—क्षाररूप मृत्तिकादोष—भूमिके एकदेशमें ही रहता है, सम्पूर्ण भूमिमें नहीं रहता, वैसे ही उक्त अविद्याख्य दोष ब्रह्मैकदेशमें ही रहता है, इसलिए उसी देशको जीव बनाता है, सम्पूर्णको नहीं ॥ ३७ ॥

इस प्रकार अविद्याको अनात्मधर्म मानकर सांख्यके मतका अनुसरण करते हैं—'**अनात्मधर्म**' इत्यादिसे ।

भ्रान्तिलक्षण अविद्या अनात्माका ही धर्म है, इस अंशमें सांख्यके सिद्धान्तकी अनुवृत्ति करते हैं ॥ ३८ ॥

न्यायकी अनुवृत्तिके लिए कहते हैं—'**वासना०**' इत्यादि ।

वासना, काम, कर्म आदि सब लिङ्ग-शरीरमें ही रहते हैं, अतः उन्हें उसीका

गन्धः पुष्पगुणः पुष्पात् पुटमाश्रित्य तिष्ठति ।
कुसुमापगमेऽप्येवं लिङ्गस्था वासनाऽऽत्मनि ॥ ४० ॥
निर्गुणोऽपि परैकांशो बाह्यादभ्यागतेन ह ।
कर्मणा सगुणस्तेन कर्त्ता भोक्ता भवत्ययम् ॥ ४१ ॥
वैशेषिकमतं चैवमंशादनुसृतं भवेत् ।
अपाञ्चभौतिकं रूपं चैवमेतत्सवासनम् ॥ ४२ ॥
इत्यौपनिषदम्मन्यैरुक्तं भर्तृप्रपञ्चकैः ।
लिङ्गस्य वासनारूप एवं मुह्यन्ति वादिनः ॥ ४३ ॥
अश्रौतत्वादुपेक्ष्याः स्युः प्रक्रिया वादिकल्पिताः ।
राशित्रयस्य गमकं वचो नोपलभामहे ॥ ४४ ॥

धर्म मानना उचित है । लिङ्गसे आत्मामें आते हैं, जैसे पुष्पपुटस्थ गन्ध पुटित तैलमें आता है ॥ ३९ ॥

'गन्धः पुष्पगुणः' इत्यादि । गन्ध पुष्पका गुण है, पुष्पोंके साथ कुछ समयतक तिल रखनेपर पश्चात् पुष्पोंसे अलग करनेपर भी उनका गन्ध तैलमें आता है, अतएव चमेलीका तेल इत्यादि व्यवहार होता है, वैसे ही लिङ्गस्थित वासना आत्मामें प्रतीत होती है ॥ ४० ॥

'निर्गुणोऽपि' इत्यादि । परमात्माका एक अंश वस्तुतः निर्गुण होनेपर भी बाह्य अन्तःकरण कर्मसे सगुण माना जाता है, अतएव जीव कर्ता-भोक्ता होता है । विशेष व्याख्यान कर चुके हैं ॥ ४१ ॥

'वैशेषिक०' इत्यादि । अन्तःकरणसे आत्मामें भी आता है, इस अंशसे वैशेषिक मतका अनुसरण किया गया है । उक्त प्रक्रियासिद्ध मध्यमराशि जीवका उपसंहार करते हैं—'अपाञ्चभौतिकम्' से । उक्त रीतिसे अविद्याकृत वक्ष्यमाण वासनायुक्त भूत-भौतिकसे भिन्न जीवस्वरूप मध्यम राशि है ॥ ४२ ॥

'इत्यौपनिषदम्' इत्यादि । उपनिषत्के तात्पर्यसे अनभिज्ञ और अपनेको उपनिषत्का विद्वान् माननेवाले भर्तृप्रपञ्च आदि विद्वानोंने ऐसी प्रक्रिया कही है । लिङ्गके वासनारूपमें इस प्रकार वादियोंको मोह है ॥ ४३ ॥

'अश्रौतत्वा०' इत्यादि । बौद्धादिका निराकरण तो इसीसे हो जाता है, वे अश्रौत होनेसे वेदको प्रमाण माननेवालोंके लिए उपेक्ष्य हैं । भर्तृप्रपञ्चके मतमें यह

जीवो न ब्रह्मणोऽन्योऽस्ति कामसङ्कल्पपूर्विकाः ।
वासनाश्च मनोधर्मा मध्यमो राशिरत्र कः ॥ ४५ ॥

दोष है कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुति जीवको ब्रह्मस्वरूप कहती है और 'कामः संकल्पः' इत्यादि श्रुतिसे वासना मनोधर्म है, यह स्फुट ही प्रतीत होता है । तीन राशियोंके बोधक वैदिक वचन नहीं मिलता है, इसलिए इस कल्पनामें कोई मूल नहीं है, अतएव अग्राह्य है । सारांश यह है कि यदि जीवको ब्रह्मका अंश मानें, तो ब्रह्मको सावयव अतएव सकल सांसारिक धर्मवान् मानना पड़ेगा। इस अवस्थामें 'अस्थूलमव्रणम्' इत्यादि कूटस्थादिप्रतिपादनपरक श्रुतियाँ असंगत हो जायँगी । इस दोषके परिहारके लिए यदि जीव और ब्रह्मका अत्यन्त भेद मानें, तो 'तत्त्वमसि' इत्यादि अभेदबोधनपरक वाक्य असङ्गत हो जायँगे, क्योंकि भेदाभेदरूप परस्पर विरुद्ध धर्मोंका एकमें समावेश हो ही नहीं सकता ।

शङ्का—जीवको लिङ्गोपाधिक परका अंश मानें, तो क्या आपत्ति है ? क्योंकि जैसे घटोपाधिक आकाशमें रज, धूमादिके रहनेपर आकाशमात्रमें उनकी प्रसक्तिका निवारण हो जाता है वैसे ही यहांपर भी समझना चाहिए ।

समाधान—आपत्ति यह है कि सुषुप्ति अवस्थामें लिङ्गका भी नाश हो ही जाता है, अतः उसकी वासना आत्मामें कैसे आ सकती है ? इसलिए यह कहना सर्वथा असंगत है कि लिङ्गका नाश होनेपर भी उसकी वासना आत्मामें रहती है ।

शङ्का—औपाधिक आत्मामें या लिङ्गमें वासना नहीं है, किन्तु बिम्बमें ही वासना है, ऐसा कहें, तो क्या दोष है ?

समाधान—दोष यह है कि पुष्पादिकी वासना तैल या वस्त्रादिमें जो आती है, उसमें साजात्य कारण है, तैल पुष्पादि दोनों सावयव हैं, अतएव एककी वासना दूसरेमें जाती है, पर विसदृश आकाशमें उक्त वासनाका सञ्चय नहीं होता, कारण कि आकाश निरवयव है । द्रव्यत्वादिसे साजात्य अकिञ्चित्कर है, अन्यथा आकाशमें भी वासनाकी आपत्ति हो जायगी, वस्तुतः निर्धर्मक ब्रह्ममें पर या अपर कोई भी जाति नहीं मानी जाती, इसलिए द्रव्यत्व आदिसे भी साज्यात्यकी शङ्का ब्रह्ममें नहीं कर सकते ।

और यह भी प्रश्न होता है कि वासना आत्मासे अभिन्न है या भिन्न ? प्रथम पक्षमें जैसे मृत्तिका घटाकार होती है, वैसे ही आत्मा वासनाकार होता है,

श्रुतिः—अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतमेतद्यदेतत्त्यं तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्त्यस्य ह्येष रसः ॥ ५ ॥

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम् ।

एतस्य पुरुषस्येति श्रुतेश्चेनधर्मता ।

न वासनानामाशङ्क्या लिङ्गस्य पुरुषत्वतः ॥ ४६ ॥

ऐसा यदि कहो, तो मृद्घट जैसे मृत्तिकासे अभिन्न होता है, वैसे ही वासनाका आकार भी चैतन्यात्मस्वरूप ही होगा, उससे अतिरिक्त नहीं होगा, इस परिस्थितिमें आत्मा और वासनाका भेद ही सिद्ध हो नहीं सकेगा। द्वितीय पक्षमें आत्मासे वासना असंबद्ध है या सम्बद्ध ? प्रथम पक्ष तो प्रकृतानुकूल ही नहीं है, इसलिए यह कल्पना ही व्यर्थ है । द्वितीय पक्षमें श्रोत्रजन्य शब्दज्ञान रूपवासनासे वासित नहीं देखा गया है, क्योंकि दोनों विषय हैं, अतः उनका परस्पर विषयविषयिभाव नहीं बनता और चित् तो असंग होनेसे विषय ही नहीं है, तो उसमें रागादि वासनाकी संगति कहां ? विस्तरभयसे यहीं समाप्त करते हैं ॥ ४५ ॥

'अथामूर्तं प्राणश्च०' इत्यादि श्रुति । अनन्तर अमूर्त कहते हैं—अवशिष्ट जो भूतद्वय—प्राण और शरीरके भीतर आकाश ये दोनों—अमूर्त हैं, त्यका यही सार है, जो दक्षिण अक्षिमें पुरुष है, इत्यादि अर्थ पूर्वमें हो चुका है ॥ ५ ॥

'एतस्य' इत्यादि । जो पूर्वमें यह आक्षेप किया गया था कि मध्यम राशिके सद्भावमें श्रौत प्रमाण नहीं है, अतः उक्त कल्पना मान्य नहीं है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि मध्यम राशिमें 'तस्यैतस्य पुरुषस्य' यह श्रुति वाक्य ही प्रमाण है । वासना पुरुषनिष्ठ है । पुरुषशब्द चेतनवाची है, यह प्रसिद्ध ही है । इसलिए वासना जिस पुरुषका धर्म है, वह पुरुष जीव है, यह ठीक नहीं है, कारण कि पुरुषशब्दका यहां प्रयोग चेतनके तात्पर्यसे किया गया है या अचेतनके तात्पर्यसे ? यह विषय विचारणीय है । यह दावा करना कि पुरुषशब्द चेतनके बोधके तात्पर्यसे ही सर्वत्र प्रयुक्त होता है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इत्यादि श्रुतियोंमें शरीरके बोधके तात्पर्यसे भी पुरुषशब्दका प्रयोग किया गया है । अतः उक्त नियम ठीक नहीं है । इसलिए उक्त श्रुतिसे वासना चेतनधर्म है, यह व्यवस्था सर्वथा असंगत ही है ।

हृदये ह्येव रूपाणि कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
इत्यादिभिर्वासनानां श्रूयते लिङ्गधर्मता ॥ ४७ ॥
न पुष्पगन्धवच्छिङ्गवासना जीवमाश्रयेत् ।
असङ्गो हीति जीवस्य सर्वसम्बन्धवारणात् ॥ ४८ ॥
अविद्यया ससङ्गत्वे त्वविद्या न त्वदीरिता ।
परात्मनस्तदुत्थाने मुक्तावप्युदियादसौ ॥ ४९ ॥
अविद्या चेदनिर्वाच्या तया लिङ्गस्थवासनाः ।
आरोप्यन्तां यथाकाममलिङ्गेऽपि चिदात्मनि ॥ ५० ॥

वासनाएँ मनोधर्म हैं, इसमें अन्य श्रुति प्रमाण है, ऐसा कहते हैं—'हृदये' इत्यादिसे ।

हृदयमें—अन्तःकरणमें—ही रूपादि वासनाएँ रहती हैं, इसमें 'कामा येऽस्य हृदि स्थिताः' इत्यादि श्रुतिवाक्य प्रमाण है, अतः वासनाएँ लिङ्गधर्म ही हैं, आत्मधर्म नहीं हैं, ऐसा समझना चाहिए ॥ ४६,४७ ॥

'न पुष्प०' इत्यादि । पुष्पपुटिकान्यायसे मनके ही धर्म जीवमें रहते हैं, ऐसा जो पूर्वमें कहा था, सो भी ठीक नहीं है, कारण कि उसमें प्रश्न यह होता है कि जीवके साथ वासनाका संबन्ध वास्तव है या काल्पनिक ? प्रथम पक्षमें दृष्टान्त-वैषम्य है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुति जीवमें सब प्रकारके संबन्धोंका स्पष्ट निषेध करती है । द्वितीय पक्षमें अग्रिम विकल्प है ॥ ४८ ॥

'अविद्यया' इत्यादि । द्वितीय पक्षमें अविद्या वास्तविक है या काल्पनिक ? प्रथम पक्षमें मुक्ति ही नहीं होगी, कारण कि अविद्या यदि वास्तविक याने नित्य है, तो उसकी निवृत्ति ही कैसे होगी ? यदि उस अविद्याको जीवगत मानें, तो वह अनित्य ही होगी, नित्य नहीं । यदि उसका उत्थान परमात्मासे मानो, तो वह सदा ही रहेगी, अतः मुक्त्यवस्थामें भी उसका उत्थान होनेके कारण मुक्ति ही नहीं हो सकेगी ॥ ४९ ॥

'अविद्या चेद०' इत्यादि । यदि हमारे मतके अनुसार आप भी अविद्याको अनादि और अनिर्वचनीय मानते हैं, तो उस अविद्यासे ही लिङ्गस्थ वासनाओंका अलिङ्ग—लिङ्गशून्य—चिदात्मामें भी आरोप सुखसे कर सकते हैं, इसमें कोई बाधा ही नहीं है, फिर तीन राशियोंकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती ॥ ५० ॥

वासना भूरिरूपास्ता लिङ्गस्था लिङ्गसाक्षिणः ।
कुर्वन्ति बहुरूपत्वं मणेरास्तरणं यथा ॥ ५१ ॥
भौतिकं बहुरूपत्वं भूतवासनया कृतम् ।
पुष्पवासनया जन्यो गन्धः पौष्पो यथा पुटे ॥ ५२ ॥
आत्मनानात्वमप्येतद्यदा स्याद्भौतिकं तदा ।
भूतलेशस्वरूपाणां वासनानां तु का कथा ॥ ५३ ॥
भूतभौतिकवस्तूनां यदा संयुज्यते मनः ।
तदैवाऽऽधीयते चित्ते तल्लेशात्मकवासनाः ॥ ५४ ॥

'**वासना०**' इत्यादि। जैसे आस्तरण—चित्र कम्बलादि—अपने प्रतिबिम्ब द्वारा सन्निहित स्फटिक मणिको स्वगतचित्ररूपवान्‌की नाईं करता है, वैसे ही लिङ्गस्थ वासना लिङ्गके साथ साक्षीमें अध्यस्त होकर साक्षीको वासनावान्‌की नाईं करती है, अतः इस पक्षमें कोई विरोध नहीं है ॥ ५१ ॥

पहले जो यह कहा था कि अपाञ्चभौतिक मध्यमराशिस्वरूपसे अभिमत वासनासहित जीवरूप भौतिक रूपसे विलक्षण विवक्षित है, उस विषयमें यहांपर वासना भौतिक है, ऐसा सिद्ध करते हैं—'**भौतिकम्**' इत्यादिसे ।

वासनाके भौतिकत्वमें हेतु है—वासनागत नानात्व । यह साधनभूत नानात्व भी भौतिक ही है । जैसे पुष्पके एकदेश तत्-तत् केतकी, बकुल आदिके चूर्णके चिर संबन्धसे उत्पन्न पुष्पवासना अनेकविध गन्धोंसे पूर्ण पुष्पोंसे जन्य कहलाती है, वैसे ही पञ्चभूतकार्य लिङ्ग देहके साथ अनादि संबन्धसे उत्पन्न आत्मनानात्व भी भूतजन्य ही कहलाता है, अतिरिक्त नहीं ॥ ५२ ॥

'**आत्मनानात्व०**' इत्यादि । लिङ्ग द्वारा भूतप्रयुक्त आत्मगत नानात्व यदि भौतिक है, तो भूतजन्य भूतसूक्ष्मरूप वासनाओंमें भौतिकत्व 'कैमुतिक' न्यायसे सिद्ध ही है । कैमुतिकन्याय यह है कि जो पुरुष अतिकठिन कार्य करता है, वह सहज कार्य अनायाससे कर सकता है, जैसे भीमसेन सिरसे पत्थर फोड़ते हैं तो उनको घट फोड़नेमें क्या देर ? ॥ ५३ ॥

'**भूतभौतिक०**' इत्यादि। भूत और भौतिक वस्तुका जब मनके साथ संबन्ध होता है, तब चित्तमें भूतलेशात्मक वासनाएँ उत्पन्न होती हैं ॥ ५४ ॥

हिङ्गुगन्धो यथा लग्नः करण्डं न विमुञ्चति ।
एवं जगद्वासनाश्च न मुञ्चन्ति धियं सदा ॥ ५५ ॥
कदाचित् काचिदुद्बोध्या कर्मणा भोगसिद्धये ।
भोगकालेऽनलाश्वाऽन्याः सुप्तास्तिष्ठन्ति मानसे ॥ ५६ ॥
अनन्तकल्पोपचयादनन्ता एव वासनाः ।
उदाहरणमात्रं तु दृष्टान्तैरिह वर्ण्यते ॥ ५७ ॥

उसीमें दृष्टान्त कहते हैं—**'हिङ्गुगन्धो'** इत्यादिसे ।

जैसे हींग जिस पात्रमें रक्खी जाती है, उस पात्रमें हींगका ऐसा गन्ध यों लग जाता है कि उसे निकालनेपर भी वह उस पात्रको सहसा नहीं छोड़ता, इसी-प्रकार जगत्की वासना बुद्धिसे संसृष्ट होकर उसे नहीं छोड़ती । प्राचीन जन्मार्जित सुकृतोंके परिपाक आदिसे सदुपदेश द्वारा जब किसीको छोड़ देती है, तब वह पुरुष धन्य हो जाता है ॥ ५५ ॥

'कदाचित्' इत्यादि ।

शङ्का—यदि बुद्धिमें एक बार उत्पन्न वासना बुद्धिको नहीं छोड़ती, तो सम्पूर्ण वासनाकार्य एक ही समयमें होने चाहिएँ, पर ऐसा नहीं देखा जाता, किन्तु क्रमशः कदाचित् कोई वासना भोगानुरूप अभिव्यक्त होती है, इसमें क्या कारण ?

समाधान—तत्-तत् भोगकी उत्पादक सामग्री वासनाकी उद्दीपिका है । जिस समय जिसको जैसा भोग होता है, उस समय उसके अनुकूल ही वासना अभिव्यक्त होती है और अन्य वासनाएँ चित्तमें विलीन रहती हैं, अतएव अनेक जन्मोंमें उत्पन्न कर्मराशिको माननेपर भी अन्य योनिमें जीवका प्रवेश होनेपर वर्तमान योनिके अनुकूल ही वासना उत्पन्न होती है, चाहे वह अनेक जन्मसे व्यवहित या अव्यवहित जन्मकी ही क्यों न हो । यदि प्रकृत योनि जीवनोपयोगी नहीं होती, तो उसकी वासना अभिव्यक्त नहीं होती ॥ ५६ ॥

'अनन्त०' इत्यादि । अनन्त कालके उपचयसे वासनाएँ अनन्त हैं, कालका ही जब अन्त नहीं है, तो उसके संसर्गसे जायमान वासनाओंका अन्त कैसे हो सकता है ? केवल दृष्टान्त द्वारा उदाहरणमात्रका यहां वर्णन करते हैं । उदाहरण उपलक्षणके लिए है, परिगणनके लिए नहीं, इससे

श्रुतिः—यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाऽग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तꣳ सकृद्विद्युत्तव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेद ।

उदाहरणके परिमित होनेसे वासनाएँ भी परिमित ही होंगी, इस प्रकारकी संभावनाका अवकाश नहीं है ॥ ५७ ॥

'यथा महारजनम्' इत्यादि श्रुति । भर्तृप्रपञ्च द्वारा उक्त 'तस्य' इत्यादिके संबन्ध और उसकी प्रक्रियाको दूषित कर अपने मतमें 'तत्' शब्दका अर्थ कहते हैं। पूर्वप्रकृत लिङ्गात्माका 'तत्' शब्दसे ग्रहण होता है ।

शङ्का—जीव भी तो पाणिपेषणवाक्यसे प्रकान्त है, इसलिए जीवका ग्रहण क्यों नहीं होता ?

समाधान—यद्यपि जीव प्रकृत है, तथापि जीवका निर्विशेष ब्रह्मस्वरूपसे प्रतिपादन करना अभीष्ट है, वासनामय संसारीरूपसे नहीं, इसलिए लिङ्गात्माका ही परामर्श उचित है और इस कारणसे भी जीव वासनारूप नहीं हो सकता, किन्तु जीवका ही 'नेति नेति' इत्यादि वाक्य द्वारा अनाख्येयरूपसे आदेश है ।

शङ्का—उक्त आदेश तटस्थ ब्रह्मके बोधनके लिए है, जीवस्वरूपके बोधनके लिए नहीं है, ऐसा ही यदि कहा जाय, तो क्या दोष है ?

समाधान—छठे अध्यायकी समाप्तिमें 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (विज्ञाताको किससे जाने) इत्यादिसे आत्माका उपक्रम कर 'स एष नेति नेति' (आत्मा द्वैतवान् नहीं है) इत्यादिसे विज्ञानमयका ही उपदेश किया गया है, तटस्थका नहीं किया गया; अतः प्रक्रान्त विज्ञात्माका ही प्रकरणके अनुरोधसे ग्रहण करना समुचित है। अन्यथा—यदि अन्य विज्ञानमय है और 'नेति नेति' इत्यादिसे अन्य निर्दिष्ट है, ऐसा माना जाय, तो—'ब्रह्म भिन्न है और अहं भिन्न है' यों विपरीत ही धारणा हो जायगी, जो इष्ट नहीं है, इष्ट है यथाश्रुति । 'आत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि' (आत्माको ही मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा जाने) यही श्रुति द्वारा बोधन करना अभीष्ट है, अतः 'तस्य ह' इत्यादि वाक्यसे लिङ्ग पुरुषका ही उक्त रूप विवक्षित है । सत्यका सत्य परम सत्य वक्तव्य है, इसलिए निःशेष सत्यको कहना भी आवश्यक है । वासनाएँ सत्यके विशेष रूप हैं। उन्हींके ये रूप हैं, ऐसा कहते हैं—इस प्रकृत पुरुषके अर्थात् लिङ्गात्माके ये रूप हैं ।

शङ्का—कौन ?

समाधान—जैसे लोकमें महारजनके—हल्दीसे रँगे वस्त्रके—निजी गुण शुक्लादि थे, किन्तु हल्दीसे रँगनेपर वह पीतरूप हो जाता है; उस समय वह पीतत्वेनैव व्यवहृत होता है, स्वस्वरूपसे नहीं, वैसे ही रूपादिविषयसंयोग-दशामें वासनारूप ही रञ्जनाकार चित्तका आकार होता है। जिस कारणसे पुरुष भी रक्त कहा जाता है। रागादि अन्तःकरणमें रहते हैं, किन्तु उक्त उदाहरणके समान आत्मा भी तद्रूपसे व्यवहृत होता है। दूसरा दृष्टान्त यह है कि जैसे वर्षाके आरम्भमें इन्द्रगोपनामक अतिरक्त वर्तुल कीटविशेष उत्पन्न होता है, वैसे ही वासनानामक रूप अतिरक्त होता है, कहीं विषयविशेषकी अपेक्षासे रागोंका तारतम्य (उत्कर्षापकर्ष) भी होता है; जैसे लोकमें अग्निकी दीप्ति अतिशुक्ल होती है, वैसे ही किसी विषयमें अति उज्वल वासना होती है। जैसे कमल शुक्ल होता है और जैसे लोकमें एक बारका विद्युद्का विद्योतन सर्वत्र प्रकाशक होता है, वैसे ही ज्ञानकी (प्रकाशकी) विवृद्धिसे किसीका वासना-रूप होता है। उन वासना-रूपोंका न तो आदि ही है और न अन्त ही है, फिर मध्य कैसे कहा जाय? आदि और अन्त्य-सापेक्ष ही मध्य माना जाता है। आदि और अन्तसे शून्यका भी अभाव ही रहता है; एवं संख्या, देश, काल, निमित्त आदिमें से किसीका अवधारण नहीं हो सकता। वासनाके कारणोंके आनन्त्यसे वासनाएँ अपरिसंख्येय हैं, यह आगे 'इदम्मयोऽदोमयः' इत्यादिसे स्पष्ट होगा। अतः स्वरूपसंख्याका अवधारण करनेके लिए 'यथा माहारजनं वासः' इत्यादि दृष्टान्त नहीं है, किन्तु प्रकारका प्रदर्शन करनेके लिए है—इस प्रकारके वासना रूप होते हैं। परिमित दृष्टान्तसे वासना परिमित ही है, ऐसा किसीको भ्रम हो सकता है, उस भ्रमका निराकरण करनेके लिए यह कहा है। प्रकारभेदको स्पष्ट करनेके लिए दृष्टान्तभेद है। जो अन्तमें वासना रूपके लिए 'सकृत् विद्योतनमिव' कहा है, उसका तात्पर्य यह है कि अव्याकृतसे हिरण्यगर्भकी तडित्के समान एक बार ही अभिव्यक्ति होती है। उस हिरण्यगर्भके वासनारूपको जो जानता है; उसकी एक बार विद्युत्के समान ही ख्याति लोकमें होती है, निरवशेष सत्य स्वरूपको कह कर जिसको सत्यका सत्य कहा है, उसीके स्वरूपका अवधारण करनेके लिए इस अग्रिम ग्रंथका आरम्भ करते हैं,—अथ—सत्यस्वरूपके निर्देशके अनन्तर—जो सत्यका सत्य है, वही अवशिष्ट रहता है; अतः सत्यके स्वरूपका निर्देश करेंगे। आदेशका अर्थ प्रकृतमें निर्देश है।

हारिद्रं वसनं यद्वत् संसर्गात्पीततां व्रजेत् ।
तद्वन्नार्यादिसंसर्गाच्छिङ्गं रागादिमद्भवेत् ॥ ५८ ॥
ईषत्पाण्डुश्च परुषः स्यात् स्वतः श्वेतकम्बलः ।
तथेषच्छ्रद्धया युक्तं स्वतो रागादिभागपि ॥ ५९ ॥
इन्द्रगोपोऽतिरक्तः स्यात् स्वत एव तथा मनः ।
विविक्तदेशस्थस्याऽपि विषयप्रवणं क्वचित् ॥ ६० ॥

शङ्का—किसका ?

समाधान—ब्रह्मका ।

शङ्का—कौन निर्देश ?

समाधान—'नेति नेति' यह निर्देश ।

शङ्का—कैसे 'नेति नेति' शब्दसे सत्यके सत्यका निर्देश होता है ?

समाधान—सब उपाधियोंका विशेषरूपसे प्रतिषेध करनेपर जिसमें कोई नाम, कर्म, रूप, भेद, जाति अथवा गुणविशेष अवशिष्ट नहीं रहता । क्योंकि इन्हीं विशेषोंके द्वारा शब्दकी प्रवृत्ति होती है । कोई भी विशेष ब्रह्ममें नहीं रहता है, अतः ब्रह्म किसी भी शब्दसे निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता है, यह भाव है ॥ ६ ॥

'हारिद्रम्' इत्यादि । 'माहारजनं वासः' इस दृष्टान्तका विशेष विवरण यह है—महारजन नाम हल्दीका है; जैसे शुक्ल आदि गुणसे विशिष्ट वस्त्र हल्दीसे संसृष्ट होनेपर पीत प्रतीत होता है । पीत गुण वस्त्रका स्वाभाविक नहीं है, वैसे ही असत्के संसर्गसे चित्त भी मलिन प्रतीत होता है असत् विषय नारी आदि हैं, उनके संसर्गसे चित्त रजःप्रधान हो जाता है, जिससे विषयोंमें विशेष आसक्ति होती है ॥ ५८ ॥

'इषत्पाण्डुश्च' इत्यादि। अवि—मेष—(भेड़ा)। अवेरिदमाविकम् अर्थात् ऊर्णादि । अविसंबन्धि ऊर्णामय कम्बलादि स्वतः पाण्डुर होते हैं। 'ईषत्पाण्डुस्तु धूसरः' इस कोशसे पाण्डुशब्द शुक्लवाची है। यद्यपि भेड़ काले भी होते हैं, तथापि यहां वे विवक्षित नहीं हैं । जैसे श्वेत भेड़ोंका ऊन श्वेत होता है, उसका कम्बल भी स्वतः श्वेत ही होता है, वैसे ही स्वतः रागादि युक्त भी चित्त वेदान्तोपयोगी वैराग्यादि विषयमें स्वल्प भी श्रद्धादि होनेसे श्वेत कम्बलके समान शुद्ध प्रतीत होता है ॥ ५९ ॥

'इन्द्र०' इत्यादि । इन्द्रगोप—उक्त कीटविशेष—स्वतः अधिक लाल

अग्नेरर्चिर्यथा भास्वद्दहत्यपि तथा क्वचित् ।
वेदशास्त्रविदप्यन्यान् बाधेतेर्ष्याद्युपद्रवैः ॥ ६१ ॥
सिताम्भोजं यथा सौम्यं सुगन्धि मृदु च स्वतः ।
जन्मनैव तथा चित्तं युक्तं शमदमादिभिः ॥ ६२ ॥
तीव्रविद्युद्यथाऽत्यन्तं घनध्वान्तापनोदकृत् ।
तथा हिरण्यगर्भस्य सर्वज्ञा वासना भवेत् ॥ ६३ ॥

होता है एवं मन भी किसीका स्वतः अतिरागयुक्त होता है, अतएव विविक्त—निर्जन एकान्त—प्रदेशमें—('विविक्तौ पूतविजनौ' इस अमरकोशके अनुसार यहां 'विविक्त' शब्द विजनके तात्पर्यसे प्रयुक्त हुआ है)—स्थित पुरुषका भी चित्त विषयप्रवण ही (विषयग्रहणोन्मुख ही) रहता है। यद्यपि बाह्य विषयका सन्निधान नहीं है, तथापि उसमें आसक्ति होनेसे तद्विषयक चिन्तनमें उत्सुक होता है ॥ ६० ॥

'अग्नेरर्चि०' इत्यादि। जैसे अग्निकी देदीप्यमान अर्चि—ज्वाला—कहीं प्रकाशक होती है, कहीं दाहक भी होती है, वैसे ही वेद और शास्त्र जाननेवाले इर्ष्यादि उपद्रव द्वारा इतरके बाधक भी होते हैं। यद्यपि सत्त्वगुण प्रकाशक और प्रिय है, तथापि रजोगुणके संसर्गसे उसमें दुःखजनकस्वभावता भी हो जाती है। इसीसे दूसरेसे डाह करता है। डाहसे दोनोंको दुःख होता है। इसलिए ठीक ही कहा है कि अग्निवत् चित्त स्वतः भास्वर है; फिर भी अग्निके समान क्वचित् रजःसंसर्गस्थलमें ईर्ष्यादि उपद्रव द्वारा दाहक भी होता है ॥ ६१ ॥

'सिताम्भोजम्' इत्यादि। जैसे शुक्ल कमल देखनेमें रमणीय, सुगन्धपूर्ण एवं जन्मसे ही स्वतः मृदु होता है, वैसे सत्पुरुषोंका चित्त जन्मसे ही स्वतः विशुद्ध रज और तमसे असंसृष्ट अतएव मृदु और दुःखदर्शनाद्यसहिष्णुताशील होता है। इसका उदाहरण इतिहास और पुराणोंमें विस्तृत है तथा लोकमें भी प्रसिद्ध है, इसलिए विशेष उदाहरण देनेकी आवश्यकता नहीं है। शम, दमादि भी परिशुद्ध सत्त्वगुणयुक्त चित्तमें ही सफल होते हैं ॥ ६२ ॥

'तीव्रविद्युद्' इत्यादि। सकृत्का तात्पर्य यह है कि तीव्र विद्युत् जैसे अतिघन मेघमालाजनित रात्रिके निबिड़ अन्धकारकी अतिशीघ्र निवृत्ति करती है, वैसे ही हिरण्यगर्भकी सर्वज्ञ वासना अतिशीघ्र सर्वविषयक होकर उत्पत्तिके बाद साधन-सामग्रीवश सब विषयोंकी प्रकाशक नहीं होती, किन्तु उत्पत्तिके समय ही सब

तामुपासीत आप्नोति श्रियमत्यन्तमूर्जिताम् ।
रजःसत्त्वतमोयोगात् वासनानां विचित्रता ॥ ६४ ॥
प्रपञ्चवासने ब्रह्मरूपे इत्येवमीरितम् ।
तथेदमनिदंरूपे इति पक्षोऽधुनोच्यते ॥ ६५ ॥
सवासनं जगत् सर्वं तत्रेदंरूपमीरितम् ।
सच्च त्यच्चेति सत्यं तत् प्रोच्यते पाञ्चभौतिकम् ॥ ६६ ॥
श्रुतिः—अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परम-

विषयोंकी प्रकाशक होती है, क्योंकि ज्ञानप्रकाशातिशयवश हिरण्यगर्भकी वासना सब विषयोंका प्रकाश करती हुई ही विद्युत्के समान उत्पन्न हुई है। अन्त्य वासनासे विशिष्ट सूत्रात्माकी उपासना या विधान करनेके लिए स्तुति की गई है, जो प्रकृतमें आवश्यक है; हिरण्यगर्भ परमात्मासे उत्पन्न हुए हैं तथा भास्वर हैं, इस विषयमें श्रुतिस्मृत्यादि प्रमाणरूपसे प्रसिद्ध हैं ॥ ६३ ॥

'तामुपासीत' इत्यादि। हिरण्यगर्भकी उक्त वासनाकी उपासना करनेवाला उपासक अतिस्थिर लक्ष्मीको पाता है; रजःसत्त्वादिके संसर्गसे वासनामें विचित्रता होती है ॥ ६४ ॥

'प्रपञ्च०' इत्यादि। प्रपञ्च और वासना—ये दो ब्रह्मके रूप हैं, इस पक्षका निरूपण हो चुका। अब 'इदम्' और 'अनिदम्'—ये दोनों ब्रह्मके रूप विवक्षित हैं, इस पक्षका निरूपण किया जाता है ॥ ६५ ॥

'सवासनम्' इत्यादि। वासनासहित सम्पूर्ण जगत् इदंपदसे कहा गया है।

शङ्का—सत्यका सत्य अद्वितीय ब्रह्म विवक्षित है, द्वितीयाभाव अद्वितीय कहा जाता है। अभावका ज्ञान प्रतियोगीके ज्ञानके बिना नहीं होता, इस तरह द्वैताभावके ज्ञानके लिए द्वैतज्ञान आवश्यक है, इसीका पूर्वमें प्रस्ताव हुआ है, अतः इदमनिदंरूपका निरूपण प्रकृतमें किस प्रसंगसे आया है?

समाधान—ब्रह्मके रूप वे हैं, जो द्वैत कहलाते हैं—एक सत् और दूसरा त्यत्। ये दोनों पदार्थ उक्त रीतिसे पञ्चभूतके वाचक हैं—तीन मूर्त और दो अमूर्तोंके। अनिदंपदार्थका अब निरूपण करनेका अवसर आया है, इसलिए अब अनिदंपदार्थका निरूपण करेंगे ॥ ६६ ॥

'अथात आदेशो नेति नेति' इत्यादि श्रुति। षष्ठ्यन्त सत्यशब्द-

स्त्यथ नामधेयꣳ सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥ ६ ॥

इत्युपनिषदि द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥ ३ ॥

सत्यस्य सत्यमनिदं वक्तव्यं शिष्यते ततः ।
आदेशोऽनन्तरं तस्य क्रियतेऽनन्यमानिनः ॥ ६७ ॥
आदेशो नेति नेतीति ब्रह्मतत्त्वावबोधकः ।
यथाऽयमुपपद्येत तथा सम्यङ्निरूप्यते ॥ ६८ ॥

वाच्य प्रपञ्चका निरूपण करनेके अनन्तर प्रथमान्त सत्यशब्दवाच्य जो अनिदंरूप है, वही वक्तव्यरूपसे अवशिष्ट है, अतः उसीका उपदेश आरम्भ करते हैं—'अथात' इत्यादि ग्रन्थसे ।

'सत्यस्य' इत्यादि । 'सत्यस्य सत्यम्' इस पूर्वोक्त वाक्यमें दो सत्यशब्दके दो अर्थ हैं—एक षष्ठ्यन्त सत्यशब्दका अर्थ और दूसरा प्रथमान्त सत्यशब्दका अर्थ। प्रथमका तो सविस्तर निरूपण किया गया। अब प्रथमान्त सत्यशब्दका अर्थ अवशिष्ट है । इसलिए उसीका निरूपण करनेके लिए निर्देश करते हैं—'आदेशो' इत्यादिसे । अब उस अनन्यमानीका—अद्वितीयका निर्देश करते हैं, क्योंकि अद्वितीयात्मज्ञानसे ही परम पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है, अन्य प्रकारके ज्ञानसे नहीं; यह अद्वैतवेदान्तका सिद्धान्त है ॥ ६७ ॥

'आदेशो' इत्यादि । 'नेति नेति' यह आदेश (उपदेश) ब्रह्मका बोधक है, इसकी जैसे उपपत्ति होती है, वैसे समीचीनरूपसे यहाँ निरूपण करते हैं ।

शङ्का—आदेशशब्द करण-साधन है या कर्म-साधन है अथवा भावसाधन है ? प्रथम पक्षमें 'आदिश्यते—उपदिश्यते—' इस व्युत्पत्तिसे आदेशशब्द ब्रह्मपरक हो सकता है । 'आदिश्यतेऽनेन इति आदेशः' इस व्युत्पत्तिसे आदेशकरण (शब्द) आदेशपदार्थ होता है। 'आदिष्टिः आदेशः' इस व्युत्पत्तिसे ज्ञान आदेशपदार्थ कहा जा सकता है । परन्तु वे तीनों पक्ष ठीक नहीं हैं, करण कि प्रथम पक्षमें 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्म वाणी और मनका गोचर नहीं है, ऐसा सिद्धान्त किया गया है । जब ब्रह्म उनका विषय ही नहीं है तब ब्रह्म आदेश नहीं हो सकता । वह तो वस्तुतः अनादेश है । द्वितीय पक्षमें भी ब्रह्म शब्दविषय नहीं है, अतः शब्दकरण भी आदेश नहीं हो सकता । अतएव भाव-व्युत्पत्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि शब्दजन्य ज्ञानका विषय ब्रह्म नहीं है, यह उक्त श्रुतिसे सिद्ध ही हो चुका है ।

इतिशब्देन चिद्धास्यमनूद्य प्रतिषिध्यते ।
नकारेण द्विरुक्तिस्तु वीप्सा कृत्स्ननिषिद्धये ॥ ६९ ॥

समाधान—यद्यपि उक्त शब्द ब्रह्मका वाचक नहीं है, फिर भी वह ब्रह्मज्ञानका निमित्त है । यह विषय अतिगम्भीर है । इसलिए खूब सावधान होकर सुनिए और समझिये—आत्मामें अध्यस्त अविद्या और तज्जनित मूर्तादि प्रपञ्चके निरास द्वारा ब्रह्मज्ञानके हेतु उक्त दो शब्द हैं ।

शङ्का—मूर्तादिका निषेध यदि ब्रह्मातिरिक्त है, तो अद्वैतकी हानि होगी । यदि ब्रह्मस्वरूप है, तो ब्रह्म भी अभावरूप हो जायगा ।

समाधान—ब्रह्माज्ञान और उसके कार्यका ध्वंस ब्रह्ममात्रस्वरूप ही है, अतः सद्वयत्वका संभव नहीं है । अभावत्व भी कल्पित है । कल्पनाकी निवृत्तिके अनन्तर अभावत्व भी नहीं रहता, अतः अभावस्वरूपताका आपादन भी नहीं हो सकता; केवल स्वस्वरूपसे अवस्थानमात्र ही ब्रह्म विवक्षित है ।

शङ्का—फिर भी मूलकारण अवशिष्ट रह गया, अतः अद्वैतकी उपपत्ति नहीं हो सकती ।

समाधान—अमूर्तकी अन्तिम परिसमाप्ति मूलकारणमें ही होती है और भूतत्वकी पृथिवीमें ऐसा पूर्वमें समर्थन कर चुके हैं । इन दोनोंके मध्यवर्गोंमें उन दोनोंका सांकर्य माना गया है, इसलिए पृथिवीसे लेकर मूलकारणपर्यन्त भूत-भौतिक निखिल पदार्थ निषेध्य हैं ।

शङ्का—कार्यकारणसे अतिरिक्त कोई अन्य द्वितीय हो सकता है; अतः उसीसे अद्वैतकी क्षति हो सकती है ।

समाधान—यदि वह (कारणातिरिक्त) वाणी और मनसे अतीत है, तो उसकी सत्तामें कुछ प्रमाण ही नहीं है । यदि वह उनका विषय है, तो उक्त मूर्तामूर्तकोटिमें ही अन्तर्भूत हो जायगा । नामरूपात्मक कर्म, प्राण, लोक, कारक, क्रिया, फल आदि जितने विषय हैं, उन सबका निषेध ब्रह्ममें है । निषेध्यका समर्थक न रहनेसे निषेधप्राप्ति ही नहीं बन सकती, क्योंकि प्रसक्तका ही प्रतिषेध माना जाता है ॥ ६४ ॥

'इतिशब्देन' इत्यादि । चिद्धास्यका—सकल नाम आदि निषेध्यका—'इति' शब्दसे अनुवाद कर 'नञ्' से निषेध करते हैं ।

शङ्का—जैसे एक प्रदेशमें घटका निषेध करनेपर अन्य प्रदेशमें घटकी

सत्ता मानी जाती है, वैसे ही ब्रह्ममें मूर्तादिका निषेध माननेपर भी अन्यत्र उसकी सत्ता रह सकती है ।

समाधान—ब्रह्ममें ही नामादि कल्पित हैं, अन्यत्र उनकी सत्ता है ही नहीं, जहाँ वे कल्पित हैं, वहींपर निषेध करनेसे अन्यत्र उनकी सत्ताकी संभावना ही कहाँ होगी ? इदंपदार्थमें शुक्तिरजतका निषेध करनेपर अन्यत्र उसकी सत्ताका कहां संभव हो सकता है ? भूतलमें घटादि व्यवहारदशामें व्यावहारिक माने जाते हैं, इसलिए उनकी अन्यत्र सत्ता रहती है। प्रकृतमें नामादि ब्रह्ममें ही शुक्तिमें रूप्यके समान कल्पित हैं, अतः उनकी अन्यत्र सत्ता असंभव है ।

शङ्का—नामादि ब्रह्ममें कल्पित हैं, पारमार्थिक नहीं हैं, इसमें क्या प्रमाण है ?

समाधान—'विमतं नामादि कल्पितम् , व्यभिचारित्वात् , सर्पवत्' इत्यादि अनुमान उक्त अर्थमें प्रमाण है । 'अयं घटः, अयं पटः' इत्यादि स्थलमें इदंपदार्थ सर्वत्र अनुवृत्त है । घटादि नाम परस्पर व्यावृत्त और व्यभिचारी हैं, अतः वे रज्जुमें सर्पवत् कल्पित कहे जाते हैं ।

शङ्का—आत्मामें कल्पित प्रकृत इतिशब्दसे उक्त आकाशादिका नञ्से निषेध करते हैं । यदि ऐसा मानते हो, तो प्रकृत वाक्यमें ब्रह्मवाचक पदके न होनेसे ब्रह्मका बोध प्रकृत वाक्यसे हो ही नहीं सकता; इसलिए निषेध भी व्यर्थ ही है । वस्तुतः आपको उक्त वाक्यका विषय निर्विशेष ब्रह्म इष्ट है, सो नहीं बनता ।

समाधान—ब्रह्मवाची पद नहीं है, यह कहना ठीक है, फिर भी प्रतीत अधिकरणमें ही प्रतिषेध होता है, अन्यत्र नहीं, अतएव शास्त्रका यह परम सिद्धान्त है कि सब वस्तुएँ पुरुषमें ही नष्ट होती हैं, विनाशहेतुके अभावसे पुरुष ही केवल अविनाशी है । आत्माके विनाशकी शङ्का भी नहीं हो सकती, क्योंकि असाक्षिक विनाशमें प्रमाण नहीं है। अन्य साक्षी है नहीं। सबके विनाशका साक्षी आत्मा है, इसलिए उनका ही नाश माना जाता है, साक्षी न होनेसे आत्माका विनाश नहीं माना जाता।

शङ्का—इतिशब्दको यदि प्रकृतपरामर्शी कहते हो, तो प्रकृत ब्रह्म भी है, अतः प्रकृतत्वहेतुक दृश्यके समान ब्रह्मका भी परामर्श इतिशब्दसे कर उसका भी निषेध होना चाहिए, इस परिस्थितिमें बौद्धों द्वारा उक्त शून्यवाद ही तत्त्व होगा।

समाधान—भाव और अभावमें सत्तास्फूर्तिप्रद तो ब्रह्म ही है और ब्रह्म स्वयं-प्रकाश होनेसे वाणी और मनसे परे है, इसलिए इतिशब्द ब्रह्मको नहीं कह सकता, यह अनेक बार कह चुके हैं, अतएव शून्यवादकी क्या संभावना ?

शङ्का—यदि आत्मबलसे नञ् द्वैतका निषेधक है, तो आत्मा और नञ् ये दोनों सदातन हैं, अतः प्रतिषेध भी सनातन ही होना चाहिए, अतएव किसी समय भी द्वैतका भान उचित नहीं ?

समाधान—वाक्यजन्य निष्प्रपञ्चात्मक ब्रह्मका साक्षात्कार ही द्वैतका निवर्तक कहा गया है, अतः वाक्यजन्य तथाविध ज्ञानसे ही चिदात्मा, सबकी निवृत्ति कर, स्वाभाविक अविच्छिन्नरूपसे व्यवस्थित होता है। उक्त ज्ञानसे पूर्व द्वैत-बुद्धि होनेमें कोई बाधक नहीं है। आत्मा तीन अवस्थाओंका साक्षी है। उससे अन्य कार्य वा कारण जो चिदाभासके समान हैं, वे सब निषेध्य हैं। सकल द्वैतके निषेधका फल यह है कि ईश्वरार्पणबुद्धिसे नित्यादि कर्मोंका अनुष्ठान और उनके द्वारा उत्पन्न विवेकसे युक्त चित्त परिशुद्ध हो जाता है, तदनन्तर 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यके श्रवणसे परमात्मबुद्धिका लाभ होता है। उस बुद्धिके बलसे अविद्या और तज्जनित सकल विकारका ध्वंस होता है; उस अवस्थामें निर्व्यापार होकर स्वमहिमामें प्रतिष्ठित रहता है।

शङ्का—आत्मज्ञानसे उसके अज्ञानकी निवृत्ति तो उचित ही है, पर जगत्की निवृत्ति क्यों कहते हो ? क्या जगत्की निवृत्तिके बिना मोक्ष नहीं हो सकता ?

समाधान—जो अज्ञान कार्य और कारणकी अपेक्षा करता है; वह वास्तविक आत्मामें नहीं रहता, किन्तु आकाशमें नीलिमाके समान कल्पित ही माना जाता है।

शङ्का—आकाशनीलिमाके समान जगत् अज्ञानजन्य है; अतः निषेध्य है; यह ठीक है परन्तु जगत्के निषेध द्वारा आत्माका प्रतिपादन नहीं हो सकता; क्या नीलके निषेधसे आकाशका प्रतिपादन होता है ?

समाधान—आकाश तो विषय है, इसलिए विधि द्वारा भी उसका प्रतिपादन होता है। आत्मा शब्दादिका अविषय, कूटस्थ और अद्वितीय है, अतः उसका विधि-मुखसे प्रतिपादन नहीं हो सकता, किन्तु निषेध द्वारा ही उसका प्रतिपादन किया जा सकता है। आकाश विधिगोचर है; इसलिए उसका निषेध द्वारा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता, यह कहना ठीक ही है; पर उक्त आत्मा तो शब्दादिहीन तथा मानान्तरका अविषय है। आगम भी विधिमुखसे आत्माका प्रतिपादन नहीं कर सकता, इसलिए प्रतिषेध ही प्रतिपादनका द्वार माना जाता है।

शङ्का—जिसको विधिमुखसे नहीं कह सकते; वह है ही नहीं, जैसे

मूर्त्तं वा यदि वाऽमूर्त्तमज्ञानं वासनाऽथवा ।
अध्यात्ममधिदैवं वा तत्सर्वं प्रतिषिध्यते ॥ ७० ॥
न चेद्वीप्सा तदा द्वाभ्यां द्वयमेव निषिध्यते ।
ततश्च ब्रह्मताशङ्का दृश्येऽन्यस्मिन् प्रसज्यते ॥ ७१ ॥
वीप्सया सर्वदृश्यस्य निषेधे त्ववशिष्यते ।
अमेयमेकमेवाऽतो यथावद् ब्रह्म बुध्यते ॥ ७२ ॥

वन्ध्यापुत्र । आत्माको भी विधिमुखसे नहीं कह सकते; अतः उसका अभाव ही क्यों नहीं मानते ?

समाधान—आत्मा स्वयंप्रकाश स्वयंसिद्ध है; अतः उसकी सत्ताका अपलाप कोई नहीं कर सकता ।

शङ्का—'इति' शब्दसे सकल दृश्यका अनुवाद कर उसका 'नञ्' से निषेध करते हैं। यदि यही ईप्सित है, तो उसके लिए एक ही नञ् पर्याप्त है। दो नञ् और दो इति शब्दका उपादान व्यर्थ है; इसलिए कहते हैं—'द्विरुक्ति' इत्यादि । दो 'नञों' का उपादान वीप्साके बोधनके लिए है; अन्यथा यत्किञ्चिद् दृश्यके निषेधसे अभिमत अर्थ सिद्ध नहीं होगा, अतः उसका उपादान आवश्यक है ॥ ६९ ॥

'मूर्तं वा' इत्यादि । मूर्त, अमूर्त, अज्ञान अथवा वासना आदि अध्यात्म और अधिदैवत भेदसे भिन्न जो कुछ है, उस सबका प्रतिषेध करनेके लिए वीप्सा की गई है ॥७०॥

वीप्साके अभावपक्षमें दोष कहते हैं—**'न चेद्वीप्सा'** इत्यादिसे ।

जो यह कहते हैं कि यहां वीप्सा नहीं है; उनके मतमें ये 'नेति नेति' दो वाक्य हैं और उनसे मूर्त और अमूर्त—ये ही दो प्रतिषेध्य होंगे । इस परिस्थितिमें एक एक वाक्यसे एक एकका निषेध होनेपर भी अन्य राशिमें ब्रह्मस्वरूपकी शङ्काका सम्भव होनेसे शुद्ध ब्रह्मकी सिद्धि नहीं होगी ।

शङ्का—उक्त दो राशियोंमें सबका समावेश हो ही जाता है, फिर अवशिष्ट ही क्या है ? जिसमें ब्रह्मस्वरूपकी शङ्काका सम्भव कहते हो ।

समाधान—प्रतिषेध ही अवशिष्ट रह जाता है, इसमें ही उक्त शङ्का हो सकती है, क्योंकि दो 'इति' शब्दोंसे मूर्तामूर्तकी ही उपस्थिति होनेसे दोनों 'नञों' का क्रमशः उक्त पदार्थोंमें अन्वय होनेपर प्रतिषेध अवशिष्ट रह जायगा, अतः वीप्सा आवश्यक है ॥ ७१ ॥

'वीप्सया' इत्यादि । वीप्साका स्वीकार करनेपर सब दृश्योंका निषेध होनेसे

न शून्यं शिष्यतेऽस्याऽपि दृश्यत्वादेव निह्नवात् ।
भावाभावनिषेधेऽन्यद् ब्रह्मणः शिष्यतेऽत्र किम् ॥ ७३ ॥
न ब्रह्मणो निषेधः स्यादितिशब्दासमर्पणात् ।
ब्रह्म चेदितिशब्दार्थः किमन्यदनिदं भवेत् ॥ ७४ ॥
नाऽन्तरेणाऽनिदन्तत्त्वमिदमर्थः प्रसिद्ध्यति ।
यत्ते स्यादनिदं तत्त्वं तदेव ब्रह्म मे मते ॥ ७५ ॥

जो अवशिष्ट रह जाता है, वह अमेय (ज्ञानाविषय) एक ही ब्रह्मात्मा अवशिष्ट रहता है, इसलिए ब्रह्मका यथार्थ बोध होता है और उसीसे मुमुक्ष कृतार्थ हो जाता है। मन स्वभावतः बाह्यविषयक होता है, कथंचित् देवताप्रसादादि द्वारा परमात्मामें अनुरक्त हो जाता है और पराक् विषयोंसे निवृत्त होकर ब्रह्ममें स्थिर होता है।

शङ्का—'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' इत्यादि वाक्यसे मूर्तामूर्तव्यतिरेक तो पहले ही सिद्ध हो जाता है, कारण कि षष्ठी भेदमें ही होती है, अतः आदेशोक्ति व्यतिरेक द्वारा ब्रह्मके प्रतिपादनके लिए है, यह व्याख्यान समीचन नहीं है।

समाधान—यह वाक्य पदार्थशोधनके अनन्तर साक्षात् ही ब्रह्मका बोधक है। किसीका मत यह है कि 'नेति नेति' यह निषेधादेश निषेध्य मूर्तादिके निषेधके लिए नहीं है, किन्तु लक्षणासे त्वमर्थपरक है। अन्यथा अप्रमित ब्रह्ममें प्रमित मूर्तादिका निषेध होनेसे विश्वमें तात्त्विकशून्यता ही प्रसक्त हो जायगी, इसका निराकरण करते हैं—**'न शून्यम्'** इत्यादिसे।

शून्य भी अवशिष्ट नहीं रह सकता, क्योंकि वह भी तो दृश्य ही है, दृश्यमात्रका 'नञ्' से प्रतिषेध किया जाता है, चाहे वह भावात्मक हो या अभावात्मक। इसलिए शून्यके शेषकी संभावना नहीं हो सकती। केवल ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है, अन्य नहीं रहता ॥ ७३ ॥

'न ब्रह्मणो' इत्यादि। इतिशब्दार्थ ब्रह्म नहीं है, किन्तु मूर्तामूर्तात्मक जगत् उसका अर्थ है, ब्रह्म वाणी और मनसे अतीत अतएव शब्दावाच्य है। 'इति' शब्दसे उक्त अर्थका अनुवाद कर प्रतिषेध किया गया है। इदंशब्दका पर्याय 'इति' शब्द है। यदि ब्रह्म भी इतिशब्दार्थ कहा जायगा, तो सब इदंशब्दार्थ हो जायगा। अनिदंशब्द ही अनर्थक हो जायगा। ब्रह्म अनिदंपदार्थ माना जाता है, इसलिए 'ब्रह्म' इति शब्दार्थ नहीं है ॥ ७४ ॥

'नाऽन्तरेण' इत्यादि। इदन्त्वकी सिद्धि अनिदं तत्त्वके बिना नहीं हो

निषेधोऽपि ससाक्ष्येव नाऽतः साक्षी निषिध्यते ।
यन्निषेद्धुमशक्यं तत्साक्षी ब्रह्मेति गम्यताम् ॥ ७६ ॥
इतिशब्दनकाराभ्यां वाच्यस्य ब्रह्मता नहि ।
अतिरिक्तं तु न प्रोक्तं कथं ब्रह्म विबुध्यते ॥ ७७ ॥

सकती, दृश्यवर्गमें इदन्त्व है, भोक्ता साक्षी अनिदंतत्त्व है । भोक्ताके बिना भोग्यकी सिद्धि नहीं हो सकती । अतः भोग्यजात भोक्ताके अधीन है, इसमें किसीको विवाद नहीं है । जिसको आप अनिदं कहते हैं, वही हमारे मतमें ब्रह्म कहा जाता है ॥ ७५ ॥

'निषेधो०' इत्यादि । निषेध ससाक्षिक ही प्रामाणिक माना जाता है, केवल यौक्तिक नहीं । चेतन आत्माको छोड़कर दूसरा कोई साक्षी नहीं हो सकता । अतः दृश्यमात्रके निषेधमें आत्मा साक्षी कहा जाता है । यदि दृश्य-निषेधके समान साक्षीका भी निषेध किया जाय, तो उसमें साक्षी कौन माना जाय, स्वयं आत्मा तो स्वनिषेधका साक्षी हो नहीं सकता, कारण कि स्वस्थिति-कालमें स्वाभाव नहीं है और स्वाभावकालमें स्वयं नहीं है, भावाभावकी समान-कालमें स्थिति ही असंभव है । ध्वंसकी प्रतियोगीके साथ समानकालता नहीं हो सकती, अन्यथा ध्वंस और प्रतियोगीके विरोधका ही भङ्ग हो जायगा ॥ ७६ ॥

'इति शब्द' इत्यादि ।

शङ्का—अच्छा, तो साक्षीका प्रतिषेध असंभव है, इसलिए प्रतिषेध न हो, फिर भी साक्षीमें कोई प्रमाण नहीं कह सकते । प्रमाणके बिना प्रमेयकी सिद्धि नहीं मानी जाती, अतएव सप्तम रस नहीं माना जाता । अरूपी द्रव्य होनेसे प्रत्यक्षादि प्रमाण तो हो नहीं सकते, केवल आगमको ही साक्षीकी सत्तामें प्रमाण कह सकते हैं । उसे भी अब नहीं कह सकते, कारण कि यदि साक्षीको शब्द-वाच्य मानें, तो इतिशब्दसे उसका भी अनुवाद कर मूर्तादिके समान निषेध ही हो जायगा । यदि इस दोषके परिहारके लिए शब्दवाच्य ही न मानें, तो 'नञ्' प्रतिषेध वाची है और इति शब्द मूर्तादिका उपस्थापक है, ब्रह्मका उपस्थापक कोई पद प्रकृत वाक्यमें नहीं है, अतः यह आदेश ब्रह्मका बोधक कैसे माना जायगा ? ब्रह्मविषयक बोधनका वाक्य ही ब्रह्मबोधक होता है; अतः औपनिषद ब्रह्म है, यह अद्वैतवेदान्तियोंका सिद्धान्त ही असंगत होता है ॥ ७७ ॥

स्वतः प्रत्यक्परागर्थद्वयेनैषाऽनुरञ्जिता ।
धीर्निषिद्धा परागर्थात्प्रतीचि लभते स्थितिम् ॥ ७८ ॥
कीदृक्तत्प्रत्यगिति चेत्तादृगीदृगितिद्वयम् ।
यत्र न प्रसरत्येतत्प्रत्यगित्यवधार्यताम् ॥ ७९ ॥

'स्वतः प्रत्यक्' इत्यादि । संपूर्ण दृश्य स्वकारणीभूत चित्से संबद्ध रहते हैं, अतः तद्विषयकबुद्धिवृत्ति (ज्ञान) स्वभावतः चिदचिद्विषयक होती है । निषेधवाक्यसे सकल दृश्यके अभावका बोध होनेके अनन्तर चिन्मात्र ब्रह्ममें बुद्धि परिनिष्ठित हो जाती है । इस परम्परासे ब्रह्म श्रौत माना जाता है । व्यवहारदशामें 'अयं घटः' इत्यादि बुद्धि होती है, यह सर्वानुभवसिद्ध है । इदर्थ अव्यभिचरित होनेसे चिद्विषयक है । घटादिके व्यभिचरित होनेसे तद्विषयक बुद्धि अचिद्बुद्धि कही जाती है । 'नेति नेति' इस निषेधवाक्यसे अचिद् घटादिका निषेध करनेपर भी चिन्मात्रका प्रतिषेध न होनेसे तन्मात्रमें बुद्धि परिनिष्ठित रह जाती है । इसलिए आत्मामें श्रौत प्रमाण माना जाता है । 'इदं रजतम्' इत्यादि बुद्धि जब रजतांशमें बाधित नहीं होती है तब तद्विषयमें अपरिनिष्ठित होनेपर भी 'इदम्' अंशमें अपरिनिष्ठित नहीं होती; उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ ७८ ॥

'कीदृक्' इत्यादि । ब्रह्म कैसा है, यह जिज्ञासा श्रोताको जब उत्पन्न होती है, तब वह पूछता है कि ब्रह्म कैसा है ? इसका उत्तर साकारबोधक वाक्य ही होता है, जैसे किसीने पूछा घट कैसा होता है, तो उत्तर दिया जाता है कि पृथुबुध्नोदराकार । इससे इतरव्यावृत्त घटके आकारका श्रोताको बोध हो जाता है, एवं ब्रह्म कैसा है ? इस जिज्ञासाकी निवृत्तिके लिए 'एतादृग् ब्रह्म है, इत्यादि वाक्य ही उत्तर होना चाहिए, प्रकृतमें ब्रह्मको निर्विशेष मानते हैं, अतएव वह शब्दवाच्य नहीं है, ऐसा समर्थन करते हैं । ऐसी परिस्थितिमें उक्त प्रश्नका उत्तर यह है कि जैसी वस्तु रहती है, वैसी ही उसको कहना चाहिए । पराग् विषय साकार है , इसलिए उसके आकारोंका निर्देश करना युक्तिसंगत ही है । ब्रह्ममें इदृग्तादृग् कोई आकार है नहीं, इसलिए उसके विषयमें यही उत्तर पर्याप्त और यथार्थ है कि जिसमें इदृग् तादृग्—ये दोनों नहीं हैं और न जिसे कह सकते हैं; अर्थात् दोनोंका प्रसंग जहां नहीं है, वही ब्रह्म है, यही निश्चय कीजिये ।

ज्ञानक्रियाभ्यां व्याप्यं तदित्याकाङ्क्षानिवर्तनात् ।
अप्रमित्सित एकस्मिन् धीस्तिष्ठत्यचिकीर्षिते ॥ ८० ॥
दृश्यत्वादितिशब्दार्थौ प्रमित्सितचिकीर्षितौ ।
तत्त्यागे कृतकृत्यत्वं ज्ञेयकार्यसमाप्तितः ॥ ८१ ॥

'ज्ञानक्रियाभ्याम्' इत्यादि । ज्ञानव्याप्यत्व याने ज्ञानकर्मत्व, क्रियाव्याप्यत्व याने कर्मव्याप्यत्व—इन दो प्रकारोंकी आकाङ्क्षा क्रमशः ज्ञेय और कार्यमें रहती है । इन दो प्रकारोंसे मूर्तामूर्तात्मक अशेष जगत्का ग्रहण हो जाता है । प्रकृत ब्रह्म न ज्ञेय है और न कार्य ही है, अतः उक्त दोनों आकाङ्क्षाएँ उसमें से निवृत्त हो जाती हैं अर्थात् 'नेति नेति' इस वीप्सासे युक्त वाक्यसे—उक्त दो प्रकारोंसे जो जो पदार्थ लोकमें व्यवहृत होते हैं, वे सब ब्रह्ममें नहीं हैं, कारण कि ब्रह्म न ज्ञेय है और न कार्य है, ऐसा—समझनेपर विद्वान् ज्ञानक्रियाके अविषय ब्रह्ममें तादात्म्यरूप निष्ठाको प्राप्त होता है ।

शङ्का—केवल स्थूल आदिके अभावके ज्ञानसे ही द्वैत और द्वैतके हेतु अज्ञानका ध्वंस होकर मोक्षकी प्राप्ति हो जायगी, फिर उसके लिए ब्रह्मनिष्ठा व्यर्थ है और अभावपक्षसे वीप्सापक्षमें कुछ विशेष भी दृष्टिगोचर नहीं होता अर्थात् शून्यवादसे इस पक्षमें कुछ विशेष प्रतीत नहीं होता ।

समाधान—इस पक्षमें विशेष यह है कि ब्रह्मतत्त्वधी सिद्ध होती है, जिसका प्रतिषेध हजारों वर्षोंमें भी नहीं कर सकते । अभावपक्षमें साक्षीका भी अभाव मानते हैं, जो उक्त रीतिसे सर्वथा असंभव है, अतः वह विशेष थोड़ा नहीं है ॥ ७९,८० ॥

'दृश्यत्वादिति' इत्यादि । मुमुक्षुके लिए दो ही विषय रहते हैं—कर्तव्य और ज्ञेय । कर्तव्य तो पूर्वावस्थामें (युञ्जानावस्थामें) ही समाप्तप्राय हो जाता है । केवल ज्ञेयमात्र अवशिष्ट रहता है; उसकी भी सीमा है । उक्त वीप्साघटित वाक्यसे दोनोंकी समाप्ति कही गई है, इसलिए यही निश्चय होता है कि अब कार्य और ज्ञेय दोनोंकी समाप्ति होनेसे मुमुक्षु कृतकृत्य हो गया अर्थात् जन्म आदिसे सदाके लिए रहित हो गया, अतएव कृतकार्य और ज्ञातज्ञेय हो गया, उसके कर्तव्यादि समाप्त हो गये, जो वेदान्तका ध्येय है, वह पूर्ण हो गया । यदि वीप्सा न मानियेगा, तो दो वाक्य हो जायँगे, ऐसी अवस्थामें एक-एकके निषेधके लिए ही एक-एक

आत्मनः स्वप्रकाशत्वाद् बुद्धेस्तत्पक्षपाततः ।
अन्यापह्नवमात्रे सा पर्यवस्यति शास्त्रगीः ॥ ८२ ॥
सर्वप्रत्ययवेद्ये वा ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते ।
प्रपञ्चस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते ॥ ८३ ॥

वाक्यके सार्थक होनेसे अनुक्त विषयकी शङ्का रह जायगी । अथवा अभाव ही अवशिष्ट रह जायगा, इससे उक्त अर्थकी सिद्धि नहीं होगी, इसलिए वीप्साका ही भाष्यकारने सिद्धान्त किया है ॥ ८१ ॥

'आत्मनः' इत्यादि । आत्मा स्वप्रकाश अतएव स्वयंसिद्ध है, इसलिए वह न कार्य है और न ज्ञेय, केवल अविद्योपस्थापित नामादिसे संसृष्ट होकर उनका प्रकाशक होता है; इसीसे दार्शनिकोंको आत्मतत्त्वके निर्णयमें अनेक प्रकारकी भूलें हुई हैं । केवल तर्कादि द्वारा आत्मतत्त्वका विवेचन जिन लोगोंने किया है, वे प्रायः आत्मतत्त्वका यर्थार्थ निर्णय नहीं कर पाये हैं । आत्मा आगमैकगम्य है, अतः आगम द्वारा ही उसका यथार्थ निर्णय हो सकता है, अन्यथा नहीं । जैसे मिश्रित अष्टधातुओंका विश्लेषण अभिज्ञ पुरुष ही प्रयोग द्वारा कर सकता है, अनभिज्ञ नहीं कर सकता, वैसे ही चिदचिन्मिश्रित शरीरादिमें चिदंश कौन है और अचिदंश कौन और कितने हैं ? इत्यादिके निर्णयका उपाय आगम ही है, तर्कादि नहीं हैं । धातुओंके विश्लेषणका उपाय जैसे नियत है, वैसे ही यहां भी उपाय नियत है । भेद इतना ही है कि वे भौतिक हैं, इसलिए उनके विश्लेषणके उपाय भी भौतिक ही हैं । चिदचिद्विभागके उपाय आध्यात्मिक हैं । आगमोक्त उपाय तथा महात्माओंके उपदेश पर जो विश्वास कर उसमें परायण होते हैं, वे ही उक्त विभागमें कुशल होते हैं, इसीसे यह कहा जाता है कि बुद्धिका तत्त्वमें पक्षपात होता है; इसी क्षणमें उत्पन्न भी तत्त्वबुद्धि दीर्घकालोत्पन्न प्रबल अतत्त्व बुद्धिको समूल नष्ट करती है; अतएव भविष्यमें पुनः अतत्त्वबुद्धि द्वारा तत्त्वबुद्धिके तिरोभावकी शङ्का नहीं रह जाती । आत्मा स्वप्रकाश है और बुद्धिका आत्मामें पक्षपात है, इसलिए 'नेति नेति' इत्यादि वाक्य द्वैतमात्रनिषेधपरक है अर्थात् द्वैतनिषेधमें ही उसका पर्यवसान है । आत्मतत्त्व स्वतः सिद्ध है ॥ ८२ ॥

'सर्वप्रत्यय०' इत्यादि । सर्वप्रत्ययवेद्य ब्रह्मस्वरूप स्वयं व्यवस्थित है; उसके साधन या ज्ञापनके लिए वेदान्तकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु आवश्यकता है

इति प्राह ब्रह्मसिद्धिकारो वेदरहस्यवित् ।
अतोऽत्राऽन्यनिषेधेन ब्रह्मबोधः समाप्यते ॥ ८४ ॥
पटे घटो निषिद्धः सन् पटादन्यत्र तिष्ठति ।
इदं जगत् तथाऽन्यत्र स्यादित्येतदसङ्गतम् ॥ ८५ ॥

प्रपञ्चके विलयकी, अतः उक्त शास्त्र प्रपञ्चविलयके ही लिए है, अन्य अर्थके लिए नहीं है। भाव यह है कि घटादिशब्दसे घटावच्छिन्न चैतन्यका बोध होता है; अतः घटादि-शब्द भी घटोपाधि द्वारा ब्रह्मके वाचक हैं। एवं 'अयं घटः' इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञान भी शुद्ध-घट-विषयक नहीं है, किन्तु घटोपहित-ब्रह्म-विषयक है। अधिष्ठानभानके बिना केवल अध्यस्तका भान कहीं दृष्टचर नहीं है; अतः सभी घटादिविषयक ज्ञान घटाद्युपहित-ब्रह्मविषयक माने जाते हैं। विशिष्टाद्वैत-मतमें भी घटादिशब्द अचि-द्विशिष्ट-चिद्विषयक माने जाते हैं, इसलिए उनके मतमें भी ज्ञानमात्र विशेष्यविधया ब्रह्म-विषयक कहा जाता है ।

शङ्का—यदि घटादिज्ञान भी ब्रह्मविषयक है, तो उसीसे मोक्ष क्यों नहीं मानते ?

समाधान—अज्ञान और तदीय-कार्याविषयक ब्रह्मज्ञानसे ही मोक्ष होता है, यह श्रुतिके अनुकूल सिद्धान्त है । उक्त ज्ञान विशेषणविधया अज्ञानकार्य-घटादिविषयक होनेसे उससे उक्त आपत्ति नहीं हो सकती, अतएव 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत', 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादि श्रुतियोंमें एवकारादि पद प्रयुक्त हुए हैं। ब्रह्मा-तिरिक्तकी व्यावृत्ति ही उनका मुख्य फल है । अतः यह बहुत ठीक कहा गया है कि 'सर्वप्रत्यय-वेद्य ब्रह्म व्यवस्थित है' । इसके भानके लिए शब्दकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु ब्रह्मेतरके भानकी व्यावृत्तिके लिए ही वेदान्तादि आवश्यक हैं । ब्रह्मभान तो स्वतःसिद्ध है ॥ ८३ ॥

'इति प्राह' इत्यादि । वेदका रहस्य (अतिगोप्य) तत्त्व जाननेवाले ब्रह्मसिद्धिकार मण्डनमिश्रने उक्त श्लोकसे यही अर्थ स्फुट किया है । अतः उक्त अर्थ वेदान्तानभिमत और कपोलकल्पित नहीं है, किन्तु प्रामाणिक है । इस-लिए ब्रह्मातिरिक्तके निषेध द्वारा ब्रह्मबोधकी परिसमाप्ति होती है अर्थात् स्वयंप्रकाश सर्वान्तर्यामीके बोधके लिए वेदान्त नहीं हैं, किन्तु इतरकी व्यावृत्तिके लिए वेदान्त हैं, यह परम निष्कर्ष है ॥ ८४ ॥

'पटे घटो' इत्यादि ।

रूपिद्रव्यान्निषिद्धं तद्रूपं नाऽन्यत्र तिष्ठति ।
रूपं घटस्य भिन्नं सन्नहि क्वाऽप्युपलभ्यते ॥ ८६ ॥

शङ्का—जैसे पटमें घट नहीं है, ऐसा कहनेपर पटमें ही घटका निषेध माना जाता है, अन्यत्र भूतलादिमें नहीं; प्रत्युत भूतलादिमें तो घटकी स्थिति ही मानी जाती है । अन्यथा अविशेषसे घट नहीं है, ऐसा कहना उचित होगा । और पटमें घट नहीं है, ऐसा विशेषरूपसे घटादिपदका उपादान ही व्यर्थ हो जायगा । वैसे ही 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुति द्वारा ब्रह्ममें जगत्का निषेध किया गया है, इसलिए ब्रह्ममें भले ही जगत्को न मानिये, किन्तु अन्यत्र जगत् नहीं है, इसमें क्या प्रमाण ? यदि कहीं अन्यत्र भी जगत् रहता है, तो अद्वैत ब्रह्म सिद्ध नहीं हो सकता।

समाधान—यह दृष्टान्त विषम है । घट और पटमें परस्पर कार्यकारणभाव नहीं है और न अध्यासाधिष्ठानभाव ही है, इसलिए घटादिकी अनिषिद्धाधिकरणमें स्थिति हो सकती है; ब्रह्म और जगत्का रूप और घटादिके समान कार्यकारणभाव है एवं शुक्तिरूप्यादिके समान अध्यासाधिष्ठानभाव है । जैसे घटीय रूपादि घटको छोड़कर अन्यत्र नहीं रह सकते, अतएव जहां घटादिका निषेध करते हैं वहाँ उसके रूपादिका भी निषेध अर्थतः सिद्ध होता है; यह संभव नहीं है कि घट न हो और घटीय रूप हो । कार्य कारणका व्यभिचारी नहीं हो सकता । अगर हो, तो कार्यकारणभाव ही नहीं होगा । प्रकृतमें जगत्का कारण ब्रह्म है, इसलिए ब्रह्मसे अतिरिक्त स्थलमें जगत्की स्थितिकी संभावना ही नहीं है । जहाँ सम्भव है, वहाँ निषेध ही करते हैं, अतः उक्त शङ्का सर्वथा निर्मूल है ॥ ८५ ॥

'रूपिद्रव्या०' इत्यादि । घट और उसके रूपका कार्यकारणभाव है । कार्यकारण भाव अत्यन्त भेद होनेपर नहीं हो सकता। जैसे अश्व और गऊ—ये दोनों परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, इसलिए उक्त दोनोंमें कार्यकारणभाव नहीं है, वैसे ही अत्यन्त अभेदमें भी आत्माश्रयादि दोषसे कार्यकारणभाव नहीं होता । इसीलिए घटका कारण घट नहीं हो सकता ।

वस्तुतस्तु कारणसे अतिरिक्त कार्य नहीं है, किन्तु कारणकी एक अवस्था ही कार्य है, अतएव 'मृद्घटः' इत्यादि समानाधिकरण प्रतीति होती है। इसीसे वेदान्ती कार्य और कारणका मीमांसकादिमतके अनुसार तादात्म्यसंबन्ध मानते हैं, यह संबन्ध भेदाभेदमें माना जाता है, अतः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतिके अनुसार

रूपिणो ब्रह्मणस्तद्वज्जगद्रूपं निराकृतम् ।
न ब्रह्मणि तथाऽन्यत्र स्थातुमर्हति कुत्रचित् ॥ ८७ ॥

जगत् और ब्रह्मका सामानाधिकरण्य स्फुट होनेसे रज्जुमें भुजङ्गके समान ब्रह्ममें जगत् अज्ञानकल्पित है। जगत्कल्पनाके अधिष्ठान ब्रह्ममें प्रतीयमान जगत्का 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिसे जब निषेध किया जाता है, तब उसमें अथवा अन्यत्र उसकी सत्ताकी संभावना ही कैसे होगी ?

शङ्का—यदि जगत् शुक्ति-रूप्यके समान कल्पित है, तो अधिष्ठानमें उसका निषेध होनेपर उसकी अन्यत्र सत्ता नहीं हो सकती, यह कहना माना जा सकता है, परन्तु जगत् कल्पित है, इसीमें क्या प्रमाण ?

समाधान—प्रमाण है अनुमान। विमतं कल्पितम्, व्यभिचारित्वात्, सर्पवत्। जो व्यभिचारी होता है, वह कल्पित ही माना जाता है। जैसे रज्जु कभी सर्पात्मना प्रतीत होती है और कभी स्वरूपसे प्रतीत होती है। सर्पप्रतीति-वेलामें भी रज्जुकी स्वरूपसे ही प्रतीति होती है, अतएव इदंपदसे उसीका निर्देश किया जाता है। 'नाऽयं सर्पः रज्जुरेषा' इत्यादि ज्ञानदशामें भी रज्जुकी प्रतीति होती है, अतः अव्यभिचरित रज्जु-प्रतीति परमार्थतः सद्विषयक है। सर्पप्रतीति निषेधवेलामें नहीं होती, अतः सर्पप्रतीति व्यभिचारी होनेसे सर्प कल्पित ही माना जाता है। एवं 'सन् प्रपञ्चः' इत्यादि प्रपञ्चके भानके समयमें तथा 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि द्वैतप्रतिषेध-वेलामें ब्रह्मका भान अव्यभिचरित होनेसे ब्रह्म परमार्थ सत् है और जगत् प्रतिषेध-वेलामें भासता नहीं है, इसलिए सर्पके समान वह कल्पित अतएव मृषा है ॥८५॥

'रूपिणो' इत्यादि। जगत्कारण रूपी ब्रह्मसे अतिरिक्त जगत्का जब निषेध श्रुति करती है, तब ब्रह्ममें या अतिरिक्तमें जगत् नहीं रह सकता, क्योंकि ऐसा माननेमें विकल्प होता है कि अन्यत्र स्थिति भेदेन होती है या अभेदेन ? प्रथम पक्षमें व्याघात होगा; यदि ब्रह्मभिन्न जगत्का प्रतिषेध होनेपर भी उक्तरूपसे उसकी स्थिति मानी जाय, तो प्रतिषेध ही व्यर्थ तथा अप्रामाणिक हो जायगा। द्वितीय पक्षमें ब्रह्म ही केवल अवशिष्ट रहा, जगत् नहीं।

शङ्का—जैसे मुद्गर आदिके आघातसे घटादि चूर-चूर किया जाता है, वैसे ही ब्रह्मतत्त्वज्ञानसे प्रपञ्च चूर-चूर नहीं होता। फिर आप कैसे कहते हैं कि उक्त ज्ञानसे प्रपञ्चकी निवृत्ति होती है, अतः अद्वैत-ब्रह्मभानसे प्रपञ्चकी निवृत्ति होती है, यह कहना सयुक्तिक नहीं है।

घटवज्जगतो भङ्गो नाऽस्तीति यदि मन्यसे ।
माऽस्त्वविद्याकल्पितस्य बोधादेव निवृत्तितः ॥ ८८ ॥
जगतोऽस्तित्वमज्ञानं तन्निवृत्तिश्चिदात्मता ।
जगतस्तन्निवृत्त्या वा कथं द्वैतं प्रसज्यते ॥ ८९ ॥

समाधान—हां, इस प्रकार प्रपञ्चकी निवृत्ति नहीं होती, यह कहना ठीक है, किन्तु प्रकारान्तरसे उसकी निवृत्ति अवश्य होती है ॥ ८७ ॥

'घटवज्जगतो' इत्यादि । उक्त प्रकारसे जगत्का घटके समान भङ्ग नहीं होता, यह मानते हैं; परन्तु रज्जुज्ञानसे अध्यस्त सर्पकी निवृत्तिके समान अज्ञान-कल्पित जगत्के अधिष्ठानभूत ब्रह्मतत्त्वके साक्षात्कारसे जगत्की निवृत्ति श्रुत्यादि प्रमाणसे सिद्ध है । श्रुति आदि द्वारा अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वका प्रतिपादन करना इष्ट है; अद्वितीयत्व द्वैतनिवृत्तिके विना नहीं हो सकता, इसलिए द्वैतनिवृत्ति आवश्यक है । उक्त निवृत्ति मुद्गरादिपातजन्य घटादिकी निवृत्तिके समशील हो या रज्जु-सर्पादिकी निवृत्तिके समशील हो, इसमें विशेष आग्रह नहीं है । अतः यद्यपि घटादिनिवृत्तिका प्रकार बाधित है; तो भी रज्जुसर्पादिकी निवृत्तिके प्रकारका आश्र-यण कीजिये, क्योंकि दोनोंके फलमें कुछ भेद नहीं है ।

शङ्का—यदि रज्जुसर्पकी निवृत्तिके समान जगत्की निवृत्ति मानते हो, तो मोक्ष सिद्ध नहीं हो सकता, कारण कि उक्त सर्पकी निवृत्ति होनेपर भी फिर कालान्तरमें उक्त भ्रम होता है, यह सर्वानुभवसिद्ध है । एवं प्रकृतमें भी ब्रह्ममें पुनः संसारानुवृत्तिकी प्रसक्ति होनेसे मोक्ष सिद्ध नहीं होगा ॥ ८८ ॥

समाधान—**'जगतो'** इत्यादि । अज्ञान ही जगत्के अस्तित्वका मूल है, अतः उसका अस्तित्व ही अज्ञान है और अज्ञानकी निवृत्ति ही चिदात्मता है । भाव यह है कि आपके अभिमत द्वितीय वस्तुके अस्तित्वका मूल अज्ञान ही है, क्योंकि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतिसे यह ज्ञात होता है कि वास्तविक आत्मा एक ही है, और दूसरा कुछ नहीं है। जैसे आकाशमें चन्द्रमा एक ही है, दूसरा नहीं है, किन्तु नैमित्तिकादि दोषसे आकाशमें दो चन्द्रमा दीख पड़ते हैं; चन्द्रगत एकत्वका अज्ञान ही द्विचन्द्रदर्शनका मूल है, वैसे ही यहां कहते हैं कि आत्मतत्त्वके अज्ञानसे अतिरिक्त आत्मभिन्न द्वितीय वस्तुका अस्तित्व नहीं है, किन्तु तद्रूप ही है और आत्मावगतिसे अतिरिक्त जगन्निवृत्ति नहीं है । इस प्रकार जब आत्मावगतिके होनेपर

अयोग्यत्वाद्यथा नीलं रूपं श्रोत्रेण कश्चन ।
नाऽग्रहीन्न च गृह्णाति न ग्रहिष्यति शब्दवत् ॥ ९० ॥

द्वैतनिवृत्ति ही हो जाती है, तब द्वैतके प्ररोहकी सम्भावना ही कैसे हो सकती है ? जगत्की निवृत्ति होनेसे तन्मूलक द्वैत नहीं हो सकता और अभावात्मक निवृत्ति अधिकरणस्वरूप मानी जाती है, इसलिए तन्मूलक भी द्वैत नहीं हो सकता ॥८९॥

'अयोग्यत्वात्' इत्यादि । कोई लोग प्रश्न करते हैं कि जैसे रज्जुमें सर्पभ्रम और उसकी निवृत्ति अनेक बार भी देखी जाती है, वैसे ही उक्त अज्ञानकी निवृत्ति तथा पुनः उत्पत्ति यदि असकृत् आत्मामें होगी, तो फिर आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप मोक्षकी क्या संभावना ? इसका उत्तर यह है कि सर्पोपादान अज्ञानका समुच्छेद नहीं होता, किन्तु अभिभवमात्र होता है । जैसे अग्निमें दाहानुकूल शक्ति है; किन्तु मणि, मन्त्र आदि प्रतिबन्धके सद्भावकालमें उक्त अग्निशक्ति अभिभूत हो जाती है; इसलिए दाह नहीं होता और प्रतिबन्धकी अविगमदशामें फिर दाह होने लगता है, वहांपर यह कल्पना ठीक नहीं है कि प्रतिबन्धसे अग्निमें दाहशक्ति ही नष्ट हो जाती है; अन्यथा प्रतिबन्धकका वियोग होनेपर भी दाह नहीं हो सकेगा । अग्निमें पहलेकी दाहशक्ति तो नष्ट हो गई और नवीन शक्तिका तो वह उत्पादक है नहीं, अतः शक्तिकी उत्पत्तिके बिना फिर दाह कैसे होगा ? अभिभववादीके मतसे यह अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि अभिभावकके सद्भावकालमें ही उक्त शक्ति अभिभूत हो सकती है, कालान्तरमें नहीं। अथवा अज्ञान दो प्रकारके होते हैं—एक मूलाज्ञान और दूसरा तूलाज्ञान। मूलाज्ञान एक माना जाता है और तूलाज्ञान 'यावन्ति ज्ञानानि तावन्ति अज्ञानानि' के अनुसार जितने ज्ञान होते हैं उतने ही अज्ञान भी माने जाते हैं; अतः शुक्तिसाक्षात्कारसे उसके अज्ञानकी निवृत्ति माननेपर भी कालान्तरमें शुक्तिके अन्य अज्ञानसे पुनः शुक्ति-रूप्यभ्रम होता है और अन्य शुक्तिसाक्षात्कारसे पुनः उसकी निवृत्ति होती है । यावत्कार्यदर्शन यह कल्पना कर सकते हैं । ब्रह्मसाक्षात्कारसे मूलाज्ञानकी निवृत्ति होती है, उसकी निवृत्ति होनेपर फिर कभी भ्रम नहीं होता, उसके उपादान अज्ञानके बिना 'कारणाभावात् कार्याभावः' इस न्यायसे भ्रमभाव सिद्ध नहीं होता; इसलिए उक्त शङ्का अयुक्त है । अथवा मूलाज्ञानकी अवस्था तूलाज्ञान है । शुक्ति-रूप्यादि तत्-तत् भ्रम अज्ञानावस्थाविशेषसे होते हैं और तत्तदधिष्ठानज्ञानसे नष्ट होते हैं । मूलाज्ञानका नाश ब्रह्मतत्त्व-साक्षात्कारसे

तद्वत्सकारणं द्वैतं प्रत्यक्तत्त्वावलोकनात् ।
प्रतीचि ब्रह्मतत्त्वेऽस्मिन्नाऽभूदस्ति भविष्यति ॥ ९१ ॥
तदेवं नेति नेतीति वाक्यादेशात् पुमानयम् ।
निवृत्तसर्वबाह्यार्थः सम्यङ् निर्वात्यथाऽऽत्मनि ॥ ९२ ॥

ही होता है; कारणान्तरसे नहीं । इस प्रकारसे भी उक्त शङ्काका परिहार होता है । प्रकृतमें अन्य प्रकारसे भी उक्त शङ्काका परिहार करते हैं—किसी भी पुरुषकी श्रोत्रेन्द्रियने शब्दके समान रूपका साक्षात्कार न किया न करती है और न भविष्यमें करेगी ही, कारण कि उक्त इन्द्रियमें रूपग्रहहेतुत्वका सम्भव नहीं है । एवं 'नेति नेति' इस वाक्यसे आत्मतत्त्वका ज्ञान होनेपर सकारण अनात्मपदार्थका 'नासीदस्ति भविष्यति' (न था, न है और न होगा) इस प्रकार त्रैकालिक निषेध होता है; इसीको अग्रिम श्लोकसे भी स्फुट करेंगे ॥ ९० ॥

'तद्वत्' इत्यादि । रूपका श्रोत्रसे त्रैकालिक ग्रहणाभाव सर्वानुभवसिद्ध है, इसलिए इसी न्यायका अतिदेश प्रकृतमें भी करते हैं—श्रोत्रसे जैसे रूपग्रहणका त्रैकालिक अभाव है, वैसे ही प्रत्यक् अचिद्विलक्षण आत्मतत्त्वके साक्षात्कारसे प्रतीचि—ब्रह्मतत्त्वमें—सकारण द्वैतका—मूलाज्ञानके साथ प्रपञ्चका—त्रैकालिक 'नासीदस्ति भविष्यति' ऐसा निषेध होता है ॥ ९१ ॥

'तदेवम्' इत्यादि । यह मुमुक्षु पुरुष 'नेति नेति' इत्यादि वाक्यके आदेशानुसार अनात्मस्वरूप सब बाह्यार्थकी निवृत्ति कर अर्थात् बाह्यार्थसे निवृत्त होकर आत्मस्वरूपमें सुखरूपसे स्थित हो जाता है । आत्माके स्वस्वरूपावस्थानमें विषय प्रतिकूल होते हैं । पराग्-विषयग्रहणप्रवण इन्द्रियादि द्वारा पुरुष विषयग्रहणोन्मुख होता है, अतएव स्वस्वरूपसे प्रच्युत हो जाता है, उक्त वाक्य द्वारा विषयके त्रैकालिक अभावका बोध होनेपर तदुद्देश्यक प्रवृत्ति हो नहीं सकती, इसलिए प्रतिरोधके अभावसे सुखमय स्वस्वरूपमें अनायाससे आत्मा सुस्थिर हो जाता है । मन स्वभावतः पराग्-विषयक है, यह 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः' इत्यादि श्रुतिसे स्पष्ट ही है । पुरातन शुभादृष्टके परिपाकसे किसी पुरुषका मन जब विषयविमुख होता है, तब उक्त श्रुतिके अर्थमें विश्वास कर विषयोंसे चित्तको हटा लेता है, चित्त निरालम्ब नहीं रह सकता, इसलिए अवशिष्ट आत्मा ही उसका अवलम्बन होता है, अतः निरतिशयानन्दस्वरूप आत्मामें ही सदा मुमुक्षु पुरुष स्थित रहता है;

अथवा नेति नेतीति य आदेशः स योज्यताम् ।
जीवब्रह्मैक्यसिद्ध्यर्थमहं ब्रह्मेति वाक्यवत् ॥ ९३ ॥
अहंशब्दो बुद्धिवाची साक्षिणं लक्षयेद्यदि ।
निषेधको नकारोऽपि साक्षिणं लक्षयेत्तथा ॥ ९४ ॥

इससे वीप्सा द्वारा सूचित सम्पूर्ण अनात्म-पदार्थोंका अभाव ही प्रकृतमें तात्पर्यका विषय है । आत्मैक्य अनन्यायत्त है—अन्य पदार्थसे सापेक्ष नहीं है ॥ ९२ ॥

निषेध-वाक्य निषेधका बोधक है, इस तात्पर्यसे उक्त श्रुतिके अर्थका निरूपण कर अब विधिमुखसे भी उक्त वाक्य उक्तार्थका ही बोधक है, ऐसा अन्य पक्ष कहते हैं—**'अथवा'** इत्यादिसे ।

अथवा 'नेति नेति' इस वाक्यसे जो आदेश है, उसका 'अहं ब्रह्मास्मि' के समान लक्षणासे जीव-ब्रह्मैक्यकी सिद्धिके अनुकूल अर्थ करना चाहिए । यद्यपि शब्दशक्तिसे पूर्वोक्त अर्थका ही बोधन हो सकता है और उसके अनुसार व्यतिरेक आदि ही उसका अर्थ होता है, पर ऐसा माननेमें पुनरुक्ति आदि दोषोंकी प्रसक्ति होगी और 'ब्रह्मणः' इस षष्ठीसे आदेशवाक्य द्वारा पूर्वमें व्यतिरेक सिद्ध हो ही चुका है, फिर उसीको आदेशवाक्यार्थ माननेपर जामिता (आलस्य) दोष होगा, क्योंकि कथित वा कृतका पुनःकथन या करणमें स्वभावतः आलस्य हो ही जाता है, अतएव 'जामि वा एतद्यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशौ' इत्यादि वाक्यार्थ-विवेचन-वेलामें पूर्व-मीमांसामें जामितादोषकी निवृत्तिके लिए 'विष्णुरूपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय' इत्यादि उत्तर ग्रन्थसे आज्यप्रकृतिक यागका पुरोडाश-प्रकृतिक यागके मध्यमें विधान किया गया है । यह पूर्वमीमांसामें अतिस्फुट है । यदि विशेष देखनेकी इच्छा हो, तो वहांपर देखिए । यहां केवल इतना कहना है कि जो अर्थ शक्तिसे प्रतीत होता है, उसमें प्रकृत वाक्यका तात्पर्य नहीं है, किन्तु लक्षणावृत्तिसे आत्मैक्यके प्रतिपादनमें ही इस वाक्यका परम तात्पर्य्य है । अहं और ब्रह्म—इन दो पदोंकी अखण्डचिन्मात्रमें लक्षणा मानकर जैसे दो पदोंसे एक ब्रह्मव्यक्ति-मात्रका बोध होता है, वैसे ही 'न' और 'इति'—इन दो पदोंकी साक्षिचिन्मात्रमें लक्षणा कर उनसे आत्मैक्य ही बोधित करना अभीष्ट है । ऐसा माननेसे पुनरुक्ति आदि दोषोंकी प्रसक्ति नहीं होती और वाक्य भी सप्रयोजन होता है ॥ ९३ ॥

'अहंशब्दो' इत्यादि । 'अहं ब्रह्म' इस दृष्टान्त-वाक्यमें 'अहं' शब्द अन्तः-

ब्रह्मशब्दो जगद्धेतुवाची चिन्मात्रलक्षकः ।
इतिशब्दो जगद्वाची तथा चिन्मात्रलक्षकः ॥ ९५ ॥
अखण्डैकरसे तुल्यो वाक्यार्थौ वाक्ययोर्द्वयोः ।
उक्तार्थस्यैव दार्ढ्याय द्विर्नेतीति वचः श्रुतम् ॥ ९६ ॥

करणका वाची है, क्योंकि 'अहं जानामि, अहं करोमि' इत्यादि व्यवहार होता है । ज्ञान, कृति इत्यादि मनके ही धर्म हैं, न्याय-मतके अनुसार आत्माके नहीं हैं, इसमें प्रमाण 'ह्रीर्धीर्भी' इत्यादि श्रुति ही है; ब्रह्मशब्द जगत्के हेतु ब्रह्मका वाचक है, ऐसी परिस्थितिमें उक्त दोनों पद एकार्थके बोधक नहीं हो सकते, इसलिए अहंशब्द बुद्धिसाक्षी चैतन्यमात्रका लक्षक माना जाता है, एवं निषेधबोधक नकार भी निषेध-साक्षी चिन्मात्रका लक्षक माना जाता है, असाक्षिक निषेधमें प्रमाण नहीं है । साक्षी चेतन ही हो सकता है, अचेतन नहीं। ब्रह्मसे अतिरिक्त दूसरा चेतन है नहीं, क्योंकि 'नान्योऽतोस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मातिरिक्त चेतनका स्पष्ट निषेध है ॥ ९४ ॥

'ब्रह्मशब्दो' इत्यादि । उक्त दृष्टान्तवाक्यमें 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतिके अनुसार जगत्की हेतुतासे विशिष्ट चैतन्यका वाची ब्रह्मशब्द है, किन्तु 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्यसे अभीष्ट अखण्डार्थका बोध लक्षणाके बिना नहीं हो सकता, इसलिए जगद्धेतुत्वका त्यागकर केवल चैतन्यमात्रमें ब्रह्मशब्दकी लक्षणा करते हैं । एवं 'इति' शब्द मूर्तादिविशिष्ट चैतन्यका परामर्शक है । मूर्तादि ब्रह्म-रूपका त्यागकर और 'इति' शब्दकी केवल चैतन्यमात्रमें लक्षणा मानकर उन दोनों पदोंसे 'अहं ब्रह्म' के समान अखण्डचिद् व्यक्तिका ही बोध होता है । 'नेति नेति' वाक्यसे जो केवल मूर्तामूर्तरूप ब्रह्मस्वरूपमात्रका ही निषेध मानते हैं, उनका मत ठीक नहीं है, कारण कि उक्त स्वरूप प्रत्यक्षसिद्ध है, उसका प्रतिषेध करनेपर ब्रह्म-स्वरूपके प्रत्यक्षसिद्ध न होनेसे शास्त्रसे भी यदि उसका प्रतिपादन न किया जायगा, तो अन्ततः शून्यवाद ही प्रसक्त हो जायगा और शाकल्यके प्रति राजाने जो प्रतिज्ञा की थी कि आपको ब्रह्म कहेंगे, वह भी पूर्ण नहीं होगी, क्योंकि आपके मतसे प्रकृत वाक्य ब्रह्मका बोधक नहीं है, केवल स्वरूपमात्रका निषेधक है । एवं यह वाक्य भी, निष्प्रयोजन होनेसे, प्रमाण भी नहीं माना जा सकता और शून्यतामें तो कोई पुरुषार्थ हो नहीं सकता ॥ ९५ ॥

'अखण्डैकरसे' इत्यादि । 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे जैसे अखण्ड एकपदार्थका

अथवाऽत्रेति शब्दौ द्वौ जीवेशोपाधिवाचिनौ ।
नकाराभ्यामुपाधी द्वौ निषिध्य ब्रह्म लक्ष्यते ॥ ९७ ॥

बोध होता है, वैसे ही 'नेति' इत्यादि वाक्यसे भी अखण्ड आत्माका बोध इष्ट है, अतः द्वयोः अर्थात् तत्त्वम् और नेति—इन दोनों वाक्योंका वाक्यार्थ अखण्डैकरस तुल्य है ।

शङ्का—यदि अखण्डार्थ बोध ही अभीष्ट है, तो 'नेति' इस एक वाक्यसे ही उक्तार्थका बोध उपपन्न हो जायगा, फिर द्वितीय 'नेति' शब्दका क्या प्रयोजन है ?

समाधान—उक्त अर्थका बोध दृढ़ हो, इसलिए उसका दो बार उच्चारण (प्रयोग) किया गया है, जैसे लोकमें रमणीय व्यक्तिको देखकर लोग प्रायः कहा करते हैं कि अहो रमणीया अहो रमणीया, यहांपर द्वितीय रमणीयशब्दका प्रयोग जैसे रमणीयताकी दृढ़ताके बोधके लिए है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥९६॥

वेद स्वतः प्रमाण है, अतः उससे प्रतीयमान अर्थमें, वेदार्थ होनेसे, दार्ढ्य भी स्वतः सिद्ध है, इसलिए पौरुषेय वाक्यके समान वेद-वाक्यार्थमें दार्ढ्यके लिए दो बार प्रयोगकी आवश्यकता नहीं हो सकती, इस अभिप्रायसे उक्त वाक्यका अन्य अर्थ करते हैं—'**अथवा०**' इत्यादिसे ।

यहांपर दो 'इति'शब्द हैं, उनमें प्रथम 'इति' शब्द ब्रह्मोपाधि अज्ञानका बोधक है और द्वितीय इतिशब्द जीवोपाधि अन्तःकरणका वाचक है । दो नकारोंसे दोनों उपाधियोंका निषेधकर ब्रह्ममात्रमें लक्षणा की जाती है । जैसे 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यमें सर्वज्ञत्व, किञ्चिद्ज्ञत्व आदि धर्मोंका त्यागकर चिन्मात्रमें ही तत् और त्वम्—दो पदोंकी लक्षणा मानी जाती है, वैसे ही उक्त दो उपाधियोंसे विशिष्ट जीव और ईशका दो 'इति' शब्दोंसे अनुवाद कर नञ्-द्वयसे उपाधिके निषेध द्वारा ब्रह्ममें नञ्द्वयकी लक्षणा करना ही ठीक है ।

शङ्का—दो नञ्की शुद्ध ब्रह्ममें लक्षणा मानते हो, यह ठीक नहीं है, कारण कि पदार्थोंमें परस्पर अन्वय आदिकी अनुपपत्तिके प्रतिसन्धानपूर्वक पदार्थसंबन्धीमें वाक्यार्थादिकी उपपत्तिके लिए लक्षणा मानी जाती है । 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि लक्षणास्थलमें यही प्रकार देखा जाता है । प्रकृतमें दो नञ्का जो वाच्यार्थ है, उसका सम्बन्ध वस्तुतः ब्रह्ममें नहीं है, क्योंकि 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुतिसे भावाभावसाधारण संबन्धमात्रका ब्रह्ममें निषेध किया गया है ॥ ९७ ॥

यथा मात्रादिसत्तेयं प्रत्यक्संवित्तिसाक्षिका ।
प्रमात्रादेरभावेऽपि तथाऽतस्तेन लक्ष्यते ॥ ९८ ॥
अतिरोहितसंवित्को दृष्टिमात्रात्मकत्वतः ।
विनैव वाचकं शब्दं बोध्यो लक्षणयाऽप्यतः ॥ ९९ ॥

नञ् शब्द शुद्धका लक्षक नहीं हो सकता, क्योंकि उसका वाच्यार्थके साथ संबन्ध नहीं है, ऐसी आशङ्का करके दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वक उक्त संबन्धको कहते हैं—**'यथा मात्रादि०'** इत्यादिसे ।

'अहं ब्रह्म' इत्यादि लक्षणास्थलमें प्रमातृत्वविशिष्ट चैतन्य अहंपदका वाच्य अर्थ है । अन्तःकरणका विषयाकार परिणाम होता है । चैतन्याभास द्वारा वही वस्तुतः प्रमाता माना जाता है । ईश्वरत्वविशिष्ट चिद् ब्रह्मपदका वाच्य है । वे दोनों—प्रमातृत्व और ईश्वरत्व—शुद्धचिद्भास्य हैं, इसलिए उक्त दो धर्मियोंके साथ चित्का भास्य-भासकभाव संबन्ध है। अतः जैसे तत् और त्वं पदकी, उक्त संबन्ध मानकर, चैतन्यमें लक्षणा होती है, वैसे ही नञ्पदवाच्य उक्त उपाधिका अभाव भी साक्षिभास्य है, अतः उक्त अभावका साक्षीके साथ भास्यभासक संबन्ध स्फुट ही है, इसलिए दो नकारोंकी आत्मैक्यमें लक्षणा समुचित ही है; इसी अभिप्रायसे 'नकारोऽपि साक्षिणं लक्षयेत' ऐसा कहा है । उक्त सम्बन्धके सिद्ध होनेपर फलित अर्थ कहते हैं—'अतस्तेन' इत्यादि । चूँकि संबन्ध सिद्ध है, इसलिए लक्षणा उक्त प्रकारसे समीचीन ही है । 'असङ्गो' इत्यादि उक्त श्रुति वास्तविक संबन्धाभावकी बोधिका है । इसलिए आध्यासिक उक्त संबन्धके माननेपर भी श्रुतिके साथ विरोध नहीं हो सकता ।

शङ्का—भावाभावस्वरूप अनात्म पदार्थोंको यदि अनुभवसिद्ध मानते हो, तो उनकी सत्यताको भी अनुभवसिद्ध मानना चाहिए, अनुभव पदार्थस्वरूपका साधक है; अतः उसकी सत्यता नहीं है, यह कहना प्रमाणाभावसे अश्रद्धेय है ।

समाधान—सब अनात्म पदार्थ स्वप्रकाश आत्माके प्रभावसे भासमान-से होते हैं अर्थात् उनका भानमात्र होता है । भानमात्रसे पदार्थकी सत्ता सिद्ध नहीं होती, अन्यथा मरुभूमिमें प्रतीयमान जलादि भी सिद्ध होंगे । भानके अनन्तर सत्त्वादि धर्मसे सुनिरूप हो तो, वह माना जाता है—जैसे आत्मा । अनात्म पदार्थ तो मरीचिजलके समान सत्त्वादि धर्मोंसे दुर्निरूप हैं, अतः आत्मगत-अविद्यैक-स्वभाव होनेसे उनमें सत्यताकी संभावना ही कहां ? ॥ ९८ ॥

आत्मा प्रमाता आदिका भासक है, यह कहना ठीक नहीं है, प्रत्युत प्रमाता

अनन्यानुभवेनैव भावाभावात्मभूमिषु ।
प्रत्यक्कूटस्थमात्मानं पश्यन्नास्ते फलात्मतः ॥ १०० ॥

आदिसे ही आत्माकी सिद्धि होती है, यह कहना ठीक है, क्योंकि अहमादिके भानके बिना आत्माके सद्भावका अन्य साधक ही नहीं है, ऐसी शङ्का होनेपर आत्माकी स्वप्रकाशता होनेसे उक्त प्रकारकी शङ्का नहीं करनी चाहिए, ऐसा कहते हैं—'**अतिरोहित०**' इत्यादिसे ।

'न तिरोहिता प्रकाशान्तराधीना संवित् प्रकाशो यस्य स अतिरोहितसंवित्कः' अर्थात् स्वयंप्रकाश । इसमें हेतु है—दृष्टिमात्रात्मकत्व । 'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः' इस योगसूत्रसे तथा 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि श्रुतिसे आत्मा स्वयं-प्रकाशानुभूतिस्वरूप माना जाता है । योगसूत्रमें मात्रशब्दका प्रयोग ज्ञानत्वादि धर्मोंका निरास करनेके लिए आया है। सकल धर्मोंसे रहित प्रकाश, आनन्द और एकरसस्वरूप आत्मा ही विषयादिका साधक है ।

शङ्का—यदि आत्माको साधक मानते हो, तो प्रदीप आदिके समान आत्मा भी विकारी हो जायगा ।

समाधान—क्रियाका विषय ही विकारी होता है । आत्मा क्रियाका विषय नहीं है, इसलिए उक्त शङ्का अयुक्त है ।

शङ्का—'गङ्गायां घोषः' इत्यादि लक्षणास्थलमें शब्दवाच्य अर्थ ही अन्य शब्दका लक्ष्य देखा गया है। तीरपद-वाच्य ही तीर गङ्गापदका लक्ष्य है। और जाति आदिसे विशिष्ट ही अर्थ शब्दका वाच्य होता है । प्रकृतमें ब्रह्म जाति आदि धर्मोंसे शून्य होनेके कारण किसी भी पदका वाच्य नहीं है, फिर उक्त पदोंका लक्ष्यार्थ भी कैसे हो सकेगा ?

समाधान—यह नियम अद्वैत वेदान्ती नहीं मानते, किन्तु शब्दान्तरसे अवाच्य भी ब्रह्म उक्त नञादि पदका लक्ष्य माना जाता है । हां, लक्ष्यतावच्छेदक-धर्मविशिष्टमें जहां लक्षणा होती है, वहांके लिए उक्त नियम है । प्रकृतमें लक्ष्यभूत ब्रह्म निर्विशेष है, अतः अवाच्यको भी लक्ष्य मानते हैं । अतएव इक्षु, क्षीर, आदिका मधुर रसविशेष यद्यपि शब्दवाच्य नहीं होता, तथापि मधुरादि पदोंका वह लक्ष्य होता ही है, अतः इस स्थलमें उक्त नियमका व्यभिचार स्फुट है, व्यभिचरित उक्त नियम अप्रामाणिक है ॥ ९९ ॥

शङ्का—आत्माको यदि एकरस मानते हो, तो वह भावाभावका साक्षी कैसे हो सकेगा ? ईक्षण-कर्ता द्रष्टा ही साक्षी कहलाता है ।

अतो मात्रादिसम्बन्धो यत्र यत्र निवर्तते।
तत्र तत्रैकलः प्रत्यक् स्वमहिम्नैव सिद्ध्यति ॥ १०१ ॥

समाधान—'अनन्या०' इत्यादि।

'न अन्यः स्वस्वरूपातिरिक्तः अनुभवो यस्य स अनन्यानुभवः' अर्थात् मन जहां द्रष्टा कहा जाता है, वहां मनःस्वरूपसे अतिरिक्त तत्-तत् विषयका अनुभव रहता है, अतः मनमें तादृशानुभवाश्रयत्वरूप द्रष्टृत्व मुख्य होता है। आत्मा तत्-तत् विषयका अनुभवस्वरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है। अतः उक्त मुख्य द्रष्टृत्व तो आत्मामें हो नहीं सकता, किन्तु विषयप्रकाशरूप जो फल है, वही फलस्वरूप साक्षी है। अन्तःकरणादिस्थलमें विषयप्रकाशरूप फल अन्तःकरणके स्वरूपसे अतिरिक्त है, इसलिए उक्त फलके अन्तःकरणसमवेत होनेसे अन्तःकरण मुख्य द्रष्टा कहा जाता है। आत्मा तादृशानुभवस्वरूप है, तादृशानुभवका समवायी नहीं है, अतः विषयप्रकाशरूप फल वहां भी स्फुट ही है।

शङ्का—यदि 'पश्यन्नास्ते' इस शब्दसे आत्मामें दर्शनकर्तृत्वका प्रतिपादन करते हो, तो व्यापारके बिना उक्त धर्मका समावेश कैसे होगा? यदि व्यापार मानो, तो आत्मामें कूटस्थत्व नहीं रह सकता?

समाधान—वस्तुतः ब्रह्म कूटस्थ ही है, दर्शनसमवायी नहीं है। चिदेकरस होनेसे ही आत्मा स्वरूपसे विषयका भासक है, इसलिए उसमें दर्शनकर्तृत्वका गौण व्यवहार किया गया है। तार्किकोंके मतके अनुसार यदि अन्य ज्ञानसे आत्माका प्रकाश मानें, तो अनवस्था दोष ही होगा ॥ १०० ॥

'अतो' इत्यादि। उपाधि-सन्निधानदशामें तत्-तत् उपाधिसे विशिष्ट आत्मा उपाधिको देखता है और निरुपाधि होनेपर स्वयं भासित होता है। उस समयमें आत्मा साक्षी नहीं कहा जा सकता। साक्ष्यसापेक्ष साक्षित्व होता है; जैसे राज्यक्षापेक्ष राजत्व होता है। जिसको राज्य नहीं है, वह राजा भी नहीं है। एवं व्यवहार-दशामें कल्पित साक्ष्य विषयोंके सम्बन्धसे आत्मामें कल्पित ही साक्षित्व है। परमार्थदशामें जब विषय ही नहीं है, तो साक्षित्व भी कैसे हो सकता है? अतः कल्पित साक्षित्वादिसे वास्तविक कूटस्थत्वकी हानि नहीं हो सकती। भाव यह है कि प्रमाता आदि उपाधिकी जब निवृत्ति हो जाती है, तब आत्मा चिदेकरस स्वमहिमासे ही सिद्ध होता है।

एतद्वस्तु स्वतःसिद्धं प्रमात्राद्यनपेक्षतः ।
सर्वस्यैव ततः सिद्धेः कथं सिध्येत्तदन्यतः ॥ १०२ ॥
तादित्थं नेति नेतीति वाक्यं ब्रह्मात्मबोधकम् ।
जीवेशोपाधिनिह्नुत्या लक्ष्याखण्डावसानतः ॥ १०३ ॥
अथात आदेश इति प्रतिज्ञायाऽतिसम्भ्रमात् ।
निषेधो नेति नेतीति न युक्त इति चेच्छृणु ॥ १०४ ॥

विषयसिद्धिके समान आत्मसिद्धि अन्य साधकसे सापेक्ष नहीं है, अन्यथा अनवस्था आदि दोष होंगे ॥ १०१ ॥

आत्मा स्वयंप्रकाश है, इसका निगमन करते हैं—**'एतत्'** इत्यादिसे ।

आत्मतत्त्व स्वतः सिद्ध है। जो यह कहा था कि प्रमातृत्व आदिके बिना आत्माकी सिद्धि नहीं होती, सो ठीक नही है, कारण कि आत्मा ही चेतन होनेसे साक्षी तथा सकल अनात्म पदार्थोंका साधक है; अतः अन्य प्रमातृत्व आदिसे आत्मसिद्धि कैसे हो सकती है, जो स्वसाध्य है ? वह स्वका साधक नहीं हो सकता, सिद्ध ही साधक होता है और असिद्ध साध्य होता है। एक कालमें एक वस्तुमें ही सिद्धत्व और साध्यत्व—ये दोनों विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते ॥ १०२ ॥

निषेधवाक्यके अर्थका उपसंहार करते हैं—**'तादित्थं नेति'** इत्यादिसे ।

उक्त प्रकारसे 'नेति नेति' यह निषेधवाक्य ब्रह्मात्मैक्यका बोधक है ।

शङ्का—उपाधिविशिष्टका ऐक्य प्रमाणसे बाधित है ।

समाधान—उपाधिका निह्नव (त्याग) कर उक्त प्रकारसे ऐक्यके बोधनमें क्षति नहीं है, उपाधिके त्यागनेपर अखण्डार्थका ही पर्यवसान होगा । भाव यह है कि जीवब्रह्मैक्यमें 'नेति नेति' यह वाक्य ही प्रमाण है। यद्यपि परिच्छिन्नके साथ ऐक्य बाधित है, तथापि वाच्यार्थके परिच्छिन्न होनेपर भी लक्ष्यार्थ परिच्छिन्न नहीं है। आत्मव्यतिरिक्त दूसरी वस्तु है ही नहीं। 'इति' शब्दसे ब्रह्म और नञ्पदसे प्रत्यङ्मात्र लक्षित है, इसीका बोध प्रकृत वाक्यसे अभीष्ट है ॥ १०३ ॥

'अथात' इत्यादि । शङ्का यह है कि ब्रह्मोपदेशके लिए प्रतिज्ञा कर अतिशीघ्रतासे उपदेश दिया कि 'नेति नेति'; इससे वे दोनों वाक्य परस्पर असंबद्ध प्रतीत होते हैं, उपदेशकी प्रतिज्ञाके अनन्तर 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि वाक्य द्वारा विधिमुखसे ब्रह्मका उपदेश देना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। 'नेति नेति' से तो

अवाङ्मनसगम्यस्य न निषेधमुखं विना ।
अस्त्यन्यो मुख्य आदेशो निषेधो युज्यते ततः ॥ १०५ ॥
इत्येवमनिदंरूपं ब्रह्मणः प्रतिपादितम् ।
निर्नाम्नस्तस्य नामैतत्सत्यसत्यमिति श्रुतम् ॥ १०६ ॥

आपाततः यही बोध होता है कि ब्रह्मका उपदेश ही नहीं है, अतः प्रतिज्ञा और उत्तर ये दोनों वाक्य परस्पर अयोग्यार्थक हैं । उसका समाधान करते हैं कि नहीं, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि विधिमुखसे किसी शब्द द्वारा ब्रह्मका उपदेश नहीं हो सकता । 'यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्म अवाङ्मन-सगोचर कहा गया है और यह अर्थ सोपपत्तिक भी है। शब्द जाति आदि धर्मोंसे विशिष्ट अर्थके ही बोधक माने गये हैं । ब्रह्ममें कोई भी धर्म नहीं है, इसलिए विधिमुखसे किसी शब्द द्वारा ब्रह्मका उपदेश नहीं बन सकता, इसलिए 'नेति नेति' वाक्यसे ही मूर्तादिस्वरूपके निषेध द्वारा चिदेकरस ब्रह्मका उपदेश देना युक्तियुक्त है ॥ १०४ ॥

'अवाङ्मन०' इत्यादि । अर्थ अतिस्पष्ट है और पूर्वमें कह भी चुके हैं, अतः अब इसके अर्थ करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १०५ ॥

'इत्येव०' इत्यादि । 'न इदं रूपमनिदंरूपम्', 'क इत्था वेद यत्र सः' इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतीत होता है कि ब्रह्मका स्वरूप शब्दादिका अविषय है । इसलिए ब्रह्म अनिदंरूप कहा जाता है । वस्तुतः ब्रह्मका कोई नाम (वाचक-शब्द) नहीं है, कारण कि वाच्यवाचकभाव संबन्ध सविशेष पदार्थोंमें ही होता है, ब्रह्ममें कोई जाति आदि धर्म है नहीं, अतएव अवाच्य होनेसे वह अनाम ही माना जाता है, फिर भी शब्दके बिना उसका व्यवहार नहीं होता, इसलिए व्यवहारार्थ सत्यसत्य यह नाम उसका रक्खा गया है । जैसे अङ्गुलियोंका अङ्गुष्ठ आदि तत्-तत्-नाम हैं, परन्तु अनामिकाका नाम पूछनेपर उसका कोई नाम नहीं है, इस अभिप्रायसे कहा गया कि वह अनामिका है, परन्तु अब इसका अनामिका यही नाम हो गया है; वैसे ही ब्रह्म अनामरूप है । नामरूप प्रपञ्चके अन्तर्गत है, अथवा वही प्रपञ्च है । यद्यपि ब्रह्म प्रपञ्चसे रहित है, इसलिए अनामरूप ही माना जाता है, तथापि व्यवहारार्थ 'सत्यसत्य' कहा गया है ॥ १०६ ॥

सच्च त्यच्चेति सत्याख्याः प्राणास्ते ब्रह्मणाऽऽत्मना ।
आत्मवन्तस्ततो ब्रह्म सत्यसत्यमितीरितम् ॥ १०७ ॥
व्यावहारिकमेवैतन्नामोक्तं न तु वास्तवम् ।
शब्दप्रवृत्तिहेतूनां साक्षाद् ब्रह्मण्यसम्भवात् ॥ १०८ ॥

इति वार्त्तिकसारे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयं
ब्राह्मणं समाप्तम् ॥ ३ ॥

'सच्च त्यच्चेति' इत्यादि । पृथिवी आदि पांच महाभूत तथा प्राण आदि सत्य हैं, ऐसा 'सच्च त्यच्च' इत्यादि श्रुतिसे पूर्वमें कहा गया है, पर वे वास्तविक सत्य नहीं हैं, किन्तु उनका सत्यस्वरूप ब्रह्म उपादान है, अतः सत्योपादानकत्वरूपसे वे सत्य कहे जाते हैं । ब्रह्म ही वास्तविक अबाध्यरूप सत्य है, इसलिए ब्रह्म सत्य-सत्य कहा गया है । सारांश यह है कि मूर्तामूर्त, प्राण इत्यादि सब व्यावहारिक सत्य हैं, परम सत्य—सबका मूलभूत सत्य—ब्रह्म ही है ।

शङ्का—जीव और ईश्वर आदिसे युक्त सब जगत् षष्ठ्यन्त सत्यशब्दका अर्थ है, यह कहना ठीक है, परन्तु निरुपाधिक ब्रह्म प्रथमान्त सत्यशब्दका अर्थ है, ऐसा जो आप कहते हैं, वह ठीक नहीं है, कारण कि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्म शब्दाका अविषय है, यह पूर्वमें सिद्धान्त कर चुके हैं, फिर उससे विपरीत कहते हैं, अतः पूर्वापरविरोध होगा ।

समाधान—इसका उत्तर तो पूर्वमें दे चुके हैं, परन्तु फिर उसका स्मरण करा देते हैं—अभिधा द्वारा ब्रह्म सत्यशब्दका अर्थ नहीं होता, किन्तु लक्षणा द्वारा ही सत्यशब्दका अर्थ होता है, अतः वह सत्यशब्दार्थ कहा जाता है । सब शब्द कार्यकारणोपाधिक ब्रह्मके नाम हैं, क्योंकि सोपाधिकमें ही शब्दप्रवृत्तिके हेतुभूत जाति आदि रहते हैं । अतः उसके वाचक शब्दोंका शुद्ध ब्रह्ममें लक्षणासे प्रयोग किया जाता है । इसीसे निष्प्रपञ्च ब्रह्म वेदान्तप्रमाणक माना जाता है, यह वेदान्तियोंका निष्कर्ष है ॥ १०७ ॥

'व्यावहारि०' इत्यादि । 'ॐ तत्सदिति ब्रह्मणो निर्देशस्तस्य वाचकः प्रणवः' इत्यादि वचनोंसे जो ब्रह्मके नाम कहे गये हैं, वे सब व्यावहारिक नाम हैं, पार-

मार्थिक नहीं हैं, कारण कि शब्दप्रवृत्तिके हेतुभूत जाति आदि जिसमें वस्तुतः रहते हैं, वही शब्दका वाच्य (अर्थ) होता है। ब्रह्म निरस्तसमस्तविशेष, स्वयंप्रकाश, अखण्ड और एकरस है, इसलिए उसमें व्यवहारके लिए उक्त प्रयोग लक्षणावृत्तिसे किये जाते हैं, इसीसे लोगोंको यह भ्रम होता है कि ब्रह्मके वाचक उक्त शब्द हैं, किन्तु ऐसा है नहीं ॥ १०८ ॥

द्वितीयाध्यायका तृतीय ब्राह्मण समाप्त ।

अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्

अपोदितः समारोप इत्येवं ब्राह्मणत्रये ।
ओमित्येवेति सूत्रार्थो ब्राह्मणेऽस्मिन्नुदीर्यते ॥ १ ॥

चतुर्थ ब्राह्मण

'अपोदितः' इत्यादि । यद्यपि चतुर्थ ब्राह्मणके आरम्भमें 'आत्मेत्येवोपासीत' ऐसा भाष्यपाठ है और 'आत्मेत्येवेति सूत्रस्य व्याख्येयं प्रस्तुता स्फुटा' ऐसा प्रकृत ब्राह्मणके आरम्भमें श्रीसुरेश्वराचार्यका श्लोक है, तदनुसार यद्यपि वार्तिकमें भी 'आत्मेत्येवेति सूत्रार्थः' ऐसा पाठ ही समुचित होता, तथापि अर्थमें कोई अन्तर नहीं पड़ता है। ॐ शब्द भी आत्माका ही बोधक है। आत्मशब्द जीवात्मा और परमात्मा दोनोंमें साधारण है, इसलिए सम्भव है कि वार्तिककारने परमात्माके ग्रहणके लिए ॐ शब्दका प्रयोग किया हो, 'ॐ तत्सदिति ब्रह्मणो निर्देशः' इस अभियुक्तके वचनसे ओंकार विशेषरूपसे ब्रह्मका ही बोधक होता है। 'आत्मेत्येवोपासीत' इस वाक्यसे परमात्माका ही, उपासनाके लिए, प्रतिपादन करना अभीष्ट है, क्योंकि वही पदनीय—अन्वेषणीय—है अर्थात् परमप्रेमास्पद और जिज्ञासित होनेसे निरूपणीय है। पहलेके तीन ब्राह्मणोंमें मूर्त, अमूर्त आदिके भेदसे समारोपित प्रपञ्चको ब्रह्मका रूप बतलाकर 'नेति नेति' इस वाक्यसे उसका निराकरण कर निष्प्रपञ्च ब्रह्म ही मुक्तिकी कामनासे उपासनीय है, ऐसा कहा। शाकल्यसे 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' अर्थात् मैं आपसे ब्रह्म कहता हूँ, ऐसी प्रतिज्ञा करके राजाने मूर्तामूर्तादि ब्रह्मरूपका जो निरूपण किया है, वह प्रतिज्ञाके विपरीत प्रतीत होता है, परन्तु दूसरा उपाय न देखकर राजाने उक्तरूपके प्रतिषेध द्वारा ही ब्रह्मका निर्देश किया है। इसमें विद्या ही साधन है और मुक्ति फल है। 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि', 'तस्मात्तत्सर्वमभवत्' इत्यादि पूर्वमें स्पष्ट कह चुके हैं। इससे यह निश्चित हो चुका है कि प्रत्यगात्मा ही ब्रह्मविद्याका विषय है। अविद्याका विषय 'अन्योऽसौ अन्योऽहमस्मीति न स वेद' इत्यादिसे भेददर्शन ही माना गया है। अतएव चातुर्वर्ण्य, चातुराश्रम्य आदिका विभाग, निमित्तभूत पाङ्क्त कर्म और साध्यसाधनलक्षण व्याकृताव्याकृतस्वभाव नामरूपकर्मात्मक संसारका 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' इत्यादि वाक्यसे उपसंहार किया गया है। शास्त्रीय ज्ञानकर्मका उत्कर्ष हिरण्यगर्भलोककी प्राप्ति तक ही सीमित है और

अपोदितं यदि जगद् ब्रह्मणोऽन्यतया स्थितम् ।
तदा साङ्ख्यमतप्राप्तिरतः सार्वात्म्यमुच्यते ॥ २ ॥

अशास्त्रीय स्वाभाविक ज्ञानकर्मका निकर्ष स्थावरान्त अधोभाव है, इत्यादि पूर्वमें निरूपित हो चुका है। इस अविद्याके विषय संसारसे जो विरक्त हैं, उन्हींका प्रत्यगात्मविषयक ब्रह्मविद्यामें अधिकार है। समस्त अविद्याविषयका उपसंहार तृतीय ब्राह्मणमें हो चुका। चतुर्थ ब्राह्मणमें 'ब्रह्म ते ब्रवाणि', 'ब्रह्म ते ज्ञपयिष्यामि' इत्यादि वाक्योंसे सब विशेषोंसे शून्य अद्वय ब्रह्मका प्रस्ताव कर क्रिया, कारक, फल आदि सत्यशब्दवाच्य संपूर्ण द्वैतका 'नेति नेति' वाक्यसे प्रतिषेध कर वही (ब्रह्म ही) समझाया गया है ॥ १ ॥

'अपोदितम्' इत्यादि ।

शङ्का—दृश्यके निषेधमात्रसे ही अद्वैतब्रह्मज्ञान द्वारा मोक्ष सिद्ध हो सकता है, फिर ब्रह्मस्वरूपका विशेषरूपसे प्रतिपादन करनेका क्या प्रयोजन ?

समाधान—संपूर्ण जगत् प्रतिषिद्ध होनेपर भी यदि ब्रह्मभिन्नत्वरूपसे स्थित होगा, तो सांख्यमतकी प्राप्ति हो जायगी। सांख्यमतमें आत्मा चेतन और जड़ प्रकृति—ये दोनों स्वयम्भू अतएव स्वतन्त्र पदार्थ माने गये हैं। केवल इनके परस्पर संयोगसे संसार और वियोगसे मुक्ति मानी जाती है; वियोग दो प्रकारका होता है—एक आत्यन्तिक और दूसरा अनात्यन्तिक। आत्यन्तिक प्रकृतिपुरुषान्यताख्यातिरूप तत्त्वज्ञानसे अनात्यन्तिक संसार-भोगजनक अदृष्टके परिपाककी समाप्तिसे जैसे प्रलयावस्थामें कर्म अवशिष्ट प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं और अन्य सर्गके आरम्भमें फिर कर्म जाति, आयु और भोगरूप फलके परिपाकके लिए उन्मुख हो जाते हैं इत्यादि प्रकार सांख्यमतमें माना जाता है, वैसे यहाँ भी प्रतीत होता है, ऐसा किसीको भ्रम न हो, इसलिए यहाँ सार्वात्म्यका प्रतिपादन विशेषरूपसे करते हैं अर्थात् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिसे यह समझाया जाता है कि ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई वस्तु कालत्रयमें नहीं हो सकती। जैसे शुक्तिरजतका भान भ्रमात्मक होता है, परन्तु उक्त पदार्थकी सत्ता किसी समयमें नहीं मानी जाती, केवल शुक्तिकी ही सत्ता है, वैसे ही संसारदशामें भी ब्रह्मसे अतिरिक्त वास्तविक कोई पदार्थ नहीं है, केवल अविद्यावश शुक्तिरजतके समान आरोपित संसारका भान होता है। भासमान द्वैतका निषेध ब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं है, वह भी ब्रह्म ही है। अभावको अधिकरणस्वरूप तार्किक भी मानते हैं।

अथवा ब्रह्म वच्मीति प्रक्रम्य ब्रह्मता पुरा ।
नेति नेत्यनिदंरूपे प्रतीच्येव समापिता ॥ ३ ॥

शङ्का—यदि द्वैतके निषेधको ब्रह्मस्वरूप न माने, तो अद्वैत ब्रह्म क्यों नहीं सिद्ध होगा ? आपको भी द्वैतनिषेधरूप अद्वैत और ब्रह्म मानना ही चाहिए, जैसे कि नील और उत्पल इन दोनोंके माननेपर ही निलोत्पल माना जाता है ।

समाधान—अव्यावृत्त और अननुगत ब्रह्मका लक्षण है । यदि द्वितीय भावात्मक या अभावात्मक कोई भी पदार्थ रहेगा, तो ब्रह्म अव्यावृत्त और अननुगत कैसे रह सकता है ?

शङ्का—अच्छा तो ब्रह्म द्वैतमात्रको निगलकर अद्वत हो जाता है, श्रुतिने भी 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदने' इत्यादिसे इस पक्षका ही निर्देश किया है ।

समाधान—तब तो जीवको भी ब्रह्म भक्षण कर लेगा, ऐसी परिस्थितिमें न संसार ही हो सकेगा न मोक्ष ही । यदि कहो कि जीव ब्रह्मस्वरूप ही है, अतः उसका निगरण ब्रह्म नहीं कर सकता, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि संसारको यदि ब्रह्म निगल जायगा, तो ब्रह्मज्ञानके बिना भी सब मुक्त हो जायँगे, फिर ब्रह्मज्ञानकी क्या आवश्यकता ? अतः अन्वयका निषेध करनेके लिए 'सर्वमात्मा' यह वाक्य है; इससे यह स्पष्ट समझाया जाता है कि सर्वत्र ब्रह्म है, ऐसा अन्वय नहीं समझना चाहिए, अन्यथा 'अनन्वयाननुगत' इत्यादि ब्रह्म लक्षण ही असंगत हो जायगा; किन्तु सब ब्रह्म है, ऐसा ज्ञान प्रकृतमें श्रुतिको अभीष्ट है, इसीलिए मैत्रेयीब्राह्मणग्रन्थका आरम्भ है ॥ २ ॥

उसीका अन्य तात्पर्य्य कहते हैं—**'अथवा'** इत्यादिसे ।

तत्त्वं और त्वं तत्—इन दो वाक्योंसे जीव और ब्रह्मका अभेद दृढ़ होता है अर्थात् ब्रह्म तुम हो, इससे ब्रह्माभिन्न तुम हो और त्वं तत्से तुम ब्रह्मसे अभिन्न हो, ऐसा प्रतीत होता है । उक्त वचनभङ्गीसे केवल उद्देश्यविधेयका वैलक्षण्य प्रतीत होता है; परन्तु दोनोंका अर्थ उभयाभेद ही विवक्षित रहता है, इसलिए अभेदका दो बार भान करानेका प्रयोजन अभेदका दार्ढ्य ही है । अभ्यासका प्रयोजन शास्त्रकारोंने दार्ढ्य ही बतलाया है । प्रकृतमें 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इस वाक्यसे जीवमें ब्रह्माभेद विवक्षित है, अतएव उक्त वाक्यसे ब्रह्मका प्रस्ताव करके 'नेति नेति' इस वाक्यसे त्वं पदार्थका परिशोधन करके अनिदंरूप आत्मामें उक्त वाक्यका पर्य्यवसान किया गया है अर्थात् जीवमें ब्रह्माभेद कहा गया है ॥ ३ ॥

इह त्वात्मानमारभ्य सृष्टिस्थित्यन्तकारिणि ।
ब्रह्मणि प्रत्यगात्मत्वं समापयितुमुद्यमः ॥ ४ ॥
वित्तस्य कर्महेतुत्वात्तत्त्यागो ज्ञानसाधनम् ।
इति दर्शयितुं प्राह श्रुतिराख्यायिकां शुभाम् ॥ ५ ॥

'इह त्वा०' इत्यादि । इस प्रकृत ब्राह्मणमें आत्मासे लेकर सृष्टि, स्थिति और लयकारी ब्रह्ममें प्रत्यगात्मा जीवकी परिसमाप्ति अर्थात् ब्रह्ममें जीवके अभेदका बोध करानेके लिए उद्यम (प्रयास) किया जाता है ॥ ४ ॥

पूर्व श्लोकसे इस ब्राह्मणका तात्पर्य्य संक्षेपसे कहकर आख्यायिकाका तात्पर्य्य कहते हैं—**'वित्तस्य'** इत्यादिसे ।

वित्त (धन) कर्मका हेतु है । धनके बिना कोई श्रौत-स्मार्त कर्म नहीं हो सकता । वित्तत्याग ज्ञानका (ब्रह्मज्ञानका) साधन है, इसको दिखलानेके लिए श्रुति वक्ष्यमाण मैत्रेयीकी शुभ आख्यायिकाको कहती है । तात्पर्य यह है कि ब्रह्मज्ञान होनेपर भी जबतक त्याग नहीं होता, तब तक कोई भी यति मुक्त नहीं हो सकता, इस आख्यायिकासे यह निष्कर्ष स्पष्टरूपसे निकलता है, क्योंकि याज्ञवल्क्य पूर्ण ब्रह्मज्ञानी थे अनेक ब्रह्मज्ञानियोंने उनकी परीक्षा की थी तथा स्वयं जनकजी भी उनसे ही ब्रह्मका उपदेश लेकर कृतार्थ (मुक्त) हुए थे, तो भी जबतक गृही रहे तबतक कैवल्य नहीं पा सके, अतः कैवल्यके लिए उनको भी त्यागपूर्वक संन्यास लेना पड़ा, तदनन्तर वैष्णव पदको प्राप्त हुए ।

शङ्का—यदि त्यागसे ही याज्ञवल्क्य महर्षि मुक्त हुए, तो त्यागको ही मुक्तिका साधन मानिये, त्यागसमुच्चित ब्रह्मज्ञानको नहीं ।

समाधान—'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयम्' इत्यादि वचनोंसे त्याग ब्रह्मज्ञानका साधन है और ब्रह्मज्ञानके द्वारा वह मुक्तिसाधन है, साक्षात् नहीं, अतएव श्रुति कर्मको मोहका कार्य मानती है, अतएव

मुक्तेश्च विभ्यतो देवा मोहेनाऽपिदधुर्नरान् ।
ततस्ते कर्मसूद्युक्ताः प्रावर्तन्ताऽविपश्चितः ।

इत्यादि वचन इसमें प्रमाण कहे जाते हैं । देवताओंको यह भय रहता है कि मनुष्य मुक्त न हो जायँ ।

शङ्का—मनुष्योंकी मुक्तिसे देवताओंको भय क्यों ?

समाधान—अविद्वान् मनुष्य कर्मानुष्ठान द्वारा देवताओंको संन्तुष्ट करता है। यदि वह मुक्त हो जायगा, तो देवताओंकी सेवा न होगी, इसलिए स्वार्थकी हानिसे देवता लोग मनुष्यकी मुक्तिसे डरते हैं, अतः मोहसे मनुष्यके चित्तको ढांक देते हैं, जिससे मनुष्य कर्मानुष्ठानका ही सतत उद्योग करता रहता। ब्रह्मज्ञानके साधनभूत कर्मत्यागमें प्रवृत्त नहीं होता, फिर भी जब प्राचीन पुण्योंके विपाकसे किसी पुरुषधौरेयका चित्त विविध-फलप्रलोभक कर्मजालोंसे विरक्त होकर उनका त्याग (संन्यास) कर आत्मतत्त्वके बोधसे मोहको नष्ट कर ब्रह्मज्ञानपरायण हो जाता है, तब वह पुरुष आत्माकी उपासना करता हुआ जीवन्मुक्त हो जाता है।

शङ्का—कर्मानुष्ठान ऋणके अपाकरणका मूल है, उसका त्याग करनेसे मोक्षका अधिकारी नहीं हो सकता, क्योंकि 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य ' मनो मोक्षे निवेशयेत्' ऐसा स्मार्त वचन है।

समाधान—'ब्रह्मचर्य्याद् गृहाद्वा प्रव्रजेत्' इत्यादि श्रुतिसे मुमुक्षुको कर्मानुष्ठानकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पूर्वजन्मके कर्मानुष्ठानोंसे भी ऋणका अपाकरण माना जाता है, अन्यथा गर्भस्थ वामदेवादिकी प्रव्रज्यामें प्रवृत्ति ही असंगत हो जायगी और उक्त ऋणकी आशङ्कासे कभी भी कर्मका संन्यास ही नहीं हो सकेगा। 'ब्रह्मचर्यात्' इत्यादिका कभी अवसर ही नहीं आयेगा।

किसीका यह मत है कि जावाल श्रुतिमें जो कर्मसंन्यासका विधान किया गया है, वह कर्ममें जो अनधिकारी जड़, बधिर, मूक, अन्ध आदिके लिए है, कर्माधिकारियोंके लिए नहीं।

'अत्रैवं शक्यते वक्तुं येऽन्धपङ्ग्वादयो नराः
गृहस्थत्वे न शक्ष्यन्ति कर्तुं तेषामयं विधिः।
नैष्ठिकं ब्रह्मचर्य्यं वा परिव्राजकताऽपि वा
तैरवश्यं ग्रहीतव्या तेनादावेतदुच्यते।

इत्यादि स्मार्त वचन इसमें प्रमाण हैं, पर यह मत ठीक नहीं है, कारण कि विधिवाक्यसे जहाँ अर्थवाद या स्मृतिवाक्यका विरोध होता है, वहाँ विधिसे अर्थवादस्मृतिका ही बाध होता है, विपरीत नहीं। जावाल श्रुति विधि है, उक्त स्मार्त वाक्य स्मृति तथा अर्थवाद है, इसलिए उक्त श्रुतिसे वे बाध्य हैं, बाधक नहीं हैं 'अथ पुनरव्रती' इत्यादि वाक्यसे अनधिकारियोंका पुनर्विधान देखनेसे पूर्व वाक्य अधिकारियोंके लिए है, यह स्पष्ट है। यदि पूर्व वाक्य भी अनधिका-

एषणात्रयसंन्यासो वित्तत्यागेन लक्ष्यते ।
ज्ञानस्य हेतुः संन्यास इति शास्त्रेषु डिण्डिमः ॥ ६ ॥

रियोंके लिए कहते हो, तो पुनर्विधायक वाक्य ही व्यर्थ हो जायगा । असलमें, तो बाध्यबाधकभाव विरोध होनेपर होता है; अन्यथा नहीं । प्रकृतमें कामनाके भेदसे दोनों वाक्य व्यवस्थित हैं, मनुष्यलोककामनावान्‌के लिए गृहस्थाश्रमादिके बोधक वाक्य हैं और मोक्षकामनावान्‌के लिए कर्मसंन्यासके बोधक वाक्य हैं । अधिकारीके भेदसे दोनों वाक्य स्वविषयमें व्यवस्थित हैं, इसलिए विरोधकी शंका ही नहीं हो सकती; 'किं प्रजया करिष्यामो येषामयमात्मा लोकः' इत्यादि श्रुति इस अर्थको स्पष्ट करती है । जो ऐहिकामुष्मिक फलसे वितृष्ण हैं, उनके लिए कर्मानुष्ठान अपेक्षित नहीं है, किन्तु मोक्षमें मोह अन्तराय है, केवल उसकी निवृत्तिमात्र अपेक्षित है। उसका निवर्तक आत्मज्ञान है, इसका साधन कर्मत्याग है, अतः ब्रह्मभावकी प्राप्तिकी इच्छाके लिए ज्ञानाङ्ग त्याग परमावश्यक है, कर्मानुष्ठान नहीं, यह निष्कर्ष है ॥ ५ ॥

'एषणात्रय०' इत्यादि । वित्तत्याग एषणात्रयके त्यागमें उपलक्षण है अर्थात् उसका पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणामें तात्पर्य है । ऐहिकामुष्मिक फलके साधनका त्याग यहां विवक्षित है । यह उसी पुरुषको हो सकता है, जो सब फलोंसे वितृष्ण होकर केवल मोक्षसाधन ज्ञानके अर्जनमें ही सदा रत हो । ज्ञानका हेतु संन्यास है, यह वेदान्तशास्त्रमें डंकेकी चोट कहा जाता है । तात्पर्य यह है कि जाया, पुत्र आदि लक्षण पाङ्क्त कर्म अविद्याविषयक है, इसलिए आत्मसाधन नहीं है । अन्यके साधनका अन्य फलकी प्राप्तिके लिए उपयोग नहीं किया जाता, जैसे भूख और प्यासके साधन भोजन, जलपान आदि हैं, इनका गमनके लिए प्रयोग नहीं किया जाता । करनेपर उस फलकी सिद्धि नहीं हो सकती, पुत्रादिसाधन मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोकके साधनरूपसे श्रुत हैं, आत्मज्ञानके साधनरूपसे श्रुत नहीं हैं, 'एतावान् वै कामः' इत्यादि श्रुतियोंसे उक्त कर्म कामनावान्‌के लिए ही विहित हैं । ब्रह्मवेत्ताको उक्त कामनाएँ हैं नहीं, प्रत्युत वह आप्तकाम कहा जाता है। आप्तकामको कामनाका संभव नहीं है 'येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' इत्यादि श्रुति स्वव्यतिरिक्त निखिल कामनाका अभाव बोधन करती है, जो लोग ब्रह्मवेत्तामें भी एषणात्रयका संबन्ध कहते हैं, उन्होंने बृहदारण्यक सुना भी नहीं है, क्योंकि पुत्रादिकी एषणा अविद्वद्विषयक है, वस्तुतः आत्मैक्यज्ञानसे सब क्रिया, कारक और फलके भेदका

श्रुतिः—मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्था-नादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति ॥ १ ॥

उपमर्दन होनेसे विद्यादशामें कार्यके साथ अविद्याकी उपपत्ति ही नहीं हो सकती। उक्त विरोध वे लोग नहीं समझ सके, अन्यथा वे ऐसा कहनेका साहस भी नहीं कर सकते, अतएव—

'यदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च।
कां गतिं विद्यया यान्ति कां च गच्छन्ति कर्मणा॥
एतद्वै श्रोतुमिच्छामि तद्भवान् प्रब्रवीतु मे।
एतावन्योन्यवैरूप्ये वर्तेते प्रतिकूलतः॥'

इत्यादि प्रश्नके उत्तरमें यह कहा है कि नित्य और अनित्य दो प्रकारके फल हैं। नित्य फलका साधन संन्यासपूर्वक आत्मज्ञान है और अनित्य फलका साधन कर्मयोग है। इसमें अवान्तर विशेष यह है कि ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ—इन तीन आश्रमोंके उचित कर्मोंका अनुष्ठान करके अन्तमें जो संन्यास लिया जाता है, वह आश्रमानुक्रमसे होता है और जो ब्रह्मचर्य्यावस्थासे ही विरक्त होकर संन्यासका ग्रहण किया जाता है, वह व्युत्क्रमसंन्यास कहा जाता है। फल दोनोंका समान ही है। केवल अधिकारीके भेदसे उनका भेद है। वस्तुतः चित्त-शुद्धि अपेक्षित है। जिनका चित्त अशुद्ध रहता है, उनको चित्तकी शुद्धिके लिए अन्य आश्रमका ग्रहण करना आवश्यक है, जिनका चित्त जन्मान्तरके कर्मानुष्ठानोंसे ही शुद्ध हो चुका है, उनके लिए ब्रह्मचर्य्य आदि आश्रमोंसे ही संन्यासका ग्रहण करनेकी विधि है। विशेष विस्तर-भयसे छोड़ देते हैं॥ ६॥

'मैत्रेयीति होवाच' इत्यादि श्रुति। आख्यायिका श्रुतिका अक्षरार्थ यह है कि जब महर्षि श्रीयाज्ञवल्क्यजीने संन्यास लेनेका दृढ़ संकल्प कर लिया, तब अपनी प्रिय भार्या मैत्रेयीको संबोधित किया।

शङ्का—क्यों?

समाधान—भार्य्यासे अनुज्ञा लेकर ही संन्यासका ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा नहीं। सारांश यह है कि विवाहके समय पतिपत्नीका अग्निसाक्षिक परस्पर संबन्ध स्थापित होता है। उसमें यह शर्त रहती है कि कोई किसीसे छिपाकर ऐहलौकिक या पारलौकिक कर्म न करे। विशेषतः स्वमात्रगामी फलके लिए अनुज्ञा लेना

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति, नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति ॥ २ ॥

आवश्यक है । संन्यासका फल मुक्ति है । वह केवल महर्षिको ही होगा, मैत्रेयीको नहीं । इसलिए उनकी अनुज्ञा लेना आवश्यक है और उनकी रक्षाका पूरा प्रबन्ध उनके विश्वासके अनुसार करना चाहिए । इसलिए उनका आमन्त्रण (आह्वान) किया । उनके समीपमें आनेपर उनसे कहा कि ['अरे' यह संबोधन है] अब मैं इस गृहस्थाश्रमसे ऊपर ऊँचे संन्यास आश्रममें जाना चाहता हूँ । इसलिए इस समय तुम्हारा कात्यायनीके साथ (इस नामकी उक्त महर्षिकी द्वितीया भार्य्या थी) पहले विभाग करना चाहता हूँ अर्थात् अभीतक मेरे उपार्जित धनमें तुम लोगोंका साक्षात् स्वत्व नहीं था, मेरे आश्रमान्तरका ग्रहण करनेपर इस धनमें तुम लोगोंका सत्व होगा । संभव है कि उस समय धनके लिए तुम लोगोंमें परस्पर विवाद हो, ऐसी दशामें विज्ञ भी कष्ट पाते हैं और धन नष्ट कर देते हैं अर्थात् दूसरेके अधीन हो जाता है, इसलिए मैं चाहता हूँ कि तुम दोनोंको यथाविधि विभक्त कर दूँ और उसीके अनुसार भविष्यमें धनका स्वार्थके लिए उपयोग करना, जिसमें परस्पर कलह न हो और अन्य आश्रमका ग्रहण करनेपर तुम लोगोंके व्यवहारसे मुझे परिताप न हो । शास्त्रकी आज्ञा भी है कि 'वृत्तिभिः संविभज्य स्वान् संन्यसेत्' अर्थात् आत्मीय पुत्र, कलत्र आदिकी वृत्तियोंका—जीवनसाधन द्रव्योंका—विभाग करके संन्यास ग्रहण करना चाहिए । मैत्रेयीने उत्तर दिया कि भगवन्, आप ठीक कहते हैं, देश, काल, अवस्था और ज्ञानके अनुरूप ही आपकी आज्ञा है । यदि आप शास्त्रके आदेशका पालन न करेंगे, तो दूसरेसे क्या आशा ? ठीक है, अब आप हम लोगोंके कर्तव्योंका उपदेश दीजिये ।

शङ्का—याज्ञवल्क्यको यदि संन्यास लेना ही था, तो ले लेते । द्रव्यका विभाग वे दोनों आपसमें ही कर लेतीं अथवा साथ ही रहतीं, विभागकी कोई आवश्यकता न थी ।

समाधान—'भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाऽधनाः स्मृताः ।
यत् ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥'

इत्यादि शास्त्रसे धनमें स्वतः उनका अधिकार नहीं है । अधिकार तब होगा जब उनको विभक्त करनेवाला मिलेगा और दूसरा कारण 'धनका विभाग करके

ज्ञानादेवाऽमृतत्वं स्यादविद्याध्वंसमात्रतः ।
अमृतत्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तसाध्येन कर्मणा ॥ ७ ॥

ही संन्यासका ग्रहण करना चाहिए' इत्यर्थक शास्त्रकी भी आज्ञा है । इसलिए विभाग करना अत्यावश्यक है । उसपर मैत्रेयीने उत्तर दिया कि ठीक है, संन्यास जैसे आपके लिए हितकर है, वैसे ही हम लोगोंके लिए विभक्त धन हितकर है । यद्यपि 'स्त्रियो वैश्याश्च शूद्राश्च येऽपि स्युः पापयोनयः' इत्यादि श्रुतियोंसे स्त्रियां अशुचि मानी गयी हैं, अतएव धन पानेपर भी जीवननिर्वाहमात्र कर सकूँगी उसके द्वारा कोई धर्मकार्य्य कर विशेष स्वहितके साधन करनेकी आशा नहीं है, ऐसी शङ्का मुझे होती है, तथापि वह ठीक नहीं है, कारण कि महानुभावका संसर्ग परम उन्नतिका कारण होता है । जैसे नालीका गन्दा जल गङ्गाजीके संबन्धसे परम पवित्र हो जाता है, यह लोकमें प्रसिद्ध है, वैसे ही आपके संसर्गसे पापात्मक स्त्री भी परम शुचि है, अतः प्राप्त धनसे अपना हित कर सकती हूँ, इसमें सन्देह नहीं हो सकता, परन्तु मैं आपसे यह पूछती हूँ कि यह संपूर्ण पृथिवी धनसे परिपूर्ण होकर यदि मिल जाय, तो क्या मैं मुक्त हो जाऊँगी ? महर्षिजीने नहीं, ऐसा उत्तर दिया और कहा कि जैसे धनसे अन्य धनियोंका जीवन-निर्वाह होता है, वैसे तुम्हारा भी जीवन-निर्वाह होगा, मोक्षकी तो आशा भी नहीं, क्योंकि धनसे जैसे दूसरेकी मुक्ति नहीं होती, वैसे तुम्हारी भी नहीं होगी ॥ १,२ ॥

'ज्ञानादेवा०' इत्यादि । ज्ञानसे ही मोक्ष होता है । विद्याका अविद्याके साथ विरोध है । 'तत्त्वमसि' आदि प्रमाणोंसे जनित विद्यासे अविद्याका ध्वंस होता है । अविद्यासे ही नित्य स्वात्मरूप मोक्ष तिरोहित रहता है । पिधानभूत अविद्याकी निवृत्ति होनेसे स्वतःसिद्ध मोक्ष अभिव्यक्त होता है । वित्तसाध्य कर्मसे मोक्षकी आशा नहीं की जा सकती । यद्यपि श्रुतिमें 'वित्तेन' यह पाठ है, तथापि उसका भाष्यकारने वित्तसाध्येन कर्मणा, ऐसा अर्थ किया है, इसका अभिप्राय यह है कि केवल स्वरूपसे वित्त तो सांसारिक सुखादिका भी कारण नहीं होता; किन्तु किसी क्रियाके द्वारा ही कारण होता है, इसलिए मोक्षके प्रति भी स्वरूपसे वित्त कारण होगा, यह शङ्का भी नहीं हो सकती, इसलिए भाष्यकारने वित्तशब्दकी वित्तसाध्य श्रौत, स्मार्त आदि कर्मजातमें लक्षणा कर शङ्का-समाधानकी उपपत्ति की है ।

शङ्का—यदि मोक्षसाधन वित्त नहीं है, तो आप क्यों देते हैं ?

न कर्म कारणं मुक्तेर्नाऽग्निस्तापस्य भेषजम् ।
कर्मभ्यो जन्म नियतं जन्म चेन्निर्वृतिः कुतः ॥ ८ ॥

समाधान—जैसे धनियोंका सूखपूर्वक जीवन होता है; वैसे ही तुम्हारा भी होगा ॥ ७ ॥

कर्म मुक्तिके प्रतिकूल है; यह स्फुट करते हैं—**'न कर्म'** इत्यादि ।

कर्म मुक्तिका कारण नहीं है, किन्तु बन्धका कारण है, क्योंकि कर्मसे जन्मका होना नियत है, फिर उससे मुक्ति कैसे होगी ? 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः', 'दुःखजन्म-प्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' इत्यादिसे और 'अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः' इत्यादि श्रुतियोंसे जन्म-प्रबन्धविच्छेद ही मुक्ति है, ऐसा कहा गया है, वह जन्मके कारणोंसे कैसे हो सकती है ? अग्निसे ताप होता है, जो तापकी शान्ति चाहता है, उसके लिए अग्निका सन्निधान तापनिवृत्तिका उपाय नहीं कहा जा सकता, किन्तु अग्निका परिहार ही तापशान्तिका साधन हो सकता है । मैत्रेयीने कहा कि स्वभावतः महात्माओंकी प्रवृत्ति जब अपकारीके प्रति हितकारिणी होती है, तब भक्त जनोंके प्रति हितकारिणी होती है, इसमें तो कहना ही क्या ? किन्तु यह मेरे ही अपराधोंका फल है, जो आप महामुभाव भी अनन्य मादृश भक्तोंके प्रति अहितोपदेशमें ही प्रवृत्त हुए । यदि आप ऐसा करेंगे, तो दूसरा कौन मेरा हितचिन्तन या हितोपदेश करेगा ? मैं आपकी अनुरूप अनन्य-भक्त प्रिय सती भार्या हूँ । मेरी कामनाओंको अपूर्ण कर केवल धनका प्रलोभन देकर आप संन्यास कैसे ग्रहण कर सकते हैं ? अगर वित्तसे भी मोक्षकी संभावना हो, तो आपके लिए उसका त्याग करना उचित नहीं है। यदि वित्तसे मुक्तिकी संभावना नहीं है, तो मैं उसको लेकर भी क्या करूँगी ? यदि मेरी सेवाओंका कुछ प्रभाव हो या मुझ असहायके ऊपर अनुग्रहकी इच्छा हो या स्वतः उपकार करनेकी दया हो, तो मेरा भी वैसा ही उद्धार कीजिये जैसा कि आप अपना करना चाहते हैं। मैं भी वह जानना चाहती हूँ जिसे आप जानते हैं । आपके तपःप्रभावसे मैं उस साधनमें सफल हो सकती हूँ, इसका मुझे पूर्ण विश्वास है । जिस विज्ञानको पाकर आप चिरप्रिय धनको निर्मम होकर त्याग रहे हैं, वही ज्ञानरूपी धन हमको भी दीजिये । जिस धनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है और भोगसे जिसका कभी क्षय नहीं होता, वही धन कृपया दीजिये । आप अनन्तवित्त हैं, फिर विनाशी (अन्तवान्) वित्त मुझे क्यों देते

हैं ? दाताके सदृश ही दान होना चाहिए। असदृश दानसे दाताकी ख्याति भी नहीं होती। दानसे वह धन उपभोगके समान क्षीण नहीं होता, चाहे जितना आप देते जायँ, किन्तु अनवरत दान करनेपर भी उसका परमाणुमात्र क्षीण नहीं हो सकता और अनन्यभक्तका उद्धार भी हो जायगा। अतः उसी धनको देनेकी कृपा करें, यही चरणोंमें असकृत् प्रार्थना है। महर्षिजीने उत्तर दिया—प्रिये, सत्य है; धन देनेका मेरा अभिप्राय यह था कि जो सांसारिक फलोंसे निवृत्त नहीं हैं अर्थात् सतत सांसारिक ही फल चाहते हैं, वे इस धनके पानेके अधिकारी नहीं हैं। अतएव मेरी इच्छा रहनेपर भी वे इस धनको नहीं पा सकते और न मैं दे ही सकता हूँ ! इस धनके पानेका अधिकार उन्हींको है, जो सब फलोंमें निवृत्ततृष्ण हैं, अतएव मैंने तुम्हारी परीक्षा की कि तुम इस धनसे सन्तुष्ट हो सकती हो या नहीं। अब मुझे यह मालूम हो गया कि तुम सब सांसारिक फलोंसे पराङ्मुख हो, इसलिए मैं अत्यन्त हर्षके साथ उस उत्तम धनको तुम्हें देता हूँ, तुम प्रसन्नचित्तसे उसका ग्रहण करो, मैं तुम्हारे स्वभाव, शील और भाषणसे बहुत सन्तुष्ट हुआ हूँ। प्रायः ऐसे अवसरोंपर स्त्रियां स्वभावसे प्रतिकूल भाषण किया करती हैं। परन्तु तुम पूर्ववत् इस अवसरपर भी अनुकूल और मधुर ही भाषण करती हो, जैसा कि शास्त्रमें लिखा है—

'कुशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
पूजनीयः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥
पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाऽऽचरेत् किञ्चिदप्रियम्॥'

अर्थात् सुन्दर स्वभावसे हीन, कामी, गुणोंसे रहित कैसा भी पति क्यों न हो साध्वी स्त्रीको उसकी देवके समान पूजा ही करनी चाहिए। पतिलोकको चाहनेवाली स्त्री जीवित या मृत पतिके लिए कुछ भी अप्रिय काम न करे।

सब लोग मोक्षमें प्रवृत्त पुरुषका त्याग कर देते हैं, कोई भी साथ जानेको तैयार नहीं होता, लेकिन मुझमें तुम्हारी इतनी अधिक भक्ति है कि इस अवस्थामें भी तुम मुझे छोड़ना नहीं चाहती हो। मेरा वियोग तुमको असह्य प्रतीत हो रहा है, इसलिए यह धनविभाग भी तुमको पसंद नहीं है। मुक्तिमें भी साथ ही रहना चाहती हो। साधारण स्त्रियोंसे तुम्हारी तुलनाकी तो संभावना ही नहीं है। पार्वतीजीसे भी तुम प्रकृष्ट प्रतीत होती हो। श्रीमहादेवजीके प्रेमवश उनकी आधी देह हो गई, अर्द्ध देह

श्रुतिः—सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्या यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥ ३ ॥

हरकी है और तुमको आधा भी अंश मेरे रहित अभीष्ट नहीं है। इसलिए मुक्ति-दशामें सर्वथा ऐक्यकी प्रार्थना करती हो। सारांश यह है कि महर्षिजी मैत्रेयीका वैराग्य देखकर नितान्त संतुष्ट हुए और यह विश्वास शिथिल हुआ कि ब्रह्म-ज्ञानके योग्य वैराग्य हमको ही है। अब महर्षिजी समझ गये कि स्त्री और पुरुषका भेद इसमें अपेक्षित नहीं है। योग्य मैत्रेयीको ब्रह्मोपदेश देना आवश्यक है, ऐसा संकल्प कर बोले—हम तुमारी वैराग्यभावनासे नितान्त सन्तुष्ट हैं, अतएव मोक्षसाधन आत्मज्ञानका उपदेश देना चाहते हैं। तुम निदिध्यासन अर्थात् चित्तको एकाग्र करो। चित्तकी एकाग्रताके बिना यह उपदेश फलदायक नहीं होता। 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' इस योग सूत्रसे यह स्पष्ट घोषित किया गया है कि मनका निरोध अभ्यास और वैराग्यसे ही होता है, अन्य उपायसे नहीं। 'मनःसमाधानरूप कार्य्यसे मैत्रेयीका वैराग्य पूर्णरूपसे प्रमाणित हो जायगा, शाब्दिक वैराग्यसे चित्त एकाग्र नहीं हो सकेगा। यह विषय अतिगम्भीर है, इसका कहना और सुनना अतिकठिन है। वस्तुतः यह वाग्का विषय नहीं है, जिससे कि व्युत्पन्नको शब्द द्वारा लौकिक विषयके समान अनायाससे कोई समझा सके। इसके विषयमें यह ठीक ही कहा गया है—'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्' इत्यादि। 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्'। हिरण्यगर्भलोकपर्य्यन्त जो उत्कृष्ट फल हैं, उन सब फलोंसे पुरुष जबतक विरक्त न हो जाय, तबतक उसकी बुद्धि शुद्ध ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिके लिए योग्य नहीं होती और जबतक ऐसी बुद्धि न हो, तबतक वह अधिकारी नहीं होता। दृष्ट-नष्टस्वभाव होनेसे यद्यपि 'घटीयन्त्रके समान' सतत प्रवृत्त जन्ममरणप्रबन्धमें स्वतः ही वैराग्य है, इसमें वैराग्यार्थ विशेष उपदेशकी आवश्यकता नहीं है, तथापि इसमें धर्मादिहेतुक राग शास्त्रतः और आपाततः विवेकियोंको भी स्वतः उत्पन्न हो जाता है, अतः कर्मानुष्ठान द्वारा शुद्धात्मा ही इस संसारसे विरक्त होता है, वस्तुतः कर्मभोगवासनावश पुरुषका संसारमें अनुराग होता है। निष्काम कर्मानुष्ठानसे शुद्धबुद्धि पुरुषको ही वैराग्य होता है ॥ ८ ॥

'स होवाच मैत्रेयी' इत्यादि श्रुति। जिस धनसे मैं मुक्त न होऊँगी, उसको लेकर मैं क्या करूँगी। मुक्तिका साधन जो आप जानते हैं, उसीको मुझसे कहिए ॥ ३ ॥

द्विविधः कर्मसंन्यासः फलसाधनभेदतः ।
फलाय ज्ञानिनस्त्यागो जिज्ञासोर्ज्ञानसिद्धये ॥ ९ ॥
ज्ञानित्वाद् याज्ञवल्क्योऽयं जीवन्मुक्तिफलेच्छया ।
चित्तविक्षेपबहुलं गार्हस्थ्यं त्यक्तुमिच्छति ॥ १० ॥
गृहस्थ एव जनको जीवन्मुक्तोऽस्ति यद्यपि ।
धीस्वास्थ्यातिशयोऽथाऽपि सर्वकर्मत्यजोऽस्ति हि ॥ ११ ॥

'द्विविधः' इत्यादि । संन्यास दो प्रकारका है—एक फलका (मोक्षका) साधन और दूसरा मोक्षकारण ब्रह्मज्ञानका साधन । ज्ञानियोंका कर्मत्याग मोक्षका साधन माना जाता है । जैसे याज्ञवल्क्यका कर्मत्यागके बिना कर्मानुष्ठानकालमें गृहावस्थामें भी अर्थात् संन्याससे पूर्वमें भी ज्ञान था ही । यदि संन्यासको ही ज्ञानका साधन मानें, तो यह अर्थ होता है कि संन्यासके बिना ज्ञान ही नहीं होता, पर ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि संन्याससे पूर्व भी याज्ञवल्क्य पूर्ण ब्रह्मज्ञानी थे । यह बात जनककी सभामें प्रसिद्ध हो चुकी थी । इसलिए श्रीयाज्ञवल्क्यजीका कर्मसंन्यास फलके लिए माना जाता है, मोक्षसाधन ज्ञानके लिए नहीं । यदि कर्मसंन्यासको केवल फलका ही कारण मानें, तो मैत्रेयीके प्रति जो वित्तसाध्य कर्म त्याग कहा गया है, वह व्यर्थ हो जायगा । यदि कर्मत्याग ज्ञानसाधन है, तब तो ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए वह आवश्यक होता है । कर्मत्यागके दोनों फल स्पष्ट दिखाई देते हैं, इसलिए उक्त व्यवस्था परम आवश्यक है ॥ ९ ॥

'ज्ञानित्वाद्' इत्यादि । वक्ष्यमाण उपदेशसे याज्ञवल्क्य ज्ञानी है, इसमें सन्देह नहीं । अतः उनका कर्मत्याग ज्ञानके लिए तो कह नहीं सकते और कर्मत्याग किया अवश्य है, इसलिए यही मानना पड़ेगा कि उनका कर्मत्याग फलार्थ है, फल प्रकृतमें जीवन्मुक्ति है, उसीके लिए कर्मत्याग है । यह तो अनुभव सिद्ध है कि कर्मका अधिकार गृहस्थाश्रममें है । यह कर्म—क्रिया—करना अवशिष्ट है, इस कर्मका साधन उपस्थित है, इसका अभी संचय करना है इत्यादि चिन्ताओंसे चित्त एकाग्र नहीं रह सकता । आत्मसुखानुभव जो जीवन्मुक्तिदशामें होता है, वह चित्तकी एकाग्रतामें ही होता है, विक्षेपमें नहीं होता, इसलिए गृहस्थाश्रम उक्त सुखानुभवके प्रतिकूल है, अतएव उसका त्याग करना अभीष्ट है ॥ १० ॥

'गृहस्थ' इत्यादि ।

विज्ञानसाधनत्वेन मैत्रेयी वित्तमत्यजत् ।
तत्त्यागे धीसमाधानाज्ज्ञाने स्यादधिकारिता ॥ १२ ॥

शङ्का—जो यह आपने कहा था कि जीवन्मुक्तिरूप सुखके अनुभवके लिए भी कर्मत्याग आवश्यक है, अतः ज्ञानी याज्ञवल्क्य कर्मोंको त्यागनेके लिए प्रस्तुत हुए, सो ठीक नहीं है, कारण कि जनकजी भी जीवन्मुक्त थे, अतएव शुक आदि ब्रह्मर्षिगण ब्रह्मविद्याभ्यासके लिए जनकके यहां गये थे। जनकजीने कर्मका त्याग नहीं किया था। श्रौत-स्मार्त कर्मके साथ लौकिक राज्यपालन आदि कर्म भी करते थे और उनके जीवन्मुक्तिसुखास्वादमें कोई अन्तर नहीं था।

समाधान—ठीक है, जनकजी कर्मी और जीवन्मुक्त थे, परन्तु यह तो अनुभवसिद्ध बात है कि एक समयमें चित्त व्युत्थित और समाहित नहीं रह सकता। जीवन्मुक्तिसुखास्वाद चित्तकी एकाग्रताके बिना नहीं होता। राज्य-शासन आत्मासे अन्य तत्-तत् विषयोंकी वृत्तियोंके बिना नहीं हो सकता। अतः यह अवश्य मानना पड़ेगा कि शासनके समय आत्मेतरविषयक वृत्तियाँ अवश्य रहती थीं। फिर उस समय जीवन्मुक्तिका सुख कहाँ। जनकजी निरन्तर उक्त सुखार्थी नहीं थे, इसलिए उन्होंने कर्म-संन्यास नहीं किया। श्रीयाज्ञवल्क्यजी सतत उक्त सुखार्थी थे, इसलिए उन्होंने कर्मसंन्यास किया। चित्तविश्रान्तिकी परा काष्ठा केवल त्यागसे ही साध्य है, इसमें सन्देह नहीं, अतएव विद्वत्संन्यास निष्फल नहीं है। यदि धीस्वास्थ्यातिशय—चित्तवृत्तिका अत्यन्त समाधान—भी कर्मसंन्यासका फल नहीं माना जायगा, तो उक्त ऋषिका कर्मत्याग व्यर्थ ही हो जायगा, अतः सब कर्मोंके त्यागसे विद्वान्का धीस्वास्थ्यातिशय अवश्य फल मानना चाहिए। जनक याज्ञवल्क्यमें उक्तातिशय अवश्य स्वीकरणीय है ॥ ११ ॥

'विज्ञान०' इत्यादि। फलके लिए कर्मत्यागका निरूपण करके ज्ञानके लिए कर्मत्यागका उदाहरण देते हैं। मैत्रेयीने ज्ञानोत्पत्तिके लिए कर्मत्याग किया है, कर्मत्याग दृष्ट द्वारा ज्ञानोत्पत्तिका हेतु है, यह स्फुट कहते हैं। कर्मानुष्ठानके लिए तत्-तत् साधनसामग्रीसञ्चयके लिए तत्-तत् देश-काल आदि घटित साधनोंका समयपर ध्यान करना आवश्यक है। अतः चित्त अवश्य ही विक्षिप्त होगा। विक्षिप्त चित्तमें निदिध्यासन (ध्यान) नहीं हो सकता। चित्तकी पांच प्रकारकी वृत्तियाँ योगशास्त्रमें बतलाई गयी हैं—क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़, एकाग्र और निरुद्ध। उनमें क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़ ये तीनों वृत्तियां ध्यानके प्रतिकूल हैं। एकाग्र और निरुद्ध

चतुर्थ आश्रमो नार्या नाऽस्ति चेन्माऽस्त्वथाऽप्यसौ ।
ज्ञानाङ्गं सर्वसन्त्यागमर्हत्येवाऽनिषेधकात् ॥ १३ ॥

—ये दोनों वृत्तियां भोगके अनुकूल हैं । कर्मानुष्ठान विक्षेपका संपादक होनेसे ध्यानार्थियोंके लिए अवश्य त्याज्य है । इसलिए मैत्रेयीने ज्ञानकी प्राप्तिके लिए कर्मका त्याग किया है। कर्मत्यागसे चित्तगत विक्षेपका विनाश हो जानेसे ज्ञानमें अधिकार होता है । कर्मजन्य भोगकी वासनासे प्राणियोंका संसारमें अनुराग होता है । जब कर्मोंमें अशुद्धि, पारतन्त्र्य, क्षयिष्णुत्व आदिकी भावना करता है, तब बुद्धि शुद्ध होती है और कर्मोंके त्यागकी इच्छा उत्पन्न होती है ॥ १२ ॥

'चतुर्थ' इत्यादि ।

शङ्का—जिनका उपनयन होता है, उन्हींका संन्यासमें अधिकार माना जाता है, स्त्रियोंका यज्ञोपवीत-संस्कार नहीं होता, अतः उनका संन्यासमें भी अधिकार नहीं है, फिर मैत्रेयीका चतुर्थ आश्रममें प्रवेश कैसे हो सकता है ?

समाधान—भले ही संन्यासमें स्त्रियोंका अधिकार न हो, किन्तु उनका कर्म-त्यागमें अधिकार माननेमें क्या आपत्ति है ? संन्यासी ही कर्मत्याग करे, दूसरा नहीं, ऐसा व्यवहार नहीं है । 'स्त्रियां कर्मत्याग न करे', ऐसा कोई निषेधक वाक्य भी नहीं है, जिससे कि स्त्रियोंका कर्मत्याग अवैध समझा जाय । वस्तुतः स्त्रियोंका स्वतन्त्ररूपसे कर्ममें अधिकार नहीं है, किन्तु पतिके साथ ही कर्ममें अधिकार है । पतिके संन्यास लेनेपर स्त्री स्वतन्त्ररूपसे कर्म कैसे कर सकती है ? अतः कर्मका त्याग स्वतः प्राप्त होता है। हाँ, स्वतन्त्र फलकी इच्छासे पतिकी आज्ञा लेकर जो कुछ स्मार्त कर्म कर सकती है, वह भी फलकी इच्छा होनेपर ही । विषयमें दोषके दर्शन आदिसे यदि उसकी फलकी इच्छा ही निवृत्त हो जाय, तो कर्मसे निवृत्ति स्वाभाविक हो जायगी । संन्यास दो प्रकारका होता है—एक दण्डादिधारणपूर्वक सब कर्मोंका संन्यास कर चतुर्थाश्रमका ग्रहण करना और दूसरा फलत्यागपूर्वक केवल कर्मसंन्यास । प्रथम संन्यासमें उपवीतादिका नियम है, इसलिए उसमें स्त्रियोंका अधिकार नहीं है, यह कहना ठीक है, पर द्वितीय संन्यासमें कोई प्रतिबन्धक न होनेसे वह स्त्रियोंके लिए भी हो सकता है । स्वर्गादिफलविशेषमें आसक्तिपूर्वक जिन यागादि कर्मोंका अनुष्ठान कर पुरुष संसारमें बद्ध होता है, दोषदर्शनके अनन्तर ईश्वरार्पण-बुद्धिसे उन्हीं कर्मोंके अनुष्ठानसे बुद्धि शुद्ध होती है, इसीसे ज्ञानके निरतिशय फलका अर्थी ब्रह्मजिज्ञासु होता है ॥ १३ ॥

श्रुतिः—स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥ ४ ॥

निदिध्यासस्वेति शब्दात्सर्वत्यागफलं जगौ ।
नह्यन्यचिन्तामत्यक्त्वा निदिध्यासितुमर्हति ॥ १४ ॥
निरन्तरं विचारो यः श्रुतार्थस्य गुरोर्मुखात् ।
तन्निदिध्यासनं प्रोक्तं तच्चैकाग्र्येण लभ्यते ॥ १५ ॥
अनात्मन्यरुचिश्चित्ते रुचिश्चाऽऽत्मनि चेद्भवेत् ।
पुण्यपुञ्जेन शुद्धं तच्चित्तमैकाग्र्यमर्हति ॥ १६ ॥

'स होवाच' इत्यादि श्रुति । अरे, तुम पहले भी मेरी सती प्रिया थी, इस समय भी प्रिय ही भाषण कर रही हो । आओ, बैठो, तुम्हें अमृतसाधनका उपदेश देता हूँ, मेरे उपदेशवाक्योंका ध्यानपूर्वक श्रवण करो ॥४॥

'निदिध्यास०' इत्यादि । निदिध्यासन संन्यासका अन्वयव्यतिरेकसिद्ध फल है अर्थात् कर्मत्यागरूप संन्याससे चित्त एकाग्र होता है, यह अन्वय है । उक्त संन्यासके अभावसे निदिध्यासनका अभाव होता है, यह व्यतिरेक है । इस अन्वय-व्यतिरेकसे सिद्ध निदिध्यासनका 'निदिध्यासस्व' से अनुवाद करते हैं । अतः निदिध्यासन विधेय नहीं है । इसका इष्ट फल व्यतिरेकमुखसे दृढ़ करते हैं—'नह्य०' इत्यादिसे । तात्पर्य यह है कि सब कर्मोंका त्याग करनेसे किसी विहित कर्मके अनुष्ठानके लिए चित्त चञ्चल नहीं होता, अतः चित्तैकाग्र्य सिद्ध है, क्योंकि अन्यविषयक चिन्ताओंका त्याग न कर कोई भी निदिध्यासन नहीं कर सकता ॥१४॥

'निरन्तरम्' इत्यादिसे । गुरुमुखसे जो अर्थ सुना गया हो, उसका निरन्तर विषयान्तरसे अव्यवहित जो विचार है, उसको निदिध्यासन कहते हैं । 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' इस योगसूत्रका भी यही अर्थ है । उदाहरण—'तत्त्वमसि' इस वाक्यका जीवब्रह्माभेद अर्थ है, ऐसा गुरुमुखसे सुना, अनन्तर उसीकी निरन्तर लगातार चित्तवृत्तियाँ होती रहें, बीचमें अन्य विषयकी चित्तवृत्तियाँ न हों, उसको निदिध्यासन कहते हैं । दीर्घकालपर्यन्त उक्तार्थविषयक चित्तवृत्ति एकाग्रताके बिना नहीं हो सकती, अतः यह निदिध्यासन चित्तैकाग्र्यसे ही लब्ध होता है ॥ १५ ॥

'अनात्मन्य०' इत्यादि । अनात्मभूत (आत्मभिन्न) निखिल पदार्थोंमें जो अरुचि (अप्रीति) और आत्मामें पूर्ण रुचि—परम प्रेम—होता है; वह पूर्व जन्मोंके पुण्य-पुञ्जसे ही होता है । जिनको पूर्व जन्मका पुण्यपुञ्ज नहीं रहता, उनको अनवरत

शुद्धाऽङ्कुरितमैकाग्र्यं विवेकेनाऽभिवर्द्धयेत् ।
प्रियाप्रियविवेकोऽतो मैत्रेय्या उपदिश्यते ॥ १७ ॥

श्रुतिः—स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति । न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति । न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति । न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति । न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति

सुननेपर भी उस प्रकारकी रुचि नहीं होती । चित्तशुद्धि एवंभूत रुचिके होनेपर ही मानी जाती है । परिशुद्ध चित्त ही एकाग्र होता है । और शुद्ध चित्त पुण्यसे होता है, वह चाहे इस जन्मका हो या अन्य जन्मका । इसीसे शास्त्रमें लिखा है—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' ॥ १६ ॥

'शुद्धाऽ०' इत्यादि । विषयोंमें दोषभावनासे चित्त विषयाभिलाषसे पराङ्मुख होता है और नित्य निरतिशय मोक्षरूप फलके लिए उत्सुक होता है, उसके बाद श्रुत आत्मदर्शनोपायकी इच्छा होती है, आत्मदर्शन चित्तशुद्धिके बिना नहीं हो सकता, इसलिए चित्तशुद्धिकी कामनासे उसके साधनत्वरूपसे श्रुत नित्य कर्मानुष्ठानमें निरभिसन्धि प्रवृत्ति होती है । उक्त कर्मसे चित्तैकाग्र्य अङ्कुरित होता है। उसके अङ्कुरित होनेसे ही फल सिद्ध नहीं होता, किन्तु उसको बढ़ानेका प्रयास सतत करना चाहिए, अन्यथा एकाग्रताका अङ्कुर पुनः विषयवासनासे परिशुष्क हो जाता है। अतः प्रमादादिनिरासके द्वारा उसकी वृद्धिका उपाय प्रियाप्रियविवेक सतत करना चाहिए । अतः महर्षि स्वयं सहृदय होकर प्रियाप्रियका विवेक करते हैं ॥१७॥

'स होवाच' इत्यादि श्रुति ।

अरे मैत्रेयि, पतिकी प्रीतिके लिए स्त्रीको पति प्रिय नहीं होता, किन्तु अपनी प्रीतिके लिए पति स्त्रीको प्रिय होता है । पतिके द्वारा स्त्रीको सुख होता है, अतः स्त्री स्वसुखके लिए ही पतिसे प्रेम करती है। एवं जाया (स्त्री) की प्रीतिके लिए पतिको स्त्री प्रिय नहीं होती, किन्तु पतिको स्त्रीसे सुख होता है, इसलिए

आत्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति आत्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति । न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन सर्वमिदं विदितम् ॥ ५ ॥

पतिजायादिभोग्येषु भोक्तर्यात्मनि चेक्ष्यते ।
प्रीतिस्तत्र क्व मुख्येयं क्व चाऽमुख्येति चिन्त्यताम् ॥ १८ ॥

पति स्वसुखके लिए ही स्त्रीसे प्रेम करता है। एवं पुत्रकी प्रीतिके लिए पुत्र प्रिय नहीं होता, किन्तु अपनी प्रीतिके लिए पुत्र प्रिय होता है। धनकी कामनाके लिए धन प्रिय नहीं होता, किन्तु आत्म-कामनाके लिए धन प्रिय माना जाता है। एवं ब्रह्मकी कामनाके लिए ब्रह्म प्रिय नहीं होता, किन्तु आत्मकामनाके लिए ब्रह्म प्रिय होता है। क्षत्रियकी कामनाके लिए क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, आत्म-कामनाके लिए क्षत्रिय प्रिय होता है। लोककी कामनाके लिए लोक प्रिय नहीं होता, आत्मकामनाके लिए ही लोक प्रिय होता है। एवं देवताओंकी कामनाके लिए देवता प्रिय नहीं होते, आत्मकामनाके लिए ही देवता प्रिय माने जाते हैं। एवं भूतोंकी कामनाके लिए भूत प्रिय नहीं होते, किन्तु अपनी कामनाके लिए भूत प्रिय होते हैं। कहाँ तक कहें, सबकी कामनाके लिए सब प्रिय नहीं होते, किन्तु आत्माकी कामनाके लिए सब प्रिय माने जाते हैं। अरे मैत्रेयि, आत्मा द्रष्टव्य है, अर्थात् आत्माको देखना चाहिए, आत्मा श्रोतव्य—श्रवण करनेके योग्य है, मन्तव्य—मनन करनेके योग्य और निदिध्यासन करनेके योग्य है, हे मैत्रेयी, आत्माके दर्शनसे, श्रवणसे, मननसे, विज्ञानसे यह सब प्रपञ्च विदित हो जाता है ॥ ७ ॥

'पतिजायादि०' इत्यादि। पति, जाया आदि भोग्य पदार्थोंमें और भोक्ता आत्मामें प्रीति देखी जाती है। इसमें विचार यह करना है कि मुख्य और गौणके भेदसे प्रिय पदार्थ दो प्रकारके होते हैं—मुख्य प्रिय आत्मा भोक्ता है और गौण प्रिय भोग्य जाया, पति, पुत्र आदि अनात्मा हैं। शब्दादि पदार्थ न स्वयं प्रिय हैं और न स्वयं अप्रिय हैं, किन्तु अनुरक्त पुरुषके शब्द प्रिय होते हैं और द्वेषयुक्त पुरुषके शब्द अप्रिय

सदा भूयासमेवाऽहं मा न भूवं कदाचन ।
इत्यनौपाधिकी प्रीतिः प्राणिनामात्मनीक्ष्यते ॥ १९ ॥

होते हैं । इससे सामान्यतः यही ज्ञात होता है कि अनात्मभूत जितने पदार्थ हैं, वे सब आत्माके मोहके कारण होनेसे अप्रिय और आत्माके सुखके भी कारण होनेसे प्रिय कहे जाते हैं । एवं जायादि भी आद्यन्तवान् होनेसे दुःखकारी प्रसिद्ध ही हैं, किन्तु कुछ काल तक आत्माके सुखके कारण होते हैं, इसलिए प्रिय भी कहे जाते हैं । किसी अवस्थामें आत्मा अपनेको अप्रिय नहीं जंचता, इसलिए मुख्य प्रिय आत्मा है । जायादि समयपर प्रिय और समयपर अप्रिय भी प्रतीत होते हैं, अतः प्रिय और अप्रिय दोनों हैं ।

शङ्का—जायादि अनात्म पदार्थ यदि स्वतः अप्रिय हैं, तो आत्मार्थत्वरूपसे प्रिय भी नहीं हो सकते, अन्यमें अन्यभाव नहीं होता, जो देवदत्तके लिए घट है, वह मैत्रके लिए पट नहीं हो सकता है ।

समाधान—माणवक (बालक) यद्यपि अग्निस्वरूप नहीं है, तथापि उसमें तेजस्वित्वादि धर्मसे अग्निका गौण व्यवहार होता हैं । 'अग्निरनुवाकमधीते' यहांपर वास्तविक अग्नि जड़ पदार्थ है, अतः वह अनुवाकका अध्ययन नहीं कर सकता और अध्ययन करनेवाला बालक है, वह अग्नि नहीं है, फिर भी विद्वानोंका भी 'अग्निरनुवाकमधीते' इत्यादि प्रयोग देखा जाता है, इसलिए यह माना जाता है कि बालकमें अग्निशब्दका गौण प्रयोग होता है, एवं अनात्म जायादि पदार्थोंमें प्रियशब्दका गौण प्रयोग होता है ॥ १८ ॥

'सदा भूयास०' इत्यादि । मैं सतत बना रहूँ, ऐसा समय न आवे कि मैं न रहूँ, इससे अनौपाधिकी प्रीति हर एक प्राणीकी आत्मामें देखी जाती है, ऐसा सुख संसारमें कोई नहीं है, जो दुःखद न हो, अन्ततः जिन-जिन साधनोंसे सुख होता है, वे साधन अप्राप्तिदशामें, विच्छेददशामें एवं विनाशदशामें दुःखद होते हैं, यह सर्वानुभवसिद्ध है । अतएव शास्त्रकारोंने स्पष्ट कहा है कि

'क्षयान्ता निचयाः सर्वे पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥'

जिन साधनोंसे सुख होता है, वे सब परिणाममें दुःखद होते हैं, क्योंकि

स्वसम्बन्धोपाधिनैव भोग्ये प्रीतिर्न तु स्वतः ।
अन्यथा वैरिभोग्येऽपि भोग्यत्वात् प्रीतिरापतेत् ॥ २० ॥
ननु द्वेषोऽपि वैर्यादावात्मसम्बन्धतो भवेत् ।
वैरिवैरिण्यपि द्वेषः प्रसज्येताऽन्यथेति चेत् ॥ २१ ॥

साधन क्षयी हैं, इसलिए सम्पूर्ण वैषयिक सुखोंका त्याग करके आत्यन्तिक आत्मसुखका आश्रयण करना चाहिए। वेदान्तशास्त्रका यह उपदेश है कि सांसारिक सुख आपाततः अविवेकियोंको परम ईप्सित होता है। उसको परिणाममें दुःख समझ कर उससे प्रीति हटाकर निरतिशय सुखस्वरूप आत्मामें ही प्रीति करनी चाहिए, जैसे शुक्तिमें रजतका भ्रम होता है, वस्तुतः वह रजत है नहीं, पर भ्रमदशामें उसके लाभसे सुख होता है, अन्तमें दुःख नियत है, वैसे ही पति, जाया आदिमें सुखके होनेपर भी अन्तमें दुःख ही है ॥ १९ ॥

'स्वसम्बन्धो०' इत्यादि। किसीका मत यह है कि भोग्य पदार्थोंमें भोग्य-स्वरूपनिमित्तक ही प्रीति होती है, आत्मोपाधिक नहीं, स्त्रगादि भोग्य हैं, एतावत् ज्ञानमात्रसे उसमें स्वाभाविक भोक्ताओंकी प्रीति होती है, परन्तु यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि स्ववैरीके भोग्य पदार्थोंमें प्रीति नहीं होती; प्रत्युत उसको देखकर दुःख होता है। यदि स्वरूपतः भोग्यपदार्थोंमें ही प्रीति होती, तो वैरीके भोग्योंमें भी प्रीति होती, पर होती नहीं, इसलिए आत्मोपाधिक ही भोग्यमें प्रीति मानी जाती है। सारांश यह है कि जैसे 'तप्तायःपिण्डमें' यह स्फुट देखा जाता है कि अग्निगत ताप, प्रकाश आदि लौहमें भी प्रतीत होते हैं, वैसे ही प्रियविशिष्ट आत्मसंबन्धसे जायादिमें भी प्रीतिका भान होता है, वास्तविक प्रेमभाव नहीं होता ॥ २० ॥

'ननु द्वेषो०' इत्यादि।

शङ्का—यदि जाया आदि प्रिय होनेपर भी वास्तविक प्रीति जायादिगत नहीं मानते, किन्तु आत्मौपाधिक ही प्रीति अनात्म पदार्थोंमें मानते हैं, कारण कि वे सब आत्माके बन्धके कारण होनेसे परिणाममें दुःखकर हैं। संसारदशामें विवेकके न रहनेसे कुछ समय तक आत्मप्रीतिकर हैं, इसलिए उनमें आत्मौपाधिक ही प्रेम है। यदि ऐसा मानते हो, तो वैरीमें जो द्वेष होता है, सो भी साक्षात् वैरि-गत नहीं है, किन्तु आत्मसंबन्धसे उसमें द्वेषका भान होता है, ऐसा वहाँ भी

बाढं तथाऽप्ययं दोषो नाऽऽत्मनि द्वेषसाधकः ।
प्रत्युत प्रीतिमेवात्मन्यसौ द्वेषोऽपि साधयेत् ॥ २२ ॥

कह सकते हैं ? यदि स्वरूपतः उसमें द्वेष होता, तो उसके पुत्र, भार्य्या आदिको भी उसमें द्वेषका भान होना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं, इसलिए यह कह सकते हैं कि स्वशत्रुमें जो द्वेषका भान होता है, वह द्वेष वस्तुतः शत्रुगत नहीं है, किन्तु आत्मसम्बन्धसे ही प्रीत्यादिवत् उसका भी भान आत्मौपाधिक ही है । वस्तुतः द्वेष शत्रुमें है और प्रेम आत्मौपाधिक है, इसमें कुछ विनिगमक प्रमाण नहीं है । इस परिस्थितिमें प्रतीतिके तुल्य होनेसे जैसे आत्मामें प्रीति मानकर उसके संबन्धसे जायादिमें प्रीति औपाधिक कहते हैं, वास्तविक नहीं, वैसे ही आत्मामें वास्तविक द्वेष भी मानना चाहिए । उसके संबन्धसे वैरीमें द्वेषकी प्रतीति होती है, यह न्यायतः प्राप्त है । ऐसी परिस्थितिमें अनात्मपदार्थके समान ही आत्माको भी प्रिय और अप्रिय मानना चाहिए, फिर मुख्य प्रेम आत्मामें ही है, अनात्मामें नहीं, क्योंकि अनात्म पदार्थ प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकारके समय-समयपर देखे जाते हैं । परन्तु यह दलील ठीक नहीं है, क्योंकि अनात्माके समान ही आत्मा भी प्रिय और अप्रिय समयभेदसे होता है, अतएव अपने शत्रुमें द्वेष होता है, शत्रुके शत्रुमें द्वेष नहीं होता । यदि अपनी स्वार्थहानि हुई हो, तो स्वापकारसे उसमें स्वतः ही द्वेष हो जाता है । यदि शत्रुमें द्वेष स्वाभाविक मानोगे, तो शत्रुका-शत्रु, जो अपना शत्रु नहीं है, उसमें भी द्वेषकी प्रसक्ति हो जायगी, इसलिए प्रीतिके समान द्वेषको भी औपाधिक ही मानना चाहिए ॥ २१ ॥

'बाढं तथाऽप्ययम्' इत्यादि । स्वसम्बन्धी वैरीमें ही द्वेष होता है, वैरीके वैरीमें नहीं होता, यह आपका कहना मानते हैं । 'बाढम्' शब्द स्वीकारका बोधक है ।

शङ्का—तब तो आत्मामें प्रीतिके समान द्वेषको भी स्वाभाविक मानना चाहिए ।

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं,

शङ्का—क्यों ?

समाधान—'एषोऽस्य परमानन्दः' 'आनन्दस्यैष सीमा' 'यो वै भूमा तत्सुखम्', 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि सैकडों श्रुतियोंसे आत्मा परमप्रेमास्पद है, यह निश्चित हो चुका है । एवं 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्' इत्यादि सुप्तोत्थितके

वैरिदुःखप्रदानेन प्रीतेराच्छादकत्वतः ।
द्विष्यते तेन स द्वेषः प्रीतेरात्मनि कल्पकः ॥ २३ ॥
एवं विचारतः पुंस आत्मा प्रेयाननात्मनः ।
मूढस्तु तद्विपर्यासात् प्रेयः पुत्रादि मन्यते ॥ २४ ॥

परामर्शसे श्रौतार्थ तय हो चुका है, अतः उसके विरुद्ध दुःखरूपत्वकी कल्पना आत्मामें नहीं की जा सकती, स्ववैरिद्वेष आत्मामें स्वाभाविक द्वेषका साधक नहीं हो सकता; प्रत्युत आत्मा सुखस्वरूप है, इसीका साधक होता है ॥ २२ ॥

'वैरिदुःख०' इत्यादि । परस्परके अपकार द्वारा जो दोनोंके हृदयमें दुःख होता है, उसीसे परस्पर द्वेष होता है; यह द्वेष आत्मामें अप्रीत्यात्मकत्वका साधक यदि माना जाय, तो उपकार द्वारा जाया आदिमें जो प्रीति होती है, वह आत्मौपाधिक है, ऐसा मानकर आत्मा प्रीत्यात्मक है, यह जैसे व्यवस्था की जाती है, वैसे ही शत्रुमें जो द्वेष होता है, सो भी आत्मौपाधिक है, ऐसा मानकर आत्माको अप्रीत्यात्मक भी कह सकते हैं । इस आक्षेपका उत्तर देते हैं कि वैरीकी आत्मामें जो दुःखप्रदान होता है, वह शत्रुगत आत्मप्रीतिका आच्छादक होता है, अर्थात् दुःखसे आत्मगत प्रीति तिरोहित हो जाती है, इसलिए उस पुरुषके प्रति वह आत्मा प्रीतिस्वरूप प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत प्रीतिके तिरोधानसे अपकारादि द्वारा अप्रीतिकी प्रतीति होती है, इसलिए उसमें द्वेष होता है । यद्यपि दुःखप्रदान स्वतः दुःसह है, इसलिए वैरीमें द्वेष होता है अथवा स्वतः-सिद्ध आत्मप्रतीतिके आच्छादकरूपसे द्वेष होता है, ऐसे पक्ष प्रतीत होते हैं, तथापि द्वितीय पक्ष ही युक्तियुक्त है, कारण कि उक्त श्रुतियोंसे तथा सुप्तोत्थितके 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्' इत्यादि सर्वानुभवसिद्ध सौषुप्तिक परामर्शसे आत्मा परमप्रेमास्पद है, यह तय किया जा चुका है, अतः द्वितीय पक्षकी व्यवस्था ही समुचित है ॥ २३ ॥

'एवं विचारतः' इत्यादि । पूर्वोक्त रीतिसे विचार करनेवाले पुरुषको अनात्मपदार्थोंकी अपेक्षा यद्यपि आत्मा ही परम प्रेमास्पद है, तथापि उस प्रकारके विवेकसे रहित मूढ़ पुरुष पुत्रादि अनात्मपदार्थोंको जो साक्षात् प्रिय समझते हैं, वह उनका विपर्य्यास (भ्रम) है । इस मतके निराकरणके लिए श्रुति उपदेश देती है कि वास्तविक प्रेमास्पद आत्मा है; आत्माके जो अनुकूल हैं;

अविचारेण पुत्रादौ या प्रीतिस्तां विचारतः ।
आत्मन्येवोपसंहृत्य चित्तैकाग्र्यं विवर्द्धयेत् ॥ २५ ॥
ऐकाग्र्यमचलं कृत्वा निदिध्यासनकारणम् ।
आत्मा द्रष्टव्य इत्येतत्सूत्रं व्याख्यातुमाददे ॥ २६ ॥

वह प्रिय होता है; जो प्रतिकूल होता है, वह अप्रिय माना जाता है । अतएव प्रियत्व और अप्रियत्व अव्यवस्थित हैं; कोई पदार्थ किसीके प्रति अनुकूल होनेसे प्रिय होता है और कोई प्रतिकूल होनेसे अप्रिय होता है । यह अव्यवस्था प्रत्यक्ष देखी जाती है—ग्रीष्मकालमें शीत प्रिय मालूम होता है, और शीतकालमें वही अप्रिय मालूम होता है; एवं शीतकालमें सौर ताप प्रिय प्रतीत होता है, किन्तु ग्रीष्मकालमें अप्रिय प्रतीत होता है, इसलिए किसी भी पदार्थमें प्रियत्व और अप्रियत्व व्यवस्थित नहीं हैं, किन्तु आत्मौपाधिक ही प्रियत्व है । यद्यपि उक्त न्यायसे अप्रियत्वको भी आत्मामें स्वाभाविक मानना चाहिए, तथापि पूर्वोक्त श्रुति और सुप्तोत्थित परामर्शके अनुसार आत्मा परम प्रेमास्पद है, उससे भिन्न अनात्मभूत पति, पुत्र आदि स्वतः बन्धकत्वरूपसे अप्रेमास्पद हैं अर्थात् आत्मा प्रीत्यात्मक और अनात्मा अप्रीत्यात्मक है । यह आत्मा और अनात्माके वास्तविक स्वरूपका निर्णय है । कहीं आत्मामें अप्रीति और अनात्मामें प्रीतिकी जो प्रतीति देखी जाती है, वह औपाधिक है, स्वाभाविक नहीं है, यह वेदान्तशास्त्रकी व्यवस्था है ॥ २४ ॥

'अविचारेण' इत्यादि । विचारसे पूर्व संसारियोंकी जो पुत्रादिमें प्रीति होती है, उस प्रीतिका उक्त विचार द्वारा आत्मामें उपसंहार करके चित्तकी एकाग्रता बढ़ानी चाहिए । प्राणिमात्र सुख चाहता है; सुखका ही सदा अन्वेषण करता है, परन्तु सुखका निदान उपनिषत्के उपदेशके बिना कोई जान नहीं सकता, इसीसे अनेक संप्रदायोंकी वृद्धि हुई, पर यथार्थ सुख छिपा ही रह गया । श्रुतिसे यह निश्चय होता है कि वास्तविक सुख आत्मा ही है, इसलिए सब जगहसे चित्तको हटाकर आत्मामें ही लगाना चाहिए अर्थात् अन्य विषयोंकी चिन्ताका त्यागकर चित्तको सर्वथा एकाग्र करना चाहिए, एकाग्र चित्तमें आत्माका प्रकाश होता है ॥२५॥

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि वाक्यका तात्पर्य कहते हैं—**'ऐकाग्र्य०'** इत्यादिसे ।

अनेक जन्मोंमें अनुष्ठित सुकृतसे जिनका चित्त शुद्ध हो जाता है, उनको उक्त

आहाऽऽत्मशब्दः प्रत्यञ्चं तथा लोकेऽनुभूतितः ।
अनेनाऽत्राऽऽत्मशब्देन प्रमेयं निर्दिदिक्षितम् ॥ २७ ॥
द्रष्टव्य इति निर्दिष्टा प्रमितिर्दर्शिताऽधुना ।
अज्ञातज्ञापनं तव्यप्रत्ययेनाऽभिधीयते ॥ २८ ॥

युक्ति और अनुभवसे आत्मप्रतीतिका उपसंहार करके आत्मामें ही वक्ष्यमाण विचारका साधन चित्तैकाग्रताका संपादन करना चाहिए, उन्हींके विचारके लिए 'आत्मा वा' इत्यादि वाक्य प्रवृत्त है। जो समाहितचित्त नहीं हैं, वे प्रकृत वाक्यार्थके बोधके अधिकारी भी नहीं हैं और जो उक्त युक्ति और अनुभवसे चित्तकी एकाग्रताका सम्पादन कर चुके हैं, उनके लिए 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि वाक्य आत्मविचारका सूत्र है। प्राचीन विद्वानोंने सूत्रका लक्षण ऐसा किया है—

'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥'

अल्पाक्षर, असन्दिग्ध और अनेकार्थका प्रतिपादक जो होता है, वह सूत्र कहा जाता है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस वाक्यमें उक्त लक्षण स्पष्ट है, इसलिए यह वाक्य सूत्र कहा गया है ॥ २६ ॥

'**आहाऽऽत्मशब्दः**' इत्यादि। यहांपर आत्मशब्द प्रत्यगात्माका बोधक है, क्योंकि लोकमें उक्त शब्द उक्त अर्थमें अनुभूत—अनुभवसिद्ध—है। 'अहं जानामि', 'अहं ब्रवीमि' इत्यादि लौकिक प्रतीति उक्तार्थके बोधनके लिए प्रसिद्ध है। इस आत्मशब्दसे वेदान्तशास्त्रका प्रमेय निर्दिदिक्षित—निर्देशेच्छाविषय—है अर्थात् वेदान्त शास्त्रके प्रमेयके निर्देशकी इच्छासे आत्मशब्दका प्रयोग किया गया है। इससे आत्मव्यतिरिक्त ब्रह्मका वेदान्तसे प्रतिपादन करना अभीष्ट है, इस भ्रमका अवकाश नहीं है। आत्मा ही यहाँ प्रमेय है—अन्य नहीं है ॥ २७ ॥

द्रष्टव्य यहांपर प्रकृत्यर्थका निर्देश करते हैं—'**द्रष्टव्य**' इत्यादिसे।

द्रष्टव्यमें तव्यप्रत्ययकी प्रकृति दृश्धातु है, उसका अर्थ ज्ञान है। ज्ञान प्रमात्मक विवक्षित है, भ्रमात्मक नहीं। तव्यप्रत्ययसे अज्ञातज्ञापनरूप विधि कही गई है ॥२८॥

यदि आत्मज्ञान लोकानुभवसिद्ध है, तो प्रकृतमें वह विधित्सित है, ऐसा कहना असंगत है, कारण कि वह ज्ञात ही है; ज्ञातज्ञापन तो अनुवाद हो

अज्ञात आत्मा वेदान्तजन्यज्ञानेन मीयते ।
इत्येवैषोऽत्र वाक्यार्थो नाऽप्रवृत्तप्रवर्तनम् ॥ २९ ॥
नन्वहम्प्रत्ययेनाऽऽत्मा वेदान्तश्रवणात् पुरा ।
विज्ञात इति चेत् मैवं सार्वात्म्यानवबोधनात् ॥ ३० ॥

सकता है, विधि नहीं, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—**'अज्ञात'** इत्यादिसे।

यद्यपि अहंप्रतीतिसे सिद्ध आत्मा ही यहांपर ज्ञेयत्वरूपसे विवक्षित है, तथापि भेद यह है कि उक्त प्रतीतिसिद्ध आत्माको लोग प्रतिव्यक्ति व्यावृत्त मानते हैं और वेदान्तका उपदेश है कि उक्त प्रतीतिसिद्ध आत्मा सर्वात्मा है। इसलिए सामान्यतः आत्मा तो प्रसिद्ध है, परन्तु विशेषरूपसे अज्ञात है। वेदान्त उसका विशेषरूपसे बोधन कराता है, अतः अज्ञातज्ञापकत्वरूप विधि होनेमें कोई आपत्ति नहीं है। विधि दो प्रकारकी होती है—एक अप्रवृत्तप्रवर्तक, जैसे 'जुहुयात्, यजेत' इत्यादि। यह विधि कार्यविषयक है। दूसरी अज्ञातज्ञापनरूप सिद्धार्थविषयक है, वह वाक्यमें मानी जाती है। जैसे प्रकृतमें ब्रह्म कार्य नहीं है और न कार्यान्वित ही है, इसलिए उसके विषयमें अप्रवृत्तप्रवर्त्तनरूप विधि नहीं हो सकती, किन्तु अज्ञात-ज्ञापनरूप ही विधि हो सकती है। जो 'प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा' इत्यादि वचनके अनुसार प्रवर्त्तक वाक्यमें ही विधि मानते हैं, उनके मतका पूर्वमें ही विशेषरूपसे निराकरण कर चुके हैं, इसलिए फिर यहांपर विशेषरूपसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है। निष्कर्ष यह निकला कि सप्रयोजन वाक्यमें विधि होती है, निष्प्रयोजनमें नहीं। प्रयोजन कहीं कर्तव्य अर्थके उपदेशके अनन्तर उसके अनुष्ठान द्वारा सिद्ध होता है, कहीं ज्ञानमात्रसे सिद्ध होता है, अतः वहाँ कर्तव्य अर्थके उपदेशकी आवश्यकता नहीं होती। जैसे रज्जुमें सर्पभ्रान्तिके समय कोई भय, कम्प आदिसे व्याकुल होता है, वहांपर 'रज्जुरेषा न भुजङ्गमः' केवल इसी वाक्यसे उक्त भय, कम्प आदिकी निवृत्ति होनेसे यह वाक्य सप्रयोजन माना जाता है, वैसे ही वास्तविक सांसारिक दुःख अपनेमें मानकर जो अतिदुःखी होते हैं, उनके प्रति 'न त्वं संसारी, किन्तु प्रकाशानन्दब्रह्मस्वरूपः' (तुम संसारी नहीं हो, किन्तु स्वप्रकाश ब्रह्मरूप हो) इत्यादि बोधनमात्रसे सकल क्लेशोंसे मुक्ति हो जाती है। इसलिए यह भी सप्रयोजन है, इत्यादि विशेषरूपसे पूर्वमें कह चुके हैं ॥ २९ ॥

'नन्वहम्' इत्यादि ।

लिङ्गदेहपरिच्छेदरूपग्राहिण्यहम्मतिः ।
सार्वात्म्यमात्मनस्तत्त्वं तदज्ञातमहंधिया ॥ ३१ ॥

शङ्का—आप कहते हैं कि अज्ञातज्ञापकत्वरूपसे वेदान्तवाक्यमें भी विधि है, सो ठीक नहीं है, कारण कि वेदान्तश्रवणसे पूर्व 'अहम्' इत्याकारक प्रत्यय होनेसे आत्मा ज्ञात ही है, अज्ञात नहीं है, अतः उक्तरूप विधि भी वेदान्तवाक्यमें नहीं हो सकती ।

समाधान—अहंप्रत्ययसे वेदान्तवेद्य आत्माकी प्रतीति नहीं होती । हम इसी मकानमें हैं, हम श्याम हैं, हम शुक्ल हैं इत्यादि प्रतीतिसे शरीरान्तःकरणादिसाधारण अहंप्रत्ययका भान होनेसे अकर्ता, अभोक्ता, स्वप्रकाशानन्द और उदासीन आत्माका ज्ञान उक्त प्रत्ययसे असिद्ध है, अतः उसके साधक वेदान्तवाक्यमें उक्त स्वरूपविधि अक्षुण्ण है । सर्वान्तरत्वका बोधन उक्त अर्थमें उपलक्षण है । जो सर्वान्तर है, वह किसी शरीरसे सुख या दुःख आदिका अनुभव नहीं कर सकता अथवा अहमाकार-वृत्तिसे प्रतिव्यक्ति व्यावृत्त जो आत्मा कहा गया है, वेदान्त द्वारा वही सर्वात्मा कहा गया है, इससे अज्ञातज्ञापकत्व स्पष्ट बोधित होता है । अतः 'एष आत्मा सर्वान्तरः' इत्यादि वाक्य संगत होते हैं ॥ ३० ॥

उक्तार्थका ही स्पष्टीकरण करते हैं—'लिङ्गदेह०' इत्यादिसे ।

दश इन्द्रियाँ, पांच प्राण, मन और बुद्धि—इन सप्तदश पदार्थोंसे युक्त सूक्ष्म शरीर, जो सर्गादिसे सर्गान्ततक नियत एक ही रहता है, और स्थूल देह ये दोनों परिच्छिन्न हैं । एवं श्यामादिरूप अन्तःकरणादिसाधारण अहंप्रतीति होती है, 'अहमिहैवाऽस्मि सदने जानानः' इत्यादि प्रत्यय लोकमें प्रसिद्ध है, अतः यह प्रतीति केवल आत्मविषयक नहीं कही जा सकती, 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मा व्यापक, अपरिच्छिन्न कहा गया है और 'अहं श्यामः' इत्यादि प्रतीति देहविषयक होनेसे स्पष्ट ही अनात्मविषयक है । 'सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि' इत्यादि गीतावाक्यसे सार्वात्म्यज्ञान ही यथार्थ आत्मविषयक है, ऐसा निश्चित हो चुका है, सो आत्मतत्त्वके प्रतिपादक वेदान्त-वाक्यजन्य बोधसे पूर्व अहमाकारधीसे अज्ञात ही है, अतः वेदान्तवाक्य अज्ञात-ज्ञापकत्वरूपसे प्रतिपिपादयिषित आत्मतत्त्वमें प्रमाण हैं । ब्रह्मसे अभिन्न आत्मा है, यह छान्दोग्यके भूमाप्रकरणमें स्पष्ट कहा गया है । वहाँ नामसे लेकर

सर्वासूपनिषत्स्वेतत्सार्वात्म्यं प्रतिपाद्यते ।
कार्यज्ञेयसमाप्तिः स्यात् सार्वात्म्यस्याऽवबोधतः ॥ ३२ ॥
नाऽविध्वस्तं तमोऽत्राऽस्ति न च ज्ञानमनुत्थितम् ।
नाऽनिवृत्तस्तथाऽनर्थो नाऽनवाप्तं सुखं तथा ॥ ३३ ॥

प्राणपर्यन्तको उत्तरोत्तर भूमा (बड़ा) बतलाकर आत्माको ही सबसे बड़ा बतलाया है । भूमाको ही जानना चाहिए । भूमाका लक्षण किया है—'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' । इस वाक्यसे अद्वितीय आत्मा ही ज्ञेय है, यह स्पष्ट सिद्ध होता है । द्वितीयके न रहनेसे ज्ञेय और ज्ञाताका भेद समाप्त हो जाता है । अतएव नियोज्यादिभेद न होनेसे विधि नहीं हो सकती, यह भी सुखसे सिद्ध होता है ॥ ३१ ॥

'सर्वासू०' इत्यादि। सब उपनिषदोंमें ऐसा प्रतिपादन किया गया है कि सबका आत्मा एक ही है, उसीमें अविद्यासे द्वैत कल्पित है। उसका साक्षात्कार होनेपर कार्य और ज्ञेय दोनोंकी समाप्ति हो जाती है । जबतक अद्वैतात्मसाक्षात्कार नहीं होता, तभीतक आविद्यिक द्वैतका भान होनेसे क्रिया, कर्ता, ज्ञाता और ज्ञेय आदिका भेद रहता है, अतः कार्य और ज्ञेयकी समाप्ति नहीं होती । उक्त साक्षात्कारके अनन्तर उक्त दोनोंकी समाप्ति हो जाती है और कृतकृत्य तथा ज्ञातज्ञेय हो जाता है, न कोई कर्तव्य ही अवशिष्ट रहता है और न ज्ञातव्य ही रहता है, सर्वथा अनात्मपदार्थसे पुरुष मुक्त हो जाता है ॥ ३२ ॥

उक्तार्थका ही प्रपञ्च करते हैं—**'नाऽविध्वस्तम्'** इत्यादिसे ।

अद्वैतात्मसाक्षात्कारवाले पुरुषमें कोई अज्ञान ऐसा नहीं है, जो ध्वस्त न हो चुका हो अर्थात् सब तूलमूलादि भेदसे भिन्न अज्ञान नष्ट हो जाते हैं, अनुत्थित ज्ञान भी कोई नहीं रहता । अज्ञाननाशके लिए ज्ञानोत्पत्तिकी आवश्यकता होती है, जब कोई अज्ञान अध्वस्त है नहीं, तो फिर किस प्रयोजनके लिए ज्ञानोत्थानकी आवश्यकता कह सकते हैं । एवं कोई भी अनर्थ दुःख अनिवृत्त नहीं होता, किन्तु समस्त ऊँचा नीचा दुःख निःशेष निवृत्त हो जाता है । सुख भी कोई अनवाप्त नहीं है, किन्तु सब अवाप्त ही है । असलमें सब सुख आत्मसुखके ही लेश हैं । 'एतस्यैवानन्दस्यान्ये मात्रामुपजीवन्ति' इत्यादि श्रुतिसे यह सिद्ध हो चुका है, अतः आत्मसुख प्राप्त होनेपर कोई सुख अनाप्तव्य नहीं रहता ।

इत्यज्ञातज्ञापनाख्यो विधिरत्रोपवर्णितः ।
अप्रवृत्तप्रवृत्त्याख्यो विधिर्नाऽत्रोपपद्यते ॥ ३४ ॥
विधेयं वा फलं वाऽस्य न सम्भवति किञ्चन ।
ब्रह्म तद्धीस्तदभ्यास उपायो वा विधीयताम् ॥ ३५ ॥

कोई सुख है ही नहीं, तो अनवाप्तव्य कैसे हो सकता है ? इसलिए उक्त कार्य और ज्ञेयकी समाप्ति हो जाती है। छान्दोग्य-उपनिषत्का और अन्यान्य सभी उपनिषदोंका उक्त आत्मतत्त्वमें तात्पर्य है। अतएव बृहदारण्यकमें 'ब्रह्मैवेदममृतम्' इत्यादि वाक्यसे इदंपदोक्त अशेष आत्मभिन्न जगत् ब्रह्म ही है, ऐसा कहा गया है, यहांपर सामानाधिकरण्य बाधामें है। श्रुतियोंमें परस्पर संवाद होनेसे उक्त आत्मस्वरूपमें प्रामाण्य सुस्थिर है, मूर्तामूर्तके निषेधसे, पृथक् अभावका भी निषेध करनेसे और 'सर्वमात्मैवाभूत्' (सब आत्मा ही है) ऐसी व्यवस्था करनेसे अद्वैत आत्मा ही बृहदारण्यक आदिको भी अभीष्ट है ॥ ३३ ॥

'इत्यज्ञात०' इत्यादि। प्रमाणान्तरसे अज्ञात जो अद्वैत आत्मा है तज्ज्ञापकत्व रूप विधि वेदान्तवाक्यमें है। अप्रवृत्तप्रवर्तनाख्यरूप विधिकी यहां उपपत्ति ही नहीं हो सकती। भावार्थ यह है कि उपनिषत् सिद्धब्रह्मार्थबोधक होनेसे कर्तव्यार्थोपदेशक नहीं है, अतः पुरुषार्थोपदेशक न होनेसे 'सोऽरोदीत्' इत्यादि वाक्यके समान उसमें आनर्थक्यप्रसक्ति होगी, इसलिए उसके परिहारके लिए 'बर्हिषि रजतं न देयम्' के साथ एकवाक्यता करके जैसे अर्थवादवाक्य प्रमाण माना जाता है; वैसे ही उपनिषद्वाक्यका स्वप्रकरणस्थ उपासनादि क्रियाके साथ अन्वय मानकर उसके साथ एकवाक्यतासे उसको प्रमाण मानना चाहिए। कहीं भी विधिके स्पर्शके बिना वेदवाक्यमें प्रामाण्य दृष्ट नहीं है, यह प्रभाकरमतानुयायियोंका आक्षेप है, इसका उत्तर पूर्वमें विशेषरूपसे दे चुके हैं, अतः यह संक्षेपसे उत्तर दिया जाता है। विधि दो प्रकारकी होती है—एक अज्ञातज्ञापकत्व और दूसरी अप्रवृत्तप्रवर्तकत्व। द्वितीय विधिका उपनिषत्में संभव नहीं है, परन्तु प्रथम विधिकी उपपत्ति उपनिषत्से पूर्णरूपसे है, इसलिए प्रामाण्यमें कोई क्षति नहीं है ॥ ३४ ॥

'विधेयम्' इत्यादि। इसके फलके विधानका तो सम्भव है नहीं। विधेयासम्भवका प्रदर्शन करनेके लिए विकल्प करते हैं—ब्रह्म इत्यादि। इसलिए ब्रह्म, उसका साक्षात्कार, ब्रह्मधीसन्तति या उसके ध्यानका उपाय, इन्हींको विधेय कह सकते हैं ॥३५॥

न ब्रह्म नित्यसिद्धत्वाद्विधातुं शक्यते क्वचित् ।
अभूतभावियागादिर्विधिमर्हति नेतरः ॥ ३६ ॥
नित्यं न भवनं यस्य यस्य वा नित्यभूतता ।
न तयोर्विधियोग्यत्वं खपुष्पाकाशयोरिव ॥ ३७ ॥
तद्धीर्विधेयेत्यस्मिंश्च पक्षे धीः केति कथ्यताम् ।
अन्तःकरणवृत्तिर्वा किंवा तत्फलवेदनम् ॥ ३८ ॥

इन सबमें क्रमशः विधेयताका निराकरण करते हैं—**'न ब्रह्म'** इत्यादिसे ।

ब्रह्म नित्यसिद्ध है, अतः उसका विधान नहीं कर सकते । अभूतपूर्व, अनुत्पन्न और कारणव्यापारोत्तरभावी यागादि ही विधेय हो सकते हैं, अनागतोत्पाद्य भाव-विषयक ही विधि मानी जाती है । वह भावरूप धात्वर्थविषयक ही हो सकती है । धात्वर्थ ही करनेके योग्य होता है, द्रव्य, गुण आदि व्यापाराविष्ट होनेसे उसके द्वारा विधेय कहे जाते हैं, साक्षात् नहीं ॥ ३६ ॥

'नित्यं न' इत्यादि । जिसका सतत अभवन—असत्ता—है अथवा जिसका सतत भवन (सत्ता) है, वे दोनों विधिके योग्य नहीं होते । प्रथम उदाहरण आकाश-पुष्पका है वह कभी नहीं हुआ है, न है । दूसरा तार्किक मतसे आकाश है, उसकी नित्यसत्ता मानते हैं । न्यायमतसे आकाश नित्य है । एवं ब्रह्म सर्वमतसे नित्य है; इसलिए वह विधियोग्य नहीं है । आत्माकी घटादिके समान स्वतः उत्पत्ति नहीं होती, आकाश आदिके समान उपाधिसे भी उत्पत्ति नहीं है एवंभूत आत्मवस्तु क्रियानपेक्षसत्ताक होनेसे स्वयं सदा विद्यमान है, अतः उसमें विधिकी संभावना नहीं है। जो पदार्थ उत्पत्तिके योग्य हैं, जैसे घटादि, वे स्वाभिव्यक्तिके लिए हेतुकी अपेक्षा करते हैं, वे ही कर्म तदभिव्यक्तिकारी होनेसे सफल माने जाते हैं । कारणसे ही कार्यका आत्मलाभ होता है, इसलिए कार्य कारणतन्त्र कहलाता है। अकार्य और अन्यकार्य—ये दोनों क्रमशः कारण और अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं करते ॥३७॥

द्वितीय पक्षका (तद्धी विधेय है, इस पक्षका) सुखसे निराकरण करनेके लिए विकल्प करते हैं—**'तद्धी०'** इत्यादिसे ।

तद्धी शब्दसे क्या अभीष्ट है, यह स्पष्ट कहिये—क्या अन्तःकरणवृत्ति विवक्षित है ? अथवा तत्फल वेदन अर्थात् वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्य ? मनको सावधान कर कहिये ॥ ३८ ॥

वृत्तिः प्रत्यक्चिदाकारा किंवा सार्वात्म्यगोचरा ।
आद्ये विधिरपूर्वो वा नियमो वाऽथवेतरः ॥ ३९ ॥
प्रत्यक्चिदाकारतायाः प्राप्तत्वान्नाऽस्त्यपूर्वता ।
समाहिता व्युत्थिता वा वृत्तिः सर्वा चिदाकृतिः ॥ ४० ॥

'वृत्तिः प्रत्यक्चिदा०' इत्यादि । चिदाकार प्रत्यक् वृत्ति विधेय है ? या सार्वात्म्यगोचरवृत्ति ? प्रथम पक्षमें फिर विकल्प है, अपूर्वविधि है अथवा नियमविधि अथवा तदितर ॥ ३९ ॥

'प्रत्यक्' इत्यादि ।

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।
तत्र चाऽन्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते ॥

इस श्लोकके अनुसार विधियाँ तीन प्रकारकी होती हैं। जो सर्वथा प्रमाणान्तरसे अप्राप्त है, वह अपूर्वविधि कहलाती है, जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यहांपर अग्निहोत्र होममें स्वर्गसाधनता प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरसे अप्राप्त है और केवल इसी वाक्यसे प्राप्त होती है, अतः वह अपूर्वविधि है । पक्षमें अप्राप्तका विधान नियम-विधि है, जैसे 'व्रीहीन्नवहन्ति', यहांपर पुरोडाश बनानेके लिए धानसे तण्डुलकी निष्पत्ति आवश्यक है, उसकी निष्पत्ति दो प्रकारसे होती है, एक अवघातसे दूसरे नखविदलनसे । जब नखविदलनसे तण्डुलकी निष्पत्ति की जायगी, उस पक्षमें अवघात नहीं प्राप्त होता है । प्रयोजन तण्डुलसे है, सो नखविदलनसे सिद्ध हो चुका, फिर अवधातकी क्या आवश्यकता ? अतः पक्षमें अप्राप्त अवघातकी विधि नियमविधि है । नियमविधिसे नियमापूर्वकी उत्पत्ति होती है, तादृश अपूर्वसे सहकृत पुरोडाशसे प्रधानापूर्वकी उत्पत्ति मानी जाती है, अन्यथा नहीं, इसलिए 'व्रीहीन्नवहन्ति' इत्यादि वाक्य सार्थक होते हैं । तत्र अन्यत्र प्राप्तिमें परिसंख्या होती है । उदाहरण—'पञ्च पञ्चनखाः भक्ष्याः ।' यहां पञ्चनख पांच हैं—'शशकः शल्यकी गोधा' इत्यादिसे परिगणित । यहांपर इन पाँचोंमें भक्ष्यत्वकी न अपूर्वविधि है और न नियमविधि है, कारण कि भक्ष्यत्व रागतः प्राप्त है, अप्राप्त नहीं, नित्य प्राप्त होनेसे पाक्षिक भी प्राप्ति नहीं है, किन्तु क्षुधाकी निवृत्तिके लिए पञ्चनखापञ्चनखसाधारणमें मांसाशियोंकी भक्षणप्राप्ति है, इसलिए इस परिसंख्याविधिका अन्यत्र भक्षणनिवृत्तिमें तात्पर्य है । इन पाँचोंसे

न समाहितधीः कश्चित् प्रतीचोऽन्यत्प्रपश्यति ।
व्युत्थितात्माऽपि चाऽऽत्मानं पश्यन्नेवाऽन्यदीक्षते ॥ ४१ ॥
एवञ्च नित्यप्राप्तत्वान्नियमोऽपि न युज्यते ।
न काचिद् वृत्तिरस्त्यत्र चिदाकारविवर्जिता ॥ ४२ ॥

अतिरिक्त पञ्चनखका भक्षण नहीं करना चाहिए । यद्यपि यह अर्थ शब्दशक्तिसे प्राप्त नहीं होता, तथापि पञ्चनखकी तदितरमें और भक्ष्यकी अभक्ष्यमें लक्षणा कर उक्त पञ्चनखेतर पञ्चनखका भक्षण नहीं करना चाहिए, यह अर्थ प्राप्त होता है । यद्यपि लक्षणा माननेमें गौरव और तीन दोष होते हैं—स्वार्थत्याग, परार्थकल्पना और प्राप्तबाध, तथापि अन्य गतिके न होनेसे उन दोषोंका सहन करना ही पड़ता है । यह विषय पूर्वमीमांसाका है, पर यहां इसका विचार आया है; अतः जानकारीके लिए संक्षेपसे इसका निरूपण कर दिया । अब प्रकृत श्लोकका अर्थ कहते हैं—प्रत्यक्-चिदाकार वृत्तिका अपूर्व विधान नहीं हो सकता, कारण कि वह प्राप्त है । समाधि-अवस्थामें अथवा व्युत्थान-अवस्थामें अहमाकार वृत्ति रहती है । जब स्वविषयक अहमाकार वृत्ति नहीं होती, जैसे सुषुप्तकी; तब उसके प्रति स्वेतरविषयक ज्ञानके न होनेसे विधिकी क्या चर्चा ? जो व्युत्थितात्मा जाग्रत् और स्वप्नका साक्षी है, वह अहमाकार वृत्तिमान् ही है, उस समय स्व और स्वेतर दोनोंको विषय करनेवाला ज्ञान विधिके बिना भी प्राप्त ही है, अतः अपूर्वविधि नहीं हो सकती । इसीको स्फुट करनेके लिए कहते हैं—'वृत्तिः सर्वा चिदाकृतिः' । दो अवस्थाओंमें जो वृत्तियां होती हैं, वे अहमाकारसे रहित नहीं हैं, अतएव किसका ज्ञान है, ऐसा संशय नहीं होता । जिस कार्यमें कर्ता स्वतन्त्र है अर्थात् कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ है, उसी कार्यमें कर्ताके लिए विधान होता है, अन्यत्र नहीं । प्रकृत वृत्तिरूप कार्यमें कर्ता स्वतन्त्र नहीं है, अतः विधिके होनेपर भी उसका ज्ञान दुर्वार है ॥४०॥

'न समाहित०' इत्यादि । समाहित पुरुषकी वृत्ति प्रत्यक्-चिदाकार होती है, यह सर्वसंमत है; केवल आत्मभानके लिए ही समाधिकी आवश्यकता होती है । समाधिमें योगी जन आत्मव्यतिरिक्त किसी पदार्थको नहीं देखते, व्युत्थानदशामें लोग आत्माको देखते हुए ही आत्मव्यतिरिक्तको देखते हैं, यह सर्वानुभवसिद्ध है ॥४१॥

यहांतक नित्य प्राप्त होनेसे अपूर्वविधि नहीं हो सकती, इसका उपपादन कर चुके; अब बुद्धिवृत्तिमें नियमविधि नहीं हो सकती, इस पक्षका उपपादन करते हैं—**'एवञ्च'** इत्यादिसे ।

नानाद्रव्यैर्यथा योगे वियोगे च सदा घटः ।
वियत्सम्पूर्ण एवाऽऽस्ते न वियद्वर्जितः क्वचित् ॥ ४३ ॥
बाह्यशब्दादिभिर्योगे वियोगे च तथा धियः ।
प्रत्यक्चैतन्यसम्पूर्त्तिर्नित्येत्येतत्स्वसाक्षिकम् ॥ ४४ ॥
अनात्मदृष्टिव्यावृत्त्यै परिसङ्ख्येति चेत्, न तत् ।
न खल्वनात्मविभ्रान्ति विधिर्वारयितुं प्रभुः ॥ ४५ ॥

दो अवस्थाओंकी वृत्तिमें आत्मभान नित्यप्राप्त होनेसे नियमविधि भी नहीं हो सकती । पाक्षिक प्राप्तिमें नियमविधि होती है, यह पूर्वमें स्पष्ट कर चुके हैं । नित्यप्राप्तिको स्फुट करते हैं—'न काचिद्' इत्यादिसे । कोई भी वृत्ति चिदाकारसे वर्जित नहीं होती, किन्तु चिदाकारसे संयुक्त ही होती है, अतएव उसके नित्य प्राप्त होनेसे नियमविधिका संभव नहीं है ॥ ४२ ॥

'नानाद्रव्यै०' इत्यादि । नाना द्रव्योंका घटके साथ कभी संयोग होता है, कभी वियोग होता है । मनुष्य प्रयोजनानुसार घटमें पञ्च पल्लव, पञ्च रत्न, सप्त धान और मृत्तिका आदिका संयोग और वियोग किया करता है; किन्तु आकाशका उसके समान संयोग या वियोग नहीं कर सकता, क्योंकि घट आकाशसे सदा पूर्ण रहता है, कभी भी आकाशसे रहित नहीं हो सकता । एवं प्रकृतमें चिदाकार आकाशके समान वृत्तिमें सार्वकालिक है, अतः नियमविधिका भी संभव नहीं है ॥ ४३ ॥

दृष्टान्तसिद्ध अर्थका दार्ष्टान्तिकमें उपपादन करते हैं—**'बाह्य०'** इत्यादिसे ।

एवं बाह्य शब्द, स्पर्श आदि विषयोंका बुद्धिके साथ संयोग और वियोग होता रहता है, शब्दविषयक बुद्धिमें शब्दका संयोग और उससे भिन्न स्पर्शादिका वियोग एवं स्पर्शादिबुद्धिमें स्पर्शादिका संयोग और उससे इतरका वियोग अनुभवसिद्ध है, परन्तु प्रत्यक् चैतन्यका सदा बुद्धिके साथ संबन्ध ही रहता है । कोई भी बुद्धि तदविषयक नहीं होती। एवं बुद्धिमें सदा प्रत्यगात्मपूर्ति स्वसाक्षिक और स्वानुभवसिद्ध है, इसमें विशेष साधन और प्रमाण आदिकी अपेक्षा नहीं है ॥४४॥

'अनात्म०' इत्यादि ।

शङ्का—आत्मानात्मसाधारण शरीर, इन्द्रिय आदिसे विशिष्ट चैतन्यमें अहमादिज्ञान प्रसक्त है, इसलिए अनात्म शरीर आदिमें आत्मदृष्टिकी व्यावृत्तिके लिए परिसंख्या-

प्रमाणजन्यज्ञानेन विना विधिशतैरपि ।
रज्जुसर्पादिविभ्रान्तिर्नहि क्वाऽपि निवर्तते ॥ ४६ ॥
सार्वात्म्यगोचरा वृत्तिरप्यत्र न विधीयते ।
यतोऽपुरुषतन्त्रा सा तस्मादत्र कथं विधिः ॥ ४७ ॥

विधि मानो, जैसे पञ्चनखापञ्चनखसाधारणमें भक्ष्यत्व प्राप्त है, 'शल्यकी' इत्यादिसे परिगणित पञ्चनखेतर पञ्चनखमें भक्ष्यत्वकी निवृत्तिके लिए परिसंख्या मानी गई है, वैसे ही प्रकृतमें मानना चाहिए ।

समाधान—यह ठीक नहीं है, कारण कि दृष्टान्तमें पापभयसे विहित पञ्चनखसे इतर पञ्चनखमें भक्षणकी निवृत्ति होती है, किन्तु यहांपर अनात्मामें जो आत्म-दृष्टि प्रसक्त है, उसका निवारण करनेके लिए परिसंख्याविधि समर्थ नहीं है, अतः हजार परिसंख्याविधि माननेपर भी उक्त दृष्टि अपरिहार्य है; इसलिए परिसंख्याविधि भी निष्फल है ॥ ४५ ॥

'प्रमाणजन्य०' इत्यादि । सर्पज्ञान सर्प और रज्जु दोनोंमें होता है, सर्पमें भ्रमा है, रज्जुमें भ्रम है, यह आवान्तर विशेष है । पर ज्ञान दोनोंमें समानरूपसे प्रसक्त है । यहां परिसंख्याविधि एक नहीं, सौ मानें, तो भी उक्त भ्रमकी निवृत्ति नहीं हो सकती । उक्त भ्रमका निवर्तक प्रमाणजन्य यह रज्जु है, इत्याकारक यथार्थज्ञान ही है, विधि एक भी न मानें, लेकिन रज्जुप्रमाके होनेपर सर्पभ्रान्ति निवृत्त हो जाती है । एवं प्रकृतमें भी आत्माका जब वेदान्तप्रमाणजन्य वास्तविक स्वरूपज्ञान होगा, तभी आत्मानात्मसाधारण प्रत्ययकी निवृत्ति होगी, इसके बिना सैकड़ों विधियां माननेपर भी उक्त प्रत्ययकी निवृत्ति नहीं हो सकती ।

शङ्का—'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' यहांपर परिसंख्याविधिको माननेसे विहितेतरमें भक्षणत्वकी निवृत्ति होती है । एवं आत्मानात्मामें आत्मबुद्धि समान प्रसक्त है, परन्तु परिसंख्या माननेपर भी उसके समान भ्रान्तिकी निवृत्ति नहीं देखी जाती, इसमें क्या कारण ?

समाधान—इसका उत्तर आगे कहेंगे ॥ ४६ ॥

प्रत्यक्-चिदाकार बुद्धिवृत्तिमें अपूर्वविधि, नियमविधि और परिसंख्याविधि—इन तीनोंका निराकरण करके सर्वात्मत्वगोचर बुद्धिवृत्तिमें विधि है, इस पक्षका अनुवाद कर प्रतिषेध करते हैं—**'सार्वात्म्य०'** इत्यादिसे ।

कर्तृतन्त्रा यदि भवेत् तदा योषाऽग्निबुद्धिवत् ।
क्रिया स्यात् क्रियया नैव क्वाऽप्यविद्या निवर्तते ॥ ४८ ॥

यहांपर सर्वात्मगोचर बुद्धिका भी विधान नहीं हो सकता । यद्यपि यह बुद्धि सतत नहीं होती, किन्तु यागादिके समान कभी और कहींपर होती है, तथापि उसका विधान नहीं हो सकता, इसमें कारण कहते हैं—'अपुरुषतन्त्रा' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि क्रिया पुरुषतन्त्र—पुरुषाधीन होती है अर्थात् पुरुषके द्वारा कर्तुम्, अकर्तुम् और अन्यथा कर्तुम् शक्य होती है—जैसे गाँवको जाता है, गाँवको चाहे जाय, चाहे न जाय, चाहे घोड़ेसे जाय, जानारूप क्रिया पुरुषतन्त्र है, अतः उसका विधान हो सकता है, पुरुष अपनी इच्छाके अनुसार उसको करता है । प्रमाणज्ञान वस्तुतन्त्र होता है, घट, पट आदि जैसा विषय इन्द्रियसंबद्ध होगा, इच्छा न रहनेपर भी, वैसा ही ज्ञान होगा, इच्छानुसार नहीं, मार्गमें जाते समय चोर न देखें, ऐसी इच्छा रहनेपर भी यदि चोर मार्गमें उपस्थित हो जायगा, तो वह अवश्य ही दीख पड़ेगा कि यह चोर है । इस परिस्थितिमें पूर्वकृत चोरविषयक अनीक्षणका संकल्प व्यर्थ ही हो जाता है; अतः वस्तुतन्त्र ज्ञानमें विधि कैसे हो सकती है ? कभी नहीं हो सकती ॥ ४७ ॥

'कर्तृतन्त्रा' इत्यादि । यदि सर्वात्मगोचर बुद्धिको पुरुषतन्त्र मानियेगा, तो 'योषा वाव गौतमाग्निः' इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञानके समान ही सर्वात्मगोचर ज्ञान भी मानना पड़ेगा । 'योषाग्निज्ञान' मानस क्रिया है, यह क्रियात्मक मानस ज्ञान दो प्रकारका होता है—एक वस्तुस्वरूपानपेक्ष और दूसरा वस्तुस्वरूप-विपरीत । 'यस्यै देयतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां ध्यायेत् मनसा वषट्करिष्यन्' इत्यादिसे देवतास्वरूपनिरपेक्ष उक्त मन्त्रोंसे यथाम्नात उसका ध्यान विहित है । दूसरा 'योषा वाव गौतमाग्निः' इत्यादि वाक्यसे अग्निविपरीत स्त्रीमें अग्निबुद्धिका विधान है । ये दोनों ज्ञान मानसी क्रिया हैं, इसलिए पुरुषतन्त्र हैं । प्रमाणजन्य घटादिज्ञान वस्तुतन्त्र होता है, पुरुषाधीन नहीं । यदि उक्त ज्ञानके समान सर्वात्मबुद्धिवृत्तिको मानसक्रियात्मक मानेंगे, तो वह पुरुषतन्त्र हो सकती है, किन्तु मिथ्याज्ञानकी निवर्त्तिका नहीं हो सकेगी । प्रकृतमें सर्वात्मज्ञान अविद्यानिवर्तक इष्ट है, अविद्या निवर्तक प्रमाणजन्यज्ञान ही होता है, मानस नहीं ॥ ४८ ॥

फलसंवेदनं नाऽपि विधातुमिह शक्यते ।
संवेदनस्य नित्यत्वात् फलत्वं तूपचारतः ॥ ४९ ॥
प्रमाणमप्रमाणं च प्रमाभासश्च सर्वदा ।
चैतन्याभासितं तच्च चैतन्यं फलमुच्यते ॥ ५० ॥
मानादिव्यभिचारेऽपि संविदव्यभिचारिणी ।
अतो नित्यतया नैतद्विधेयं फलवेदनम् ॥ ५१ ॥

वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्यरूप फल विधेय है, इस पक्षका भी निराकरण करते हैं—**'फलसंवेदनम्'** इत्यादिसे ।

फलभूत संवेदनका भी यहां विधान नहीं कर सकते, क्योंकि फलरूपसे अभिमत चैतन्य नित्य है । नित्यका विधान करना असंभव ही है । अनागत-उत्पाद्यकी ही विधि हो सकती है, यह पूर्वमें कह चुके हैं ।

शङ्का—चैतन्य नित्य है, अतएव उसका विधान नहीं हो सकता, फिर उसको फल कैसे कहते हो ? क्योंकि फल तो क्रियाजन्य ही माना जाता है ।

समाधान—ठीक है, वस्तुतः फल क्रियाजन्य ही होता है, किन्तु यह मुख्य फल नहीं है, इसमें औपचारिक फलत्वका व्यपदेश माना जाता है । सर्वात्मज्ञानसे अविद्याका नाश होता है और आवारक अविद्याकी निवृत्तिसे स्वतःसिद्ध आत्मैकत्वका स्फुरण होता है, इसलिए अपने कण्ठमें रहनेवाले हारकी प्राप्तिके समान ज्ञानमात्रसे वह फल कहा जाता है ॥ ४९ ॥

चैतन्य नित्य है, इसमें युक्ति कहते हैं—**'प्रमाण०'** इत्यादिसे ।

प्रमाण, अप्रमाण और प्रमाणाभास—ये सब चैतन्यमें कल्पित ही स्फुरित होते हैं, अतः सर्वाधिष्ठानत्वसे सन्निहित जो चिद्रूप वस्तु है, वह विधियोग्य नहीं हो सकती, सद् वस्तु अखण्डचिद्रूप एवं अनेक विशेषोंकी आलम्बन है और स्वतः समस्त विशेषोंसे रहित है, अतः विधियोग्य नहीं है । एकरसस्वरूप चैतन्य आत्मा व्यभिचारी नहीं है । अनात्म पदार्थ मिथः व्यभिचारी होते हैं, इसलिए ये भी सदेकरस वस्तुकी विधिमें उपयोगी नहीं है ॥ ५० ॥

'मानादि०' इत्यादि । मानादिका परस्पर व्यभिचार अतिस्फुट है, किन्तु संविद्का कहीं व्यभिचार नहीं कह सकते; अतः संविद् नित्य है । भाव यह है कि घटादिविषयक ज्ञानके होनेपर घटादिका भान होता है, पटादिका नहीं । एवं पटादि-ज्ञानदशामें पटादिका भान होता है, घटादिका नहीं । एवं रीत्या तत्-तत्

विषयक ज्ञानदशामें अन्य विषयका व्यभिचार स्फुट है, परन्तु संविद्का कहीं व्यभिचार नहीं होता, किसी विषयका भान संविद्भावके बिना नहीं होता। इसमें विचारना यह है कि संविद् विषयके समान भिन्न है, या अभिन्न? तार्किक कहते हैं कि संविद् भिन्न-भिन्न है, अतएव 'घटज्ञानं जातम्', 'पटज्ञानं नष्टम्' इत्यादि प्रतीति स्वरसतः संगत होती है। वेदान्तियोंका कहना है कि उक्त प्रतीति 'घटाकाशो जातः', करकाकाशो नष्टः' इत्यादि प्रतीति जैसे उपाधिभूत घट, करक आदिकी उत्पत्ति और नाशको लेकर तदुपधेय आकाशमें औपधिकरूपसे अवगाहन करती है, मुख्यरूपसे घटादिमें ही उन दोनोंका अवगाहन करती है, आकाशमें नहीं, क्योंकि आकाशको वे लोग नित्य मानते हैं। इस कल्पनामें लाघव भी है, घटादिकी उत्पत्ति और नाश तो सबको अभीष्ट ही हैं, उसीसे जब उक्त प्रतीतिकी उपपत्ति हो जाती है तब अकल्पित आकाशकी उत्पत्ति आदिका स्वीकार करना गौरवग्रस्त है, वैसे ही घटादिकी संविद् भी नित्य ही है, उत्पत्ति और विनाशकी प्रतीति विषय, इन्द्रिय और सन्निकर्षमें रहनेवाली उत्पत्ति और विनाशको लेकर उपपन्न हो जाती है, इस लिए संविद् आकाशके समान नित्य ही है एवं जाग्रत् अवस्थाकी संविदसे स्वप्नावस्थाकी सविद् भिन्न नहीं है, विषयभेदप्रयुक्त भेद ही दोनोंमें प्रतीत होता है।

शङ्का—अच्छा, तो सुषुप्ति अवस्थामें संविद् नहीं रहती, अतएव 'न किञ्चिदवेदिषम्' यह सुप्तोत्थितको परामर्श होता है, इस परिस्थितिमें संवित्को नित्य कैसे कहते हो?

समाधान—उक्त अवस्थामें यदि संविद् न होती, तो अज्ञानादिका अनुभव कैसे होता? अनुभवके बिना संस्कार नहीं हो सकता और उसके अभावसे स्मरण ही नहीं हो सकेगा। अतः स्मरणकी अन्यथानुपपत्तिसे संस्कारजनक अनुभवको उक्त अवस्थामें भी मानना चाहिए, इस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें संविद् अभिन्न है, इस क्रमसे एक दिन-रातकी संविद् जैसे एक ही है, वैसे ही अन्य दिनकी संविद् भी भिन्न नहीं है। एवं जीवनपर्यन्त एक पुरुषकी संविद् एक ही सिद्ध होती है, तब अन्य पुरुषकी भी संवित् अन्य पुरुषकी संवित्से भिन्न नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण पुरुषोंकी संवित् एक ही है, ऐसा माननेमें क्या आपत्ति है?

शङ्का—यदि सब पुरुषोंकी संवित् एक ही मानते हो, तो देवदत्त द्वारा अनुभूत पदार्थोंका स्मरण यज्ञदत्त आदिको भी होना चाहिए, संविद्का भेद माननेसे यह आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अनुभव और स्मरणमें सामानाधिकरण्येन हेतुफलभाव

विधेयोऽभ्यास इति चेन्नाऽशक्यानुपयोगतः ।
अविज्ञाते ब्रह्मतत्त्वे तद्बुद्ध्यावर्त्तनं कथम् ॥ ५२ ॥

माना जाता है । अनुभव प्रतिव्यक्ति भिन्न भिन्न है, अतः उक्त स्मरणकी आपत्ति नहीं हो सकती, अतः संविदैक्यपक्षमें उक्त दोष दुष्परिहर है ।

समाधान—एक घटाकाशके धूमपूर्ण होनेसे अन्य घटाकाशमें जैसे धूमका प्रसङ्ग नहीं होता, वैसे ही पुरुषोंके अन्तःकरणोंके भिन्न-भिन्न होनेसे जिस अन्तःकरणमें संस्कार उत्पन्न होता है, उसी अन्तःकरणमें स्मरण होता है, अन्यत्र नहीं । श्रुति-प्रमाणसे यह ज्ञात होता है कि ज्ञान, इच्छा आदि अन्तःकरणके धर्म हैं । आत्माके नहीं आत्मा उक्त संवित्स्वरूप ही है ।

आत्मा आकाशादिके समान जड़ द्रव्य है, उसका प्रकाश ज्ञानसे होता है । आत्मामें ज्ञानगुणकत्व ही चैतन्य है, अतएव सुषुप्त्यादि अवस्थामें जब मन पुरीतति नाड़ीमें प्रविष्ट हो जाता है, तब उक्त चैतन्य आत्मामें नहीं रहता, अतएव 'न किञ्चिदवेदिषम्' यह परामर्श अनुमानात्मक होता है । ज्ञानादि गुण आत्माके ही हैं, अतएव 'अहं सुखी, अहं जानामि, करोमि' इत्यादि प्रतीति आत्मत्वसामानाधिकरण्यसे ज्ञानादिका अवगाहन करती है । पदार्थतत्त्वज्ञानसे मुक्ति होती है । अशेष-विशेषगुणोच्छेद ही मुक्ति है अर्थात् ध्वंसात्मक ही मुक्ति है, सुखके समान दुःख-निवृत्ति भी पुरुषार्थ है। सुखात्मक मोक्ष ठीक नहीं है, अन्यथा सुखरागसे मुमुक्षुओंकी मोक्षमें प्रवृत्ति माननी पड़ेगी। सुख-राग भी द्वेषके समान दोष ही है । तत्त्वज्ञानियोंकी प्रवृत्ति दोषमूलक है, यह कहना उचित नहीं है, इत्यादि न्यायमत श्रुतिविरोधसे उपेक्ष्य है । निष्कर्ष यह हुआ कि अव्यभिचारी संविद् नित्य सिद्ध है, अतः नित्यभूत संवित्का विधान नहीं हो सकता, इसलिए संविद् अविधेय है ॥ ५१ ॥

ब्रह्मधीसन्तति विधेय है, इस पक्षका भी निराकरण करते हैं—**'विधेयो'** इत्यादिसे ।

ब्रह्मधीसन्ततिका विधान अशक्य है, इसमें हेतु यह है कि अज्ञातब्रह्मविषयक धीसन्ततिका विधान कहते हो या ज्ञातब्रह्मविषयक धीसन्ततिका ? प्रथम पक्षमें अशक्ति कहते हैं—'अविज्ञाते' इत्यादिसे । अज्ञात ब्रह्मकी धी जब होती ही नहीं, तब आवृत्ति किसकी की जायगी ? धीके होनेपर अज्ञात ब्रह्म कैसे ? और अज्ञात-समयमें धी कहां ? अज्ञातकी धी कहना वन्ध्यापुत्रके समान व्याहत है और धीसन्तति-के विधानको प्रकृतमें कुछ उपयोग भी नहीं है; इस विषयको आगे स्फुट करेंगे ॥ ५२ ॥

ज्ञातेऽप्यविषयप्रत्यगनाकारस्य तस्य धीः ।
नैवाऽऽवर्तयितुं शक्या देवतामूर्तिबुद्धिवत् ॥ ५३ ॥
अभ्यासस्योपयोगोऽपि किं जीवब्रह्मरूपता ।
मुक्तौ चेतोऽनुवृत्तिर्वा किंवाऽविद्यानिवर्तनम् ॥ ५४ ॥

'ज्ञाते०' इत्यादि । शब्दादिसे अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान होनेपर भी उसकी आवृत्तिका विधान नहीं कर सकते, कारण कि आत्मा देवताके समान अनाकार है । मीमांसकोंके मतसे देवताओंका आकार नहीं है । यागमें मन्त्र द्वारा देवताओंका आवाहन करनेसे देवतागण आते हैं, वेदप्रामाण्यकी रक्षाके लिए यह मानना आवश्यक है । यदि देवताओंका आकार माना जायगा, तो वहाँ उनका प्रत्यक्ष होना चाहिए, पर प्रत्यक्ष नहीं होता, अप्रत्यक्षके प्रति न आना तो कारण हो नहीं सकता, क्योंकि ऐसा माननेसे वेदप्रामाण्यका ही भंङ्ग हो जायगा, इसलिए यही कहना उचित होगा कि देवताओंका आकार नहीं है, इस कारण यागस्थलमें मनुष्य उन्हें देख नहीं पाते ।

शङ्का—ऐसा ही क्यों कहें, ऐसा भी तो कह सकते हैं कि देवता तिरस्करिणी विद्यासे अपने स्वरूपको छिपा लेते हैं, इसलिए दूसरे देख नहीं सकते ।

समाधान—हां, इस प्रकारसे उक्त दोषका परिहार कर सकते हो, परन्तु एक समयमें अनेक दूर देशोंमें जो याग होते हैं, उन सबमें परिच्छिन्न आकारवाले देवता कैसे उपस्थित होंगे । जिस यागमें देवताकी उपस्थिति न होगी, उसी यागको लेकर वेदके अप्रामाण्यकी आशङ्का होगी । यदि स्वप्रभावातिशयसे अनेक शरीरोंको धारण कर और उनको उक्त विद्यासे आवृत्त कर युगपत् अनेक यागस्थलमें उपस्थित होते हैं, ऐसी कल्पना करो, तो वह अनुचित है, क्योंकि अनेक शरीरोंका धारण करने और तिरस्करिणी विद्या द्वारा उनके आवरण आदिकी कल्पना करनेकी अपेक्षा अनाकार माननेमें ही लाघव है । घटादि जो साकार विषय हैं, उनके ज्ञानकी आवृत्ति हो सकती है और तदाकारविषयक ज्ञानकी सन्तति भी हो सकती है, पर जिस विषयका आकार ही नहीं है, तद्विषयक ज्ञानकी आवृत्ति कैसे की जा सकती है ? आलम्बनके बिना प्रत्ययावृत्ति दुर्घट है ॥ ५३ ॥

'अभ्यासस्यो०' इत्यादि । अभ्यास प्रकृतमें अनुपयुक्त है, इसका उपपादन करनेके लिए विकल्प करते हैं; अभ्यासका उपयोग प्रकृतमें जीवमें ब्रह्मात्मताके

न जीवब्रह्मताऽभ्याससापेक्षा किन्तु सा स्वतः ।
न घटादेर्घटादित्वं बुद्ध्यभ्यासमपेक्षते ॥ ५५ ॥
भावनोपचितं चेतो न कैवल्येऽनुगच्छति ।
तस्येहैव समुच्छित्तेस्तद्धेत्वज्ञानहानतः ॥ ५६ ॥

लिए कहते हो किम्वा मुक्तिमें चित्तकी अनुवृत्तिके लिए ? अथवा अविद्याकी निवृत्तिके लिए ? ॥ ५४ ॥

प्रथम पक्षका निराकरण करते हैं—**'न जीव०'** इत्यादिसे ।

जीवब्रह्मता स्वतः सिद्ध है, अतः उसके लिए ज्ञानाभ्यासकी क्या आवश्यकता है ? स्वतः सिद्ध वस्तुमें ज्ञानाभ्यासकी अपेक्षा नहीं होती । इसमें दृष्टान्त कहते हैं—घटमें घटत्व धर्म स्वतः सिद्ध है, अतः उसके लिए उसके ज्ञानसन्ततिकी जरूरत नहीं होती। असिद्धके साधनके लिए कारण अपेक्षित होता है । जो कार्य स्वतः सिद्ध है, उसके लिए कारणकथा ही व्यर्थ है । वस्तुतः ज्ञान वस्तुका उत्पादक नहीं है, किन्तु प्रकाशक है । प्रकाशरूप ज्ञानने सकृत् उत्पन्न होकर यदि वस्तुका प्रकाशन न किया, तो असकृत् आवृत्त होनेपर भी विशेषका आधायक नहीं होगा; इसलिए वह व्यर्थ ही होगा । जैसे घटादिके प्रकाशक प्रदीपादिमें आवृत्तिप्रयुक्त विशेष देखा नहीं जाता, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ ५५ ॥

द्वितीय पक्षका प्रत्याख्यान करते हैं—**'भावनो०'** इत्यादिसे ।

भावनासे (ध्यानसे) उपचित—सहकृत—चित्त कैवल्यरूप मोक्षमें नहीं जाता, कारण कि चित्तका संसारदशामें ही नाश हो जाता है; क्योंकि मुक्तिसे पूर्व ही अज्ञानका नाश माना जाता है । अज्ञान ही चित्तका कारण है; ज्ञानसे कारण अज्ञानका विनाश होनेपर उसके कार्यभूत चित्तका भी विनाश हो जाता है । जब चित्तकी स्थिति ही नहीं है, तब मुक्तिकालमें उसकी अनुवृत्तिकी क्या सम्भावना है ?

शङ्का—यह विकल्प ही किस अभिप्रायसे किया गया है ? क्योंकि 'विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः', 'अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः' इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंसे अद्वैतात्मस्वरूप मोक्ष अद्वैतवेदान्तिमतमें प्रसिद्ध है, अतः मुक्तिमें चित्तकी अनुवृत्तिका प्रसङ्ग कैसे होगा ?

समाधान—ब्रह्मकी उपासना दो प्रकारसे की जाती है—एक सगुण ब्रह्मोपासना और दूसरी निर्गुण ब्रह्मोपासना । जैसे सगुण ब्रह्मोपासनासे तत्-तत् उपास्यतादात्म्यापन्न अथवा तत्-तत् लोकप्राप्त उपासकका चित्त तत्—तत् लोकके फलके उपभोगके लिए

भावनाभावितं चेतो यत्र जन्मान्तरप्रदम् ।
तत्र चेतोऽनुवृत्तिः स्यात् सा कैवल्ये कथं भवेत् ॥ ५७ ॥
ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानमविद्यामात्मनि स्थिताम् ।
सकृज्जातं न चेद्धन्ति ज्ञानमेव न तद्भवेत् ॥ ५८ ॥

उपासनासे उपचित होकर अनुवृत्त होता है; वैसे ही ब्रह्मवेत्ताका भी विहिताभ्यास-सचिव चित्त मुक्तिकालमें उसके आनन्दके अनुभवके लिए यदि अनुवृत्त हो, तो तादृश अनुवृत्तिके लिए उक्त अभ्यासकी आवश्यकता हो सकती है। इस संभावनामात्रसे यह एकदेशीका विकल्प है। वस्तुतः मुक्तिमें चित्तकी अनुवृत्ति उसके कारण अज्ञानके ध्वंससे ही नहीं हो सकती, इस अभिप्रायसे उसका निराकरण किया गया है ॥५६॥

'**भावना०**' इत्यादि । भावनासंस्कृत चित्त जहां दूसरे जन्मका कारण होता है, वहाँ चित्तकी अनुवृत्ति कही गई है; यह कथा कैवल्यमें (मोक्षमें) कैसे कही जा सकती है; कैवल्यमें तो जन्मान्तर होता ही नहीं। इसमें भेद यह है कि सगुणोपासनासे मूलाज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती, उसमें कारण यह है कि मूलाज्ञानकी निवृत्तिका कारण अधिष्ठान-तत्त्वसाक्षात्कार है, सगुण ईश्वर जगद्विभ्रमरूप कार्यका अधिष्ठान नहीं है, अतः उसके साक्षात्कार आदिसे अज्ञान और उसके कार्यकी निवृत्ति भी नहीं हो सकती, प्रत्युत द्वैतका ही भान रहता है, इसलिए तत्-तत् लोकोचित भोगके लिए तत्-तत् उपासनासे संस्कृत चित्तकी अनुवृत्तिकी परम आवश्यकता है। तादृश चित्तके विना तादृश भोग ही नहीं हो सकता। निर्गुण ब्रह्मोपासनामें यह बात नहीं है, इससे तो जगद्विभ्रमाधिष्ठानके तत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है; और उसीसे निखिल जगत्का निदान अज्ञान अपने कार्यके साथ समूल नष्ट हो जाता है; फिर चित्तकी अनुवृत्तिकी क्या संभावना ? ॥ ५७ ॥

'**ब्रह्मात्मैकत्व०**' इत्यादि । आत्मा ब्रह्म है और वह एक ही है; इस प्रकार ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान एकवार उत्पन्न होकर आत्मामें स्थित और अनादिकालसे अनुवृत्त अविद्याको यदि नष्ट नहीं करता, तो वह ज्ञान ही नहीं हो सकता। ज्ञानका अज्ञानके साथ तम और प्रकाशके समान परस्पर विरोध है। अद्वितीय आत्मामें द्वैतकी भ्रान्ति है, जैसे एक चन्द्रमामें द्वितीय चन्द्रमाकी भ्रान्ति होती है। और यह भ्रान्ति तबतक निवृत्त नहीं होती, जब तक 'एकश्चन्द्रः' इत्याकारक वस्तुतत्त्व-साक्षात्कार नहीं होता। उक्त साक्षात्कारके हो जानेपर चन्द्रद्वैतकी भ्रान्ति निवृत्त हो

एकाश्रयैकविषयौ ज्ञानमोहौ तथासति ।
अबाधितं तमोऽत्राऽऽस्ते इत्युक्तिर्जडवत्कृता ॥ ५९ ॥
ज्ञानोपायो विधेयश्चेन्नोपायस्याऽप्रतीतितः ।
आत्मा द्रष्टव्य इत्युक्तौ ज्ञानोपायो न भासते ॥ ६० ॥

जाती है, इसके लिए एकचन्द्रत्वज्ञानाभ्यासकी आवश्यकता नहीं है । यदि चन्द्रद्वैतकी निवृत्ति न हुई, तो उक्त ज्ञान ही नहीं हुआ, यही कहा जा सकता है । यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी अनुवृत्ति नहीं हुई ॥ ५८ ॥

'एकाश्रयैक०' इत्यादि । एकाश्रयक और एकविषयक ज्ञान ['जडवक्तृका' यह पाठ शुद्ध है, वार्तिकमें ऐसा ही है ।] और मोह (अज्ञान) दोनों एकत्र नहीं रह सकते । देवदत्तमें घटका ज्ञान और यज्ञदत्तमें घटका अज्ञान रहता है, इसमें विरोध नहीं है। यद्यपि ज्ञान और अज्ञानका विषय एक ही घट है, तथापि आश्रयका भेद होनेसे समानविषयक ज्ञान और अज्ञानमें विरोध नहीं है एवम् आश्रयके एक होनेपर विषय-भेदसे ज्ञान और अज्ञान एकमें रहते हैं, जैसे देवदत्तमें घटका ज्ञान है और पटका अज्ञान है, इसमें भी विषय घट, पट आदिके भेदसे एक ही आश्रयमें ज्ञान और अज्ञान हैं, इसलिए एक विषयक एकाश्रयक ज्ञानाज्ञान परस्पर विरुद्ध हैं, एकाश्रयकत्व आदि उपलक्षण है, एककालिकत्वका भी निवेश विवक्षित है । एक ही पुरुषको एक विषयका पहले अज्ञान और पश्चात् ज्ञान होता है, वहाँ भी कालके भेदसे एकविषयक ज्ञान और अज्ञान एकाश्रयमें रहते ही हैं, इसलिए एक कालमें एक आश्रयमें एक विषयक अज्ञान और ज्ञान नहीं रह सकते, यह निष्कृष्ट अर्थ हुआ। तद्विषयक प्रकाशके आश्रयमें तद्विषयक तम अज्ञान है, यह जडकी उक्ति हो सकती है । जैसे प्रकाश और अन्धकारका विरोध है, वैसे ही अज्ञानका ज्ञानके साथ विरोध है ॥ ५९ ॥

ब्रह्म, तद्धी, तदभ्यास और ज्ञानोपाय—इन चारोंमें विधिका विकल्प किया है । तीनका निरास कर संप्रति चतुर्थ विकल्पका निकारण करते हैं—**'ज्ञानोपायो'** इत्यादिसे ।

आत्मज्ञानके उपायकी विधि है, यह कहना भी ठीक नहीं है, कारण कि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस वाक्यमें उसके उपायरूपसे अभिमत श्रवण आदिके वाचक पदके न रहनेसे श्रवण आदि उसके उपाय हैं, यह कैसे जाना जा सकता है ? अज्ञातकी विधि होती नहीं, इसको स्फुट करते हैं—उक्त वाक्यमें आत्मज्ञानका उपाय प्रतीत नहीं होता ॥ ६० ॥

विधेः फलं च नाऽस्त्येव तत्किं मात्वं पदान्वयः ।
नैरपेक्ष्यमवच्छेदहानिर्वाऽज्ञानबाधनम् ॥ ६१ ॥
मात्वं मानान्तराप्राप्तवस्तुतत्त्वावबोधतः ।
सिद्ध्यत्येवोपनिषदां प्रामाण्ये विधिनाऽत्र किम् ॥ ६२ ॥

द्रष्टव्यवाक्यमें विधेयाभावका उपपादन करके फलाभावको भी कहते हैं—**'विधेः फलम्'** इत्यादि ।

फलके लिए ही किसीका विधान किया जाता है, जैसे स्वर्गादिके लिए यागादिका । यहाँ न विधेय ही है और न कुछ फल ही है, अतः विपक्ष सर्वथा असङ्गत है । फलाभावको स्फुट करनेके लिए विकल्प करते हैं—यहाँ विधिका जो फल कहना चाहते हो, वह क्या प्रमात्व है अथवा पदान्वय है किम्वा नैरपेक्ष्य है या अवच्छेदहानि है अथवा अज्ञानका बाधन है ? जैसे कर्मकाण्डमें सिद्धार्थबोधक अर्थवादादि वाक्योंका, विधिवाक्यके साथ एकवाक्यता मानकर, स्वार्थमें प्रमाण्य माना गया है, स्वतः नहीं; वैसे ही उपनिषद्-वाक्य भी सिद्धार्थके बोधक हैं, अतः साक्षात् स्वार्थमें प्रमाण नहीं हो सकते, इसलिए उपनिषद्-वाक्योंके स्वार्थमें प्रामाण्यव्यवस्थाके लिए उपनिषत्में भी विधि आवश्यक है; इस तात्पर्यसे प्रथम विकल्प है । विधिमें भी मतभेद है—मीमांसक प्रभाकरका मत है कि अप्रवृत्तप्रवर्तक वाक्य विधि है और वेदान्तियोंका मत है कि अबाधितार्थबोधक वाक्य विधि है । स्मृति और अनुवादक वाक्यके व्यवच्छेदके लिए असन्दिग्धानधिगत विशेषण उभयमत संमत है ॥ ६१ ॥

'मात्वम्' इत्यादि । यद्यपि शब्दसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, यह स्वभावसिद्ध है, अतः उसके लिए विधिकी आवश्यकता नहीं है, तथापि प्रमाण्यके लिए विधिकी आवश्यकता होती है । कर्मकाण्डमें 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्' इत्यादि सूत्रसे सिद्धार्थक वाक्योंकी विधिके साथ एकवाक्यता प्रामाण्यके लिए मानी है एवं ज्ञानकाण्डमें भी विध्यर्थ मानान्तरायोग्य ही होता है, इसलिए अनपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्य सिद्ध होता है । 'अयमात्मा' इत्यादि विधिहीन वाक्य सिद्ध अर्थमें विधिके विना स्वतः प्रमाण नहीं हो सकते, कारण कि आत्मा मानान्तर योग्य है; अतः प्रामाण्यार्थ वेदान्तमें विधि आवश्यक है, यह पूर्वपक्षीका अभिप्राय है । सिद्धान्तीका कहना यह है कि वेदान्तमें विधिकी आवश्यकता नहीं है । आत्मैकत्व

विधेरपीह मानत्वं साध्यसाधनबोधनात् ।
न विधित्वात्, अन्यथा स्याद्बाधितोऽपि विधिः प्रमा ॥ ६३ ॥
आरण्यतिलसम्बन्धियवाग्वा जुहुयादिति ।
पूर्वपक्षविधिं वेदोऽनूद्य बाधितवानमुम् ॥ ६४ ॥

अर्थ यद्यपि सिद्ध है; तथापि रूपादिशून्य होनेसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणका विषय नहीं है । अतः मानान्तराप्राप्त यथार्थ आत्मैकत्वके बोधमात्रसे वेदान्तमें प्रमात्व अनायाससे सिद्ध होता ही है, फिर विधिसे क्या प्रयोजन ? वस्तुतः जहां क्रिया रहती है, वहां भावना रहती है, क्योंकि यही साध्य—क्रियाका विषय—है और जहां भावना रहती है; वहीं विधि रहती है । एकात्मा सिद्ध अर्थ है; अतः यहां क्रिया नहीं है, इसलिए विधिसे कुछ लाभ नहीं है, किन्तु सिद्धार्थबोधिका अभिधाश्रुति ही यहां प्रमाण है । जैसे विधि इतरानपेक्ष होनेसे प्रमाण मानी जाती है, वैसे ही अभिधाश्रुति भी अनपेक्ष होनेसे स्वार्थमें प्रमाण है । वेद अपौरुषेय है, अतः कर्मकाण्डके समान ज्ञानवाक्यमें अनपेक्षत्व लक्षण प्रामाण्य सम है ॥ ६२ ॥

'विधेरपीह' इत्यादि । साध्य और साधनके सम्बन्धके बोधनसे ही विधिमें प्रामाण्य माना जाता है । केवल विधित्वहेतुक प्रामाण्य नहीं माना जाता, अन्यथा असाध्यसाधनबोधक विधिमें भी अप्रामाण्यकी प्रसक्ति हो जायगी; इसीको स्फुट करते हैं—बाधित भी विधि होती है, अतः वह प्रमाण हो जायगी ॥ ६३ ॥

बाधितका उदाहरण देते हैं—'**आरण्य०**' इत्यादिसे ।

अग्निहोत्रमें ऐसी श्रुति है 'जर्तिलयवाग्वा जुहुयात् गवीधुकयवाग्वा जुहुयात् न ग्राम्यान् पशून् हिनस्ति नारण्यान् अथो खल्वाहुः अनाहुतिर्वै जर्तिला गवीधुकाश्चेत्यजक्षीरेण जुहोति' ऐसा पाठ वार्तिककी टिप्पणीमें है । न्यायमालामें 'अजक्षीरेण' इसकी जगह 'पयसा अग्निहोत्रं जुहोति' ऐसा पाठ है और यही उचित प्रतीत होता है, क्योंकि जर्तिल—आरण्य तिल—(वनतिल) और (गवीधुक आरण्य गोधूम) इन दोनोंका विकल्प श्रुतिसे प्राप्त है, अर्थात् चाहे जर्तिलयवागूसे होम करे या गवीधुकयवागूसे होम करे, किन्तु एतदर्थ ग्रामीण पशु या आरण्य पशुको न मारे । यदि हिंसाके विना भी अभीष्ट सिद्ध हो जाय, तो हिंसा नहीं करनी चाहिए, इन दोनों पक्षोंका निराकरण करनेके लिए 'अथो खल्वाहुरनाहुतिर्वै जर्तिला गवीधुकाश्च पयसा अग्नि होत्रं जुहुयाद्' यह श्रुति प्रवृत्त हुई । इससे दोनों पक्षोंको दूषित कर अनाहुतिसे होमाभाव ही प्राप्त हुआ ।

पदान्वयः क्रियामात्रमाकाङ्क्षति विधिं तु न ।
अस्त्यस्यस्मीत्येवमादि सुलभं तक्रियापदम् ॥ ६५ ॥

शङ्का—अनाहुति शब्दस्य नञ् प्रसज्यप्रतिषेधक नहीं है, जिससे कि आहुत्यभाव-रूप तृतीय पक्षका प्रसङ्ग हो, किन्तु उसे पर्युदास मान कर जर्तिलयवागू आदिमें आहुति-साधनके भेदका बोध मानेंगे, इससे होमाभावरूप तृतीय पक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है ?

समाधान—नञ्का आहुतिके साथ समास है, इसलिए आहुतिके साथ ही अन्वय होगा, जर्तिलादिके साथ नहीं, अन्यथा सामर्थ्याभावसे समास ही नहीं होगा । जिस पदार्थका जिस पदार्थके साथ अन्वय होता हो, उन्हीं पदोंका परस्पर सामर्थ्य माना जाता है, जर्तिलादिके साथ अन्वय करनेपर आहुतिके साथ सामर्थ्य ही नहीं हो सकता; अतः समास ही असङ्गत हो जायगा, इसलिए आहुत्यभावरूप तृतीय पक्ष प्राप्त हुआ । 'पयसा अग्निहोत्रं जुहुयात्' इसका (पयसे) दूधसे अग्नि होत्र करना चाहिए, यह चौथा पक्ष प्राप्त हुआ, इन चारों परस्पर विरुद्ध पक्षोंका षोडशीग्रहणाग्रहणके समान विकल्प ही मानना चाहिए; दूसरी कोई गति नहीं है, ऐसा पूर्वपक्ष कर सिद्धान्त किया कि पयोविधिके साथ श्रुत जर्तिलादिवाक्य अर्थवाद है । आरण्य-पशुहिंसाभावसम्पादक जर्तिलादि यद्यपि प्रशंसा है । तथापि अग्निहोत्रका साधन नहीं, उनसे आहुति अनाहुति ही मानी जाती है । पय आहुतिका साधन है, ऐसा पय महाभाग है, जिससे कि अग्निहोत्र सम्पन्न होता है; इस प्रकार जर्तिलादिमें असाधनत्वोपन्यासके द्वारा पयकी स्तुति की गई है; अतः अर्थवाद है, यह पूर्वमीमांसामें निर्णय किया गया है । प्रकृतमें इसके उदाहरणका अभिप्राय यह है कि विधिमात्रसे यदि वाक्य प्रमाण होता, तो 'जर्तिलयवाग्वा जुहुयाद्' इत्यादि वाक्यमें विधि है, पर यह बाधितार्थकी बोधक है अर्थात् जर्तिलादिमें अग्नि-होत्रसाधनत्व नहीं है और यह वाक्य तत्साधनत्वका बोधक है, इसलिए वह बाधितार्थक है; अतएव प्रमाण नहीं, इससे यह स्पष्ट सूचित होता है कि अबाधि-तार्थबोधक वाक्य प्रमाण माना जाता है, उसमें विधि हो या न हो । प्रामाण्यके लिए विधिकी आवश्यकता नहीं, यह निष्कृष्टार्थ हुआ । उत्तरार्द्धका अर्थ स्पष्ट है, फिर भी कहते हैं—अनाहुतिबोधक वेदवाक्य 'जर्तिलादिमें' अग्निहोत्रसाधनत्वका अनुवाद कर इसको बाधित करता है ॥ ६४ ॥

पदोंके अन्ययके लिए विधि आवश्यक है, इस द्वितीय विकल्पका निराकरण करते हैं—**'पदान्वयः'** इत्यादिसे ।

कर्मवाक्येष्विवैतेषु वेदान्तेष्वनपेक्षता ।
नाऽन्यत्राऽपेक्षितुं योग्यं सरित्तीरफलोक्तिवत् ॥ ६६ ॥

पदोंका अन्वय क्रियामात्रकी अपेक्षा करता है, विधिकी नहीं । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यमें पदोंके अन्वयके लिए 'अस्ति' क्रियाका अध्याहार होता है, 'तत्त्वमसि' में 'असि' यह क्रियापद है 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्यमें 'अस्मि' यह क्रियापद है । एवं जिस वाक्यमें क्रियापद श्रुत नहीं है, उस वाक्यमें योग्य क्रियापदका अध्याहार करके पदोंका परस्पर सम्बन्ध किया ही जाता है । 'आदि' पदसे 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादिमें 'वेद' और 'भवति' इत्यादि क्रियापद समझना चाहिए ॥ ६५ ॥

'**कर्मवाक्ये०**' इत्यादि । 'नद्यास्तीरे पञ्च फलानि सन्ति' यह वाक्य सिद्धार्थबोधक वाक्य है । प्रभाकर मिश्र आदि इसको प्रमाण नहीं मानते, इस विषयमें उनका कहना यह है कि वक्ता यदि प्रत्यक्ष प्रमाणसे यह जानकर कहता है, तो उक्तार्थमें प्रत्यक्षादि ही मुख्य प्रमाण माने जायँगे । ज्ञातज्ञापक शब्द केवल उसी अर्थका अनुवादक होता है, अतएव स्मरण प्रमाण नहीं माना जाता, किन्तु यथार्थ स्मरणमें भी मूलभूत अनुभव ही उस अर्थमें प्रमाण होता है । यदि प्रमाणान्तरसे नदीके तीरमें पाँच फल हैं, यह न जानकर ही उक्त वाक्यका प्रयोग करता है, तब तो अनाप्त शब्दके समान प्रमाण ही नहीं हो सकता । प्रकृत वाक्यार्थका यथार्थ ज्ञानवान् ही आप्त कहा जाता है । पौरुषेय वाक्योंमें आप्तवाक्य ही प्रमाण होता है। इस प्रकार सिद्धार्थक वाक्य, ज्ञातार्थक हो चाहे अज्ञातार्थक हो, कोई भी प्रमाण नहीं है । इसी प्रकार वेदान्त वाक्य भी सिद्धार्थक होनेसे प्रमाण नहीं हो सकता, इसका खण्डन करते हैं—कर्मवाक्यमें प्रमाणान्तराप्राप्त अर्थका बोध मानकर अनपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्य जैसे मानते हैं, वैसे ही वेदान्तवाक्यमें सिद्धार्थक होनेपर भी अनपेक्षत्वलक्षण प्रमाण्य अप्रतिहत है, कर्मके समान ब्रह्म भी प्रमाणान्तरागम्य अर्थ है, रूपवान् द्रव्य ही प्रत्यक्षादिग्राह्य होते हैं, आत्मामें रूप है नहीं, अतः वह प्रत्यक्षका भी विषय नहीं है । प्रत्यक्षके विषयमें ही अनुमानादि प्रमाण प्रवृत्त होते हैं, प्रत्यक्षका अविषय होनेसे अनुमानादिका भी आत्मा विषय नहीं है, अतः कर्मवाक्यके समान वेदान्तवाक्यमें भी अनपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्यमें बाधा नहीं है। नदीतीरफलोक्तिमें विशेष यह है कि उस वाक्यका अर्थ प्रत्यक्षादि प्रमाणके योग्य है और वेदान्तवाक्यका

फलानि चक्षुर्योग्यानि योग्यं ब्रह्म तु कस्य ते ।
प्रत्यक्षस्याऽनुमादेर्वा नाऽऽद्यो रूपादिवर्जनात् ॥ ६७ ॥
नेतीत्यस्थूलमित्यादिवाक्याद्योऽर्थोऽवगम्यते ।
योगिप्रत्यक्षतो वाऽयं कथं गम्येत तद्वद ॥ ६८ ॥

अथ प्रमाणान्तरायोग्य है, अतएव 'वेदान्ताः सापेक्षाः, सिद्धबोधित्वात्, नदीतीर फलोक्तिवत्' यह अनुमान असंगत है, क्योंकि मानान्तरयोग्यार्थकत्व इसमें उपाधि है। सारांश यह है कि उक्त वाक्यार्थ मानान्तरग्राह्य है। ब्रह्म अविषय होनेसे सर्वथा अग्राह्य है, यह विशेष अतिस्पष्ट है ॥ ६६ ॥

उपाधिमें साधनव्यापकत्वका निरास कहते हैं, '**फलानि**' इत्यादिसे ।

वेदान्त पक्ष है, सापेक्षत्व साध्य है। सिद्धबोधित्व हेतु है। यह हेतु नदीतीर-फलोक्तिमें और वेदान्तमें भी है। मानान्तरयोग्यार्थकत्व उपाधि है। साध्यव्यापक होकर साधनकी जो अव्यापक हो, वह उपाधि कहलाती है। उक्त उपाधि यदि वेदान्तमें भी रहेगी, तो साधनकी व्यापक होनेसे उपाधि ही नहीं हो सकती। परन्तु उक्त उपाधि वेदान्तमें नहीं है, कारण कि आत्मा मानान्तरयोग्य नहीं है, अतः साधनव्यापक न होनेसे उपाधि ठीक रही। सोपाधिक हेतु होनेसे उक्त अनुमान ही असङ्गत है। आप ब्रह्मको किस प्रमाणका योग्य कहते हैं? क्या प्रत्यक्षका या अनुमानादिका? प्रथम कल्प ठीक नहीं है, क्योंकि रूपवान् द्रव्यका प्रत्यक्ष होता है, आत्मामें रूप नहीं है, अतः वह प्रत्यक्षयोग्य नहीं है ॥ ६७ ॥

आत्मा प्रत्यक्षगम्य है, यह आपका कहना हम लोगोंके तात्पर्यसे है? अथवा योगीके तात्पर्यसे? रूपके निषेधसे हम लोगोंकी प्रत्यक्षयोग्यताका तो निराकरण कर चुके। द्वितीय पक्षके निराकरणके लिए आत्मा निर्विशेष है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—'**नेती०**' इत्यादिसे ।

'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' इत्यादि वाक्य एवं 'नेति नेति' इत्यादि वाक्यसे सकल धर्मोंका ब्रह्ममें निषेध कर अद्वितीय केवल चित्स्वरूप ब्रह्म कहा गया, वह योगियोंको भी कैसे प्रत्यक्ष हो सकता है? सो कहिये, भावनाप्रकर्षजन्य योगीका प्रत्यक्ष निर्विशेष वस्तुको भी स्वविषय करता है। जैसे अतीत, अनागत विप्रकृष्ट और व्यवहित वस्तुओंका योगीको प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही निर्विशेष वस्तुका भी प्रत्यक्ष होता है, अतएव योगिप्रत्यक्षमें विषयकी योग्यता अपेक्षित नहीं

यत्राऽप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् ।
पुरः सूक्ष्मादिदृष्ट्या स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥ ६९ ॥

होती; अन्यथा जैसे हम लोगोंको अविद्यमान विषयका प्रत्यक्ष नहीं होता, वैसे ही योगियोंको भी अविद्यमान विषयका प्रत्यक्ष नहीं होता, ऐसा भी कह सकते हैं॥६८॥

परन्तु योगज धर्मके प्रभावसे उनको अतीतादि विषयोंका प्रत्यक्ष होता है, यह प्रसिद्ध है, इसलिए ब्रह्म योगिप्रत्यक्षगम्य हो सकता है? इस शङ्काका निराकरण करते हैं—'यत्राऽप्य०' इत्यादिसे ।

जो आप यह कहते हैं कि योगज धर्मजन्य अतिशयसे सहकृत योगीकी इन्द्रिय ब्रह्मका भी ग्रहण कर सकती है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि अतिशय इन्द्रियोंको स्वविषयमें ही प्रवृत्त करा सकता है, अविषयमें नहीं। जैसे हम लोगोंका श्रोत्र समीपमें शब्द ग्रहण करता है, किन्तु योगियोंका श्रोत्र उक्त अतिशयसे सहकृत दूरस्थ शब्दोंका भी ग्रहण कर सकता है, यह कल्पना कर सकते हैं; परन्तु उक्त अतिशयसे सहकृत तदीय श्रोत्र रूपका भी ग्रहण करता है, यह कल्पना सर्वथा अयुक्त है। अन्यथा योगियोंको अनेक इन्द्रियोंकी आवश्यकता ही नहीं रह जायगी, उक्त अतिशयसे सहकृत एक ही इन्द्रियसे सब विषयोंका ग्रहण हो जायगा और शेष इन्द्रियाँ व्यर्थ हो जायँगी, अतएव सिद्धाञ्जन आदिसे सहकृत चक्षु दूरस्थ पदार्थका ग्रहण करनेपर भी शब्दका ग्राहक नहीं होता। जो अतिशय जिस विषयकी ग्राहक इन्द्रियमें आहित होता है, वह अतिशय उसी विषयका ग्रहण करानेमें तदिन्द्रियके उत्कर्षमें हेतु होता है, विषयान्तरमें नहीं। और यह नियम स्वाभाविक है कि वर्तमान समयमें यज्जातीय इन्द्रियसे यज्जातीय विषयका ग्रहण देखा जाता है, अतीत कालमें भी तज्जातीय इन्द्रियोंसे तज्जातीय विषयका ग्रहण होता था, यह कल्पना कर सकते हैं, विपरीत नहीं। इस समयमें किसीकी कोई भी इन्द्रिय ब्रह्मका ग्रहण करती नहीं देखी जाती, इसलिए कालान्तरमें भी किसीकी कोई भी इन्द्रिय ब्रह्मका ग्रहण करती थी, यह कल्पना नहीं हो सकती। निरङ्कुश कल्पनाका कोई मूल्य नहीं है। प्रत्युत उससे विपरीत यह अनुमान होता है कि 'विमतम् इन्द्रियं न ब्रह्म ग्राहकम्, इन्द्रियत्वात्, संमतवत्' सांप्रतिक इन्द्रियोंके समान कालान्तरीय इन्द्रियाँ भी ब्रह्मग्राहक नहीं थीं। 'अतीतः कालः-सर्वज्ञशून्यः, कालत्वात्, वर्तमानकालवत्' इस अनुमानसे सर्वज्ञका अभाव ही

तस्मादिन्द्रियगम्येषु शिल्पं कुर्वन्तु योगिनः ।
अतीन्द्रियं ब्रह्मतत्त्वं वाक्यादेव विजानते ॥ ७० ॥
व्याप्तिग्रहादिराहित्यान्नाऽनुमानादियोग्यता ।
नैरपेक्ष्यमतः सिद्धं वेदान्तानां विधेरिव ॥ ७१ ॥

सिद्ध होता है और असर्वज्ञ मनुष्य सर्वज्ञको कैसे जान सकता है ? सर्वज्ञता-विशिष्ट पुरुषके ज्ञानके लिए स्वयं सर्वज्ञ होना चाहिए । यदि आगम द्वारा सर्वज्ञताका ज्ञान कहो, तो अन्योन्याश्रय होगा, कारण कि उसके द्वारा प्रणीत आगमसे उसमें सर्वज्ञता मानोगे । इस परिस्थितिमें आगममें सर्वज्ञप्रणीतत्वका निश्चय उसकी सर्वज्ञताके अधीन होगा और उस पुरुषमें सर्वज्ञत्वका निश्चय आगममें सर्वज्ञप्रणीतत्व-निश्चयके अधीन होगा; अतः अन्योन्याश्रय स्पष्ट है । यह श्लोकवार्तिकके चोदना-सूत्रप्रकरणका ११४ वाँ श्लोक है; इसका अविकलरूपसे उपादान सुरेश्वराचार्यकृत बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकके द्वितीयाध्यायके चतुर्थ ब्राह्मणके १७४ वें श्लोकमें है, उसीका उपादान वार्त्तिकसारमें पुरःपदके साथ किया है, पुरःपदके प्रवेशकी कोई आवश्यकता नहीं है, 'यथास्थित' पाठसे ही प्रकृतार्थ संगत हो जाता है। यह श्लोक प्रायः अन्य ग्रन्थोंमें भी आया है, किन्तु पाठमें वार्त्तिकका ही उल्लेख देखा जाता है ॥६९॥

'तस्मादि०' इत्यादि । अतिशयसहकृत योगिप्रत्यक्ष भी ऐन्द्रियक पदार्थ तक ही सीमित है, अतः तादृश अर्थको, दूरस्थ होनेपर भी, योगिजन देखनेका कौशल प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु अतीन्द्रिय ब्रह्मतत्त्व आदिमें उनके प्रत्यक्षका प्रसर नहीं हो सकता । ऐकात्म्य अतीन्द्रिय है, अतएव वह योगिप्रत्यक्षका अविषय है । इससे उनको उसका ज्ञान वाक्यसे ही हो सकता है, दूसरा उपाय नहीं है ॥ ७० ॥

शङ्का—प्रत्यक्षका अविषय होनेपर भी लिङ्गादि द्वारा उसका ज्ञान हो सकेगा ?

समाधान—**'व्याप्तिग्रहादि०'** इत्यादि । साध्य और साधनके व्याप्तिरूप सम्बन्धका ग्रहण होनेपर ही अनुमान होता है, अन्यथा नहीं होता । सम्बन्ध-ग्रहण दृष्टान्तस्थलमें प्रत्यक्षसे ही हो सकता है । जो प्रत्यक्षका विषय है नहीं, उसके साथ साधनका सम्बन्धग्रह ही नहीं हो सकता । सम्बन्धग्रहके बिना अनुमान कैसे होगा ? अतः वह अनुमानगम्य भी नहीं है । जैसे आपके मतसे विधेयके प्रत्यक्षादिके अविषय होनेसे वेदमें निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्य सिद्ध होता है, वैसे ही हमारे मतमें भी अभिधाशक्तिके अतीन्द्रियार्थनिष्ठ होनेसे उपनिषदोंमें अनपेक्षत्वलक्षण

प्रामाण्य सिद्ध होता है। विधेयार्थके समान अभिधेय भी अतीन्द्रिय है। वेदान्तमें अनपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्य सिद्ध हो, इस इच्छासे ब्रह्मज्ञानमें विधिकी आवश्यकता जो आप कहते हैं, उसपर भी ध्यान दीजिये। प्रश्न यह है कि वाच्य ब्रह्मात्मैक्य नदीतीरफलके समान मानान्तरसे गम्य है या नहीं? प्रथम पक्षमें सैकड़ों विधियाँ माननेपर भी सापेक्षत्वका निरास नहीं हो सकता। द्वितीय पक्षमें विधिके विना भी उक्त लक्षण प्रामाण्य अनायाससे ही सिद्ध होता है, इसलिए विधिका स्वीकार व्यर्थ है, प्रत्युत सूक्ष्म दृष्टि देनेसे विधि माननेपर भी सापेक्षत्वकी प्रसक्ति दुर्वार है। अपनी सामर्थ्यको देखे विना कोई भी पुरुष विधेय अर्थमें प्रवृत्त नहीं होता, यह सर्वानुभवसिद्ध है; अतः विधिमें अनपेक्षत्व कैसे होगा? अतएव 'कृष्णलान् श्रपयेत्' यहां विधि देखनेपर भी पुरुषको यह ज्ञान है कि कृष्णलमें विकृति मैं नहीं कर सकता, अतः उसके उद्देश्यसे पुरुषकी उक्त पाकमें प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु अदृष्टार्थ घृतमें सन्तपनमात्रके उद्देश्यसे प्रवृत्ति होती है। इसलिए विधिमें भी पुरुषशक्तिसापेक्षत्व अनिवार्य ही है।

शङ्का—यदि पुरुषशक्तिसापेक्षत्वसे प्रामाण्यका भङ्ग मानियेगा, तो 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य भी अधिकारीकी ही प्रमितिके जनक होते हैं, अनधिकारीकी नहीं, इसलिए पुरुषशक्तिसापेक्षत्वसे प्रामाण्यका भङ्ग नहीं होता, अन्यथा वेदमात्रमें अप्रामाण्यकी प्रसक्ति हो जायगी। पुरुषशक्ति भावनान्तर है, मानान्तर नहीं है, अतः मानान्तरानपेक्षत्व होनेसे विधिपक्षमें भी अप्रामाण्यकी प्रसक्ति नहीं है।

समाधान—विधि नियोगरूप और जड है; मानान्तरके बिना उसमें शक्तिग्रह ही नहीं हो सकता, इसलिए उसको मानान्तरकी नियमसे अपेक्षा होती है। आत्मा स्वयंप्रकाश है, अतएव अप्रमेय है। मानान्तरके बिना शक्तिग्रह उसमें होता है। यह पूर्वमें उपपादन कर चुके हैं, अतः 'तत्त्वमसि' आदि श्रुति विधिरहित होकर ऐक्यका बोधन करती है, अन्य अनुष्ठान और अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं करती; अपनी महिमासे ही अधिकारीके प्रति ब्रह्मका बोधन कराती है। विधिसे वेदान्तमें यह विशेष है कि वेदान्त सर्वथा अनपेक्ष है, अतः उक्त रीतिसे शक्तिग्रहके लिए भी मानान्तरकी अपेक्षा नहीं है।

शङ्का—यदि वेदान्तको सर्वथा अनपेक्ष मानते हो, तो अव्युत्पन्नको भी 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे बोध होना चाहिए।

समाधान—शक्ति द्वारा जहाँ शब्द बोधक होता है, वहाँ शब्द मानान्तर

जीवावच्छेदहानिश्च विधिना नैव सिद्ध्यति ।
अविद्यया कल्पितस्य विद्ययैव निवर्तनात् ॥ ७२ ॥
अज्ञानबाधनं च स्याज्ज्ञानादेव विधेर्न तु ।
द्वैविध्यमप्यविद्यायां न युक्तं परकल्पितम् ॥ ७३ ॥

हो सकता है; प्रकृतमें शब्द शक्ति द्वारा ब्रह्मका बोधक नहीं है, क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतिसे 'ब्रह्म शब्दका विषय नहीं है, यह बार-बार कह चुके हैं ॥ ७१ ॥

चौथे विकल्पका निरास करते हैं—**'जीवावच्छेद०'** इत्यादिसे ।

अविद्यासे जीवका अवच्छेद अर्थात् कल्पित अविद्याकी हानि (ध्वस्ति) विधिसे सिद्ध नहीं होती; किन्तु विद्यासे अविद्याकी निवृत्ति होनेसे उसके द्वारा कल्पित अवच्छेदकी निवृत्ति हो जाती है, अतः तदर्थ विधि विफल है । भाव यह है कि यदि वैध ज्ञान फलवान् है, इसलिए उसमें विधि मानो, तो इसमें प्रश्न यह होता है कि विधिका फल भेदध्वंस कहते हो या अविद्यानिवृत्ति ? भेदध्वंस, क्योंकि विहित ज्ञानसे ही भेदका ध्वंस होता है ।

शङ्का—अच्छा, तो वह आविद्यिक है या वास्तविक ? द्वितीय पक्षमें उसकी निवृत्ति ही दुर्घट है, वस्तुकी निवृत्ति होती नहीं। प्रथम पक्षमें अविद्याकी निवृत्ति होनेसे उसके कार्य भेदकी भी निवृत्ति हो जायगी, उसके लिए विधि अनावश्यक है ॥७२॥

'अज्ञानबाधनम्' इत्यादि । अनवच्छिन्न यथार्थात्मैक्यज्ञानसे अवच्छिन्न आभासक अज्ञानकी निवृत्ति विरोधसे ही सिद्ध है, उसके लिए विधि निष्प्रयोजन है ।

शङ्का—अविद्या दो प्रकारकी होती है, एक तो उक्त ज्ञानसे बाधित हो जायगी, जैसा कि आप कहते हैं; किन्तु द्वितीय विधिसे ही निवृत्त होती है; अन्यथा नहीं, यह विधिवादीका कथन है; इसका निराकरण करते हैं—परकल्पित अविद्याद्वैविध्य अयुक्त है । अविद्याको तो अद्वैतवेदान्ती मानते हैं, मीमांसक नहीं मानते, अतः अविद्याद्वैविध्यकी कल्पना विधिके सार्थक्यके लिए करते हो या प्रयोजनान्तर भी है ?

प्रथम पक्ष तो अश्रद्धेय है । द्वितीय पक्षमें फल कहो । भाव यह है कि आश्रय और विषयके भेदसे अविद्या भिन्न हो सकती है, जैसे प्रमेयके भेदसे प्रमाण भिन्न माना जाता है । प्रकृतमें आश्रय और विषयके एक होनेसे अविद्याद्वैविध्य कैसे ?

अविद्यैका ज्ञानहेया विधिहेया तथेतरा ।
इत्येवं कल्पयन्त्येतत्तच्चाऽद्वैते कथं भवेत् ॥ ७४ ॥
विषयस्य विभेदेन ज्ञानानां स्याद्यथा भिदा ।
अज्ञानस्य तथा वाच्या नाऽद्वैते विषयेऽस्ति सा ॥ ७५ ॥

अद्वैतमतमें आश्रय और विषयका भेद हो नहीं सकता । अज्ञानभेदमें युक्ति यह है कि एक अज्ञान आत्माका आच्छादक होता है और दूसरा जगत्का कारण होता है, क्योंकि एक ही अज्ञान दोनों कार्य नहीं कर सकता ।

समाधान—यह दलील ठीक नहीं है, क्योंकि एकसे भी दो कार्य होते हैं । नहरसे लोग खेत सींचते हैं और स्नानादि कार्य भी करते हैं एवं प्रदीप प्रसादव्यापक आलोककारी और वर्त्तिविकारकारी होता है । जो विरुद्ध कार्य हैं, उन्हें एक नहीं कर सकता, पर अविरुद्ध अनेक कार्य एकसे होते हैं, इसमें अनेक दृष्टान्त हैं । आत्माका आवरण और जगत्सृष्टि ये विरुद्ध नहीं हैं, अतः ये दोनों कार्य एक ही अज्ञानसे हो जायँगे, इसके लिए अज्ञानद्वैविध्यकी अपेक्षा नहीं है ॥ ७३ ॥

अयुक्तत्वोपपादन करनेके लिए परपक्षका अनुवाद करते हैं—'**अविद्यैका**' इत्यादिसे ।

एक अविद्या ज्ञानहेय है और द्वितीया विधिहेय है, यह कल्पना जो आप लोग करते हैं, सो अद्वैतमें कैसे हो सकती है ? 'इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते' इस श्रुतिमें 'मायाभिः' इस प्रकार बहुवचनके निर्देशसे मायाभेद श्रुतिसिद्ध है, यह आशा अयुक्त है, क्योंकि 'अजामेकाम्', 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम्', 'तम आसीत्' 'अनृतेन प्रत्यूढाः', 'सम्भवाम्यात्ममायया', मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतान्तरन्ति ते' इत्यादि अनेक श्रुति और स्मृतियोंमें एकवचनान्त माया और तत्पर्य्यायवाचक शब्द देखनेसे माया एक ही मानी जाती है । एक माननमें लाघव भी है । अनेक मायाओंका स्वीकार करनेपर किसी कार्यकी अनुपपत्ति हो, तो अनेक मानना उचित होता है, अन्यथा नहीं । उक्त श्रुतिमें बहुवचन मायाशक्तिके भेदके तात्पर्य्यसे भी उपपन्न हो सकता है, अतः उसकी उपपत्तिके लिए उसके भेदकी कल्पना करना व्यर्थ है ॥ ७४ ॥

'**विषयस्य**' इत्यादि । अज्ञान अनादि है; अनादिका कारण नहीं माना जाता, अतः कारणप्रयुक्त भेद तो कह नहीं सकते । रह गया विषय-

विधेयतत्फलाभावादप्रवृत्तप्रवर्तनम् ।
दुर्घटं तेन पूर्वोक्तमज्ञातज्ञापनं भवेत् ॥ ७६ ॥
ननु चिद्रहिता वृत्तिर्नाऽस्तीति प्रतिपादितम् ।
उत्पन्नैव ततो विद्या किं शास्त्रेणेति चेच्छृणु ॥ ७७ ॥

भेद, तत्प्रयुक्त भेद भी अज्ञानमें सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि घट, पट आदि विषयोंके भेदसे जैसे घटादि ज्ञानमें भेद मानते हो, वैसे ही अज्ञानमें भी भेद कहोगे, वह अद्वैतमतमें बन नहीं सकता। वस्तुतः घटादिके भेदसे उसके ज्ञानका भेद भी नहीं माना जाता। विषयोंके भिन्न होनेपर भी संविद् एक ही है, इसका पूर्वमें निरूपण कर चुके हैं। भेदप्रत्यय औपाधिक है। एवम् अज्ञानभेद भी औपाधिक है, वास्तविक नहीं। हां, वृत्तिरूप ज्ञानके भेदके तात्पर्य्यसे 'यावन्ति ज्ञानानि तावन्ति अज्ञानानि' यह कहा जाता है, पर इसका तात्पर्य मूल अज्ञानके भेदमें नहीं है, किन्तु अज्ञानशक्तिके भेदमें है। अज्ञानमें अनेक शक्तियाँ हैं, अतएव अधिष्ठानज्ञानके बाद उसके भ्रमजनक अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर कालान्तरमें फिर उसमें भ्रम होता है, अथवा उसकी अवस्थाभेदसे भी उक्तकी उपपत्ति हो जाती है, इसलिए अज्ञानके भेदकी कल्पना करना सर्वथा असङ्गत है, अद्वैतमें विषयभेदकी सम्भावना नहीं है ॥७५॥

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' यह वाक्य आत्मदर्शनका विधायक नहीं है, इसके उपपादनका उपसंहार करते हैं—**'विधेय०'** इत्यादिसे।

पूर्वोक्त रीतिसे विधिके योग्य न तो कोई अर्थ ही है और न विधिका कुछ फल ही है, अतः अप्रवृत्तप्रवर्तनरूप विधि वेदान्तमें नहीं है, किन्तु अज्ञातज्ञापकत्व-रूप विधि है ॥ ७६ ॥

विधिके निराकरणके समय आपने यह कहा है कि बुद्धिवृत्तिमें चिदाकारता नित्य प्राप्त है। ऐसी परिस्थितिमें शास्त्रवैयर्थ्य अवश्यंभावी है, यह शङ्का करते हैं—**'ननु'** इत्यादिसे।

बुद्धिवृत्ति चिदुपहित नहीं है, यह पूर्वमें प्रतिपादन किया गया है, तब तो विद्या स्वतः उपपन्न है, शास्त्रकी क्या आवश्यकता? इसका शृणुसे उत्तर देते हैं—सुनो, जिस प्रकार शास्त्र आवश्यक है ॥ ७७ ॥

उत्पन्नमपि विज्ञानं प्रमातृत्वाद्युपग्रहात् ।
अनुत्पन्नवदाभाति तद्व्युत्पत्तेः पुरा नृणाम् ॥ ७८ ॥
व्युत्पाद्यते पुमाञ्छास्त्रादन्वयव्यतिरेकतः ।
व्युत्पादनमिदं प्रोक्तमज्ञातज्ञापनं बुधैः ॥ ७९ ॥

'उपपन्नम्' इत्यादि । यद्यपि आत्मा चिद्रूप है, अतः उसका ज्ञान सदा सिद्ध होनेसे तदर्थ श्रवणादिकी विधि व्यर्थ है, ऐसी शङ्का हो सकती है, तथापि विहित श्रवणादिसे जन्य ज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व प्रत्यगात्ममें ज्ञान सिद्ध है, इसलिए प्रमातृत्वादिके योगसे परिच्छेदाभिमान रहता ही है, अतः ज्ञान है सही, किन्तु अनुत्पन्नवत् प्रतीत होता है अर्थात् वेदान्तवाक्यश्रवणादिसे अनवच्छिन उदासीन आत्मज्ञान होता है, वह ज्ञान उसके पूर्व नहीं होता । यद्यपि स्वयंप्रकाश ताहश आत्मा पूर्वकालमें है, किन्तु शरीरेन्द्रियादिके अभिमानसे वह परिच्छिन्न प्रतीत होता है, अतएव उसका ज्ञान अनुत्पन्नवत् कहा जाता है, उसकी निवृत्तिके लिए ही वेदान्तश्रवणादिका विधान है ॥ ७८ ॥

'व्युत्पाद्यते' इत्यादि । वेदान्तशास्त्र अन्वय और व्यतिरेक द्वारा पुरुषको जब आत्मतत्त्वका व्युत्पादन कराता है अर्थात् प्रमातृत्वादिका व्यभिचार है, जाग्रत्स्वप्नावस्थामें प्रमाताका भान होता है, पर सुषुप्ति अवस्थामें प्रमातृत्वका भान नहीं होता, सुप्तोत्थितपरामर्शान्यथानुपपत्तिलिङ्गक परामर्शसे संविद्का भान वहां भी है । पूर्वावस्थामें तो सद्भावमें सन्देह ही नहीं, इसलिए अव्यभिचारी संवित् ही आत्मस्वरूप है, प्रमातृत्वादिका भान औपाधिक है । इस प्रकार जब वेदान्तशास्त्र जिज्ञासु पुरुषको वास्तविक आत्मस्वरूपकी शिक्षा देता है, तब उक्त पुरुषको वास्तविक आत्मज्ञान होता है । यद्यपि उपदेशसे पूर्व भी यह ज्ञान आत्मस्वरूप होनेसे प्राप्त ही है, तथापि मायासे आवृत था, अतएव अप्राप्तके समान प्रतीत होता था, उपदेशसे आत्माके आवरण मायाके अपनीत होनेपर पुरुष ताहश आत्मस्वरूपका निश्चय करता है । शास्त्र यदि व्युत्पादनार्थ हैं, तो उन्हें अज्ञातज्ञापनार्थ क्यों कहते हो, इसका उत्तर यह है कि पण्डित व्युत्पादनको ही अज्ञातज्ञापन कहते हैं ।

शङ्का—ईदृश व्युत्पादनसे पूर्व एतादृश बुद्धि नहीं हो, तो व्युत्पादनोत्तर होती है, इसलिए इसको आगन्तुक क्यों नहीं कहते ?

समाधान—नहीं जानता हूँ, यह अज्ञानविषयक बुद्धि स्वसाक्षिक सर्वानुभव-

अविचारितसिद्धचेतदज्ञातज्ञापनं त्वयि ।
नाऽद्वैते वास्तवं युक्तमितरव्यवहारवत् ॥ ८० ॥
अव्युत्पत्तिर्बन्धहेतुर्व्युत्पत्तिर्बन्धमोचनी ।
आत्मव्युत्पत्तये तस्माद्विधत्ते श्रवणादिकम् ॥ ८१ ॥

सिद्ध है, तो जानता हूँ, इस बुद्धिके विषयमें क्या कहना है ? ज्ञानत्वाज्ञानत्वकी साधक आत्मस्वरूपसंविद् ही है ॥ ७९ ॥

'अविचारित०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि उक्त व्युत्पादनको आवश्यक मानते हो, तो व्युत्पादक शास्त्रको सत्य मानना होगा । यथार्थका उपदेशक वाक्य अयथार्थ वा मिथ्या नहीं कहा जा सकता; सत्य और मिथ्याका यही परिचायक है । शास्त्रको सत्य मानोगे, तो अद्वैत-हानि हो जायगी । वेदान्तीके लिए यह दोष उभयतःपाशा रज्जूके समान है ।

समाधान—इस विषयका विचारके बिना ही आप अद्वैतमें दोष दे रहे हैं, इसलिए मेरा अनुरोध है कि इसपर आप पूरा विचार करें, सत्यका साधक (ज्ञापक) सत्य ही होता है, यह नियम नहीं है, धूलीपटलमें किसीको धूमभ्रम हो जाय और वह पुरुष उक्त हेतुको पर्वतमें देखकर अनुमान करे कि वह पर्वत अग्निमान् है और दैवगतिसे उसमें वस्तुतः अग्नि भी हो, तो कहिये, क्या यह अनुमान सत्य नहीं है ? क्या इसका कारण सत्य है ? यदि नहीं है, तो फिर सत्यका उत्पादक सत्य ही होता है, यह नियम कहां रहा ? एवं लिपिमें वर्णह्रस्वत्वदीर्घ-त्वादिज्ञानके मिथ्या होनेपर भी अर्थप्रतिपत्ति सत्य ही होती है । अतः प्रमात्वादि साधनसत्यत्वप्रयुक्त नहीं है, किन्तु विषयाबाधप्रयुक्त है, प्रकृतमें विषयका बाध नहीं है, इसलिए यह सत्य है, साधन बाष्पादिवत् असत्य हैं ॥ ८० ॥

पूर्वोक्त शास्त्रके अवैयर्थ्यका उपसंहार करते हैं—'अव्युत्पत्ति०' इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त शास्त्रकी अव्युत्पत्ति बन्धका (संसारका) हेतु है और उक्त प्रकारकी व्युत्पत्ति बन्धको छुड़ानेवाली है, अतः सहृदय श्रुति संसारबन्धनसे मुक्त करनेके लिए मुमुक्षुके प्रति श्रवणादिका विधान करती है । शम, दम आदि साधनसंपन्न अधिकारी पुरुष वेदान्त द्वारा श्रवण, मनन आदि द्वारा और आत्मतत्त्वके साक्षात्कारसे जगत्के उपादानभूत अज्ञानका समूल ध्वंस कर नित्य निरतिशय सुखस्वरूप ब्रह्ममें सम्पन्न हो जाता है, अतः शास्त्र सर्वथा सप्रयोजन है ॥ ८१ ॥

आत्मेत्येवेति सूत्रस्य द्विधा व्याख्या पुरोदिता ।
आत्मतत्त्वपरत्वेन तद्विचारपरत्वतः ॥ ८२ ॥
आत्मा द्रष्टव्य इत्युक्त्या तत्त्वधीरुपदर्शिता ।
श्रोतव्य इत्यादिना तु विचार उपदिश्यते ॥ ८३ ॥

'श्रोतव्यः' इस वाक्यके व्याख्यानकी इच्छासे उसके उपयोगी विद्यासूत्र द्वारा उक्त अर्थका स्मरण कराते हैं—'आत्मेत्येवेति' इत्यादिसे ।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस श्रुतिके दो अर्थ पूर्वमें किये गये हैं, एक आत्म-तत्त्वपरक और दूसरा तद्विचारपरक । 'आत्मा' यह प्रमेयका निर्देश है । 'द्रष्टव्य' में दृशधातुसे तव्यत्प्रत्यय है, उसका अर्थ है—दर्शन । 'वै' शब्दका स्मरण अर्थ है । 'वै' की अरेके साथ सन्धि है । 'एचोऽयवायावः' इस सूत्रसे 'आय्' आदेश हुआ है । यकारका 'लोपः शाकल्यस्य' इस सूत्रसे लोप हुआ है, अतः 'आत्मा वा अरे' यह सिद्ध हुआ । असलमें 'आत्मा वै अरे' यह शब्द समझना चाहिए । पूर्वोक्त रीतिसे दर्शनमें विधिका निरास कर चुके हैं । अब 'श्रोतव्यः' इसमें विधि हो सकती है, या नहीं ? इसका विचार करना है । एतदर्थ उक्त वाक्यका आत्म-विचारपरकत्वरूपसे भी व्याख्यान किया है ।

शङ्का—यदि 'द्रष्टव्यः' वाक्यघटक 'तव्यत्' प्रत्यय विधायक नहीं है, तो उसका प्रयोग किस तात्पर्यसे किया गया है ?

समाधान—'अर्हे कृत्यतृचश्च' इस पाणिनिके सूत्रसे 'अर्ह' अर्थमें 'तव्यत्प्रत्यय' हुआ है । जिस कारणसे सबसे अधिक प्रिय आत्मा है, अतः दर्शनार्ह है अर्थात् आत्मानात्मविभागवित् विवेकी दर्शनार्ह आत्माको ब्रह्म जानता है; यह अर्थ इस श्रुतिसे प्रतीत होता है । आत्मा दर्शनार्ह है, इस ज्ञानके अनन्तर उसके उपायकी जिज्ञासा होती है—किस उपायसे दर्शन हो ? अविशेषसे सब प्रमाणोंसे, यह अर्थ माननेपर ब्रह्म औपनिषद नहीं हो सकेगा । 'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इस श्रुतिसे उपनिषदेकगम्यत्व ब्रह्ममें निश्चित है । इस निश्चयके अनुसार वेदान्त ही आत्मदर्शनके उपाय हैं, अतएव 'श्रोतव्यः' यह कहा । इससे आत्मामें औप-निषदत्व सिद्ध होता है । 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः' इत्यादि स्मृति भी इसी अर्थको पुष्ट करती है ॥ ८२ ॥

'आत्मा' इत्यादि । 'आत्मा द्रष्टव्यः' इस वचनसे तत्त्वधीका प्रदर्शन कराया

श्रुत्यर्थाविष्कृतेर्हेतुः शब्दशक्तिर्विवेककृत् ।
श्रुतिलिङ्गादिको न्यायः प्रोक्तः श्रोतव्य इत्यतः ॥ ८४ ॥

गया है और 'श्रोतव्यः' इस वचनसे विचारका उपदेश किया गया है। 'सर्वमात्मैवाभूत्' इत्यादि वाक्यसे अद्वितीयात्मदर्शन ही तात्त्विक है, ऐसा कहा है, किन्तु यह ज्ञान हो कैसे ? इस जिज्ञासासे 'श्रोतव्यः' इस वाक्यसे साधनका उपदेश किया अर्थात् वेदान्तके श्रवण आदिसे उक्त दर्शन होता है ॥ ८३ ॥

'श्रुत्यर्थाविष्कृते०' इत्यादि। श्रुत्यर्थके आविर्भावमें हेतुभूत शब्दशक्तिके अर्थात् तदर्थनिरूपित तत्पदनिष्ठ शक्तिके ज्ञानके बिना तत्-तत् पदघटित वाक्यसे शाब्दबोध नहीं होता, अतः पदनिष्ठ शक्तिका ज्ञान शाब्दबोधमें कारण है, यह माना जाता है। तात्पर्य यह है कि श्रवणसे केवल शब्दकी आनुपूर्वीका प्रत्यक्ष ही यहां विवक्षित नहीं है, कारण कि वैसा प्रत्यक्ष तो अव्युत्पन्न पुरुषको भी होता है। यदि वही यहां श्रवणपदसे विवक्षित होगा, तो वह आत्मदर्शनका नहीं हो सकेगा। इसलिए यहां शब्दश्रवणके अनन्तर तदर्थविषयक संशय-निश्चयसाधारण शब्दज्ञान विवक्षित है, जो व्युत्पन्नको ही हो सकता है; अव्युत्पन्नको नहीं। शाब्दबोधमें कारण शब्दशक्तिग्रह है। श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या आदि सब न्याय श्रवणशब्दसे विवक्षित हैं। 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' यहांपर इन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यरूप लिङ्गसे 'ऐन्द्री' ऋक्का इन्द्रसंबन्धी कार्यमें विनियोग होना चाहिए, यह प्राप्त होता है और तृतीया-श्रुतिसे गार्हपत्य अग्निके उपस्थानमें विनियोग होना चाहिए, इस संशयसे वाक्यार्थबोध ही ठीक नहीं हो सकता, अतः श्रुति, लिङ्ग आदि न्यायकी आवश्यकता पड़ती है। लिङ्ग विलम्बसे विनियोजक होता है और श्रुति अविलम्बसे, क्योंकि लिङ्ग श्रुतिकी कल्पना कर विनियोजक माना जाता है, स्वतः नहीं। जबतक लिङ्गसे विनियोजक श्रुतिकी कल्पना करेंगे, तबतक श्रुतिसे विनियोग हो जाता है, इत्यादि पूर्वमीमांसामें स्फुट है। इसलिए शब्दज्ञानके हेतु जो शक्ति-ज्ञान आदि हैं, वे सब श्रोतव्यसे कहे गये हैं। शक्तितात्पर्यनिर्णायक श्रुति आदि लिङ्गोंसे ब्रह्मस्वरूप आत्मामें वेदान्ततात्पर्यनिरूपणात्मक श्रवण 'श्रोतव्य' पदसे विवक्षित है ॥ ८४ ॥

अर्थासम्भावनोच्छेदी तर्को मननमीरितम् ।
वेदशास्त्राविरोध्यत्र तर्को ग्राह्यो न चेतरः ॥ ८५ ॥

मननशब्दके अर्थको कहते हैं—'अर्थासम्भावनो०' इत्यादिसे ।
श्रुत अर्थकी असम्भावनाका निवर्तक तर्क मनन कहलाता है ।

शङ्का—तर्क अनेक हैं । यदि उन सबका संग्रह यहां अभीष्ट है, तो 'नैषामतिस्तर्केणापनेया' तर्कमें अनादर सूचन करनेवाली यह श्रुति असङ्गत हो जायगी ।

समाधान—वेद और शास्त्रका अविरोधी तर्क यहाँ उपादेयरूपसे विवक्षित है। वस्तुतः वेदादिसे विरोध न रखनेवाला तर्क ही तर्क कहा जा सकता है और उससे अन्य तर्काभास है अर्थात् वह तर्क ही नहीं है ।

शङ्का—तर्कका प्रकृतमें कैसे उपयोग है ?

समाधान—'तत्त्वमसि' इस श्रुतिके सुननेपर व्युत्पन्न पुरुषको यह बोध होता है कि तत्पदका अर्थ सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिसे समन्वित जगत्का उपादान परमात्मा है एवं त्वंपदका अर्थ सांसारिक सुख, दुःख और मोह आदिसे उपप्लुत संबोध्य जीव है। समानविभक्तिक दो वाक्योंसे 'नीलो घटः' के समान अभेदका बोध होता है; अतः प्रकृतमें भी जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, ऐसा ही श्रुतिको बोधन करना अभीष्ट है । परन्तु इस बोधमें अयोग्यताज्ञान प्रतिबन्धक है । 'वह्निना सिञ्चति' इत्यादि वाक्यसे शाब्दबोध नहीं देखा जाता, इसलिए योग्यताज्ञान भी शाब्दबोधमें कारण माना जाता है । प्रकृतमें अयोग्यताज्ञान प्रतिबन्धक होनेसे अथवा योग्यताज्ञानके विरहसे अभीष्ट बोध उक्त वाक्यसे नहीं हो सकता, ऐसी परिस्थितिमें तर्ककी अपेक्षा होती है, उक्त अन्वयव्यतिरेकादिमूलक तर्क द्वारा तत्पदसे वाच्य जगत्कारण प्रधानादिसाधारण नहीं है, किन्तु सच्चिदानन्दात्मक अद्वय ब्रह्म है । एवं त्वंपदवाच्य देहादिविशिष्ट उक्त आत्मा नहीं है, किन्तु उसका साक्षी है, इस प्रकार वाच्यवाचकका अवधारण तर्कसे किया जाता है । तदनन्तर साक्षी चिद्रूप है, जगत्कारण भी चीद्रूप ही है, इसलिए शोधित तत्त्वंपदार्थके अभेदबोधमें कोई अनुपपत्ति नहीं है । यद्यपि शब्द भी तत्त्वका निश्चायक होता है; तथापि असंभावना आदिकी निवृत्तिके लिए मननाख्य तर्क अवश्य अपेक्षित होता है। शब्द शाब्दबोधमें करण है, करणका सहकारी इतिकर्तव्यतारूप तर्क होता है ।

अपरायत्तबोधोऽत्र निदिध्यासनमुच्यते ।
ध्यानाशङ्कानिवृत्त्यर्थं विज्ञानेनेत्युदीरणात् ॥ ८६ ॥

कुठारसे वृक्षका छेदन करो, कैसे ? इस अपेक्षासे उद्यमन, निपातन आदि व्यापारकी आवश्यकता जैसे होती है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ ८५ ॥

'निदिध्यासितव्यः' इस श्रुतिसे उक्त निदिध्यासनशब्दका अर्थ कहते हैं—**'अपरायत्त०'** इत्यादिसे ।

शम, दम आदि साधनोंसे युक्त श्रवण, मनन करनेके अनन्तर 'तत्त्वमसि' वाक्यका अपरायत्त बोध होता है अर्थात् 'न परायत्तः पराधीनो बोधः' इस व्युत्पत्तिसे अपराधीन बोध होता है । तात्पर्य यह है कि उक्त प्रतिबन्धककी निवृत्तिसे उक्त वाक्यके अर्थका अनायास बोध होता है। वही यहाँ निदिध्यासनशब्दसे कहा गया है ।

शङ्का—अन्यत्र निदिध्यासनशब्दसे ध्यानका ही असकृद् व्यवहार किया जाता है; यहाँ उसीको क्यों नहीं कहते ?

समाधान—निदिध्यासितव्यका अर्थ उक्त शङ्काकी निवृत्तिके लिए उपनिषत् स्वयं कहती है—'श्रवणेन मत्या विज्ञानेन' इत्यादि । इससे निदिध्यासनशब्दसे तादृश ज्ञान ही यहाँ विवक्षित है ।

शङ्का—उपक्रमके अनुसार उपसंहारका होना समुचित है; क्योंकि उपक्रमानुसार ही प्रायः सर्वत्र उपसंहार माना जाता है । इसलिए 'विज्ञायते अनेन' इस करण-व्युत्पत्तिसे विज्ञान ध्यानार्थक ही हो सकता है ।

समाधान—ऐसा यहाँ नहीं हो सकता, कारण कि निर्विशेष वस्तुका ध्यान नहीं हो सकता । ध्यान मानस कर्म है, अतः मनोगोचर पदार्थका ध्यान हो सकता है । अद्वैत आत्मा निर्विशेष है, अतः 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतिसे उसका मानस ज्ञान ही नहीं हो सकता । यदि यहाँपर उसकी कल्पना कर, तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'सन्दिग्धे वाक्यशेषात्' इस न्यायसे जो पद सन्दिग्ध हो अर्थात् यह पद इस अर्थका वाचक है अथवा इस अर्थका ? ऐसा जहाँ संशय हो, उस अर्थका वाक्यशेषसे निर्णय करना चाहिए । अतएव 'अक्ताः शर्करा उपदधाति' यहांपर यह सन्देह होता है कि किससे चिक्कन करना चाहिए ? घृतसे या तेलसे अथवा चर्बीसे ? वाक्यशेषमें लिखा है कि 'तेजो वै घृतम्' । तेजःपदसे घृतकी स्तुति की गई है, स्तुति केवल

द्रष्टव्य इति विज्ञानमुद्दिश्य श्रवणं तथा ।
मननं च विधायाऽथ विज्ञानमवधिं जगौ ॥ ८७ ॥
श्रवणादिक्रिया तावत् कर्त्तव्येह प्रयत्नतः ।
यावद्यथोक्तं विज्ञानमाविर्भवति भास्वरम् ॥ ८८ ॥

स्तुति स्तुत्यकी स्तुतिके लिए नहीं की जाती, किन्तु उसके ग्रहणके लिए की जाती है। यदि प्रकृतमें घृतका ग्रहण करना न होता, तो वाक्यशेषसे उसकी स्तुति व्यर्थ हो जायगी, इसलिए घृतसे ही चिक्कन किया जाता है एवं प्रकृतमें भी वाक्यशेषमें श्रुत विज्ञानके अनुसार यहाँ निदिध्यासनसे उक्त ज्ञान ही विवक्षित है। वस्तुतः जबतक चित्त पूर्ण एकाग्र नहीं होता, तबतक ध्यानकी आवश्यकता है। पूर्ण एकाग्रता होनेपर सकृत् श्रुत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे अप्रतिबद्ध आत्मैक्य ज्ञान हो जाता है। यहां शम, दम आदि साधनोंसे परिशुद्ध चित्तके अनन्तर निदिध्यासन श्रुत है। प्रतिबन्धक अयोग्यताज्ञानकी निवृत्तिके लिए निदिध्यासन पूर्वमें कहा है। यहांपर अपरायत्तबोधविशेषण प्रतिबन्धादिके निरासके लिए है। यह निदिध्यासन नहीं है, किन्तु एतदुत्तरकालिक ज्ञानमात्र विवक्षित है, यही वाक्यशेषसे स्फुट होता है ॥ ८६ ॥

'द्रष्टव्य' इत्यादि ।

शङ्का—निदिध्यासनशब्दसे यदि निर्विशेषात्मज्ञानका ग्रहण करते हैं, तो 'द्रष्टव्यः' यहाँपर भी तो वही दर्शन मोक्षका उपाय होनेसे विवक्षित है; अतः पुनरुक्त दोषकी प्रसक्ति होगी।

समाधान—इसी ज्ञानका साधनत्वरूपसे विधानके लिए उक्त पदसे अनुवाद किया गया है। उक्त दोष अनुवादातिरिक्त विषयमें लागू होता है। द्रष्टव्यसे उसी ज्ञानका अनुवाद कर उसके साधनभूत श्रवण एवं मननका विधान कर कबतक साधनका अनुष्ठान करना चाहिए, इस अवधिजिज्ञासाकी निवृत्तिके लिए उक्त ज्ञानोत्पत्तिको ही अवधि कहते हैं। जबतक उक्त ज्ञान न हो, तबतक मनन आदि अपेक्षित हैं; इसी अभिप्रायको व्यक्त करनेके लिए श्रवण आदिमें शम, दम आदि विशेषण दिया गया है ॥ ८७ ॥

ध्यानापरपर्याय निदिध्यासनसे सहित श्रवणादिकी अन्तिम भूमिकाका सूचक उक्त ज्ञान है; इसको स्पष्ट करनेके लिए कहते हैं— 'श्रवणादि०' इत्यादि ।

श्रवण, मनन आदि उपायका अनुष्ठान तबतक प्रयत्नसे करना चाहिए,

अनन्यायत्तविज्ञाने श्रवणादेरुपायतः ।
ज्ञाने नाऽपेक्षते किञ्चित्प्रतीचोऽनुभवात्परम् ॥ ८९ ॥

जबतक निर्विशेष आत्मज्ञान उत्पन्न न हो । इस प्रकारके ज्ञानकी उत्पत्तिके बाद पुरुष कृतकृत्य और ज्ञातज्ञेय होकर मुक्त हो जाता है । भास्वररूपमोक्ष-फलक होनेसे विज्ञानको भास्वर कहा है । फलाव्यभिचारित्वका सूचन करनेके लिए उक्त विशेषण दिया गया है । पाठक्रमसे दर्शनादिका क्रम है । अङ्गोंके साथ अधीत वेदान्तसे प्रथम विचारप्रयोजक ज्ञान होता है, उसके बाद आगम और आचार्य्यसे श्रवण होता है, तदनन्तर मनन, तदनन्तर उक्त श्रवण आत्मज्ञानका हेतु होनेसे और मननका पूर्ण अनुष्ठान करनेसे असंभावनाशून्य सुस्थिर निदिध्यासनात्मक ब्रह्मज्ञान होता है, यह क्रम केवल श्रौत ही नहीं है; किन्तु आर्थ क्रम भी ऐसा ही है । जबतक श्रुतका मनन नहीं किया जाता, तबतक श्रवण करना चाहिए, श्रवण और मनन ही साक्षात् आत्मप्रतिपत्तिकी सामग्री है ॥ ८८ ॥

'**अनन्यायत्त०**' इत्यादि । श्रवण, मनन आदि उपायसे अनन्यायत्त उक्त विज्ञानके होनेपर विद्वान् फिर दूसरे किसीकी अपेक्षा नहीं करता, यह भाव है ।

शङ्का—शब्द द्वारा उक्त ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए उससे अतिरिक्त श्रवण आदिकी अपेक्षा यदि कहते हो, तो उक्त विज्ञानके होनेपर भी फिर किसीकी अपेक्षा होनी चाहिए ?

समाधान—स्वतःसिद्ध आत्माकार ज्ञान श्रवण आदिसे लब्ध होनेपर प्रत्यगात्माका आपरोक्ष्य लब्ध हो जाता है, इसलिए फिर विद्वान् किसीकी अपेक्षा नहीं करता । 'आत्मलाभान्न परं लाभः' इत्यादि अभियुक्त वचन ही अन्यानपेक्षामें प्रमाण हैं । ज्ञान होनेपर मोक्षको और किसीकी अपेक्षा होती है ऐसा पूछनेवालेके प्रति यह प्रश्न होता है कि क्या ज्ञानातिरिक्तसापेक्ष मोक्ष कहते हो या उक्त ज्ञानको मोक्षफलके लिए स्वातिरिक्त साधनकी अपेक्षा है यह कहते हो ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि जो जिस कार्यमें योग्य होता है, उस कार्यके लिए उसीकी अपेक्षा होती है, अयोग्यकी नहीं । मोक्षमें ज्ञान ही योग्य है, अतः अन्यकी अपेक्षा नहीं हो सकती । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि अद्वैतात्मविज्ञानसे अतिरिक्तका उपमर्दन होनेसे उक्त शङ्का ही अयुक्त है । क्योंकि 'यत्र सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुतिसे द्वितीयाभावका निश्चय होनेपर सद्वितीयकी अपेक्षा अयुक्त ही है । द्वैतभान होनेपर

ऐकात्म्याज्ञानविध्वंसाव्यतिरेकेण नेष्यते ।
ऐकात्म्यविज्ञानफलं प्राप्तमेव हि तत्स्वतः ॥ ९० ॥

इतर इतरकी अपेक्षा कर सकता है, अद्वैतभानमें नहीं, क्योंकि यह न्यायतः सिद्ध अर्थ है, एवम् 'आत्मा आत्मानं जानाति' यह बोध जहां वाक्यादिसे होता है, वहां शुद्धबुद्धिको प्रमात्रादिका अवश्य उपमर्दन होता है, शुद्ध अद्वितीय स्वयंप्रकाश आत्मा ही अवशिष्ट रहता है ।

शङ्का—आदिशब्दसे मानान्तरका भी आत्मामें संभव सूचित होता है या नहीं ? यदि हां, तो औपनिषदत्वका व्याघात होगा ।

समाधान—तर्क और परकीय अनुमान केवल पदार्थविषयक माना जाता है । केवल जीव एवं केवल ब्रह्मविषयक ही उक्त प्रमाण और तर्क है । वाक्यार्थ अखण्ड स्वप्रकाशरूपका वाक्यार्थ भान लक्षण या वाक्यसे ही होता है, अतः औपनिषदत्वमें क्षति नहीं है, क्योंकि शब्दसे भी अपरोक्ष ज्ञान अद्वैती मानते हैं ।

शङ्का—तर्क आदि पदार्थमात्रविषयक ही क्यों है ?

समाधान—अविशेषरूपसे दृष्ट पदार्थोंमें कोई आत्मा है और कोई अनात्मा है, यह विवेक तर्कके बलसे ही होता है, वाक्यार्थसे नहीं होता ?

शङ्का—क्यों ?

समाधान—कारण यह है कि तर्क आदि अविशेषवस्तुविषयक ही माने जाते हैं और वाक्यार्थ प्रकृतमें अखण्डैकरसव्यक्तिविषयक है ।

शङ्का—वाक्यसे जो आप आत्मज्ञान मानते हैं, वह अनात्माको भी विषय करता है या केवल आत्माको ही ? प्रथम पक्षमें आत्मामें स्वविशेषत्वकी प्रसक्ति दुष्परिहर होगी । द्वितीय पक्षमें ज्ञान परिच्छिन्नविषयक ही दृष्ट है, अतः वह भी तद्विषयक होनेसे असमीचीन हो जायगा ।

समाधान—अनात्मपदार्थ वस्तुतः प्रत्यग्के अज्ञानसे ही सिद्ध होता है, ज्ञान द्वारा उसके अज्ञानके नष्ट होनेपर अन्यत्वादिका प्रश्न ही नहीं हो सकता । आत्मा अद्वितीय है; द्वैत आविद्यिक है, यह सिद्ध होनेपर केवल आत्मामें अनुत्पन्न-ज्ञान नहीं है और न अध्यस्त अज्ञान ही है ॥ ८९ ॥

शङ्का—ऐकात्म्यज्ञानका फल यदि मोक्ष कहते हो, तो साधनाधीन होनेसे मोक्ष अनित्य हो जायगा ।

समाधान—**'ऐकात्म्यज्ञान०'** इत्यादि। अज्ञानध्वंससे अतिरिक्त ज्ञानका फल दूसरा नहीं है अर्थात् मोक्ष ज्ञानका मुख्य फल नहीं है, यह तो ज्ञानोत्पत्तिसे पूर्वमें भी है।

शङ्का—यदि पूर्वमें है, तो उसकी प्रतीति क्यों नहीं होती ?

समाधान—अज्ञानसे आवृत है; अतः उसकी प्रतीति नहीं होती, जैसे भूमिके नीचे जल सदा ही रहता है, किन्तु मिट्टीसे व्यवहित है, इसलिए वह प्रतीत नहीं होता। मिट्टीको खोदकर बाहर कर देनेसे जलकी उपलब्धि होती है। यहाँपर यह नहीं कह सकते कि खोदनेसे जल उत्पन्न हुआ है और पहले नहीं था, किन्तु पूर्वमें था ही, पर व्यवहित होनेसे प्रतीत नहीं होता था, व्यवधानको दूर कर देनेसे प्रतीत होने लगा, यही बात मोक्षके विषयमें भी कही जाती है, अतः मोक्षमें अनित्यत्वकी आशङ्का अयुक्त है। ऐकात्म्यज्ञानका फल मोक्ष नित्य प्राप्त है, अतः मोक्षमें औपचारिक कार्यत्व है, मुख्य नहीं है ?

शङ्का—सकार्य अविद्याकी निवृत्ति आत्मासे अन्य है, अथवा अनन्य ? प्रथम पक्षमें द्वैतापत्ति दोष होगा। द्वितीय पक्षमें अविद्यानिवृत्ति आत्मस्वरूप है और तत्स्वरूप ही मोक्ष है। उक्त निवृत्ति ज्ञानाधीन होनेसे तत्स्वरूप मोक्ष भी ज्ञानाधीन हुआ, इस क्रमसे अनित्यत्वापत्ति दोषका परिहार नहीं होगा।

समाधान—जैसे रज्जुमें सर्पकी निवृत्ति रज्जुस्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं है, वैसे ही आत्माकी अविद्यानिवृत्ति आत्मस्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं है। एतावता आत्मा ज्ञानकार्य नहीं हो सकता। ज्ञानाधीन अज्ञानध्वंस आत्मस्वरूपसे अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि अभावको अधिकरणस्वरूप प्राभाकारादि मानते हैं, अतः उत्तर ज्ञानसे पूर्व अज्ञानका ध्वंस आत्मामें आत्मरूप होनेपर भी आत्मा उत्तरज्ञानजन्य नहीं है। जैसे ज्ञानाधीन अज्ञानध्वंस रज्जुमें रज्जुस्वरूप होनेपर भी रज्जुज्ञानजन्य है ऐसा कोई नहीं मानता, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए।

शङ्का—सकार्य अज्ञानके ध्वंससे उक्त रीतिसे आत्मा सद्वय न सही, किन्तु ज्ञाता आत्मासे भिन्न है या अभिन्न ? आद्य पक्षमें आत्मा अद्वय नहीं हो सकता, द्वितीय पक्षमें कूटस्थत्व नहीं बनता।

समाधान—ज्ञातृत्वादि अद्वितीय आत्मामें कल्पित हैं, अतः आत्मासे भिन्न ज्ञाता नहीं है और न वास्तविक ज्ञातृत्व है, जिससे कूटस्थत्वकी अनुपपत्ति हो सकती हो, मरुमरीचिकामें कल्पित जलसे जैसे मरुभूमि आर्द्र नहीं होती, वैसे ही कल्पित ज्ञातृत्व आदिसे वास्तविक अज्ञातृत्व आदिकी क्षति नहीं होती।

नन्वनात्मा न विज्ञात आत्मदर्शनमात्रतः ।
ततोऽकृत्स्नत्वदोषश्चेन्मैवं सर्वस्य वेदनात् ॥ ९१ ॥
आत्मनो दर्शनेनेदं दृष्टं स्यादखिलं जगत् ।
प्रत्यङ्मात्रैकयाथात्म्यात् कार्यकारणवस्तुनः ॥ ९२ ॥
कार्यात्मा कारणात्मा च द्वावात्मानौ परात्मनः ।
प्रत्यग्याथात्म्यमोहोत्थौ मोहे नष्टे विनश्यतः ॥ ९३ ॥

शङ्का—अच्छा, ज्ञान आत्मासे भिन्न है या अभिन्न ? प्रथम पक्षमें अद्वैतकी हानि होगी । द्वितीय पक्षमें आत्मा सतत रहता है, अतः उससे अभिन्न ज्ञानके सातत्यसे अज्ञानका ध्वंस सदा ही रहेगा, इस परिस्थितिमें अज्ञानकी स्थिति दुर्घट है ।

समाधान—अद्वयवाक्यसे उत्पन्न बुद्धिमें प्रत्यग् आत्मा ही आरूढ़ होकर कार्य-सहित स्वकीय अज्ञानको भस्म करता है, अतः पूर्वोक्त दोषोंका अवकाश नहीं है ॥९०॥

'आत्मनो वा दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन इदं सर्वं विज्ञातम्' इस उत्तर वाक्यसे श्रवणादिजन्य ज्ञान सर्वविषयक है, यह ज्ञात होता है, इसकी व्याख्या करनेके लिए व्यावर्त्यकी शङ्का करते हैं—**'नन्वनात्मा'** इत्यादिसे ।

आत्मदर्शनमात्र—आत्ममात्रका दर्शन—अर्थात् आत्मातिरिक्ताविषयक आत्म-विषयक दर्शनसे अनात्म पदार्थका ज्ञान नहीं हो सकता, अतएव आत्मामें अकृत्स्नत्व असर्वज्ञत्व आदि दोष प्राप्त होता है । विद्यासूत्रमें जो यह कहा गया है कि आत्मज्ञानसे सब विदित हो जाता है, आत्मवेत्ताको कोई भी पदार्थ अविदित नहीं रहता, पर उसकी स्पष्ट ही असंगति है, क्योंकि केवल आत्माके ज्ञानसे तदितर कैसे विदित होगा ? घट-ज्ञानसे पट विदित नहीं हो सकता । 'मैवम्' से इस शङ्काका निरास करते हैं—सबका वेदन हो जाता है । भाव यह है कि कल्पित पदार्थ अधिष्ठानसे अति-रिक्त नहीं होता, अतः कल्पितका तत्त्व अधिष्ठान ही है । सबका अधिष्ठान ब्रह्म ही है, उसीमें सारा जगत् कल्पित है । ब्रह्मका ज्ञान होनेपर सकल कल्पित जगत् तत्त्वतः ज्ञात हो जाता है, यह कहना सर्वथा युक्तियुक्त ही है ॥ ९१ ॥

'आत्मनो' इत्यादि । आत्मदर्शनसे यह सम्पूर्ण जगत् दृष्ट हो जाता है । यह सब जगत् कार्यकारणात्मक है । कोई किसीका कारण है, कोई किसीका कार्य है, इस प्रकार कार्यकारणरूप जगत्का तत्त्व प्रत्यगात्मा ही है, अतः उसके ज्ञानसे सब जगत् ज्ञात हो जाता है, यह श्रुति यथार्थ ही कहती है ॥ ९२ ॥

'कार्यात्मा' इत्यादि । परमात्माकी दो आत्माएँ हैं—एक कार्यात्मा और

मोहतत्कार्ययोर्बाधे प्रत्यक् सर्वमितीर्यते ।
अतः प्रतीचि विज्ञाते सुलभं सर्ववेदनम् ॥ ९४ ॥
तत्रैवं सति यो मूढः समस्तव्यस्तरूपताम् ।
ज्ञातव्यां मन्यते तत्तु वेद एव निषेधति ॥ ९५ ॥

दूसरी कारणात्मा । प्रत्यक्-तत्त्वके मोहसे—आत्माके अज्ञानसे वे दोनों उत्पन्न होती हैं और कारणीभूत मोहका नाश होनेपर उसकी कार्यभूत उक्त दोनों आत्माओंका नाश हो जाता है ।

शङ्का—आत्माका अनात्माके साथ तादात्म्य ही सम्बन्ध हो सकता है । तादात्म्य भी साकल्येन कहियेगा, ऐसी अवस्थामें कल्पितका तत्त्व आत्मा कैसे हो सकता है ? प्रत्युत आत्माको भी कल्पित ही कहना होगा या अनात्माको भी परमार्थिक मानना होगा, अन्यथा सत् और असत्का तादात्म्य ही अनुपपन्न होगा ?

समाधान—अनात्मा विभक्त है और स्वतः अनात्मरूप है, अतएव आत्माके अज्ञानसे उसकी उत्पत्ति है। अज्ञानजन्य होनेसे शुक्तिरूप्यके समान मिथ्या जो मातृत्वादि हैं, उनका रूप आत्मा ही है। आत्माकी सिद्धि दूसरेके अधीन है और अनात्म पदार्थ आत्माधीनसिद्धिक है। अतः आत्मामें ही सब कल्पनाका अधिष्ठानत्व हो सकता है, अन्यत्र नहीं ।

शङ्का—अद्वय आत्मा ही सबका तत्त्व है, इसमें क्या प्रमाण ?

समाधान—'इदं सर्वं यदयमात्मा' यह उत्तर श्रुति ही प्रमाण है । यदि अनात्मा स्वतः तत्त्व होता, तो 'इदं सर्वं यदयमात्मा' यह कथन ही असङ्गत हो जायगा। जो घटको पटसे पृथक् तत्त्व मानते हैं, वे घटको पट नहीं कह सकते ॥९३॥

'मोहतत्कार्य्ययो०' इत्यादि । मोह—सकल पदार्थोंकी कल्पनाका मूल मोह (अज्ञान) और उसका कार्य जगत्—इन दोनोंका बाध होनेपर सब जगत् आत्मस्वरूप ही है, यह कहा जाता है । अतः प्रत्यगात्माके ज्ञात होनेपर सबका ज्ञान सुलभ है; अतएव केवल आत्मधीगम्यत्व अर्थसे अन्य जो भासित होता है, उसके दर्शनके निषेधके लिए 'सर्वं ब्रह्म' (सब ब्रह्म है) अर्थात् सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिए, ऐसा श्रुतिने कहा है ॥ ९४ ॥

'तत्रैवं सति' इत्यादि । उस अद्वितीय ब्रह्ममें जो मूढ याने अविवेकी पुरुष हैं, वे अपनेमें कर्यकारणत्वको देखते हैं, उसका वेद ही निषेध करता है । 'तन्तु' ऐसा पाठ होना चाहिए । 'तत्तु' यह पाठ प्रकृत अर्थके अनुकूल नहीं है। 'सर्वं तं परादाद्

श्रुतिः—ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद, क्षत्रं तं परादाद्यो-

योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' इत्यादि श्रुतिसे अनात्मदर्शी पुरुषकी ही निन्दा की गई है। वार्तिकमें—

'तत्रैवं सति यो मूढः कार्यकारणदर्शनः।
पराङ्मुखं निदध्यात्तमात्माकृत्स्नत्वदर्शिनम् ॥'

ऐसा पाठ है। यही अर्थ वार्तिकसारकारको भी विवक्षित है, पर उसमें केवल शब्दभेद कर दिया गया है। 'यो मन्यते तन्निषेधति' यही अन्वय समुचित है। गीतामें भगवान्ने स्वयं ऐसा कहा है—

'ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नाऽसदुच्यते ॥
यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मिन् लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥' इत्यादि।

इसका अर्थ अतिस्पष्ट है, इसलिए श्लोकस्थ प्रत्येक पदके अर्थको छोड़कर संक्षेपसे तात्पर्यार्थको सूचित करते हैं—अर्जुनके प्रति भगवान्ने मुक्तिसाधन ज्ञानका उपदेश दिया है—'यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते'। इससे यह स्पष्ट है कि ज्ञान ही मुक्तिका साधन है। ज्ञानका निरूपण ज्ञेयनिरूपणके अधीन होता है अर्थात् ज्ञान ज्ञेय-परतन्त्र है, अतः ज्ञेयस्वरूपके निरूपणकी परम आवश्यकता होती है। ज्ञेय प्रकृतमें अनादिनिधन है। अर्थात् 'आदिश्च निधनं च आदिनिधने न आदिनिधने यस्य तत्' इस व्युत्पत्तिसे उत्पत्तिविनाशशून्य याने कूटस्थ नित्य, जो सत् और असत् दोनों नहीं कहा जा सकता, यह अर्थ है।

शङ्का—असत् नहीं है, यह कहना तो ठीक है, किन्तु सत् क्यों नहीं कह सकते, अबाध्यत्वरूप सत्त्व तो उसमें मानना उचित है।

समाधान—सत्त्वधर्म जिसमें मानते हैं, उसीको सत् कहते हैं। अथवा 'सद्' इत्याकारक प्रतीतिका विषय सत् कहा जाता है। प्रकृतमें न तो उसमें सत्ताधर्म ही है और न तादृश प्रतीतिका विषय ही है। वह केवल विषयी है, इसलिए उभयथा प्रतिषेध किया गया है एवं मूर्तामूर्तादिधर्मशून्यताके बोधनके लिए भी उक्त विशेषण है ॥९५॥

'ब्रह्म तं पराद०' इत्यादि श्रुति।

न्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद, लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद, देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद, भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद, सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानि इदꣳ सर्वं यदयमात्मा ॥ ६ ॥

शङ्का—आत्मज्ञानसे सब ज्ञात हो जाता है, ऐसा पूर्वमें कहा, उसमें सन्देह यह है कि घटज्ञानसे पट ज्ञात नहीं होता, कारण कि पट घटसे भिन्न है, अत-एव तत्-तत् वेद्यके ज्ञानके लिए तत्-तत् शास्त्रका अध्ययन करना पड़ता है, यह सर्वलोकप्रसिद्ध है। फिर इसके विपरीत आत्माके विदित होनेपर सब विदित हो जाता है, इस कथनका अभिप्राय समझमें नहीं आता।

समाधान—सत्य है, यह कठिन अर्थ है, अतएव श्रुति स्वयं इस अर्थको समझाती है। श्रुतिका कथन है कि आत्मासे अतिरिक्त कोई पदार्थ ही नहीं है, जो कुछ देखते और सुनते हैं, वह सब आत्मा ही है। आत्मभेद आविद्यिक है। यदि यह ज्ञान आपको हो जाय कि वस्तुतः सब आत्मा ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है, तो उक्त प्रतिज्ञा समुचित ही प्रतीत होगी। अतएव ध्यान देकर सुनिये और मनन कीजिए, तदनन्तर उक्त अर्थ आपके हृदयमें स्थिर हो जायगा।

अच्छा, तो समझाइये, कैसे सब आत्मा ही है? सुनो, ब्राह्मण जाति उस पुरुषका निराकरण करे, जो ब्राह्मणजातिको अपनेसे भिन्न समझता हो।

शङ्का—क्या अपराध है?

समाधान—अपराध यह है कि वह ब्राह्मणजातिको परमात्मासे अतिरिक्त देखती है, वस्तुतः परमात्मा ही ब्राह्मणजाति है, फिर भी उससे व्यतिरिक्त उक्त जातिको मानता है, यही अपराध है। एवं क्षत्रियजाति उस पुरुषका निराकरण करे जो स्वव्यतिरिक्त परमात्माको देखता है। क्षत्रसमभिव्याहारसे पूर्वमें ब्रह्मशब्द ब्रह्मका बोधक नहीं है, किन्तु ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टका बोधक है। ब्रह्मशब्द अनेकार्थक है, अतः 'ब्रह्म वेद ब्राह्मणः' इत्यादिका बोधक ब्रह्मशब्द है। अनेकार्थक शब्दोंके अर्थविशेषका निर्णय प्रकरणसे होता है एवं लोक, देव और भूतका भी पूर्वोक्तानुसार अर्थ है। जितने पूर्वमें कहे हैं, सब आत्मा ही हैं, जो 'आत्मा द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्यादिसे प्रक्रान्त है, कारण कि सब ब्रह्मसे ही उत्पन्न होते हैं, ब्रह्म ही में ही रहते हैं और उसीमें लीन होते हैं, अतः ब्रह्म सबका उपादान कारण है, कारणसे अतिरिक्त कार्य नहीं है, यह तन्तुपट और मृद्घट आदिमें प्रसिद्ध है।

यो विप्रजातिं चैतन्यादन्यद्वस्त्वभिमन्यते ।
कैवल्यात्तं पराकुर्याद्विप्रजातिः पराङ्मुखम् ॥ ९६ ॥

'यो विप्रजातिं च' इत्यादि । जो पुरुष विप्रजातिको चेतन्य आत्मस्वरूपसे अतिरिक्त मानता है, कैवल्यसे (मोक्षसे) पराङ्मुख उस पुरुषको विप्रजाति कैवल्यसे निराकरण करे, कारण कि वह अधिकारी नहीं है । उसका यही अपराध है कि जो विप्रत्वादि जाति आत्मामें नहीं है, उसको आत्मामें देखता है और जो आत्मत्व आदि हैं, उनको नहीं देखता, अतः वह विपरीतदर्शी है ।

शङ्का—क्या आप जाति पदार्थको नहीं मानते ?

समाधान—नहीं मानते ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—न कुछ प्रमाण है और न कोई उपपत्ति ।

शङ्का—जातिके न माननेपर अनेक घटादि व्यक्तियोंमें समान बुद्धि और समान शब्दप्रयोग कैसे होगा ? क्योंकि एक विषयके बिना समान ज्ञान तथा समान शब्द-का प्रयोग नहीं होता, अन्यथा घट, पट आदिमें भी तथाव्यवहारकी आपत्ति होगी ।

समाधान—जाति आदिमें जाति नहीं है, तो भी तथाव्यवहार होता ही है । अपि च आप जातिको भाव और क्रियाशून्य पदार्थ मानते हैं, उसमें आपसे प्रश्न करते हैं कि जहां घट उत्पन्न होता है, वहां घटत्व है नहीं, फिर उस घटमें घटत्व आया कहांसे ? यदि घटत्वको वहां मानो, तो घटवत्ताप्रतीति हो जायगी । यदि देशान्तरस्थ घटसे घटत्वका आगमन वहाँ मानो, तो घटत्वमें व्यापार है नहीं, फिर वहांसे आया कैसे ? और आनेपर पूर्व घट घटत्वशून्य हो जायगा, क्योंकि घटत्वको आप एक ही मानते हैं। एवं वह पूर्व आश्रयको छोड़ता नहीं, उसमें क्रिया भी नहीं है, जहांपर घट उत्पन्न होता है, वहां है नहीं, घट होनेपर उसमें घटत्व आता है, घट नष्ट होनेपर घटत्व नष्ट नहीं होता, फिर भी उसकी प्रतीति नहीं होती, इसमें क्या कारण ? दो घटके बीचसे यदि कोई निकलता है, तो घटत्व व्यवधायक क्यों नहीं होता ? और आश्रय घटादिमें घटत्व सर्वात्मना रहता है या एक देशसे ? प्रथम पक्षमें एक ही व्यक्तिमें समाप्त हो जायगा, दूसरी व्यक्तिमें रहेगा ही नहीं । उसका एकदेश तो निरवयव होनेसे है नहीं, अतः एकदेशसे रहता है, यह कहना बन नहीं सकता और सब आश्रयोंमें पर्य्याप्त होनेसे शतत्व संख्यादिके समान सम्पूर्ण आश्रयोंके ग्रहणसे ही

ब्राह्मणोऽहमिति भ्रान्त्या बृहस्पतिसवादिषु ।
प्रवृत्तो लभते जन्मेत्येषैवाऽस्य पराक्रिया ॥ ९७ ॥
विप्रत्ववत् क्षत्रलोकदेवभूतादिकं जगत् ।
स्वस्माद्भेदेन पश्यन्तं क्लेशयेदपराधिनम् ॥ ९८ ॥

गृहीत होगा। यावत् आश्रयोंका असर्वज्ञ पुरुष ग्रहण नहीं कर सकता, अतः घटत्वादिका प्रत्यक्ष भी दुर्घट ही है। एवं यदि घटादिव्यक्तिको घटत्वादिकी अभिव्यञ्जक मानते हैं, तो अभिव्यञ्जकतावच्छेदक धर्म एक और घटत्वादिसे अतिरिक्त मानना पड़ेगा एवं उस अभिव्यञ्जकतावच्छेदक धर्मको ही घटत्वादिकी स्थितिमें नियामक कहियेगा, नियामक धर्मका भी नियामक अन्य धर्म मानना पड़ेगा एवं उसका भी मानना पड़ेगा, इस प्रकारसे अनवस्था दोष होगा। यदि किसी धर्मको नियामकके बिना ही नियत मानियेगा, तो फिर किसी नियामककी आवश्यकता नहीं रहेगी। अन्तिम धर्मके समान धर्मान्तर भी स्वयं नियत हो जायंगे इत्यादि रीत्या विचार करनेपर जात्यादिकी व्यवस्थापक युक्ति आदि, बालूके कुएकी तरह, स्वयं भसक जाते हैं, अतः जात्यादि शुक्तिरजत आदिके समान कल्पित हैं, कल्पितका तत्त्व अधिष्ठान ही होता है, इसलिए ब्राह्मणत्व आदि जाति आत्मस्वरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, इसी कारण भेददर्शीकी निन्दा की गई है, वास्तविक निन्दा नहीं है, किन्तु तत्त्वकथन है ॥ ९६ ॥

'ब्राह्मणो०' इत्यादि। 'ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेत' इस वाक्यसे आत्मामें ब्राह्मणत्वका अभिमान करनेवालेके प्रति बृहस्पतिसव यागका विधान किया गया है। क्षत्रियत्वाद्यभिमानियोंका उक्त यागमें अधिकार नहीं है। परन्तु आत्मामें ब्राह्मणत्वादि जाति नहीं है, फिर भी उक्त यागके कर्ताको अपनेमें ब्राह्मणत्व मानकर उक्त याग करना पड़ता है, इसी अपराधसे उसको फिर जन्म ग्रहण करना पड़ता है। ब्राह्मणत्वादि जाति शरीरमें मानी जाती है। शरीर आत्मा नहीं है, अतः 'अहं ब्राह्मणः' इस ज्ञानको भ्रमात्मक ही मान सकते हैं, क्योंकि उसमें ब्राह्मणत्व नहीं है। शरीरविशिष्ट आत्मामें उक्त प्रतीति सबके मतसे भ्रम है। एवं 'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत', 'गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देत' इत्यादि विधि आत्मामें वय, आश्रम आदिका अध्यास करनेवालोंके उद्देश्यसे तत्-तत् कर्मकी विधायक है, अतः कर्मकाण्डमात्र अनात्मज्ञके लिए है ॥ ९७ ॥

'विप्रत्ववत्' इत्यादि। विप्रत्वके समान लोक, देव, भूत आदि मन्त्रोक्त जगत्

यदस्ति तन्न जानाति यन्नेहाऽस्ति तदीक्षते ।
इत्येवमपरोधोऽस्य विद्यते भेददर्शिनः ॥ ९९ ॥
योऽन्यथासन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणाऽऽत्मापहारिणा ॥ १०० ॥

अपनेसे भिन्न आत्माको देखनेवालोंको क्लेश देता है ॥ ९८ ॥

'यदस्ति' इत्यादि । आत्मामें आत्मत्व है, उसको नहीं जानता और जो इस आत्मामें विप्रत्वादि नहीं है, उसको देखता है, यही भेददर्शीका अपराध है । जैसे कर्तव्यको न करनेवाला और अकर्तव्यको करनेवाला अपराधी माना जाता है, वैसे ही उपनिषद्में जो अद्रष्टव्यको देखता है और द्रष्टव्यको नहीं देखता है, वह अपराधी समझा जाता है, ऐसा भगवान् श्रीवेदव्यासने स्पष्ट ही कहा है ॥९९॥

'योऽन्यथा' इत्यादि । जो अन्यथास्थित आत्माको अन्यथा समझता है । उस आत्मोपहारी चोरने क्या पाप नहीं किया ? अर्थात् पाप किया ही । निर्विशेष स्वयंप्रकाश आत्माको जातिसे विशिष्ट समझना यह महापाप है । भाव यह है कि जो आत्मतत्त्वको नहीं जानता और वह यदि जात्यादिसे विशिष्ट आत्माको जाने, तो मिथ्या ज्ञात जाति आदि उस अयथादर्शी पुरुषको कैवल्यसे नीचे गिराते हैं, इसलिए आत्माका अपहार अच्छा नहीं है ।

शङ्का—जात्यादि आत्मासे भिन्न है या अभिन्न ? प्रथम पक्षमें अद्वैतहानि स्फुट है, द्वितीय पक्षमें अनात्मासे यदि आत्मा अभिन्न है, तो आत्मा भी अनात्मा हो जायगा । अनात्माके अभेदसे अनात्मत्वप्रसक्ति ही दृढ़ होती है ।

समाधान—अनात्मा और उसका ज्ञान—ये दोनों स्वरूपसे परस्पर व्यभिचारी हैं, अतः उसमें सदा अव्यभिचारीरूपसे जो एक सत् देखा जाता है, वही अनात्माका तत्त्व है, उससे अतिरिक्त अनात्मा है ही नहीं ।

शङ्का—'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य अद्वितीयात्मविषयक ज्ञानको अनात्मभूत जाति आदिका बाधक मानते हो, इसमें प्रश्न यह होता है कि आत्माके अज्ञानसे जैसे जाति आदिकी उत्पत्ति है, वैसे ही उक्त वाक्यजन्य ज्ञानकी भी उसीसे उत्पत्ति है; अतः समानकारणजत्वसे जाति आदिका बाधक जैसे उक्त वाक्यजन्य ज्ञान होता है, वैसे ही ज्ञानके बाधक जाति आदि नहीं होते, इसमें क्या विनिगमक है ? जाति आदिसे कालमें भी तात्पर्य है, क्योंकि काल सबका उत्पादक और नाशक है, ऐसा शास्त्रकार मानते हैं ।

अपोदितत्वाज्जात्यादिदर्शनस्येह किं पुनः ।
द्रष्टव्य इत्यतो वक्ति सर्वाखण्डत्वदर्शनम् ॥ १०१ ॥
प्रत्यक्त्वेन य आभाति प्रत्यग्बुद्धिप्रमाणकः ।
तावन्मात्रैकयाथात्म्यमुक्तं जात्यादि दृश्यताम् ॥ १०२ ॥

समाधान—दोनों अज्ञानज हैं, यह ठीक है; किन्तु वाक्यजन्य ज्ञान आत्माकार होता है, ज्ञानसे आकार ही अनुभवसिद्ध है, ज्ञेय आत्मा है, उसके बलसे ज्ञान बलवान् है । काल आदिमें उक्त बल नहीं है, इसलिए वे दुर्बल होनेसे बाध्य हो जाते हैं। कालादिका भी तत्त्व यद्यपि आत्मा है, तथापि वह ज्ञेय नहीं है, इसलिए अर्थतः ज्ञान ही बलवान् है, अतएव जात्यादिका बाधक है, बाध्य नहीं है, एवं 'ब्रह्म तं परादात्' इत्यादिका अर्थ हो चुका। इससे सारांश यह निकला कि आत्माके अयथार्थ ज्ञानसे संसार होता है और उसके समीचीन ज्ञानसे मोक्ष होता है ॥ १०० ॥

'अपोदितत्वात्' इत्यादि । जात्यादिदर्शनका पूर्वमें निरास कर ही चुके हैं, फिर यहां क्यों 'द्रष्टव्य' इससे सर्वाखण्डत्वको दर्शन कहते हैं ? ॥ १०१ ॥

'प्रत्यक्त्वेन' इत्यादि । 'प्रत्यग्बुद्धिः प्रमाणं यस्य स प्रत्यग्बुद्धिप्रमाणकः', अर्थात् जड़ स्वयं सिद्ध नहीं होता, किन्तु तद्विषयक आत्मबुद्धि ही उसकी साधिका होती है। 'अयं घटः' इत्यादि बुद्धिसे ही घटादि विषयकी सिद्धि होती है। वृत्तिरूप बुद्धि यद्यपि जड़ है, तथापि तदवच्छिन्न चैतन्यात्मक बुद्धि ही प्रमाण है, अतः यथार्थमें तावन्मात्र ही जात्यादि है, यही समझो ।

शङ्का—नाम, जाति आदिसे संयुक्त जगत् है, तब आत्माको ही कैसे समझें ? ऐसा समझना सहज नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण बाधक है ?

समाधान—निर्विशेष अबाधितात्मबोधसे जगत् व्याप्त है, अतः उससे अतिरिक्त जगत्की सत्ता नहीं कह सकते ।

शङ्का—जितना देखते हैं, वह सब चिन्मात्र है, ऐसी बुद्धि तो हम लोगोंकी होती नहीं, फिर किस बलसे जगत्को आत्मा समझें ?

समाधान—वेदान्तके श्रवण, मनन आदिसे जिनका चित्त अद्वैतात्मवासनासे वासित है, उनको यह सब चिन्मात्र ही है, तदतिरिक्त नहीं है, ऐसी बुद्धि होती है; अतः सम्पूर्ण जगत् नित्यबोधात्मस्वरूप है और केवल तादृश विद्वानोंकी ही उक्त

एवं श्रोतव्य आत्माऽयं समाप्तः श्रवणे विधिः ।
कथं मन्तव्य इत्यत्र दुन्दुभ्यादिनिदर्शनम् ॥ १०३ ॥

श्रुतिः—स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ७ ॥

बुद्धि होती है, दूसरेको नहीं, ऐसी बात नहीं है, हम लोगोंको भी इसका ज्ञान होता है। सब बोधोंमें जो बोध अव्यभिचारी है, उस अव्यभिचारी अतएव प्रमाण-भूत बोधसे उपस्थापित जो अर्थ है, वह अकल्पित होनेसे परमार्थ है और व्यभिचारी बोधोंसे उपस्थापित जो अनात्मवर्ग है, वह कल्पित अतएव अवस्तुसत् है, कल्पितका अकल्पित ही तत्त्व होता है, तदतिरिक्त नहीं होता । शुक्तिरूप्यका तत्त्व शुक्ति ही होता है, इस रीतिसे विचार करनेपर सब जगत् चिन्मात्र है, ऐसा ज्ञान विवेचकोंको भी होता है ॥ १०२ ॥

'स यथा दुन्दुभे०' इत्यादि वाक्यका वृत्तानुवादपूर्वक अवतरण कहते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

'अयमात्मा श्रोतव्यः' इस प्रकार जो श्रवणमें विधि है, वह यथोक्त रीतिसे समाप्त हुई अर्थात् शक्तितात्पर्यानुसारी विचार समाप्त हुआ । अनन्तर 'मन्तव्यः' इस मननविधिके विस्तारके लिए अग्रिम सन्दर्भ है। इसीमें दुन्दुभ्यादि दृष्टान्त हैं ॥१०३॥

'स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य' इत्यादि श्रुति ।

शङ्का—यह संपूर्ण जगत् आत्मा है, यह कैसे जान सकते हैं ?

समाधान—चूँकि सब जगह चिन्मात्रका अनुगम होता है, इसलिए सबचिन्मात्र है, ऐसा समझो । इसमें दृष्टान्त कहते हैं—जिसके स्वरूपके बिना जिसका ग्रहण न होता हो, वह तदात्मा है, यह लोकमें दृष्ट है। जैसे दुन्दुभि (नगारे) पर दण्ड द्वारा आघात करनेसे जो बाह्य शब्द होते हैं, वे दो प्रकारके होते हैं—एक सामान्य और दूसरा विशेष । कितना ही निपुण पुरुष क्यों न हो, लेकिन वह सामान्य शब्दोंसे अलग कर विशेष शब्दोंका, कोश (मियान) से रहित तलवारके समान, ग्रहण नहीं कर सकता । दुन्दुभिशब्दरूप सामान्यका ग्रहण करनेपर ही उसके विशेष शब्दोंका ग्रहण होता है, कारण कि सामान्यमें ही विशेष कल्पित है ।

शङ्का—विशेषके ग्रहणके बिना सामान्यका भी ग्रहण नहीं होता, क्योंकि

स्थितौ जनौ लयेऽप्येतज्जगदात्मातिरेकतः ।
नाऽस्तीत्येतत् क्रमेणाऽत्र दृष्टान्तैः प्रतिपाद्यते ॥ १०४ ॥
यथा दुन्दुभिशब्दत्वसामान्यादुत्थितात् पृथक् ।
नाऽऽदातुं शक्नुयात् कश्चिद्विशेषानसिकोशवत् ॥ १०५ ॥

विशेषकूटसे अतिरिक्त सामान्य भी तो नहीं है, अतः विशेषमें ही सामान्यकी कल्पना क्यों नहीं करते ?

समाधान—विशेषके बिना भी सामान्यका ग्रहण होता है । जैसे बाजारके समीप जानेपर दूरसे सांय सांय शब्दका श्रवण होता है, किन्तु यह नहीं जाना जा सकता कि विशेषतया कौन शब्द हो रहा है ? समीप जानेपर वह विशेषरूपसे व्यक्त हो जाता है, एवं दूरसे वृक्षसामान्यकी प्रतीति होती है, वृक्षविशेषकी नहीं। समीप जानेपर 'यह शिंशपा है' इस प्रकार विशेषका भान होता है । इससे सिद्ध होता है कि सामान्यकी प्रतीतिके अनन्तर ही विशेषकी प्रतीति होती है, इसलिए यही मानना चाहिए कि सामान्यमें विशेष कल्पित है, विशेषमें सामान्य नहीं । इस विषयमें विशेष आगे कहेंगे । दुन्दुभिके आघातके ग्रहणसे दुन्दुभिके शब्दका ग्रहण होता है । वाशब्दके स्वारस्यसे दो अर्थ किये गये हैं, पर तात्पर्य एक ही है । सारांश यही है कि शब्दसामान्यांशका ग्रहण होनेपर ही उसके विशेष शब्दोंका ग्रहण होता है, उसके बिना विशेष शब्दोंका ग्रहण नहीं कर सकते । एवं विज्ञानव्यतिरिक्तसे स्वप्न अथवा जागरित अवस्थामें किसी वस्तुविशेषका ग्रहण नहीं होता, अतः विज्ञानव्यतिरिक्त वस्तुका अभाव ही समझना चाहिए ॥ १०३ ॥

'स्थितौ' इत्यादि । स्थिति, उत्पत्ति तथा लयमें यह जगत् आत्मातिरिक्त नहीं है अर्थात् आत्मामें उत्पन्न होता है, आत्मामें ही रहता है और आत्मामें ही लीन होता है, इन तीनों अवस्थाओंमें आत्मगत ही प्रतीत होता है, इसलिए यह जाना जाता है कि यह आत्मव्यतिरिक्त नहीं है, इसीका क्रमसे यहांपर दृष्टान्तों द्वारा प्रतिपादन किया जाता है ॥ १०४ ॥

सब जगत् चैतन्यमात्र है, क्योंकि चैतन्यके बिना उसका ज्ञान नहीं हो सकता है, इस अर्थमें दृष्टान्तका व्याख्यान करते हैं—**'यथा दुन्दु०'** इत्यादिसे ।

दुन्दुभेर्हन्यमानस्य—इन दो शब्दोंसे शब्दत्वसामान्य लक्षित होता है, शब्द-विशेष वाह्य है । विशेष शब्दोंका, सामान्यसे अलग कर, कोई ग्रहण नहीं कर सकता, अतः वे विशेष सामान्यमें, रज्जुमें सर्पके समान, कल्पित हैं ॥ १०५ ॥

तद्वदात्मातिरेकेण नाऽऽत्मीयोऽर्थो मनागपि ।
यतः समीक्षितुं शक्यस्तेनाऽसौ रज्जुसर्पवत् ॥ १०६ ॥

'तद्वदात्माति०' इत्यादि । एवं आत्माके ग्रहणके बिना कोई किसी अर्थका ग्रहण नहीं कर सकता, कारण कि अर्थग्राहक ज्ञानमें अर्थके समान आत्माका भी भान होता है, अन्यथा घटादिका ज्ञान किसको हुआ, यह निर्णय नहीं होगा, किन्तु ऐसा नहीं है । जिसको ज्ञान होता है, उसको आत्माका नियमसे भान होता है, यह ज्ञान हमको हुआ है, अतः आत्माका भास होनेपर ही घटादि विषयका भान लोकमें होता है, इसलिए शुक्तिमें रजतकी तरह आत्मामें घटादि कल्पित है, यही निश्चय होता है ।

शङ्का—जैसे दृष्टान्तमें सामान्यविशेषभाव है, वैसे ही दार्ष्टान्तिकमें भी सामान्यविशेषभाव मानना चाहिए, ऐसी परिस्थितिमें आत्मा अद्वितीय है, यह कैसे कह सकते हो ?

समाधान—विचार करनेपर दृष्टान्तमें भी सामान्यविशेषभाव सिद्ध नहीं होता, अतः दार्ष्टान्तिकमें उसका स्वीकार निष्प्रामाणिक है । जैसे—सामान्यका विशेषसे अभेद मानते हो या भेद ? प्रथम पक्षमें, जैसे सामान्यका विशेषोंके साथ अन्वय होता है, वैसे विशेषोंका विशेषान्तरके साथ कहीं भी अन्वय नहीं है, ऐसी अवस्थामें यदि सामान्यके साथ अभेद होता, तो विशेषके समान सामान्यका भी अन्वय नहीं होता । परन्तु सामान्यका अन्वय होता है और विशेषका नहीं होता, इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि विशेष और सामान्यका अभेद नहीं है और विशेषकल्पनाका अधिष्ठानभूत सामान्य कल्पितविशेषस्वरूप हो भी नहीं सकता । अन्यथा—सामान्यके भी कल्पित विशेषसे अभिन्न होनेके कारण—सामान्यविशेषभाव ही असङ्गत हो जायगा, ऐसा होनेपर सामान्य ही नहीं सिद्ध होगा, सामान्यबुद्धि भी नहीं होगी और तदपेक्षासे विशेष भी सिद्ध नहीं होगा, अतः अभेद है ही नहीं । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि विशेषोंका परस्पर अन्वय नहीं होता, यह कहना ठीक है, किन्तु खण्ड, मुण्ड आदि ही विशेष कहा जाता है । गौसे जो सामान्यकी प्रतीति होती है, उसीसे 'खण्डो गौः, मुण्डो गौः' इस प्रकार खण्ड, मुण्ड आदि विशेष व्यक्तिकी प्रतीति लोकमें होती है, परन्तु विचार करनेपर सामान्यसे अतिरिक्त विशेषकी सिद्धि नहीं होती । जब विशेष धर्मी ही सिद्ध नहीं होगा, तब भेदधर्मकी सिद्धि कहांसे होगी ?

सामान्यं तद्विशेषाश्च तद्विशेषा इति त्रयः ।
दुन्दुभिस्तस्य चाऽऽघातः शब्दश्चेत्येभिरीरिताः ॥१०७॥

शङ्का—यदि सामान्यविशेषका भेदाभेद नहीं सिद्ध होता, न सही, किन्तु उनकी व्याप्ति तो अवश्य है, सामान्य व्यापक है और विशेष व्याप्य है, इस प्रकार व्याप्तिरूप सम्बन्ध दृष्ट होता है ।

समाधान—व्याप्य और व्यापकरूप दो व्यक्तियोंके होनेपर ही उक्त सम्बन्ध होता है, जैसे वह्नि व्यापक है, धूम व्याप्य है । वहां दो सम्बन्धी हैं, इसलिए व्याप्तिसम्बन्ध ठीक है, किन्तु जब विशेष ही उक्त रीतिसे सिद्ध नहीं होता, तब दो सम्बन्धियोंके अधीन व्याप्ति भी सिद्ध नहीं हो सकती, अतएव उन्हें उक्त सम्बन्धाधार भी नहीं कह सकते, इसलिए यह कहना चाहिए कि सामान्यमें विशेषकी केवल कल्पना ही होती है ।

शङ्का—आत्माके समान अनात्माका भी भान संसारदशामें होता है, अतः आत्माके समान अनात्मा भी अकल्पित ही है।

समाधान—अनात्मा सत् है या असत् ? प्रथम पक्षमें नित्य बोधस्वरूप है, अथवा उससे भिन्न ? भेदपक्षमें वह स्वतः सिद्ध नहीं होगा, अन्यथा जड़त्व ही अनुपपन्न हो जायगा। परतः पक्षमें परकीय कल्पनाके विना 'परतःपक्ष' हो ही नहीं सकता । अनात्मा असत् है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह प्रत्यक्षधीका विषय है, जो असत् खपुष्पादि हैं, वे प्रत्यक्ष ज्ञानके विषय नहीं होते । सत् है, किन्तु नित्यबोधस्वरूप नहीं है, इसका पूर्वमें ही खण्डन हो चुका, अन्यथा जड़त्वानुपपत्तिरूप दोष स्फुट है, अतः आत्मामें अनात्म पदार्थ कल्पित है, इसके सिवा और क्या कह सकते हैं ? ॥ १०६ ॥

'सामान्यम्' इत्यादि । सामान्य—शब्दत्वसामान्य, तद्विशेष—दुन्दुभिशब्द-त्वरूप अवान्तर विशेष—और तद्विशेष—दुन्दुभि शब्दके अवान्तर विशेष अर्थात् छोटे-बड़े दुन्दुभिशब्द—इस प्रकार क्रमसे तीन विशेष हैं; ये दुन्दुभि, आघात और शब्द—इन तीन विशेषणोंसे स्पष्ट कहे गये हैं। दुन्दुभिसे अनेक शब्द उत्पन्न होते हैं, वे परस्पर व्यभिचारी हैं—एक दूसरेसे भिन्न हैं । पर उनमें शब्दत्वरूप सामान्य अनुगत है, इसलिए शब्दत्वको सामान्य कहना चाहिए । एवं जितने छोटे-बड़े दुन्दुभिशब्द हैं, उन सबमें दुन्दुभिशब्दत्व सामान्य एक है । अवान्तर

सामान्यं दौन्दुभः शब्दो वीरादिरससंयुतः ।
विशेषस्तद्विशेषास्तु नीचोच्चादिविभेदिनः ॥ १०८ ॥
नीचादिभेदिनः शब्दा वीरादिरससंयुते ।
अन्तर्भवन्ति सोऽप्यन्तर्भूतः स्याद्दौन्दुभध्वनौ ॥ १०९ ॥

विशेष तत्-तत् शब्द हैं। सामान्य अव्यभिचारी और विशेष व्यभिचारी है; इस कथनसे यह फलित हुआ कि सामान्यके बिना विशेषका उपलम्भ नहीं होता, इसलिए विशेष निरात्मक है, अतएव सामान्यके बिना वह उपलब्ध नहीं होता। यदि उसकी पृथक् सत्ता होती, तो वह अवश्य उपलब्ध होता। सामान्यके उपलम्भकी आवश्यकता नहीं कह सकते।

शङ्का—उपनिषत्में 'दुन्दुभेर्हन्यमानस्य' ऐसा ही पाठ है, उससे दुन्दुभिशब्दका लाभ कैसे होता है ?

समाधान—वाक्यशेषमें शब्दका उपादान है। काष्ठमय दुन्दुभिके कथनसे शब्दका ग्रहण हो भी नहीं सकता, कारण कि वे दोनों परस्पर भिन्न हैं। अन्यके ग्रहणसे अन्यका ग्रहण नहीं होता, अतः योग्यतावश शब्दका लाभ होता है। दुन्दुभिके ये शब्द हैं, ऐसा ग्रहण होनेपर उसके शेष शब्द भी गृहीत हो जाते हैं, क्योंकि सामान्यका विशेषके साथ तादात्म्य है, शब्दत्वके अवान्तर सामान्यके ग्रहणसे भी उसके विशेषका ग्रहण होता है ॥ १०७ ॥

'**सामान्यम्**' इत्यादि। दुन्दुभिका शब्द वीररसका उपयोगी होता है, संग्राममें दुन्दुभिका बजाना प्राचीन कालकी प्रथा थी। इसके द्वारा योद्धाओंमें वीररसका प्रादुर्भाव होता है। दुन्दुभिशब्दके सामान्यके उपलम्भसे उसके अवान्तर छोटे बड़े सभी दुन्दुभिके शब्द गृहीत हो जाते हैं ॥ १०८ ॥

'**नीचादि०**' इत्यादि। नीचादि भेदसे भिन्न जो शब्द सङ्ग्राम या अङ्गणमें होते हैं, वे सब वीररससे संयुक्त शब्दमें अन्तर्भूत हो जाते हैं और वे वीररससे संयुक्त शब्द दुन्दुभिध्वनिमें अन्तर्भूत हो जाते हैं अर्थात् मनुष्य, घोड़े आदिके जो अल्प शब्द होते हैं, वे सब वीररससे संयुक्त शब्दसमुदायमें और वह समुदाय उससे बड़े भेरीके शब्दमें अन्तर्भूत हो जाता है, बड़े शब्दोंसे छोटे शब्द तिरोभूत हो जाते हैं, अतः प्रातिस्विकरूपसे लक्षित नहीं होते, परन्तु श्रुतिगोचर होते हैं। वस्तुतस्तु 'दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः' यहांपर वाशब्द है, उसके स्वारस्यसे दो अर्थ विवक्षित

श्रुतिः—स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ८ ॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ९ ॥

एवं शङ्खेऽपि वीणायां योजयित्वा ततः पुनः ।
शङ्खदुन्दुभिवीणाख्यध्वनीनन्यत्र योजयेत् ॥ ११० ॥

हैं। पूर्वमें दुन्दुभिशब्दके ग्रहणसे उसके अवान्तर दुन्दुभि शब्द गृहीत होते हैं, कारण कि सामान्यका विशेषके साथ तादात्म्य है, अतः सामान्य दुन्दुभिशब्दके ज्ञानके विना उसके अवान्तर भेदसे भिन्न तत्-तत् शब्द दुन्दुभिके शब्द हैं, ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता । सामान्यज्ञानपूर्वक ही उसके विशेषका ज्ञान होता है। दूसरे अर्थमें दुन्दुभ्याघातकी लक्षणा तदाघातजन्य शब्दमें होती है । शब्दत्वसामान्यग्रहणपूर्वक उसके अवान्तर दुन्दुभ्यादिशब्दविशेषका ग्रहण होता है, अतः वे शब्द—विशेष शब्द—सामान्यमें अन्तर्भूत होते हैं । इसी तात्पर्य्यसे पूर्वमें तीन सामान्य-विशेष कहे हैं। एक शब्दत्वादि सामान्य, उसके विशेष दुन्दुभिशब्द, दूसरा दुन्दुभि-शब्दत्वसामान्य, उसके विशेष अवान्तर दुन्दुभिशब्द, जो छोटे बड़े होते हैं, दुन्दुभिशब्दत्व सामान्य और विशेष दोनों कहलाता है, शब्दत्वसामान्यकी अपेक्षा वह विशेष है और दुन्दुभिके अवान्तर शब्दोंकी अपेक्षा वह सामान्य भी है । शब्दत्व केवल सामान्य ही है । दुन्दुभिशब्दविशेष केवल विशेष ही है । विशेष सामान्यमें कल्पित है एवं तत्-तत् अवान्तर सामान्य महासामान्यमें कल्पित है, महासामान्य ही वस्तुसत् है, यह आगे स्पष्ट होगा ॥ १०९ ॥

'स यथा शङ्खस्य' इत्यादि श्रुति । उक्त रीतिसे अग्रिम दो वाक्योंकी योजना है । यहाँपर भी 'शङ्खस्य ध्मायमानस्य' इन दो पदोंकी शङ्खशब्द-सामान्यमें लक्षणा है । शङ्खशब्दसामान्यको निकालकर उसके अवान्तर शब्दोंका ग्रहण कोई नहीं कर सकता, किन्तु शङ्खशब्दत्वसामान्यका ग्रहण कर ही उसके अवान्तर सब शङ्खशब्द-विशेषोंका ग्रहण होता है, अन्यथा नहीं ॥ ८ ॥

'स यथा वीणायै' इत्यादि श्रुति । अर्थ पूर्वके समान समझना चाहिए ॥९॥

'एवं शङ्खेऽपि' इत्यादि ।

शङ्का—स्थितिकालमें भी ब्रह्मव्यतिरिक्त जगत् नहीं है, यह अकेले दुन्दुभि-

ध्वनित्रयं महाशब्दसामान्येऽन्तर्भवेदिति ।
विवक्षया शङ्खभेरिवीणास्तिस्र उदीरिताः ॥ १११ ॥
यथा विशेषसामान्यतत्सामान्यपरम्पराः ।
शब्दे स्थिताः, तथा सर्वमुपलब्धिस्थमीक्ष्यते ॥ ११२ ॥
उपलब्धोऽस्ति सन्कुम्भो लम्बोष्ठो देशकालवान् ।
पूर्वपूर्वातिरेकेण नोत्तरार्थोऽनुभूयते ॥ ११३ ॥

शब्दके उदाहरणसे ही सिद्ध होता है, अतः उसके लिए पृथक् शङ्ख और वीणाका उदाहरण देना व्यर्थ है ।

समाधान—दुन्दुभ्यादिशब्दसामान्य भी केवल शब्दत्वसामान्यकी अपेक्षासे ही विशेष है, अतः उन अवान्तर सामान्योंका शब्दत्वसामान्यमें अन्तर्भाव है, यह कहनेके लिए तीन उदाहरण दिये गये हैं । एवं शङ्ख और वीणामें भी दुन्दुभिन्यायकी योजना कर अर्थात् शङ्खके विशेष शब्द तथा वीणाके विशेष शब्दका शङ्ख और वीणाके शब्दसामान्यमें अन्तर्भाव कर दुन्दुभि, वीणा और शङ्खके ध्वनियोंका शब्दसामान्यमें अन्तर्भाव समझना चाहिए ॥ ११० ॥

'ध्वनित्रयम्' इत्यादि । दुन्दुभि, शङ्ख और वीणाके तीन ध्वनियाँ शब्द-सामान्यमें अन्तर्भूत होती हैं, इस अर्थकी विवक्षासे दुन्दुभि, शङ्ख और वीणा—ये तीन उदाहरण दिये गये हैं ॥ १११ ॥

'यथा विशेष०' इत्यादि । जैसे विशेष, सामान्य और उसके सामान्यकी परम्परा—दुन्दुभिशब्द विशेष, उसका सामान्य दुन्दुभिशब्दत्व और सामान्य-शब्दत्व इत्यादि परम्परा—शब्दमें स्थित है, अर्थात् देखी जाती है । जैसे शब्दत्व-सामान्यसे व्यतिरिक्त उसके अवान्तर सामान्य तथा उसके विशेष अनुभवगोचर नहीं होते, वैसे ही सामान्यविशेषात्मक जगत् महासामान्य स्थानीय ब्रह्मसे भिन्न अनुभवगोचर नहीं होता, यह निष्कर्ष है । उपलब्धिरूप ब्रह्म ही तत्स्थ सम्पूर्ण जगत् है, उससे अतिरिक्त नहीं है ॥ ११२ ॥

दृष्टान्तको कहकर दार्ष्टान्तिकका व्याख्यान करते हैं—**'उपलब्धो०'** इत्यादिसे ।

उपलब्ध—उपलब्धिका विषय, सन् कुम्भ लम्बोष्ठ है । घटमें ओष्ठ नहीं होता, पर यहाँ ओष्ठशब्द कपालके अग्रभागके तात्पर्यसे प्रयुक्त हुआ है । तात्पर्य यह है कि अमुक देश, अमुक कालसे संबद्ध अस्तित्वविशिष्ट लम्बे

एवं चिदन्वयात्सर्वं चित्यध्यस्तं तथा सति ।
चिदात्मैवास्य सर्वस्य तात्त्विकं रूपमिष्यताम् ॥ ११४ ॥

ओठवाला घट उपलब्ध होता है, यह प्रतीति होती है, किन्तु विचार करनेपर मूलकी आनुपूर्वीमें पूर्व पूर्वसे अतिरिक्त उत्तरोत्तर कुछ नहीं है, उपलब्धि यथार्थ है। विषय तो कुछ नहीं है। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतिके अनुसार चित्का विषयके साथ कोई वास्तविक संबन्ध नहीं है, स्वयं प्रकाशमें चेत्यका (विषयका) अध्यास होनेसे चेत्यका भी स्फुरण होता है, तत्प्रयुक्त ही विषयत्व आदिकी कल्पना होती है, एवं अस्ति और सन्—इन दोनोंका भी उपलब्धिसे अतिरिक्त कुछ अर्थ नहीं है, उपलब्धि ही अस्ति है और वही सत् है। कुम्भ भी उपलब्धिसे व्यतिरिक्त नहीं है। यदि वह अतिरिक्त होता, तो उपलब्धिके (ग्रहणके) बिना भी गृहीत होता। जैसे अश्व महिषसे भिन्न है, अतः महिषके ग्रहणके बिना भी अश्वका ग्रहण होता है। प्रकृतमें उपलब्धिके (ग्रहणके) बिना चेत्यका ग्रहण नहीं होता। इसलिए चेत्य उपलब्धिसे भिन्न नहीं है। एवं देश और कालको भी समझना चाहिए। इनका भी ज्ञानग्रहणके बिना ग्रहण नहीं होता, अतः चिदतिरिक्त चेत्यका सर्वथा अभाव ही समझना चाहिए ॥ ११३ ॥

'एवं चिद०' इत्यादि।

शङ्का—यदि कोई अतिरिक्त चेत्य नहीं है, तो व्यतिरिक्तरूपसे वह प्रतीत क्यों होता है?

समाधान—चित् और चेत्यका वस्तुतः भेद नहीं है, लेकिन अज्ञानसे चित्में चेत्यका अध्यास है, अतः अध्यस्त समस्त सामान्यादिका तादात्म्यसे भान होता है। जैसे शुक्तिमें रजत नहीं है, पर शुक्तित्वके अज्ञानसे अध्यस्त रजतका शुक्तिमें भान होता है। ज्ञानमात्रसे वस्तु सिद्ध नहीं होती। अन्यथा शुक्तिरजत आदिकी सत्ता भी सिद्ध हो जायगी। जगत्का अबाधित भान भी नहीं है, क्योंकि 'नेह नानास्ति' इत्यादि श्रुति स्पष्ट बाध करती है, अतः ठीक कहते हैं—इस भासमान निखिल जगत्का तात्त्विक स्वरूप आत्मा ही है।

शङ्का—अनात्मा यदि आत्मासे भासित होता है, तो आत्मा भी अन्यसे भासित होगा, जैसे घट प्रदीप आदिसे भासता है और प्रदीप आदि चक्षुसे, वैसे ही चेत्य आत्मासे और आत्मा पदार्थान्तरसे भासित होगा। यदि ऐसी व्यवस्था हो, तो अनवस्था दोष अवश्य होगा?

स्थितिकाले यथैकात्म्यं शक्यते ज्ञातुमञ्जसा ।
यथोक्तन्यायतस्तद्वदुत्पत्तावपि शक्यते ॥ ११५ ॥
धूमार्चिर्विस्फुलिङ्गादिविभागजननात् पुरा ।
अग्निरेव न धूमाद्यास्तथैकात्म्यं जनेः पुरा ॥ ११६ ॥

समाधान—अनात्माकी सिद्धिमें जैसे अनात्मव्यतिरिक्त प्रमाताका स्वरूप साधक है, वैसे आत्माकी सिद्धिमें दूसरा कोई साधक नहीं है, क्योंकि आत्मा स्वयंसिद्ध है, अतः उसके साधककी अपेक्षा ही नहीं होती ।

शङ्का—प्रमातृ-स्वरूप अनात्माका साधक है, ऐसा यदि कहते हो, तो आत्मा ही सबका साधक है, आपका यह सिद्धान्त नष्ट हो जायगा ।

समाधान—जिस प्रमाताके स्वरूपको अनात्माका साधक कहा है, वह भी आत्मोपसर्जन ही है अर्थात् आत्मा ही प्रमातृस्वरूपापन्न होकर अनात्माका साधक है, अतः उक्त सिद्धान्तकी क्षति नहीं होती ।

शङ्का—प्रमातृत्वापन्न होकर आत्माको जैसे अनात्माका साधक मानते हो, वैसे ही उसी स्वरूपसे उसे स्वका भी साधक क्यों नहीं मानते ?

समाधान—कर्तृत्वापन्न होकर 'अहं जानामि' इत्यादि रूपसे जैसे अनात्माको आत्मा देखता है, वैसे स्वको वह नहीं देखता, किन्तु कूटस्थदृष्टिरूपसे देखता है, अतः उक्त शङ्काका अवसर नहीं है ।

शङ्का—कूटस्थ आत्मामें दृष्टिमात्रत्व ही असिद्ध है, फिर तद्रूपसे आत्म-दर्शनमें क्या प्रमाण ?

समाधान—जैसे अनात्मपदार्थ प्रत्यक्षसे संहत प्रतीत होते हैं अतएव 'स्थूलः, सद्वयः' इत्यादि अनात्मविषयक प्रत्यय होते हैं, वैसे असंहत, सूक्ष्म, निष्क्रिय आत्मा स्वरूपचैतन्यसे ही सिद्ध होता है ॥ ११४ ॥

स्थितिकाले' इत्यादि । उक्त न्यायसे स्थितिकालमें जैसे अनायाससे ऐकात्म्यको जान सकते हैं, वैसे ही उत्पत्तिकालमें भी ऐकात्म्यको जान सकते हैं ॥ ११५ ॥

'धूमार्चि०' इत्यादि । धूम, अर्चि, विस्फुलिङ्ग आदिके [अग्नि-शिखाको अर्चि कहते हैं और अग्निके क्षुद्र कणोंको विस्फुलिङ्ग कहते हैं] विभागसे पहले केवल अग्नि ही रहती है अर्थात् काष्ठके साथ अग्निसंयोग होनेसे पूर्व केवल अग्नि ही रहती है, पश्चात् धूम निकलने लगता है, तदन्तर अग्निकी शिखा आविर्भूत होती है,

स्वार्थसाधनयत्नादीननपेक्ष्य यथाऽसृजत् ।
धूमादीन् हुतभुक् तद्वद्गादीन् प्रत्यगीश्वरः ॥ ११७ ॥

तदन्तर विस्फुलिङ्गादि होते हैं, यह अनुभवसे सिद्ध है, इसमें विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है। केवल कहना यही है कि जैसे पहले आग ही थी और धूमादि कार्यविशेष कुछ नहीं थे, वैसे ही अनात्मभूत प्राण, लोक आदिकी उत्पत्तिसे पूर्व केवल एक आत्मा ही था।

शङ्का—एक जातिमें तज्जातीय अनेक पदार्थोंका अन्तर्भाव होता है, यह दुन्दुभि आदि दृष्टान्तोंसे कहा गया है और वह ठीक भी है, किन्तु अनेकजातीय प्रपञ्चका आत्मसामान्यमें अन्तर्भाव होता है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि घट, पट आदिका दण्डसामान्यमें अन्तर्भाव कहीं भी देखनेमें नहीं आता।

समाधान—इसी शङ्काकी निवृत्तिके लिए अग्निका दृष्टान्त श्रुतिने दिया है। यद्यपि धूम, विस्फुलिङ्ग आदि विजातीय हैं, तथापि एक ही वह्निसामान्यमें जैसे वे अन्तर्भूत होते हैं, वैसे ही अनेकजातीय प्रपञ्च एक आत्मामें अन्तर्भूत होता है। वस्तुतः नाम, जाति आदि ही नहीं हैं, अतः विजातीय जाति आदिका अन्तर्भाव कैसे होगा? यह शङ्का ही अयुक्त है, क्योंकि जाति आदि भी तो अद्वैत-वेदान्तिमतमें चिन्मात्र ही हैं, उससे अतिरिक्त नहीं हैं, अतः पूर्वोक्त अर्थमें कोई अनुपपत्ति नहीं है ॥ ११६ ॥

'स्वार्थसाधन०' इत्यादि। परमात्मा संसारका कारण है, यह आप मानते हैं, इसमें अनेक शङ्काएँ होती हैं। जब तक उनका समुचित निराकरण न हो, तब तक उक्त अर्थमें श्रद्धा ही नहीं होगी, इसलिए कुछ शङ्काओंको उपस्थित करता हूँ, कृपया उनका निराकरण अवश्य कीजिये।

परमात्मा किस फलके लिए सृष्टि करता है? यदि परमात्मा सृष्टिसे कुछ फल चाहता है? तो वह अवाप्तकाम (पूर्णकाम) नहीं कहा जा सकता। यदि फलकी कामनाके बिना ही सृष्टि करता है, तो फलके बिना मन्द भी प्रवृत्त नहीं होता, फिर प्रेक्षावान् परमात्मा कैसे प्रवृत्त होगा? यदि जबरदस्ती वैसा मानो, तो उसमें प्रेक्षावत्त्व ही नष्ट हो जायगा। एवं परमात्मा अन्य साधनसे संयुक्त है या नहीं? यदि अन्य साधनसे संयुक्त है, तो 'एकमेव' इत्यादि श्रुतिके साथ विरोध होगा, यदि नहीं है, तो वह सृष्टि ही नहीं बना सकेगा, क्योंकि

नार्थं बुद्ध्वा वेदसृष्टिः कालिदासादिवाक्यवत् ।
किन्तु श्वास इवाऽयत्नात् स्यादतोऽपौरुषेयता ॥ ११८ ॥

कोई भी कार्य साधननिरपेक्ष नहीं देखा जाता और साधनान्तरका अभाव स्पष्ट ही है। एवं दयासागर परमात्माने सुखमयी सृष्टि क्यों नहीं की ? जिससे जीवोंको सुख होता। एवं यदि वह सर्वज्ञ है, तो प्रश्न यह होता है कि वह सृष्टिगत जीवोंके दुःखको जानता है या नहीं ? यदि जानता है, तो करुणासागर उनका उद्धार करनेमें विलम्ब क्यों करता है ? यदि कर्मसे प्रतिरुद्ध होकर उद्धार नहीं करता, तो क्या कर्म परमात्मासे भी बड़ा है ? जिससे कि कर्मसे प्रतिरुद्ध होनेपर ईश्वर अप्रतिबद्धेच्छत्व, सत्यसङ्कल्पत्व आदि गुणोंसे रहित हो जायगा ? एवं संहार करना तो अति दारुण कार्य है, वह द्वेषके बिना नहीं होता, परमात्मामें द्वेषकी कल्पना करना भी अनुचित है। क्रीडा भी दयालुकी ऐसी नहीं होती, जिससे अनेक जीव संसारानलमें तड़पें।

इत्यादि विविध शङ्काओंका समाधान इस श्लोकसे करते हैं—स्वार्थके (स्वप्रयोजनके) साधनमें हेतुभूत यत्न आदिकी अपेक्षाके विना ही जैसे अग्नि धूमादिको उत्पन्न करती है, वैसे ही प्रत्यगीश्वर—परमात्मा—उक्त सामग्रीके बिना ही ऋग् आदि वेदोंकी सृष्टि करता है।

शङ्का—अग्नि तो जड़ पदार्थ है, इसलिए भले ही उक्त आक्षेप उसके विषयमें लागू न हों, पर चेतनके विषयमें तो वे सब लागू हो सकते हैं ?

समाधान—यहाँ भी माया सृष्टि करती है, वह तो जड़ ही है। चेतनमें कारणत्व मायाधिष्ठानत्वको लेकर ही है, साक्षात् नहीं है, अतएव 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' इत्यादि भगवद्-वाक्यसे मायामें ही सृष्टिकारणत्वका प्रतिपादन किया गया है। अतः वास्तविक सृष्टि ईश्वरने की है, ऐसा जो मानते हैं, उन्हींको उक्त दोषोंका परिहार करना चाहिए। अद्वैतमतमें तो सृष्टि मिथ्या है, अतः उक्त दोषोंका उद्धार अनायाससे ही हो जाता है ॥ ११७ ॥

'नार्थं बुद्ध्वा' इत्यादि।

शङ्का—'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' यह जो आप कहते हैं, वह ठीक नहीं है, कारण कि यदि वेदको ईश्वरकृत मानते हो, तो वह पौरुषेय हुआ।

पौरुषेय वाक्यमें निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्य नहीं हो सकता, अतएव जैसे बौद्ध आदिके वाक्य अप्रमाण माने जाते हैं, वैसे ही वेद भी अप्रमाण हो जायगा ।

समाधान—जो अन्य प्रमाणसे अर्थका अवधारण कर उस अर्थकी बोधेच्छासे शब्दका प्रयोग करता है, उसीका वाक्य पौरुषेय कहलाता है। जैसे कवि कालिदास आदिके वाक्य। उनके वाक्यार्थमें मूलभूत अन्य प्रमाण ही प्रमाण होता है, अतः स्मरणके समान उनका वाक्य अनुवादक है । वेदकी सृष्टि प्रमाणान्तरसे अर्थका अवधारण करके नहीं हुई है, किन्तु जैसे निश्वास अबुद्धि-पूर्वक अयत्नसे होते रहते हैं, वैसे ही परमात्मासे वेद निश्वासके समान अबुद्धि-पूर्वक हुए हैं। 'यस्य निश्वसितमेतत्' इत्यादि वेदवाक्य इसी अर्थको अतिस्पष्ट करते हैं। सर्वज्ञ ईश्वरने गतकल्पीय वेदका इस कल्पके आदिमें स्मरण कर महर्षियोंको उसका उपदेश दिया है ।

शङ्का—ईश्वरके यदि शरीर आदि नहीं हैं, तो उसने उपदेश कैसे किया ?

समाधान—भक्तोंके अनुग्रहके लिए शरीर धारण करनेमें उन्हें क्या विलम्ब ? उनका शरीर कर्माधीन नहीं है, इसलिए शरीरावस्थामें भी उन्हें अशरीरी कहा जाता है, जब योगी इच्छानुकूल शरीर धारण करनेमें समर्थ होते हैं, तब ईश्वरमें क्या सन्देह ? कर्मजन्य शरीर ही सुख, दुःख आदिका प्रयोजक होता है, अतः ईश्वरमें दुःखादिका प्रसङ्ग भी नहीं हो सकता।

शङ्का—एक पुरुषके स्मरणमें क्या विश्वास ?

समाधान—विश्वासका कारण अर्थका अबाध है। यदि अबाधित अर्थवाला वाक्य है, तो वह एक ही पुरुष द्वारा उक्त क्यों न हो, प्रमाण माना ही जाता है। यदि वह बाधितार्थक हो, तो अनेक पुरुषोंके कहनेपर भी वह प्रमाण नहीं माना जा सकता। अनेक महर्षियोंने भी वेदको प्रमाणरूपसे स्वीकार किया है, इसलिए शिष्टोपादेय होनेसे वेद प्रमाण और उपादेय है। अतएव कुमारिल भट्टजीने स्पष्ट कहा है कि 'यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रा' अर्थात् वेदापौरुषेयत्वके लिए यत्नतः पुरुषकी स्वतन्त्रता ही प्रतिषेध्य है, याने जो वक्ता वाक्यानुपूर्वीकी रचनामें स्वतन्त्र है, चाहे 'घटमानय' कहे, चाहे 'आनय घटम्' कहे, उसी पुरुषका वह वाक्य पौरुषेय कहलाता है और जो पुरुष पूर्वानुपूर्वीका स्मरण कर तादृशानुपूर्वीका उपदेश देता है, वह वाक्य पौरुषेय नहीं कहलाता, अतएव अध्यापकके उपदेशसे वेदमें अपौरुषेयत्वकी क्षति नहीं होती एवं न अनपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्यका

श्रुतिः—स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि ॥ १० ॥

ही भङ्ग होता है। 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा' इत्यादि वचनोंसे वेदमें नित्यत्वका समर्थन किया गया है, इत्यादि संक्षेपसे इस विचारको पूर्ण करते हैं। वस्तुतस्तु नैयायिक वेदको ईश्वरकृत मानते हैं, फिर भी प्रमाण ही मानते हैं, उनका कहना है कि नित्यत्व प्रामाण्यका प्रयोजक नहीं है, अन्यथा आकाशमें प्रामाण्यापत्ति हो जायगी, क्योंकि आकाश भी नित्य है, एवं अनित्यत्व अप्रामाण्यका प्रयोजक नहीं है, यदि हो, तो चक्षु आदिमें प्रामाण्यकी अनुपपत्ति हो जायगी, क्योंकि वे अनित्य ही हैं, किन्तु अबाधितार्थ ही प्रामाण्यका प्रयोजक है, सो वेदमें है, इत्यादि न्यायमतका विशेष विचार प्रकृतमें अनुपयुक्त समझ कर छोड़ देते हैं। सारांश यह निकला कि जो वेदप्रतिपाद्य है, उसमें कल्याण चाहनेवालेकी सदा श्रद्धा होनी चाहिए। यद्यपि अद्वैतमतमें वेद भी ब्रह्मविवर्त ही है, तथापि सूर्य्यप्रकाशके समान वह नित्य अर्थप्रकाशक ही है। प्रमाणान्तरकी अपेक्षा श्रुतिमें यह अतिशयविशेष है कि वह मनुष्यत्वाभिमानीके प्रति अन्वयादिसे त्वमर्थका शोधन कर, अद्वयस्वरूपका प्रतिपादन कर, ज्ञान द्वारा जगत्का बाध कर, ब्रह्मस्वरूप बतलाकर स्वयं तद्रूपसे अवशिष्ट रहती है। यद्यपि सब मान और मेय परमात्मस्वरूप ही हैं, तथापि उनकी अपेक्षा श्रुतिमें यह विशेष है कि वह तत्त्वको स्फुट कर देती है, पर दूसरे प्रमाण ऐसा नहीं कर सकते।

'स यथाऽऽर्द्रैधाग्ने०' इत्यादि श्रुति।

यहांपर भी 'स' यह दृष्टान्तार्थ है। उत्पत्तिमें भी ब्रह्मव्यतिरिक्त जगत् नहीं है, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—आर्द्रैधाग्ने०' इत्यादि। गीले काष्ठसे उत्पन्न अग्निको सामने रखनेपर [गीली लकड़ी जलानेसे धुआँ अधिक होता है, यह सर्वानुभवसिद्ध है, इसीलिए उक्त विशेषण दिया गया है] जैसे नाना प्रकारके धूम आदि [अर्चि, विस्फुलिङ्ग आदिका धूम उपलक्षण है] उत्पन्न होते हैं, वैसे ही 'अरे मैत्रेयि' यह परमात्मा, जो प्रकृत है, वह महान् अनवच्छिन्न—देश, काल और वस्तु रूप त्रिविध परिच्छेदोंसे शून्य—एवं पारमार्थिक

मन्त्राश्चतुर्विधा ज्ञेया ऋग्वेदादिगिरोदिताः ।
ब्राह्मणं चेतिहासादिरूपमष्टविधं भवेत् ॥ ११९ ॥

है, उसीका यह निश्वसित है अर्थात् पुरुषनिश्वासके समान प्रयत्नके बिना परमात्मासे ये सब उत्पन्न हुए हैं । यद्यपि निश्वासमें भी जीवनयोनियत्न कारण है, तथापि वह प्रयत्न नहीं है, किन्तु केवल यत्न है, जो सङ्कल्पके बिना भी होता रहता है । प्रयत्न सङ्कल्पके बिना नहीं होता, अतएव सुषुप्तिमें प्रयत्न नहीं होता, जैसे कालिदासादिके पौरुषेय वाक्य प्रयत्नपूर्वक हैं, वैसे परमात्माके ये वाक्य प्रयत्नपूर्वक नहीं हैं, किन्तु निश्वासके समान अनायाससे उत्पन्न हुए हैं ।

शङ्का—कौन वाक्य ?

समाधान—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्वाङ्गिरस—इन चार वेदोंके मन्त्रोंका समूह, इतिहास याने ब्राह्मण, जिसमें उर्वशी और पुरूरवाका संवाद आदि है, जैसे—'उर्वशी हाप्सरा' इत्यादि, पुराण—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि, विद्या—देवजनविद्याप्रभृति अर्थात् नृत्यगीतादिशास्त्र, उपनिषत्—'प्रियमित्येतदुपासीत' इत्यादि, श्लोक याने ब्राह्मणप्रभव मन्त्र, जो 'तदेते श्लोकाः' इत्यादिसे स्फुट हैं, सूत्र—वस्तुसंग्रहवाक्य—अर्थात् 'आत्मेत्यवोपासीत' इत्यादि, अनुव्याख्यान—वस्तुसंग्रहवाक्योंका विवरण, जैसे विद्यासूत्रके लिए बृहदारण्यकका चौथा अध्याय और व्याख्यान—मन्त्रोंका विवरण—इत्यादि सब इन्हीं महापुरुषके निश्वसित हैं ।

'मन्त्राश्चतु०' इत्यादि ।

शङ्का—इतिहाससे रामायण और महाभारतका ग्रहण क्यों नहीं ? क्योंकि उन्हींमें इतिहासकी प्रसिद्धि है ।

समाधान—वे ऋषिप्रणीत हैं, अतएव कालिदास आदिके वाक्योंके समान वे प्रयत्नपूर्वक बनाये गये हैं, निश्वासके समान नहीं, अन्यथा 'निश्वसितम्' यह विशेषण असंबद्ध हो जायगा । अतः ब्राह्मणादिका ही ग्रहण समुचित है ।

शङ्का—नामप्रपञ्चकी सृष्टिका ही उदाहरण दिया, अर्थप्रपञ्चकी सृष्टिका उदाहरण नहीं दिया, इसमें क्या कारण ?

समाधान—इसका उत्तर अगले श्लोकसे दिया जायगा । प्रकृतमें ऋक्, यजु, साम और अथर्वाङ्गिरस—इन चार वेदोंके मन्त्र एवं इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान—ये आठ, कुल मिलाकर बारहकी उत्पत्ति यहां कही गई है ॥ ११९ ॥

प्रसिद्धेर्वेतिहासाद्या ऋग्वेदाद्युपबृंहका ।
निखिलाऽपि जगत्सृष्टिः शब्दसृष्ट्योपलक्ष्यते ॥ १२० ॥

रामायण, महाभारत आदि लोकप्रसिद्ध इतिहासका ग्रहण करनेके लिए अन्य पक्ष कहते हैं—'**प्रसिद्धे०**' इत्यादिसे ।

भाव यह है कि मन्त्र और ब्राह्मण इन दोनोंके लिए वेदशब्द प्रवृत्त होता है; अतः ऋग्वेदादिसे ही उक्त आठ ब्राह्मणोंका ग्रहण सिद्ध ही है, इसलिए इतिहासशब्द लोकप्रसिद्ध इतिहासादिके ग्रहणके लिए है । यदि बाधक न हो, तो वृद्धप्रसिद्धिका अनादर करना अच्छा नहीं है । ऋक् आदिके सन्निहित उच्चरित इतिहासशब्द प्रसिद्ध इतिहासके ग्रहणमें लिङ्ग है, अतएव 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' इत्यादि वचन है ।

शङ्का— इतिहास, पुराण आदिके द्वारा वेदार्थका यदि निरूपण किया जायगा, तो वेदमें अनपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्यका ही भङ्ग हो जायगा ?

समाधान—इतिहास, पुराण आदि वेदमूलकत्वेन प्रमाण माने जाते हैं, स्वतः नहीं, इसलिए व्याख्याताके वचनके समान इतिहास और पुराण भी वेदार्थके निर्णायक हैं । व्याख्याताके वाक्यसे वेदार्थका निर्णय करनेपर वेदमें अनपेक्षत्व लक्षण प्रामाण्यका भङ्ग नहीं होता, कारण कि व्याख्याताके वचनोंमें वेदमूलकत्वसे ही प्रामाण्य माना जाता है, स्वतः नहीं । एवं इतिहास आदिमें भी समझना चाहिए ।

शङ्का—इतिहास आदि यदि ईश्वरप्रणीत हैं, तो व्यासादिकृत कैसे कहे जाते हैं ?

समाधान—व्यासादिरूपसे ईश्वर ही उनका प्रणेता है, इसलिए वे व्यासादिकृत कहे जाते हैं । वेदान्तमें ईश्वरव्यतिरिक्त कर्ता नहीं माना जाता, परमात्मा ही अज्ञान द्वारा जगत्का कारण है, यह श्रुतिसिद्ध है, अतः व्यासादिके इतिहासादि कार्यमें जो कर्तृत्वका स्मरण होता है, उससे वही जगत्कारण ब्रह्म तत्-तत्रूपसे तत्तत्कार्यका कर्ता है यह सिद्ध होता है। अतएव 'कोऽन्यः पुण्डरीकाक्षात् महाभारतकृद्भवेत्' इत्यादि वचन संगत होते हैं । जैसे बीज अङ्कुर, पत्र, पुष्प आदिका कारण माना जाता है, परन्तु पत्र, पुष्पादिके अङ्कुरादि भी कारण होते हैं, एतावता बीजकारणत्वकी क्षति नहीं होती । अङ्कुरादिस्वरूपसे बीज पुष्पादिका कारण है । तात्पर्य यह है कि कोई साक्षात् कार्य है, तो कोई परम्परया । बीज साक्षात् अङ्कुरका कारण है और पत्र, पुष्पादिका परम्परया। वैसे ही परमात्मा साक्षात् श्रुतिका कारण है और इतिहास

आदिका परम्परया । इस विशेषसे मूलकारणजन्यत्वकी अनुपपत्ति उत्तरोत्तर कार्यमें नहीं आती ।

शङ्का—बीज ही अङ्कुरादिस्वरूपसे पुष्प, फल आदिका कारण है, अङ्कुरादि स्वयं नहीं, इसमें क्या प्रमाण है ?

समाधान—इसमें यह दृढ़ प्रमाण है कि जिस आम्रादि बीजसे अङ्कुर, नालकाण्ड, पत्र, पुष्प आदि होते हैं, उनका अन्तिम कार्य वही फल होता है, आदिमें आम्र और अन्तमें आम्र । इस प्रकार प्रत्येक वृक्षमें देखिये, जिस प्रकारके बीजसे अङ्कुरादि होंगे, उनसे अन्तिम कार्य उसी प्रकारका फल होगा। यदि आदिका लगातार अन्तिम कार्य तक सम्बन्ध नहीं होता, तो फलान्तर होता, वही फल नहीं होता, पर ऐसा नहीं देखा जाता, इसलिए आदि कारण ही तत्-तत् अवान्तर कार्य द्वारा अन्तिम कार्यका भी कारण होता है ।

शङ्का—यदि इतिहासादि ईश्वरकर्तृक हैं, तो वेदके समान उन्हें स्वतः प्रमाण मानना चाहिए ।

समाधान—वेद ईश्वरकृत है, इसलिए हम उसे स्वतः प्रमाण नहीं मानते, किन्तु मानान्तरदृष्टत्वादि अप्रामाण्यके कारण वेदमें नहीं हैं, अतः उसे स्वतः प्रमाण मानते हैं । इतिहास आदि वेदके उपबृंहक हैं, अतः उनमें मानान्तर-दृष्टार्थकत्वका त्याग नहीं है ।

शङ्का—इतिहासादिके विषयमें निश्वसित श्रुतिकी क्या गति है ?

समाधान—उत्तम गति है । व्यासादिरूपसे अनायास ही इतिहास आदिकी अभिव्यक्ति हुई है, अतएव भारतके विषयमें यह प्रसिद्धि है कि व्यास भगवान् धाराप्रवाहसे बोलते थे और गणेशजी अप्रतिबद्ध लेखनीसे लिखते थे । यदि मध्यमें कोई रुक जाय, तो वहीं कार्य समाप्त हो जायगा; ऐसा दोनोंमें समयबन्ध हुआ था। अन्तमें गणेशजीको रुकते न देख व्यासजीने कहा— श्लोकका अर्थ समझकर लिखिए, उन्होंने स्वीकार कर लिया, फिर भी रुकते न देख कूटश्लोक बोलने लगे, किसी अर्थके समझनेके लिए थोड़ी लेखनी रुकी कि ग्रन्थ समयबन्धके अनुसार समाप्त हुआ । यह स्पष्ट ही है कि जिसमें श्रीमद्भगवद्गीता जैसा अनुपम ग्रन्थ है, वह सोचकर भी नहीं लिखा जा सकता, सोचकर लिखे जानेवाले कोई भी ग्रन्थ भगवद्गीताके समान नहीं हुए हैं, ऐसा दार्शनिक पण्डितोंका सिद्धान्त है ।

शङ्का—'लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधकः' इस न्यायसे वेदमें

प्रज्ञानव्यतिरेकेण यथैव स्थितिसर्गयोः ।
वस्त्वन्तरं न सम्भाव्यं प्रलयेऽपि तथोच्यते ॥ १२१ ॥

श्रुतिः—स यथा सर्वासामपाꣳ समुद्र एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ स्पर्शानां त्वगेकायनमेवꣳ सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवꣳ सर्वेषां रसानां

अन्यप्रमाणादृष्टार्थत्व ही असिद्ध है, क्योंकि उसमें शक्तिग्रहके लिए तत्-तत् अर्थोंका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे ग्रहण आवश्यक है ।

समाधान—यद्यपि शक्तिग्रहके लिए उक्त प्रमाणोंकी अपेक्षा होती है, तथापि वाक्यार्थ अपूर्व माना जाता है; अतः उसके लिए अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं होती । जिस व्यक्तिमें शक्तिग्रह होता है, उसकी समान जातीय अन्य व्यक्तिका बोध उस शक्तिसे होता है, अतः वाक्यार्थमें उक्त आशङ्का नहीं हो सकती ।

शङ्का—अज्ञातार्थकत्व ही प्रामाण्यका प्रयोजक है, इसका कैसे निश्चय होगा ?

समाधान—प्रसिद्ध प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंमें अज्ञातार्थकत्व दृष्ट है, ज्ञातार्थक प्रत्यक्ष आदि अनुवादक कहे जाते हैं, अतः अज्ञातार्थक ही प्रमाण होता है, यह बात विद्वानोंके लिए छिपी नहीं है । अविधेय सृष्टि क्यों नहीं कही ? इस पूर्व प्रश्नका उत्तर देते हैं—'निखिला०' इत्यादिसे । अभिधानश्रुति सम्पूर्ण सृष्टिकी उपलक्षण है ।

'स यथा सर्वासा०' इत्यादि उत्तर श्रुतिवाक्यकी सङ्गति कहते हैं—**'प्रज्ञान०'** इत्यादिसे ।

जिस प्रकार स्थिति और सर्गमें प्रज्ञानसे—ब्रह्मसे—अतिरिक्त किसी वस्तुकी सम्भावना नहीं है, उसी प्रकार प्रलयमें भी समझना चाहिए ॥ १२१ ॥

'स यथा सर्वासामपाम्' इत्यादि श्रुति । 'स' यह दृष्टान्तार्थक है, जिस प्रकार नदी, बावड़ी, कूप, तड़ाग आदि विभिन्न नाम और रूपवाले जलोंका एक (अभिन्न) नामरूप समुद्र ही एक अयन याने एक गमन—एक प्रलय—स्थान है, अर्थात् सब जलोंकी एक समुद्रमें ही अविभागप्राप्ति याने एकरूपापत्ति हो जाती है, वैसे ही सब मृदु, कठिन, कर्कश, पिच्छिल आदि स्पर्शोंका त्वग् ही एकायन है, त्वक्-शब्दसे त्वग्विषय स्पर्शसामान्य विवक्षित है ।

शङ्का—विषय इन्द्रियकार्य नहीं हैं, अतः मृदु, कठिन आदि सब विषयोंका त्वग्में लय कैसे हो सकता है ?

समाधान—त्वक्शब्दकी स्पर्शसामान्यमें लक्षणा है, अतः स्पर्शसामान्यमें स्पर्श-

जिह्वैकायनमेवꣳ सर्वेषां रूपाणां चक्षुरेकायनमेवꣳ सर्वेषां शब्दानां श्रोत्रमेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ सङ्कल्पानां मन एकायनमेवꣳ सर्वासां विद्यानां हृदयमेकायनमेवꣳ सर्वेषां कर्मणां हस्तावेकायनमेवꣳ सर्वेषां मानन्दानामुपस्थमेकायनमेवꣳ सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवꣳ सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवꣳ सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥ ११ ॥

विशेषका अन्तर्भाव होता है, यह तात्पर्य फलित होता है। इसी रीतिसे कूपादि जलोंका समुद्र एक आयतन है। जब कूपादिके जलका समुद्रके साथ संबन्ध उत्पन्न नहीं है, तब उससे वह अविभक्त कैसे हो सकता है? यह शङ्का यहाँपर होती है, इसका समाधान यही है कि समुद्रशब्दकी जलसामान्यमें लक्षणा है, विशेष जल सामान्य जलके साथ अभिन्न है, इसीलिए भाष्यकारने अविभागप्राप्ति एकायतनका अर्थ किया है। तथा त्वक्-शब्दवाच्य अथवा लक्ष्य स्पर्शसामान्य है। अतः सङ्कल्पमें—मनोविषयसामान्यमें—त्वग्-विशेषोंका, त्वक्-सामान्यके समान, अन्तर्भाव होता है। एवं सम्पूर्ण मनोविषय बुद्धिसामान्यमें प्रविष्ट हैं, अर्थात् उनका तद्व्यतिरेकेण अभाव है, तात्पर्य यह कि वे विज्ञानमात्र होकर प्रज्ञानघन पर ब्रह्ममें समुद्रमें जलके समान लीन होते हैं। इस परम्पराक्रमसे ग्राहक करणके साथ शब्दादि प्रज्ञानघनमें लीन होता है, उपाधियोंके अभावसे सैन्धवघनके समान प्रज्ञानघन, एकरस, अनन्त और अपारस्वरूप ब्रह्म ही अवस्थित रहता है, अतः आत्माको एक और अद्वय समझना चाहिए। तथा सब पृथिवीसहित गन्धविशेषोंका नासिका घ्राणविषय सामान्य है तथा सब रसोंका—जलविशेषोंका—जिह्वेन्द्रिय विषयसामान्य है, सब तेजोविशेषसहित रूपोंका चक्षु विषयसामान्य है और शब्दोंका श्रोत्र विषयसामान्य पूर्ववत् एकायतन है। श्रोत्रादि विषयसामान्यका मनोविषयसामान्य सङ्कल्पमें प्रवेश होता है, मनोविषयसामान्यका बुद्धिविषयसामान्यमें—विज्ञानमात्रमें—प्रवेश होता है, विज्ञानमात्र होकर प्रज्ञानमें लीन होता है, एवं कर्मेन्द्रियोंके विषय वदन, आदान, गमन विसर्ग, और आनन्दविशेष तत्-तत् क्रियासामान्यमें प्रविष्ट होते हैं, अतएव विभागयोग्य नहीं होते। वे पूर्वोक्त सामान्य प्राणमात्र ही हैं, प्राण प्रज्ञानमात्र है, क्योंकि 'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः' ऐसा कौषीतकी शाखावाले पढ़ते हैं।

शङ्का—सब जगह विषयका ही प्रलय कहा गया है, करणका नहीं, इसका क्या अभिप्राय है?

स्वाभाविकात्यन्तिकौ द्वौ प्रलयौ जगतस्तयोः ।
स्वाभाविकः स्यात् कल्पान्ते बोधादात्यन्तिको मतः ॥ १२२ ॥

समाधान—विषयसामान्यजातीय करण है, ऐसा श्रुति मानती है, उससे व्यतिरिक्त नहीं मानती। विषयज्ञान करण विषयका ही संस्थानान्तर है। जैसे रूपविशेषका ही संस्थान प्रदीप है, कारण कि वह सब रूपका प्रकाशक है, वैसे ही सब विषयविशेषोंके स्वात्मविशेषप्रकाशक होनेसे संस्थानान्तर (चक्षु आदि) करण हैं। इस कारणसे करणोंके पृथक् प्रलयमें यत्नकी आवश्यकता नहीं होती, करण विषयसामान्यात्मक हैं, अतः विषयके प्रलयसे करणोंका प्रलय सिद्ध हो जाता है ॥ १२१ ॥

'स्वाभाविका०' इत्यादि। जगत्के प्रलय दो प्रकारके होते हैं—एक स्वाभाविक अर्थात् सर्गारम्भमें कारणभूत सम्पूर्ण प्राणियोंके कर्म जब समाप्त हो जाते हैं, तब परमात्माकी सञ्जिहीर्षासे प्रलय होता है, इस प्रलयको स्वाभाविक प्रलय कहते हैं, यह नियत समयपर ही होता है और दूसरा आत्यन्तिक प्रलय है, जो केवल आत्मबोधसे—ब्रह्मतत्त्वबोधसे—होता है। प्रथम प्रलयकी अवधि समाप्त होनेपर कर्मानुसार यथाश्रुत पुनः पूर्ववत् संसार होता है। ज्ञानसे आत्यन्तिक लय होता है, फिर उसको कभी संसार नहीं होता, क्योंकि 'न स पुनरावर्तते' इत्यादि श्रुतिसे परमपदकी प्राप्ति नित्य मानी जाती है। वस्तुतः पौराणिक लोग नैमित्तिक, स्वाभाविक और आत्यन्तिक भेदसे तीन प्रकारका प्रलय मानते हैं—

'सर्वेषामेव भूतानां त्रिविधः प्रतिसञ्चरः ।
नैमित्तिकः प्राकृतिकस्तथैवात्यन्तिको लयः इति ।

'ब्रह्मणो वर्षशतमायुः' इत्यादि श्रुतिके अनुसार ब्रह्माकी आयु सौ वर्षकी मानी गई है, ब्रह्माकी आयु समाप्त होनेपर उसके द्वारा किया गया विश्व भी समाप्त हो जाता है, अतः वह ब्रह्मकर्तृक प्रलय नैमित्तिक तथा अवान्तर प्रलय कहलाता है, जैसे 'ब्राह्मो नैमित्तिकस्तेषां कल्पान्ते प्रतिसंचरः। द्वितीय प्रलयमें सम्पूर्ण कार्योंका प्रकृतिमें पर्यवसान हो जाता है। इसलिए वह प्राकृत कहा जाता है। ज्ञानाधीन लय आत्यन्तिक है, यही मोक्ष है। आत्यन्तिकश्च मोक्षाख्यः' प्राकृतो द्विपरार्धिकः' इत्यादि वचन उक्त अर्थमें प्रमाण हैं। आत्यन्तिक लयसे पृथक् दूसरा प्रलय अपने-अपने कारणोंमें कारणरूपसे कार्योंका अवस्थान है, अतएव पुनर्जन्म होता है।

समुद्रखिल्यौ दृष्टान्तौ क्रमात् प्रलययोर्मतौ ।
लीयतेऽब्धौ जलं यद्वत्तथा ब्रह्मणि तज्जगत् ॥ १२३ ॥
साक्षाद्वाऽथ प्रणाड्या वा जलमब्धौ विलीयते ।
साक्षाद् गङ्गादिका नद्यस्तत्प्रणाड्या जलान्तरम् ॥ १२४ ॥
तथैव कारणं वस्तु साक्षाद्ब्रह्मणि लीयते ।
कार्यं तु कारणद्वारेत्येतदत्र विवक्षितम् ॥ १२५ ॥
अतश्चरमकार्याणां स्पर्शादीनां स्वकारणे ।
त्वगादौ विलयस्तद्वत्त्वगादेश्च स्वकारणे ॥ १२६ ॥
त्वग्ग्राह्यं स्पर्शसामान्यं त्वक्शब्देनोपलक्ष्यते ।
सामान्यात् तद्विशेषाणां जातत्वात्तत्र तल्लयः ॥ १२७ ॥

त्रैकालिक जन्महेतु अज्ञानका ध्वंस आत्मतत्त्व ज्ञानसे होता है, इसलिए यह आत्यन्तिक है ॥ १२२ ॥

'समुद्रखिल्यौ०' इत्यादि । समुद्र और खिल्य ये दोनों उक्त दो प्रलयोंमें दृष्टान्त हैं । जैसे जल समुद्रमें लीन हो जाता है, वैसे ही ब्रह्ममें जगत् लीन होता है ॥ १२३ ॥

'साक्षाद्वाऽथ' इत्यादि । साक्षात् या परम्परया जल समुद्रमें लीन हो जाता है 'गङ्गादि' शब्दमें उक्त आदिपदसे नर्मदा, सिन्धु आदिका ग्रहण है, क्योंकि वे भी साक्षात् समुद्रमें गिरती हैं, अतः उनका जल साक्षात् समुद्रमें लीन होता है और जलान्तर याने यमुना, सरयू आदिका जल गङ्गा द्वारा समुद्रमें लीन होता है ॥ १२४ ॥

'तथैव' इत्यादि । एवं कारण वस्तु साक्षात् ब्रह्ममें लीन हो जाती है और कार्य कारण द्वारा जिसकी जिससे जैसे उत्पत्ति है उसका उसमें वैसा ही लय होता है जो साक्षात् ब्रह्मसे उत्पन्न है, उसका साक्षात् ब्रह्ममें लय होता है, जिसकी परम्परासे उत्पत्ति है, उसका परम्परया लय होता है, इसीमें उक्त गङ्गादि दृष्टान्त हैं ॥ १२५ ॥

'अतश्चरम०' इत्यादि । उक्त युक्तिसे अन्तिम कार्य स्पर्शादिका अपने अपने कारणमें लय होता है और त्वगादिका उसके कारणमें लय होता है ।

शङ्का—त्वक् स्पर्शका कारण नहीं है, किन्तु रूपादिके समान स्पर्श उसका गुण है, अतः त्वक्में लय कैसे हो सकता है ? कार्यका स्वकारणमें लय माना जाता है ।

समाधान—त्वक्शब्द यहां त्वग्ग्राह्य स्पर्शसामान्यमें लाक्षणिक है ।

कठिनः पार्थिवः स्पर्शः शीतोष्णौ जलवह्निजौ ।
मृदुर्वायोरिति स्पर्शविशेषा इह कीर्तिताः ॥ १२८ ॥

स्पर्शविशेषका स्पर्शसामान्यमें लय होता है, यह अर्थ प्रकृतमें विवक्षित है, क्योंकि सामान्यसे विशेषकी उत्पत्ति होती है, इसलिए विशेषका सामान्यमें लय होना ठीक ही है ॥ १२७ ॥

'कठिनः' इत्यादि । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पांचोंका समूह पृथिवी है । यद्यपि नैयायिक गुणसे गुणीको अतिरिक्त मानते हैं, तथापि वेदान्तमतमें गुण और गुणीका भेद नहीं है । गुणात्मक ही द्रव्य माना जाता है, अतः पृथिवी पञ्चगुणसंघातात्मक है, जल रसादिचतुर्गुणात्मक है, तेज रूप आदि त्रिगुणात्मक है, वायु स्पर्शादिगुणद्वयात्मक है, और आकाश शब्दात्मक है, यह वस्तुस्थिति है । इसके अनुसार पृथिवीका स्पर्श कठिन है, जलका स्पर्श शीत है, तेजका स्पर्श उष्ण है, वायुका स्पर्श मृदु है और आकाश स्पर्शरहित द्रव्य है । पञ्चीकरणके अनुसार पृथिवी आदि पाँच भूत पञ्चात्मक हैं, अतः पृथिवीमें जलादिका भाग भी है, इसलिए जलादिगुण भी पृथिवी आदिमें उपलब्ध हैं ।

शङ्का—स्पर्शसामान्यका काठिन्यादिस्पर्शविशेषरूपसे परिणाम होनेपर भान कैसे होता है ?

समाधान—काठिन्यादिका स्पर्श और त्वक्के साथ सम्बन्ध होनेपर यदि उक्त स्पर्श उद्भूत है, तो 'अयं कठिनः स्पर्शः' इत्याकारक मनोवृत्तिरूप ज्ञान होता है । यद्यपि वह भी जड़ है, तथापि उसका साक्षीसे भास होता है ।

शङ्का—ज्ञानको स्वयंप्रकाश मानते हैं, उसीसे विषयका भान हो जायगा, फिर साक्षीकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—ज्ञान भी जड़ ही है, अतः घटादिके समान प्रकाशक नहीं हो सकता, इसलिए साक्षीकी परमावश्यकता है ।

शङ्का—ज्ञान अचेतन है, इसमें क्या प्रमाण ?

समाधान—'ज्ञानं परार्थम्, अचेतनत्वात्, स्पर्शादिवत्' यह अनुमान प्रमाण है । अन्यथा साक्षिस्वरूप हो जायगा । तात्पर्य यह है कि ज्ञान स्वप्रकाश है, यहांपर ज्ञान वृत्तिरूप विवक्षित है या साक्षिरूप ? प्रथम पक्षमें मनःपरिणाम-

लीयन्ते स्पर्शसामान्ये तद्विशेषा यथा तथा।
गन्धादीनां च सामान्ये तद्विशेषलयो भवेत् ॥ १२९ ॥

विशेष ज्ञान परार्थक होनेसे स्पर्श आदिके समान जड़ है, अतः प्रकाशक नहीं हो सकता। द्वितीय पक्षमें साक्षिस्वरूपता अनिवार्य है।

शङ्का—स्पर्श आदि विशेषका सामान्यमें लय कैसे होता है ?

समाधान—त्वग् आदि जन्य स्पर्श आदिका ज्ञान, इन्द्रिय और अर्थसे जन्य होनेके कारण, अतिस्थूल है, विषयसहित इन्द्रियका मनके साथ तादात्म्य होनेसे मन सूक्ष्म है, अतः स्थौल्यांशका त्याग होनेसे ज्ञान सूक्ष्म होता है, वही ज्ञान बुद्धिके तादात्म्यसे निरूप्यमाण होकर सूक्ष्मतर होता है, क्योंकि 'मनसस्तु परा बुद्धिः' इत्यादि श्रुतिवचनके अनुसार बुद्धि मनसे भी सूक्ष्म है, यह विद्वानोंको अविदित नहीं है, सामान्यकरणभूत वृत्ति चैतन्याख्य उस बुद्धिको व्याप्त करती है, इस क्रमसे विषयसहित इन्द्रिय आदिका प्रत्यगात्मामें लय होता है।

शङ्का—आत्माको दुःखादिका भान कैसे होता है ?

समाधान—अधर्म आदिसे अनिष्ट कण्टक आदिका योग होनेपर देहमें जब विकार होता है, तब देहमें व्याधि (दुःख) उत्पन्न होती है।

शङ्का—देहमें उत्पन्न दुःख देहस्थ है, वह बुद्धिस्थ कैसे होता है ?

समाधान—देहके एकदेशमें दुःख हुआ है, अतः देहमें दुःख है, एवं अहं बुद्धि भी देहविशिष्टविषयक होनेसे देहस्थ है; अतः आश्रय द्वारा दुःख भी बुद्धिस्थ हो जाता है। दुःखविशिष्ट 'अहमाकार' आदि वृत्ति अन्तःकरणको दुःख-विशिष्ट करती है और अन्तःकरण सभास जीवको दुःखित करता है और जीव साक्षीमें दुःखको अर्पण करता है ॥ १२८ ॥

'लीयन्ते' इत्यादि। स्पर्शसामान्यमें जैसे स्पर्शविशेष लीन होते हैं, वैसे ही गन्धसामान्यमें गन्धविशेषका लय होता है। गन्धविशेष सुगन्ध और दुर्गन्ध। पृथिवीजलका अंश जब समानरूपसे तेजसे पकता है, तब सुरभिगन्ध होता है। समान परिपाकमें अदृष्ट भी हेतु है, अतः पुण्यकर्मप्रयुक्त गन्ध सुगन्ध कहलाता है। पार्थिव आदि अंशके विषम परिपाकसे जायमान दुरदृष्टनिमित्तक गन्ध असुरभि कहलाता है। एवं रसादि भेदकी भी उपपत्ति समझनी चाहिए ॥ १२९ ॥

गन्धरूपरसस्पर्शशब्दसामान्यपञ्चकम् ।
सङ्कल्प्यते तन्मनसा बुध्या निश्चाय्यते तथा ॥ १३० ॥
सङ्कल्पानां तु पञ्चानां मनःशब्दाभिधे लयः ।
भवेत् सङ्कल्पसामान्ये निश्चये योजयेत्तथा ॥ १३१ ॥
सङ्कल्पो निश्चयश्चैतौ ज्ञानशक्तेः समुद्गतौ ।
ज्ञानशक्त्याख्यसामान्ये लीयते तावुभावपि ॥ १३२ ॥
ज्ञानशक्तिविकासानां ज्ञानशक्तौ यथा लयः ।
क्रियाशक्तिविकासानां क्रियाशक्तौ तथा भवेत् ॥ १३३ ॥
आदानत्यागभेदानां कर्मणां हस्तसञ्ज्ञके ।
आदानत्यागसामान्ये लयोऽन्यत्राऽप्यसौ नयः ॥ १३४ ॥

'गन्धरूप०' इत्यादि । गन्ध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द—इन पाँचोंका सङ्कल्प मनसे होता है, एवं उक्त पाँचोंका निश्चय बुद्धिसे होता है, सङ्कल्पात्मक मन है और अध्यवसायात्मक बुद्धि है । पहले सङ्कल्प होता है और तदन्तर निश्चय होता है, यह क्रम स्वाभाविक है ॥ १३० ॥

'सङ्कल्पानां' इत्यादि । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचोंके सङ्कल्पविशेषोंका मनःशब्दवाच्य सङ्कल्पसामान्यमें लय होता है । एवं शब्द आदि-विषयक निश्चयविशेषोंका हृदयशब्दवाच्य निश्चयसामान्यमें अन्तर्भावकी योजना करनी चाहिए अर्थात् उसके समान निश्चयसामान्यमें निश्चयविशेषका अन्तर्भाव समझना चाहिए, यह भाव है ॥ १३१ ॥

'सङ्कल्पो' इत्यादि । सङ्कल्प और निश्चय—ये दोनों ज्ञानशक्तिसे ही उत्पन्न होते हैं, सङ्कल्प भी ज्ञान ही है, अतः ये दोनों—सङ्कल्प और निश्चय ज्ञानशक्ति-सामान्यमें लीन होते हैं ॥ १३२ ॥

'ज्ञानशक्ति०' इत्यादि । ज्ञानशक्तिविकासोंका जैसे ज्ञानशक्तिमें लय होता है, वैसे ही क्रियाशक्तिविकासोंका क्रियाशक्तिमें लय होता है ॥ १३३ ॥

'आदान०' इत्यादि । आदान और त्यागविशेषोंका हस्त आदि करणके साथ याने आदानत्यागसामान्यमें लय होता है, अन्यत्र भी यही न्याय है । ज्ञानशक्तिके विषयमें लयका जो न्याय है, वह न्याय अन्यत्र क्रियाशक्तिके विषयमें भी है ॥ १३४ ॥

विसर्गानन्दगमनभाषणानां लये सति ।
प्राणे गत्यादिसामान्ये पञ्चकं प्रविलीयते ॥ १३५ ॥
क्रियाशक्त्याख्यसामान्ये लीयते प्राणपञ्चकम् ।
ज्ञानशक्तिक्रियाशक्त्योर्लयो ब्रह्मणि मायिनि ॥ १३६ ॥
विषयाणां लयः प्रोक्तो नेन्द्रियाणां श्रुताविति ।
न मन्तव्यं यतोऽक्षाणां ग्राह्यजातीयतेष्यते ॥ १३७ ॥
एकं वाय्वाख्यसामान्यं ग्राह्यग्राहकरूपतः ।
स्पर्शस्त्वक्चेति भिन्नं स्यादेवं सर्वत्र योज्यताम् ॥ १३८ ॥

'विसर्गानन्द०' इत्यादि । पायु, उपस्थ, पाद और वाक्से जन्य क्रिया-विशेष विसर्ग आदिका तत्-तत् क्रियासामान्यमें लय होनेके अनन्तर गत्यादि पाँच क्रियासामान्यका, प्राणाधीन उत्पत्ति, स्थिति और लय होनेके कारण, स्वहेतु पञ्चवृत्ति प्राणमें लय होता है ॥ १३५ ॥

'क्रिया०' इत्यादि । उक्त पञ्चवृत्त्यात्मक प्राणका क्रियाशक्ति सामान्यमें अन्तर्भाव होता है और ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिका लय मायाविशिष्ट ब्रह्ममें होता है ॥ ३६ ॥

शङ्का—फिर भी सम्पूर्ण जगत्का लय सिद्ध नहीं हुआ, कारण कि चक्षुरादि करणोंका लय श्रुतिने नहीं बतलाया है, इसीको कहते हैं—'विषयाणाम्' इत्यादिसे । श्रुतिमें विषयोंका लय कहा गया है, इन्द्रियोंका नहीं ।

समाधान—ऐसा नहीं समझना चाहिए, कारण कि इन्द्रियग्राह्य विषय तज्जातीय हैं अर्थात् जो इन्द्रिय जिस विषयका ग्रहण करती है, वह विषय तज्जातीय होता है, अतः विषयलयके कथनसे तज्जातीय इन्द्रियोंका भी लय सङ्गृहीत हो जाता है ॥ १३७ ॥

'एकं' इत्यादि । करण ग्राह्यजातीय है, इसको स्फुट करते हैं । अव्याकृतसे उत्पन्न भूतसूक्ष्म शब्द, स्पर्श आदि गुणविशिष्ट स्थूलभूतात्मस्वरूपसे और श्रोत्र, त्वग् आदिरूपसे परिणत हुआ, अतः श्रोत्र, त्वग् आदि करण और शब्द, स्पर्श आदि विषय एकजातीय हैं, यह स्पष्ट सिद्ध होता है, इसे कहते हैं—एक वाय्वाख्यसामान्य अव्याकृत सूक्ष्मवायु ग्राह्य स्पर्श और ग्राहक त्वक् एतदुभय-रूपसे परिणत हुआ अर्थात् स्पर्श और त्वक् हुआ । इसी प्रकार सर्वत्र अवशिष्ट ग्राह्य और ग्राहकको भी समझना चाहिए ॥ १३८ ॥

ग्राहकग्राह्यनियम एकजातित्वसाधकः ।
ग्राह्यग्राहकयो रूपदीपयोस्तैजसत्वतः ॥ १३९ ॥
सर्वभूतात्मकत्वात्तु सर्वार्थग्रहणं द्वयोः ।
मनोबुद्ध्योरिति ज्ञेयमन्यथा तदसम्भवात् ॥ १४० ॥

'ग्राहक०' इत्यादि । ग्राह्यजातीय ग्राहकसे ग्राह्यका ग्रहण होता है, यह नियम ग्राह्य रूपके ग्राहक प्रदीपमें दृष्ट है। उक्त नियममें यह अनुमान प्रमाण है--- 'चक्षुस्तैजसम्, रूपादिषु मध्ये रूपस्यैवाऽभिव्यञ्जकत्वात्, प्रदीपवत्' अर्थात् चक्षु तैजस है, क्योंकि वह रूपका ही प्रकाशक है, प्रदीपके समान। एवं घ्राणं पार्थिवम्, रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैवाऽभिव्यञ्जकत्वात्, कुङ्कुमगन्धव्यञ्जकघृतवत्'; त्वक् वायवीयम्, रूपादिषु मध्ये स्पर्शस्यैवाऽभिव्यञ्जकत्वात्, व्यजनवायुवत्'; श्रोत्रं नाभसम्, रूपादिषु मध्ये शब्दस्यैवाऽभिव्यञ्जकत्वात्, वेणुविवरवत् ; रसनं जलीयम्, रूपादिषु मध्ये रसस्यैवाऽभिव्यञ्जकत्वात्, सक्तुरसाभिव्यञ्जकोदकवत्' इत्यादि अनुमानप्रकार अन्यत्र विस्तृत हैं। यहां संक्षेपसे इसलिए कहे गये हैं कि तार्किकका भी ऐसा ही सिद्धान्त है, अतः इस विषयमें विशेष निरूपणकी आवश्यकता नहीं है ॥१३९॥

शङ्का—'अन्नमयं हि सोम्य मनः' इत्यादि श्रुतिसे अन्नमात्रके मन और बुद्धि कार्य हैं, ऐसा निश्चित होता है। कार्य कारणसमानजातीय होते हैं, इस नियमसे मन एवं बुद्धिको पार्थिव मानना ही उचित होगा, किन्तु वे दोनों शब्दादिके भी ग्राहक हैं, अतः उक्त अनुमान असंगत है ।

समाधान—'सर्वभूता०' इत्यादि । 'विमते मनोबुद्धी भूतपञ्चकसजातीये, तद्ग्राहकत्वात्, यद् यद्ग्राहकं तत् तत्सजातीयम्, यथा रूपग्राहको दीपः तत्सजातीयः', इस अनुमानसे यह ज्ञात होता है कि मन और बुद्धि केवल पार्थिव ही नहीं हैं, किन्तु पाञ्चभौतिक हैं; अतएव उनसे पाँच भूतोंके गुणोंका ग्रहण होता है। यही पाञ्चभौतिकत्वका साधक है, अन्यथा घ्राणादिके समान वे केवल पार्थिव गुणके ही ग्राहक होते, ऐसा है नहीं, अतः मन और बुद्धि पाञ्चभौतिक हैं, यह सिद्ध होता है। यतः मन और बुद्धि सर्वभूतात्मक हैं, अतएव उन दोनोंमें सर्वार्थग्राहकत्व है, अन्यथा—यदि सर्वभूतात्मक न होते, तो—दोनोंसे सब अर्थोंका ग्रहण नहीं होता। दोनों सर्वार्थके ग्राहक हैं, अतः सर्वभूतात्मक हैं यह मानना चाहिए ॥ १४० ॥

मनोऽन्नमयमित्येषा श्रुतिः पार्थिवरूपताम् ।
ब्रूते मनसि नैवाऽन्यभूतात्मत्वं निवारयेत् ॥ १४१ ॥
विषयप्रलयेनाऽक्षप्रलयस्योदितत्वतः ।
लयः सर्वस्य जगतो ब्रह्मणीत्यत्र सुस्थितम् ॥ १४२ ॥
एवं मन्तव्य आत्माऽयमर्थासम्भवनुत्तये ।
दुन्दुभ्याद्युक्तदृष्टान्तन्यायमार्गेण यत्नतः ॥ १४३ ॥

शङ्का—यदि मन और बुद्धि पाँच भूतोंके कार्य हैं, तो अन्नमयत्वबोधक उक्त श्रुतिकी क्या गति होगी ?

समाधान—**'मनोऽन्नमय०'** इत्यादि। उक्त श्रुति मन और बुद्धि पार्थिव हैं, इतने मात्रका बोधन करती है, किन्तु यह नहीं कहती कि वे पार्थिव ही हैं और दूसरे भूतोंके कार्य नहीं हैं। यदि अवधारणार्थ एवकार होता, तो यह शङ्का हो सकती, पर वैसा है नहीं, अतः पूर्वोक्त श्रुति मन और बुद्धिमें पाञ्चभौतिकत्वकी बाधक नहीं है। पूर्वोक्त अनुमानसे ग्राह्यग्राहकोंमें समानजातीयत्वका नियम यहां भी [illegible] है ॥१४१॥

'विषय०' इत्यादि। विषयोंके प्रलयका कथन करनेसे करणोंका भी प्रलय सूचित हुआ, अतः सब जगत्का प्रलय ब्रह्ममें होता है; यह अर्थ सुस्थिर हुआ, इसमें सन्देह नहीं है ॥ १४२ ॥

मननविधिके प्रपञ्चका उपसंहार करते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे।

सब आत्मा है, यों तर्कसे मनन करना चाहिए, इसमें जो यह असंभव प्रतीत होता है कि बाह्य घट, पट आदि सब आत्मा कैसे हो सकते हैं ? उसकी निवृत्तिके लिए 'दुन्दुभि' आदि दृष्टान्तका उपन्यास किया गया है। उक्त दृष्टान्त द्वारा यह समझाया गया कि जो विशेष हैं, वे सब सामान्यसे उत्पन्न होते हैं, उन्हींमें स्थित रहते हैं और उन्हींमें लीन होते हैं, अतः विशेष सामान्यात्मक ही है। तत्-तत् सामान्य भी ब्रह्म सामान्यकी अपेक्षा विशेष हैं। सबका सामान्य ब्रह्म ही है, कारण कि ब्रह्मसे ही साक्षात् या परम्परया सम्पूर्ण संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है, अतः सब जगत् ब्रह्मसे अभिन्न है, इसलिए आत्मा ही सब है, इस प्रतिज्ञाका पूरा समर्थन हुआ ॥ १४३ ॥

अपरायत्तबोधाख्यनिदिध्यासनसिद्धये ।
आत्यन्तिकलयं वक्तुं खिल्यदृष्टान्त उच्यते ॥ १४४ ॥

श्रुतिः—स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानु विलीयेत न हास्योद्ग्रहणायेव स्याद्यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अरे इदं महद्भूत-

'अपरायत्त०' इत्यादि । अपरायत्त बोधरूप निदिध्यासनकी व्याख्या पूर्वमें कर चुके हैं । निदिध्यासन दो प्रकारके होते हैं—उनमें एक ध्यानशब्दसे कहा जाता है और दूसरा परिशुद्ध चित्त होनेपर 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य चरमात्मक तत्त्वज्ञानरूप है । इसी निदिध्यासनकी सिद्धिके लिए खिल्यदृष्टान्त कहा जाता है । ये दोनों श्लोक युग्म हैं अर्थात् दोनोंका अन्वय एक साथ ही है । अर्थासंभवके निराकरणके लिए प्रयत्नपूर्वक अनेक दुन्दुभि आदिके दृष्टान्त दिये गये हैं । आत्यन्तिक प्रलयको कहनेके लिए खिल्य दृष्टान्त कहा गया है अर्थात् कार्यकारणात्मक प्रपञ्चका कार्यकारणविलक्षण ब्रह्ममें ज्ञानसे लय होता है, ऐसा प्रतिपादन करनेके लिए श्रुतिमें खिल्य दृष्टान्त कहा गया है, वह आगे स्फुट होगा ॥१४४॥

'स यथा सैन्धवखिल्य' इत्यादि श्रुति । 'स' यह दृष्टान्तार्थक है । सैन्धवखिल्य याने समुद्रसे उत्पन्न नमकका टुकड़ा । सिन्धुका विकार सैन्धव कहलाता है । सिन्धुशब्दसे यहां समुद्रका जल विवक्षित है । 'स्यन्दू प्रस्रवणे' ऐसा पाणिनीय धातुपाठ है । उसके अनुसार स्यन्दन होनेके कारण जल सिन्धु कहा जाता है । उसका विकार याने उससे उत्पन्न सैन्धव कहलाता है । 'स चाऽसौ खिल्यश्च' इस व्युत्पत्तिसे सैन्धवरूपी खिल्य सैन्धवखिल्य कहा जायगा । खिल एव खिल्यः यों स्वार्थमें खिलशब्दसे यत् प्रत्यय है । वह सामुद्रिक नमकका ढेला स्वयोनि—स्वकारण—समुद्रमें गिरकर जलरूपसे विलीन हो जाता है अर्थात् जो भूमिके तेजके योगसे कठिन हुआ था, उस ढेलेका काठिन्य स्वकारण समुद्र-जलके संपर्कसे हट जाता है । यही जलका विलयन है । तदन्तर सैन्धवखिल्यका विलयन कहा है । यद्यपि 'उदकविलयनमनुविलीयते' इस भाष्यसे यह अर्थ निकलता है कि उदकके विलियनके बाद उक्त ढेलेका विलयन होता है, पर यह अर्थ ठीक नहीं है, कारण कि उदकका विलयन तो होता नहीं, केवल ढेलेका ही विलयन होता है, इसलिए भाष्यकारने स्वतः ही अपने आशयको व्यक्त किया है कि यहां उदकविलयनका तात्पर्य काठिन्यविलयनमें हैं। काठिन्यविलयके बाद ही सैन्धवखिल्यका विलय

मनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १२ ॥

अनुभवसिद्ध है। 'उदकमेवानुविलीयेत' इस श्रुतिके अनुसार भाष्यकारको उक्त अर्थ करना पड़ा। यहां 'ह' शब्द एवकारार्थक है। उस विलीन ढेलेको समुद्र-जलसे पूर्ववत् निकालनेमें कोई समर्थ नहीं है। कितना भी कुशल पुरुष क्यों न हो, वह पूर्व आकारवाले ढेलेको निकाल नहीं सकता, यह अनुभवसिद्ध है। 'इव' शब्द यहां अनर्थक है।

शङ्का—क्यों नहीं समर्थ है ?

समाधान—जिस जिस प्रदेशसे जलका ग्रहण कर आस्वादन करते हैं, उस जलमें नमकका ही स्वाद रहता है, ढेला नहीं मिल सकता, जैसे यह दृष्टान्त है, वैसे ही अरे मैत्रेयि ! जो यह परमात्माख्य वस्तु है, उस महान् वस्तुसे अविद्या द्वारा परिच्छिन्न होकर कार्यकारणोपाधिसंबन्धसे तुम खिल्यभावको प्राप्त हुई हो। जन्म, मरण, भूख, प्यास आदि संसारधर्मवती हुई हो। कार्यात्मकनामरूपके सम्बन्धसे 'अहम्' ऐसा खिल्यभाव तुमको प्राप्त हुआ है। यह खिल्यभाव कार्यकारणशरीरेन्द्रियोपाधिसबन्धसे जनित भ्रान्ति द्वारा उत्पन्न हुआ है। इससे तुम अपनेको परिच्छिन्न और संसारधर्मविशिष्ट मानती हो। वस्तुतः भ्रान्तिसे ही समुद्रस्थानीय अजर, अमर, अभय और शुद्ध सैन्धवघन-के समान एकरस, प्रज्ञानघन, अपार, निरन्तर और अविद्याजनितभ्रान्तिभेदवर्जित ब्रह्ममें यह खिल्यभाव तुमने स्थापित किया है। एवंभूत इस आत्मामें उसके प्रविष्ट होनेपर—खिल्यभावके स्वकारणग्रस्त होनेपर—अर्थात् खिल्यभावके निवृत्त होनेपर (अविद्या-कृत भेदभावका समूल नाश होनेपर) यही एक अद्वैत महान्भूत—सबसे महत्तर—, जो आकाश आदिका भी कारण है, तीनों कालोंमें एकरूपसे रहता है, इसलिए 'भूत' कहा जाता है, यह निष्ठाप्रत्यय त्रैकालिक है, तीनों कालोंसे स्वरूपका व्यभिचार नहीं होता यानी सदा परिनिष्पन्न ही रहता है, अथवा भूतशब्द परमार्थवाची यहाँ विवक्षित है, महाभूतशब्दका अर्थ महत् और पारमार्थिक है।

शङ्का—महत् कहनेके बाद पारमार्थिक विशेषण क्यों दिया ?

समाधान—स्वप्नमायाकृत पदार्थ हिमवान् पर्वतके समान महान् होता है, किन्तु पारमार्थिक नहीं होता, उसकी व्यावृत्तिके लिए पारमार्थिक विशेषण दिया है। प्रकृतमें महान् ब्रह्म पारमार्थिक है। अनन्तम्, न अन्तोऽस्येति अनन्तम् अर्थात् जिसका अन्त नहीं है, किन्तु सबके अन्तका वही साक्षी है, उसका यदि अन्त कहा जाय, तो

उसका साक्षी कौन होगा ? असाक्षिक अन्त माननेमें कोई प्रमाण नहीं है और निष्प्रमाण वस्तुका स्वीकार कोई नहीं करता। किसी कालमें अनन्त है, सर्वदा नहीं, इस प्रकारके आपेक्षिक आनन्त्यका वारण करनेके लिए 'अपारम्' यह विशेषण कहा गया है। 'विज्ञप्तिर्विज्ञानम्, विज्ञानञ्च तत् घनश्चेति विज्ञानघनः। विज्ञायतेऽस्मिन्निति विज्ञानम्' इस अधिकरणव्युत्पत्तिके निरासार्थ भावव्युत्पत्ति कही गई है। एव-शब्दका अवधारण अर्थ है। घनशब्द अन्य जातिके प्रतिषेधके लिए है; जैसे 'सुवर्णघनः' इत्यादि कहनेसे सुवर्ण ही है, जात्यन्तर नहीं, एवं प्रकृतमें विज्ञानघन ही है, तद्विलक्षण जात्यन्तर नहीं है।

शङ्का—यदि ब्रह्म परमार्थतः एक और अद्वितीय है तथा स्वच्छ एवं संसार-दुःखसे असंसृष्ट है, तो किस कारणसे वह खिल्यभावको प्राप्त हुआ, क्योंकि जातः, मृतः, सुखी, दुःखी, अहं, मम इत्यादि अनेक संसारधर्मोंसे उपद्रुत आत्मा संसार-दशामें प्रतीत होता है।

समाधान—यह जो कार्यकरणभूत शरीरेन्द्रियादि नामरूपात्मक प्रपञ्च जलके फेन या बुद्बुद्के समान प्रतीत होता है, वह स्वच्छ सलिलस्वरूप परमात्माका ही है जैसे फेनादि जलसे अतिरिक्त नहीं हैं, किन्तु अतिरिक्त-से प्रतीत होते हैं, वैसे ही शरीर आदि आत्मस्वरूपमें प्रतीत होते हैं। जिन विषयपर्य्यन्त पदार्थोंका प्रज्ञानघन आत्मामें परमार्थविवेक ज्ञानसे नदीसमुद्रवत् प्रविलापन कहा गया है, इन्हीं हेतुभूत सत्य-शब्दवाच्य भूतोंसे सैन्धवखिल्यवत् समुत्पन्न होकर आगे उन्हींसे नष्ट होते हैं। प्रश्नका उत्तर यह निकला कि जैसे तेजःसंयोगसे जलका खिल्यभाव होता है, वैसे ही शरीर आदिके सबन्धसे आत्मामें खिल्यभाव प्राप्त हुआ है।

शङ्का—जल तो सावयव है, इसका विकार यानी रूपान्तरप्राप्ति हो सकती है, आत्मा तो कूटस्थ नित्य है, अतः उसका खिल्यभाव कैसे हुआ ?

समाधान—जैसे जलसे सूर्य और चन्द्रका प्रतिबिम्ब होता है एवं जैसे स्फटिक-मणिमें जपाकुसुम आदिके संसर्गसे तद्भावका ज्ञान होता है, वैसे ही कार्यकारणभूत भूतोपाधिसे विशेषात्मखिल्यभावसे अर्थात् अहमित्यादि खिल्यभावसे समुत्थित होकर जब शास्त्राचार्योपदेश द्वारा प्राप्त ब्रह्मविद्यासे आत्मविशेषखिल्यभावके हेतुभूत कार्यकरणात्मक विषयाकारोंमें परिणत भूतोंका, नदीसमुद्रन्यायसे, प्रविलापन किया जाता है, अर्थात् वे नष्ट हो जाते हैं, तब—सलिलफेनबुद्बुद्के समान उनका नाश होनेपर पीछे—खिल्यभाव भी नष्ट हो जाता है। जैसे प्रतिबिम्बके हेतु जल,

रक्तभावके हेतु जपाकुसुम आदिके हटानेपर सूर्यका प्रतिबिम्ब और स्फटिकका रक्त-भाव नष्ट हो जाता है अर्थात् सूर्यादिरूपसे परमार्थतः व्यवस्थित हो जाता है । वैसे ही उक्त प्रतिबिम्ब जीव ब्रह्मरूपसे अवस्थित हो जाता है। उस कैवल्यमें विशेषसंज्ञा नहीं रहती, शरीरेन्द्रियादिसे रहितकी विशेषसंज्ञा हो ही नहीं सकती, इसलिए अरे मैत्रेयि ! मैं कहता हूं कि उस समय विशेषसंज्ञा नहीं है, असौ, अहम्, मेरा यह है, अमुकका पुत्र हूं, मेरा क्षेत्र धन है, सुखी, दुःखी इत्यादि सब अविद्याकृत हैं, अतएव वे अविद्यासद्भाव तक ही रहते हैं । जब अविद्या ब्रह्मविद्यासे निवृत्त हो जाती है, तब विशेषसंज्ञा कैसे हो ? निमित्तके अभावसे नैमित्तिकका अभाव 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' इस न्यायसे सिद्ध है । उस समय ब्रह्मवेत्ता चैतन्यस्वभाव रहता है । वस्तुतः शरीरादि-सद्भावदशामें भी जब विशेषसंज्ञा नहीं हो सकती तब कैवल्यमें विशेषसंज्ञाभाव कैमुतिकन्यायसे सिद्ध है । यह परमार्थ-दर्शन महर्षि याज्ञवल्क्यजीने भार्या मैत्रेयीसे कहा। संक्षिप्त तात्पर्यार्थ यह है कि हम लोगोंकी जैसे सुषुप्ति अवस्था है, वैसे ही सृष्टिपूर्वकालकी अवस्था परमात्माकी सुषुप्ति अवस्था है और हम लोगोंकी स्वप्नावस्थाके समान परमात्माकी सृष्टि स्वप्न अवस्था है । सुषुप्तिमें कुछ भान नहीं होता, यहां तक कि अहमर्थका भी भान नहीं होता। स्वाप्निक भोगजनक अदृष्टवश पूर्वसंस्कार जब उद्बुद्ध होते हैं, तब मनका सन्निकर्ष आत्माके साथ होता है। मनने यदि राज्यकी कल्पना की, तो राजसामग्री तुरत उपस्थित हुई। शिकार खेलनेकी इच्छा हुई, तो जंगल, पहाड़ सब दीख पड़ने लगे । जो जो कल्पना मन करता गया, सो सो सब उपस्थित होता गया, तदुचित भोग भी होने लगे । शत्रुकी कल्पनासे शत्रु भी तैयार हो गया, युद्ध भी होने लगा, पर वास्तवमें कुछ नहीं था । जागनेपर पूरा विश्वास होता है कि उस अवस्थामें भी केवल मैं ही था और जिन साधक, बाधकोंको हम देखते थे, वे नहीं थे, केवल अज्ञानवश सुख-दुःख हुआ । यथार्थमें उनकी सामग्री कुछ नहीं थी। उसका अभाव त्रैकालिक था। एवं 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इस श्रुतिके अनुसार इस प्रतीयमान जगत्से पूर्व अद्वितीय ब्रह्मसे अतिरिक्त कुछ नहीं था, किन्तु सृज्यमान प्राणीके भोगजनक अदृष्टसे उक्त ब्रह्ममें अविद्या प्रादुर्भूत हुई । अविद्याके अतिस्वच्छ होनेसे उसमें चैतन्यका प्रति-बिम्ब पड़ा, जैसे जलादिमें सूर्य्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है । उस आभाससे अविद्या चेतन-सी प्रतीत होने लगी । उस चिदाभास चित्प्रतिबिम्बने मनके लिए कामना की कि हम मनस्वी हों, इस कल्पनाके अनन्तर ही वह मनसे संयुक्त हुआ ।

सामुद्रमम्भो लवणक्षेत्रे भानुविपाकतः ।
लवणोपलतां प्राप्य सैन्धवः खिल्य उच्यते ॥ १४५ ॥

शङ्का—कल्पना तो मनसे ही होती है, मनके सम्बन्धके पूर्व कल्पना कैसे हुई?
समाधान—अन्य कल्पनाओंमें उक्त नियम है, परन्तु आदि कल्पनामें वह नियम नहीं है अथवा मन और कल्पना दोनों साथ ही उत्पन्न हुए, अतः वह प्रतिबिम्ब मनोवच्छिन्न हुआ ।

मनकी दो वृत्तियाँ हैं—एक संकल्पात्मक और दूसरी अध्यवसायात्मक। अध्यवसायात्मक वृत्तिको बुद्धि कहते हैं। बुद्धि संकल्पात्मक वृत्तिसे सूक्ष्म होती है। बुद्ध्यवच्छिन्न होकर ब्रह्म अहंकारावच्छिन्न हुआ, अहंकार भी एक प्रकारकी मनकी वृत्ति ही है, अहंकारावच्छिन्न होनेपर शरीरकी कामना हुई, बस शरीरी प्रतीत होने लगा, शरीरके सम्बन्धके बाद कलत्र, पुत्र आदि निखिल जगत्की कल्पनासे सारा संसार स्वप्नके समान प्रतीत होने लगा । यह प्रतीति तब तक रहती है, जबतक ब्रह्मज्ञानरूप जागर अवस्था नहीं आती, यह अवस्था श्रवण, मनन आदि साधनसामग्रीसे ही होती है। इस अभिप्रायसे श्रुतिने ठीक ही कहा कि 'इदं सर्वं यदयमात्मा'। कल्पित अधिष्ठानस्वरूप ही होता है तदतिरिक्त नहीं होता, यही दुन्दुभि आदि अनेक दृष्टान्तोंसे समझाया गया है । अद्वितीयात्मतत्त्वज्ञानसे मुक्ति और उसके अज्ञानसे बन्ध होता है, यह अद्वैत वेदान्तका सिद्धान्त है । यद्यपि इसमें भी माया या अविद्या यदि पूर्वमें नहीं थी, तो आई कैसे ? असत्का तो आविर्भाव होता नहीं, एवं संस्कारादिमें भी यह आक्षेप हो सकता है, तथापि संसार अनादि है, अतः पूर्वकल्पके संस्कारादि उत्तरोत्तर संसारमें निदान हैं, यह सब दर्शनोंमें समान उत्तर है । जो कर्मसे संसार मानते हैं, उनके मतमें शरीरादिके सम्बन्धसे कर्म और कर्मसम्बन्धसे शरीर आदि, ऐसा माना जाता है । प्रथम कौन है ? इसका उत्तर उक्त उत्तरसे अतिरिक्त नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

सैन्धव और खिल्य—इन दोनोंका अर्थ कहते हैं—'**सामुद्र०**' इत्यादिसे ।

'समुद्रस्येदं सामुद्रम्' अर्थात् समुद्रसम्बन्धी जलका नाम सिन्धु है, सिन्धुसे आगत या सिन्धुका विकार सैन्धव कहलाता है, सामुद्र जल नमककी खानमें आकर सूर्य्यके तापसे पककर नमकका पत्थर-सा ढेला बन जाता है, यही खिल्य कहलाता है। यद्यपि नमककी खानमें कोई भी पानी ठहरता है, तो वह नमक हो जाता है, पानी ही नहीं,

स खिल्य उदधौ क्षिप्तस्तापशान्तौ विलीयते ।
अशक्यः पुनरुद्धर्त्तुं खिल्यरूपेण पूर्ववत् ॥ १४६ ॥

काष्ठादि कोई भी पड़े, तो वह नमक हो जाता है, एवं नमकके ढेलेको समुद्रमें छोड़िये या किसी नदी या कूपके जलमें छोड़िये, पूर्ववत् उसका निकालना सर्वत्र असंभव-सा ही है, तो फिर समुद्रका नाम क्यों विशेषरूपसे लिया गया ? इसका उत्तर यह है कि सब जलका मूल स्थान समुद्र ही है, इसलिए प्राधान्यसे समुद्रका नाम श्रुतिमें आया है । समुद्रका ही जल नमक होता है, फिर समुद्रमें ही छोड़नेसे दुष्प्राप हो जाता है, ऐसा श्रुतिका निर्देश नहीं है । वस्तुतस्तु सिन्धुशब्दसे समुद्रका जल प्रकृतमें विवक्षित नहीं है, किन्तु 'स्यन्दनात्सिन्धुः' इस व्युत्पत्तिसे जलसामान्य विवक्षित है, अतः जलसामान्य नमककी खानमें पड़कर सूर्यके तापसे नमकका पत्थर-सा ढेला हो जाता है । उसका जलसामान्यमें प्रक्षेप करनेपर पूर्ववत् निष्कासन नहीं हो सकता, यह तात्पर्य है, इस अर्थमें कोई शङ्का ही नहीं है । वार्तिकमें समुद्रजलका कथन प्रसिद्धिके तात्पर्यसे उपलक्षण है ॥ १४५ ॥

'स खिल्य' इत्यादि । उस टुकड़ेका जलमें प्रक्षेप करनेके अनन्तर जलमें वह टुकड़ा विलीन हो जाता है, कारण कि काठिन्यका आरम्भक सौर (सूर्यका) ताप है, उसका विरोधी जल है और जलका अग्निके साथ विरोध लोकानुभवसिद्ध है । जलसे काठिन्यारम्भक तापकी शान्ति होनेपर 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इस न्यायसे काठिन्यकी भी निवृत्ति हो जाती है । काठिन्यकी निवृत्ति होनेसे खिल्यभावकी भी निवृत्ति हो जाती है अर्थात् जलरूप हो जाता है, इसलिए उस ढेलेका पूर्वके समान उद्धार अशक्य हो जाता है । तात्पर्य यह है कि लवणोदकका अपना अकृत्रिम याने स्वाभाविक जो रूप था, औपाधिक खिल्यभावकी निवृत्तिके अनन्तर वही रूप पुनः प्राप्त हुआ ।

शङ्का—यदि केवल तेजके संयोगको ही खिल्यभावका कारण मानते हो, तो नमककी खानरूप पृथिवी क्या खिल्यभावकी कारण नहीं है ?

समाधान—क्यों नहीं ? अन्वयव्यतिरेकसे उक्त पृथिवी भी खिल्यभावकी कारण है, अन्यथा अन्यत्र भी उक्त तापसे जल नमक हो जायगा, अन्यत्र होता नहीं, इसलिए पृथिवी आदि भी कारण है ॥ १४६ ॥

खिल्योद्धृत्यै नीरमन्धावाददीत यतो यतः ।
तत्र तत्र रसो लभ्यः खिल्यस्त्वेष न कुत्रचित् ॥ १४७ ॥
सामुद्रस्याऽम्भसस्तापात् खिल्यतैवं परात्मनः ।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जीवता स्यादविद्यया ॥ १४८ ॥
महद्भूतमनन्तं स्यादपारं चिद्घनं स्वतः ।
देहेन्द्रियाख्यभूतेभ्यो जीवत्वेन समुत्थितिः ॥ १४९ ॥

'खिल्योद्धृत्यै' इत्यादि । खिल्यको (नमकके ढेलेको) चाहनेवाला पुरुष उसे निकालनेके लिए समुद्रके जिस जिस प्रदेशमें चेष्टा करता है, वहाँसे जलका ही ग्रहण करता है और उसमें नमकका रस पाया जाता है, किन्तु पूर्ववत् खिल्य-स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती ॥ १४७ ॥

'सामुद्रस्याऽ०' इत्यादि । जैसे तापसे समुद्रका जल खिल्यभावको प्राप्त होता है, वैसे ही परब्रह्म भी आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त अर्थात् कार्य ब्रह्मसे लेकर तृणतक अविद्यासे जीवभावको प्राप्त होता है । तात्पर्य यह है कि यदि ब्रह्म अविद्यासे कार्य-कारणात्मक प्रपञ्च तथा जीवभावको प्राप्त हुआ है, ऐसा माना जाय, तो ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर 'कारणाभावात् कार्याभावः' इस न्यायसे सप्रपञ्च जीवभावकी निवृत्ति होनेसे ब्रह्मका स्वस्वरूपसे अवस्थान हो सकता है । यदि जीवभाव ही अविद्याकृत है, प्रपञ्च नहीं अथवा प्रपञ्च ही अविद्याकृत है जीवभाव नहीं, ऐसा माना जाय, तो एकतरकी निवृत्ति होनेपर अद्वितीय आत्मस्वरूपसे ब्रह्मका अवस्थान नहीं हो सकता, कारण कि अद्वितीयत्वविरोधी एकतर कोटि अवस्थित है, अतः अनात्ममात्र तथा सप्रपञ्च जीव अविद्याकृत है, यह कहना होगा । इस परिस्थितिमें ज्ञानसे सप्रपञ्च अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे जीवभावकी निवृत्ति आवश्यक है ॥ १४८ ॥

'महद्भूत०' इत्यादि । महद्भूत याने अनन्त, अपार याने स्वतः चिद्घन ब्रह्म देह, इन्द्रिय आदि भूतों द्वारा जीवभावसे समुत्थित होता है ।

शङ्का—भूतशब्दका प्रयोग पाँच महाभूतोंमें प्रसिद्ध है, किन्तु प्रकृतमें देह, इन्द्रिय आदिमें जो उसका प्रयोग हुआ है, इसमें क्या साधक है ?

समाधान— जो पाँच महाभूत प्रसिद्ध हैं, वे जीवभावके उत्थापक नहीं हो सकते और श्रुतिमें क्षेत्रज्ञके उत्थापकत्वरूपसे भूतोंका श्रवण है, इसलिए प्रकृत अर्थके अन्वयोपयोगित्वरूपसे भूतशब्द भूतारब्ध शरीरादिपरक है, ऐसा उक्त श्रुतिका भाव

है। इसी अभिप्रायसे भाष्यकार, वार्तिककार आदिने व्याख्यान भी किया है। वस्तुतस्तु जिसमें सब कार्य लीन होते हैं, वही मूलकारण अविद्या भूतशब्दार्थ है। अतएव आचार्य वाचस्पतिमिश्रका यह वचन है—'नामरूपबीजशक्तिभूतमव्याकृतं भूतसूक्ष्मम्'। प्रकृतमें आविद्यिक शरीरादि भी हैं, इसलिए उनमें भी भूतशब्दका प्रयोग किया गया है। पाँच महाभूतोंमें प्रायः भौतिक पदार्थोंका लय देखा जाता है, इसलिए उनमें विद्वान् भूतशब्दका प्रयोग करते हैं। उसीके अनुसार प्रसिद्धि भी है। इसीलिए वाचस्पति प्रभृति विद्वानोंने अविद्यामें मुख्य भूतशब्दका प्रयोग किया है, अन्यत्र गौण। इससे यह निष्कर्ष निकला कि अविद्याप्रयुक्त ही ब्रह्ममें जीव-भाव है। तत्त्वज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होनेपर तन्निबन्धन जीवभावका विलय होनेसे केवल चिन्मात्र ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है। अतएव उस समय विशेष संज्ञाका उसमें सम्भव ही नहीं है। अविद्या अनेकरूपा है, अतः उसके संबन्धसे आत्मा भी कार्यकारणभावको प्राप्त होता है और साभास मन, बुद्धि आदि उपाधियोंके भेदसे बहुभावको प्राप्त होता है। जितने आभास उत्थित हैं, वे सब अज्ञानजन्य हैं, इसमें विवाद नहीं है। आत्मासे समुत्थित हुआ प्रथम अज्ञान 'नाऽवेदिषं मूढोऽहमस्मि' इस प्रकार अग्रहात्मक मिथ्याज्ञान करता हुआ उसके सदृश अन्य मिथ्याज्ञानका जनक होता है। बुद्धि अविद्याकी कार्य है, उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य (चिदाभास) बोद्धा कहलाता है। उक्त रीतिसे बोद्धाका समुत्थान अविद्यासे ही होता है। अविद्यासे जन्य श्रोत्र आदि द्वारा श्रोता, स्प्रष्टा इत्यादि व्यवहार होते हैं। अविद्याजन्य शरीर आदिके द्वारा 'श्यामः', 'गौरः' इत्यादि व्यवहार होते हैं। देह द्वारा धनादिका सम्बन्ध आत्मामें मानकर धनी, गोमान्, दरिद्र इत्यादि व्यवहार आत्मामें प्रसिद्ध हैं। कहाँतक गिनावें, इतना ही कहना यथार्थ होगा कि ब्रह्मासे लेकर स्थाणु पर्यन्त जो जीव और शरीरका भेद ज्ञात होता है, वह आत्मयाथात्म्यके आवरणसे होता है। वस्तुतः आत्मा ही केवल तत्त्व है, शेष सब उसीमें अज्ञान द्वारा कल्पित हैं। वेदान्तवाक्यके श्रवणसे वास्तविक आत्मबोध जब होता है, तब अविद्याशब्दवाच्य भूत निवृत्त हो जाते हैं अर्थात् नष्ट हो जाते हैं और कारणके अभावसे क्षेत्रत्व आदिका उत्थान भी नष्ट हो जाता है।

शङ्का—'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे आत्मैकत्वबुद्धि होती है, पर उससे अज्ञानकी निवृत्ति और उसके द्वारा प्रपञ्चकी निवृत्ति नहीं होती, इसमें क्या कारण ?

समाधान—शाब्द ज्ञानसे परोक्षात्मक ऐक्यज्ञान अपेक्षित नहीं है,

महत्त्वं सर्वगत्वं स्याद् भूतत्वं नित्यसिद्धता ।
अनन्तापारशब्दाभ्यां व्याप्तिनित्यत्वसाधनम् ॥ १५० ॥
कार्यकारणराहित्यं यदि वेहोपलक्ष्यताम् ।
अनन्तत्वमकार्यत्वमपारत्वमहेतुता ॥ १५१ ॥

किन्तु अपरोक्षात्मक ऐक्य ज्ञान अपेक्षित है। उसकी उत्पत्तिके लिए प्रत्यया-वृत्तिकी आवश्यकता है अर्थात् उससे जब चित्त शुद्ध होता है, तब उसमें उक्त ज्ञानोत्पत्तिकी योग्यता होती है। एक बार उत्पन्न आत्माका ऐक्यप्रत्यक्ष अज्ञानका तत्क्षण निवर्तक हो जाता है, तमोनिवृत्ति प्रदीपसे त्वरित हो जाती है, प्रदीपकी आवृत्तिकी जरूरत नहीं होती। यहां यह कह देना आवश्यक है कि ब्रह्म सदा अपरोक्ष है, उसमें पारोक्ष्य अज्ञानकृत है; एवं ब्रह्माभिन्न आत्मामें संसारित्व भी अज्ञानकृत है, आत्मामें ब्रह्मता और ब्रह्ममें आत्मता, यह सदा सिद्ध है, केवल अज्ञान ही इसमें व्यवधायक है, जिससे स्फुट नहीं होता। अतः एतदर्थीको केवल तमोनिवृत्तिके लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। वस्तुतस्तु 'जीवत्वेन समुत्थितिः' इस पाठमें विभक्तिका विपरिणाम करनेसे अन्वय होता है, अतः 'समुत्थितम्' यह पाठ ही अच्छा है ॥ १४९ ॥

महद् और भूत—इन दो पदोंका अर्थ कहते हैं—**'महत्त्वम्'** इत्यादिसे।

महत् याने सबकी अपेक्षा महत्तम, क्योंकि साधारण महत्त्व तो आकाश आदिमें भी अनुगत है। तीनों कालोंमें उसके स्वरूपका व्यभिचार नहीं है, यह बतलानेके लिए भूतत्व कहा, उसका अर्थ है—सर्वदा परिनिष्पन्नत्व। अनन्तम्, न अन्तो यस्य तत् अनन्तम् अर्थात् मोक्ष आदि अवस्थामें भी अन्तरहित। सापेक्ष आनन्त्यकी निवृत्तिके लिए 'अपारम्' कहा, इससे अनापेक्षिक आनन्त्य विवक्षित है। महत्त्व और भूतत्वसे नित्यसिद्धताकी और अनन्त एवं अपार शब्दसे व्याप्ति और नित्यत्वकी सिद्धि होती है। वस्तुतः भूतत्वका तात्पर्य कूटस्थत्वमें है और महत्त्वका तात्पर्य सर्वाधिष्ठानत्वमें है ॥१५०॥

भाष्यकारके मतसे श्रुतिका व्याख्यान करके वार्त्तिककारके मतसे उक्त श्रुतिके दो पदोंकी व्याख्या करते हैं—**'कार्य०'** इत्यादिसे।

अथवा कार्यकारणराहित्यके उक्त दो पद उपलक्षक हैं अर्थात् अनन्तत्वका तात्पर्य अकार्यत्वमें है और अपारत्वका तात्पर्य अहेतुत्वमें है। सारांश यह निकला

कि ब्रह्म कार्य और कारणसे रहित है, अतएव कार्यकारणात्मक प्रपञ्चसे भिन्न है। वास्तविक ब्रह्मस्वरूपका निरूपण करनेके लिए अर्थात् तत्त्वज्ञानसे पहले भी अधिकारियोंको ब्रह्मस्वरूप समझानेके लिए महत्त्वादि शब्दोंको श्रुति स्फुट करती है—'महत् इत्यादिसे। अनन्तम्' कहनेसे कारणका निषेध किया गया है और 'अपारम्' इस उक्तिसे कार्यका निषेध किया गया है।

शङ्का—अपारशब्दसे ब्रह्ममें कार्यत्वका निषेध कैसे होता है?

समाधान—'पारः कार्यस्य कारणम्' इसके अनुसार कार्यका पार कारण कहलाता है। 'न पारो यस्य' इस व्युत्पत्तिसे पार (कारण) जिसका नहीं है, वह अपारशब्दका अर्थ होता है। इससे ब्रह्ममें कार्यत्वका निषेध स्फुट ही है। कारणनिरूपित ही कार्य होता है, कारणके प्रतिषेधसे उसमें अकार्यत्व भी सिद्ध ही है।

शङ्का—अनन्तपदसे कारणत्वका प्रतिषेध कैसे होता है?

समाधान—'कारणस्य तथा कार्यमन्तः' इस वचनके अनुसार कारणका अन्त ही कार्य कहलाता है। 'न अन्तो यस्य' इस व्युत्पत्तिसे जिसका अन्त (कार्य) नहीं है, ऐसा ब्रह्म है। कार्यत्वनिरूपित कारणत्व होता है, कार्यत्वके निषेधसे उसके कारणका प्रतिषेध फलित होता है। मूल कारण अनादि पदार्थ ही हो सकता है, कारण कि कार्य कारणान्वित ही देखा जाता है। यदि मूल कारणको भी जन्य मानें, तो उसके कारणकी कल्पना करनी होगी, एवं उसके भी कारणान्तरकी एवं उसके भी कारणान्तरकी, इस प्रकार अनवस्था हो जायगी। कारणके विना यदि कार्यकी उत्पत्ति मानें, तो अनन्वित कार्योत्पत्ति होगी। पर अनन्वित कार्य कहीं दृष्टचर नहीं है। घटादि कार्य मृत्तिकासे अन्वित ही देखे गये हैं, अनन्वित नहीं। अतएव सांख्यसूत्रकारने कहा है—'मूले मूलाभावात् अमूलम्'। अतः सम्पूर्ण जगत्का कारण ब्रह्म अकारणक ही है, अतएव अकार्य भी है। उससे अन्य जगत्के कार्य और कारण दोनों रूप हैं। 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे जीवेश्वरका ऐक्य निश्चित होनेपर कार्यकारणात्मक जगत् निवृत्त हो जाता है और एकरस ब्रह्म सिद्ध होता है।

शङ्का—ब्रह्मज्ञानसे ध्वस्त भी जीवभाव छिन्न वृक्षके समान यदि फिर उदित होगा, तो मोक्ष नहीं हो सकेगा?

समाधान—जलमें प्रक्षिप्त नमकका टुकड़ा जैसे गलनेके अनन्तर फिर अपने पूर्व स्वरूपसे नहीं निकल सकता, वैसे ही पुनर्जीवभाव नहीं हो सकता ॥ १५१ ॥

विज्ञानघन एवेति जात्यन्तरनिषेधनम् ।
तदिदं वस्तुनस्तत्त्वं मायिकी या समुत्थितिः ॥ १५२ ॥
अब्धिस्थानीयमैकात्म्यं जलस्थानं तु साक्षिचित् ।
क्षेत्रस्थानं शरीरादि तापस्थानं तु विभ्रमः ॥ १५३ ॥

'विज्ञानघन' इत्यादि । विज्ञानघनोक्तिसे जात्यन्तरका निषेध किया गया है अर्थात् विज्ञानसे व्यतिरिक्त दूसरा पदार्थ है नहीं । महद्भूतादि विशेषणोंसे बोधितस्वरूप ही पारमार्थिक आत्माका स्वरूप है । जीवादिभावेन उसकी समुत्थिति मायिक है । भाव यह है कि आत्मामें 'अहं कर्ता, अहं भोक्ता, संसारी' इत्यादि बुद्धि मायासे है । वेदान्तवाक्यसे अकर्तृत्वादि बुद्धि जमानी चाहिए । ऐसा करनेपर उक्त वाक्यसे जन्य अकर्तृत्वादिबुद्धिसे कर्तृत्वादिबुद्धिका नाश हो जायगा ।

शङ्का—कर्तृत्वादिबुद्धिकी नाशक अकर्तृत्वादिबुद्धि है । अकर्तृत्वबुद्धि भी आविद्यिक ही है, जबतक वह बुद्धि रहेगी, तबतक अविद्या भी रहेगी । क्योंकि कारणके बिना कार्यकी अवस्थिति नहीं रह सकती । इसलिए उसका भी नाशकके बिना नाश नहीं हो सकता । यदि किसी अन्यको उसका भी नाशक मानें, तो अनवस्था हो जायगी ।

समाधान—'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य उक्त बुद्धि कर्तृत्व आदि प्रपञ्चका शमन करती हुई स्वयं शान्त हो जाती है । जैसे अग्नि काष्ठको भस्म कर आश्रयाभावसे स्वयं शान्त हो जाती है अथवा जैसे कतकरज (निर्मलीका रज) पङ्किल जलमें छोड़नेसे जलके पङ्कको नीचे बैठाती हुई स्वयं नीचे बैठ जाती है, अथवा जैसे गरम लोहेपर जलकणको डालनेसे लोहकी गर्मीको शान्त करता हुआ वह कण स्वयं शान्त हो जाता है, एवं स्वपरशान्तिमें अनेक उदाहरण हैं, वैसे ही प्रकृतमें उक्त धी स्वयं निवृत्त हो जाती है, इसमें कोई आपत्ति नहीं है ॥ १५२ ॥

दृष्टान्तकी दार्ष्टान्तिकमें योजना करते हैं—**'अब्धि०'** इत्यादिसे ।

ऐकात्म्य अब्धिस्थानापन्न है, अकृत्रिमस्वरूप ब्रह्म सामान्य जलके स्थानापन्न है । अज्ञानोपहित साक्षिचित् विशेष जलस्थानापन्न है, नमककी खानके स्थानापन्न शरीरु, इन्द्रिय, मन आदि हैं एवं विभ्रम—अनादि अनिर्वचनीय अज्ञान—खिल्यभावके हेतु सौरतापके स्थानापन्न है ॥ १५३ ॥

खिल्यस्थानं चिदाभासयोगात्कर्तृत्वभोक्तृते ।
द्रष्टा श्रोता द्विजो गौरो धनी गोमान्भवेत्ततः ॥ १५४ ॥
प्रत्यगात्मैव सद् ब्रह्म परोक्षमभवत्तदा ।
ब्रह्मैव सन्नपञ्चात्मा संसारित्वमवाप्तवान् ॥ १५५ ॥
इत्येवं परवस्त्वेव पञ्चभूताख्यमायया ।
जीवत्वेन समुत्थाय ततः शास्त्रेण बुध्यते ॥ १५६ ॥
सर्वमात्मेति सम्यग्धीजन्मनैवाऽखिले भ्रमे ।
नष्टे नश्यति जीवत्वं जले प्रक्षिप्तखिल्यवत् ॥ १५७ ॥

'खिल्यस्थानम्' इत्यादि । खिल्यस्थान अर्थात् खिल्यस्थानापन्न चित् आभासके (चित्प्रतिबिम्बके) योगसे कर्तृत्वका अनुभव करता है । प्रत्यगात्मा ही अविद्यावश शरीरेन्द्रियादिका अभिमानी होकर सुख, दुःख आदिका भोक्ता होता है । द्रष्टा, श्रोता इत्यादिका पूर्वमें निरूपण कर चुके हैं । इसीलिए यहां पुनरुक्ति दोषके भयसे उसका त्याग किया ॥ १५४ ॥

'प्रत्यगात्मैव' इत्यादि । वस्तुतः अपरोक्ष प्रत्यगात्मस्वरूपमें परोक्षत्वका आरोप कर सत् अपञ्चभूतस्वरूप ब्रह्म ही संसारी हुआ है । एवं स्वाभिन्न ब्रह्ममें स्वभिन्नत्वका भी आरोप समझना चाहिए ॥ १५५ ॥

'इत्येवम्' इत्यादि । एवं उक्त रीतिसे पर वस्तु (परब्रह्म) पञ्चभूताख्य मायासे जीवरूपसे समुत्थित होकर याने जीवरूपसे आविर्भूत होकर सांसारिक सुख, दुःखका भोग करता है, पश्चात् वेदान्तवाक्यके श्रवण, मनन आदि द्वारा जब अपना वास्तविक ब्रह्मस्वरूपका अवधारण करता है अर्थात् जब प्रबुद्ध (तत्त्वज्ञानी) होता है तब आरोपित क्लेशोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ १५६ ॥

'सर्वमात्मेति' इत्यादि । 'सर्वमात्मा' इस वाक्यसे जायमान जो सम्यग्धी (समीचीन ज्ञान) है, उसकी उत्पत्तिसे सम्पूर्ण भ्रम नष्ट हो जाता है, तदनन्तर जीवत्वका भी नाश हो जाता है । भ्रमोपादान अज्ञानका नाश होनेपर उसके उपादेय (अज्ञानजन्य) कार्यकी निवृत्ति होती है । जैसे जलमें क्षिप्त खिल्यका । यद्यपि खिल्यभावका नाश पीसनेपर भी होता है, परन्तु उस दशामें पुनः उसका उपादान हो सकता है । समुद्रमें क्षेप करनेके बाद फिर उसका उपादान नहीं हो सकता, इसलिए श्रुतिने जलसामान्यका नाम लेकर समुद्रजलका विशेषरूपसे नाम लिया कि समुद्र जल सब जलका उपादान है ॥ १५७ ॥

क्षेत्रज्ञेश्वरभेदेन पुनः संज्ञा न विद्यते ।
तद्धेतोस्तमसो ध्वंसात्खिल्यानुद्धरणं यथा ॥ १५८ ॥
दृष्टिमात्रात्मययाथात्म्यात्कार्यकारणवस्तुनः ।
नाऽज्ञातं किञ्चिदप्यस्ति नाऽनपास्तं तथा तमः ॥ १५९ ॥

'क्षेत्रज्ञे०' इत्यादि । अद्वैत आत्माकी प्रतिपत्तिके अनन्तर फिर जीव, ईश्वर आदिका भेद नहीं हो सकता, कारण कि उस भेदके मूलभूत तमका आत्माके ऐक्य-ज्ञानसे नाश होनेपर कारणाभावप्रयुक्त उस भेदका अभाव भी सिद्ध होता है । जैसे खिल्यभावका कारण सौरताप-जन्य परिपाक है । शीत जलके स्पर्शसे उक्त ताप और तज्जन्य काठिन्यरूप परिपाकके नष्ट हो जानेसे फिर खिल्यभाव नहीं हो सकता । यद्यपि नमक खपुष्पके समान अत्यन्त असत् नहीं है, वास्तविक स्वस्वरूपसे जलमें है, आस्वाद लेनेपर स्पष्ट प्रत्यभिज्ञात होता है, तथापि खिल्यरूपसे अनुभवगोचर नहीं हो सकता, कारण कि उसके निमित्त काठिन्यका विनाश हो गया है एवं आत्मा स्वप्रकाश मुक्तिदशामें अवस्थित है, पर जीव, ईश्वर आदिके भेदके निमित्त अज्ञानके अभावसे पूर्ववत् तत्-तत्रूपसे प्रतीत नहीं होता ॥ १५८ ॥

'दृष्टिमात्रात्मय०' इत्यादि । दृष्टि यानी दर्शन, तन्मात्रस्वरूप आत्मा अद्वैत वेदान्तमतमें माना जाता है । यद्यपि द्वैतवेदान्ती ज्ञानवान् आत्मा मानते हैं, तथापि 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इत्यादि श्रुति और 'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः' इत्यादि योगसूत्रादिके संवादसे आत्मा दृष्टिमात्रस्वरूप है । तद्विषयक यथार्थ-ज्ञानके (अद्वितीयात्मज्ञानके) अनन्तर कार्यकारणवस्तुरूप समस्त प्रपञ्चका लय हो जाता है कार्यकारणात्मकरूपसे प्रपञ्चगत निखिल पदार्थ प्रसिद्ध हैं, 'एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः' इत्यादि श्रुतिसे भी तद्रूपसे अनात्मपदार्थ प्रसिद्ध हैं, इन सब पदार्थोंका प्रातिस्विकरूपसे ज्ञान अशक्य है, परन्तु उक्त आत्मयथार्थज्ञानसे कोई भी पदार्थ अज्ञात नहीं रह जाता, किन्तु सब तत्त्वतः ज्ञात हो जाते हैं, एवं तम (अज्ञान) कोई भी अनपास्त (अनिरस्त) नहीं रह सकता, घटज्ञानसे घटाज्ञानकी निवृत्ति होती है और पटाज्ञान अवशिष्ट रह जाता है । एवं तत्-तत् अज्ञान तत्-तत् ज्ञानसे निवृत्त होता है, यह सर्वानुभवसिद्ध है । परन्तु श्रुतिप्रामाण्यसे यह माना जाता है कि आत्माके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है और उससे सब अज्ञानोंकी निवृत्ति हो जाती है, कोई अनिवृत्त नहीं रहता, कारण कि आत्मव्यतिरिक्त कोई पदार्थ है नहीं ॥ १५९ ॥

आत्यन्तिकोऽयं प्रलयः पुनर्जन्मविवर्जनात् ।
स्वाभाविकलये शक्तिशेषादस्ति पुनर्जनिः ॥ १६० ॥

श्रुतिः—सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य सञ्ज्ञाऽस्तीति स होवाच याज्ञवल्क्यो न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अरे इदं विज्ञानाय ॥ १३ ॥

'आत्यन्तिकोऽयम्' इत्यादि । आत्मयथार्थज्ञानसे जो लय होता है, वह आत्यन्तिक लय कहलाता है; अतएव इससे फिर जन्म नहीं होता । स्वाभाविक लयमें शक्तिका शेष होनेके कारण फिर जन्म हो सकता है ॥ १६० ॥

'सा होवाच मैत्रेय्य०' इत्यादि श्रुति । उक्त प्रकारसे समझानेपर वह मैत्रेयी बोली—इसी एक ब्रह्म वस्तुके विषयमें विरुद्ध धर्म बतलाते हुए आपने मुझको मुग्ध किया अर्थात् आपके विरुद्ध वचनोंसे मुझको मोह हुआ, ठीक समझमें नहीं आया।

शङ्का—विरुद्धधर्मवत्त्व कैसे हुआ ?

समाधान—विज्ञानघन ही आत्मा है, ऐसी प्रतिज्ञा कर कहा कि 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' अर्थात् मरनेपर फिर कुछ नाम नहीं रहता । कैसे विज्ञानघन ? और कैसे मरनेपर कुछ नाम नहीं ? जैसे एक ही अग्नि शीतल और गरम नहीं होती, क्योंकि अग्नि तो गरम ही रहती है, शीत नहीं रहती, वैसे ही विज्ञानघन सदा रहता ही है; अतः उसका मरण और संज्ञाभाव कभी नहीं रह सकता; पर आप कहते हैं, अतः हमको मोह है ।

याज्ञवल्क्य बोले—अरे मैत्रेयि ! मैंने मोहकी बात नहीं कही याने मैं मोहप्रद वाक्य नहीं कह रहा हूँ ।

शङ्का—फिर कैसे विरुद्ध धर्म एकमें ही कहे, विज्ञानघन और संज्ञाभाव ?

समाधान—मैंने एक धर्मीमें उन दोनों धर्मोंको नहीं कहा है, तुमने उन दोनों विरुद्ध धर्मोंको एकमें जो समझ लिया है, वह भ्रान्तिसे समझ लिया है, वस्तुतः मैंने ऐसा नहीं कहा । मैंने तो यह कहा कि जो अविद्यासे उपस्थापित कार्यकरणसङ्घात शरीरेन्द्रियविशिष्ट अतएव खिल्यभावको प्राप्त आत्मा है, उसका ब्रह्मविद्यासे नाश होनेपर तन्निमित्तक (अविद्यानिमित्तक) जो विशेष संज्ञा—शरीर आदि सम्बन्धियोंमें अन्यत्व (ब्रह्मभिन्नत्व) दर्शनस्वरूप—थी, वह शरीरेन्द्रियोपाधिका विलय करनेपर नष्ट हो जाती है, कारण कि कारणके अभावसे कार्यका अभाव होता ही है । जैसे जलाधारका नाश होनेपर सूर्य और चन्द्रका प्रतिबिम्ब

विज्ञानैकघनस्याऽस्य सञ्ज्ञा नाऽस्तीति यद्वचः ।
तद्व्याहृतिर्न शङ्क्याऽत्र तयोर्विषयभेदतः ॥ १६१ ॥

उसमें नहीं रहता, किन्तु उसका अभाव ही रहता है एवं तन्निमित्त प्रकाशका अभाव भी अनुभवसिद्ध है। सारांश यह कि जैसे परमार्थ चन्द्र और आदित्यका नाश नहीं होता, वैसे ही असंसारी ब्रह्मस्वरूप विज्ञानघनका नाश नहीं होता, अतएव वह विज्ञानघन कहा जाता है। वस्तुतः वही सम्पूर्ण जगत्का आत्मा है, भूतोंके नाशसे उसका नाश नहीं होता। अविद्याकृत खिल्यभाव (संसार) ही विनाशी है। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' ऐसा ही श्रुति कहती है। विकार माने नामरूपात्मक वस्तु। उसका केवल वाणीसे व्यवहार ही होता है, वस्तुतः वह नहीं है, जैसे भ्रमकालमें शुक्तिमें रजतका व्यवहार होता है, पर वह वस्तु नहीं है। केवल उपादान सत्य होता है, सबका उपादान ब्रह्म ही है। मृत्तिकापद उपादानके तात्पर्यसे प्रयुक्त है। मृदादि घटादिके उपादान हैं, यह संसार-दशामें प्रसिद्ध ही है। तदनुसार श्रुतिमें 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' ऐसा कहा गया है। वस्तुतः मृत्तिकादि भी घटादिके समान कार्य हैं, सबका उपादान ब्रह्म ही है। अरे यह अविनाशी विज्ञानघन आत्मा पारमार्थिक है; अतः इस महद्भूत अनन्त अपार विज्ञानघनका विज्ञान अवश्य करना चाहिए। 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' ऐसी श्रुति आगे आवेगी, इसका व्याख्यान भी उसी जगह किया जायगा। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि यह श्रुति विज्ञानघनको नित्य कहती है ॥ १३ ॥

'विज्ञानैकघन०' इत्यादि। विज्ञानघन परब्रह्मकी संज्ञा नहीं है, ऐसा जो पहले मैंने कहा था, उससे व्याघातकी शङ्का करना उचित नहीं है, क्योंकि विषयभेद है। एक धर्मीमें दो विरुद्ध धर्मोंको कहनेसे व्याघात हो सकता है, भिन्न धर्मीमें विरुद्ध दो धर्मोंके कथनसे उक्त शङ्का नहीं हो सकती। 'आत्मा नित्यः बुद्धिरनित्या' ऐसा कहनेपर संशयकी क्या सम्भावना ? एकधर्मिक विरुद्धधर्मद्वयावगाही ज्ञान संशय कहलाता है। तुमने अपने अपराधसे मेरे वाक्यका विरुद्ध अर्थ समझा है। मैंने तो स्पष्ट शब्दोंसे यह कहा है कि विज्ञानघन ही अविद्यावश शरीर, इन्द्रिय आदि उपाधिवाला होकर विशेष—क्षेत्रज्ञ, ईश्वर आदि—संज्ञावान् होता है। विद्यासे अविद्या-और तन्निबन्धन शरीर आदिका प्रविलापन होनेपर आत्मा वास्तविक स्वस्वरूपसे अवस्थित होता है। उस अवस्थामें अविद्याप्रयुक्त विशेष संज्ञा नहीं हो सकती,

विज्ञानैकघनोक्त्याऽस्य कृत्स्नैकात्म्यं पुरोदितम् ।
सञ्ज्ञा नाऽस्तीति चाऽविद्याजन्या बुद्धिर्निषिध्यते ॥ १६२ ॥

अतः तदभाव है । तुमने समझा कि विज्ञानघन ही नहीं रहता, इसलिए विशेष संज्ञाका अभाव कहा जाता है, पर मेरा ऐसा तात्पर्य नहीं है, किन्तु मेरा तात्पर्य यह है कि विशेष संज्ञाके निमित्तके अभावसे विशेष संज्ञाका अभाव है । विशेष संज्ञाका धर्मी अविद्योपाधिक चैतन्य है, उसके अभावका धर्मी शुद्ध चैतन्य है, इस प्रकार उक्त दो विरुद्ध धर्मोंका धर्मी भिन्न है, अतएव दोनों वाक्य अपने अपने विषयमें व्यवस्थित हैं, अतः व्याघातशङ्का ठीक नहीं है ॥१६१॥

'विज्ञानैक०' इत्यादि । विज्ञानघनोक्तिसे सब जगत्का एक ही आत्मा है, प्रतिदेह आत्मा भिन्न नहीं हैं, ऐसा मैंने तुमसे स्पष्ट कहा । जैसे कि सूर्य आकाशमें एक ही है, पर जलाशयोंमें सूर्यके प्रतिबिम्ब असंख्य दिखलाई देते हैं । आश्रयके भेदसे उनके स्वरूपमें भी भेद प्रतीत होते हैं । मलिन आश्रयमें मलिन प्रतिबिम्ब, और स्वच्छमें स्वच्छ । जलके नष्ट होनेपर प्रतिबिम्ब भी नष्ट हो जाते हैं ।

शङ्का—तब तो शरीर आदि उपाधिभूत अविद्याका नाश होनेपर उसमें प्रतिबिम्बित जीवका भी नाश हो जायगा, फिर मुक्ति किसकी कहते हो ? और मोक्ष पुरुषार्थ भी नहीं कहा जा सकता, किसी समझदारकी उसके लिए प्रवृत्ति भी नहीं होगी । यदि प्रज्ञानघनकी मुक्ति कहिए, तो मेरे नष्ट होनेपर भी मुझसे भिन्न प्रज्ञानघन मुक्त होगा, इस आशासे भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती; प्रज्ञानघन तो सदा मुक्त ही है, अतः उसके लिए भी प्रवृत्ति दुर्वच है ।

समाधान—बिम्ब प्रतिबिम्बसे अभिन्न है । जैसे प्रतिबिम्ब आश्रयभूत जलादिके निवृत्त होनेपर बिम्बरूपसे अवस्थित हो जाता है, वैसे ही कर्ता, भोक्ता अविद्योपाधिक जीव अविद्याकी निवृत्तिके अनन्तर परब्रह्मस्वरूपसे अवस्थित होता है, यही मोक्ष है । इसी अवस्थामें विशेष संज्ञाकी निवृत्ति कही गई है । इसी तात्पर्यसे श्लोकमें कहते हैं—अविद्याजन्य बुद्धिकी निवृत्ति ही विशेष संज्ञाकी निवृत्ति है । बुद्धिके सम्बन्धसे संसार और उसके वियोगसे अपवर्ग होता है, यही सांख्यसिद्धान्त भी है । इस विषयमें विशेष अभिधान—सांख्य और अद्वैतवेदान्तका मोक्षके विषयमें समन्वय है, इसका प्रतिपादन—समयपर होगा, यहाँ संक्षेप ही उचित है, इसलिए इस विषयको यहीं छोड़ते हैं ॥ १६२ ॥

कार्यकारणनाशेऽपि स्वतःसिद्धमनन्यगम् ।
यद्वस्तु तदलं स्वात्मा संविच्चै निरपेक्षतः ॥ १६३ ॥

श्रुतिः—यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं

'कार्यकारण०' इत्यादि ।

शङ्का—अविद्याका ध्वंस होनेपर जीवादि संज्ञा यदि निवृत्ति हो जाती है, तो चैतन्यघनका ज्ञान ही कैसे होगा ? ज्ञान भी आविद्यिक ही है ।

समाधान—ज्ञान दो प्रकारका है—एक वृत्तिरूप जो कि आविद्यिक है अर्थात् जो अविद्याके बिना नहीं हो सकता । दूसरा चैतन्यात्मक जो कि स्वयंप्रकाशरूप है । प्रथमके विषयमें आपकी शङ्का ठीक है, क्योंकि कार्य-कारण, जो अनात्म पदार्थ हैं, उनका नाश होनेपर तदात्मक ज्ञान नहीं हो सकता, किन्तु जो स्वतःसिद्ध अतएव अनन्यग (अननुगत) ['अव्यावृत्ताननुगतब्रह्मत्व-प्रतिपत्तये' इस वार्तिकके श्लोकके अनुसार ब्रह्मका वस्तुतः यही लक्षण है] स्वात्मा चिद्घनस्वरूप वस्तु परमार्थ सत् है, अतएव निरपेक्ष है, वह ज्ञानके लिए पर्याप्त है अर्थात् निखिल प्रपञ्चकी कारण अविद्याकी निवृत्ति होनेपर कार्यात्मक कोई भी पदार्थ नहीं रह सकता, यह ठीक है । पर उक्त चैतन्य, अकारणक होनेसे, सापेक्ष नहीं है, किन्तु निरपेक्ष और प्रकाशात्मा है, इसलिए वही पर्याप्त है । अतएव आत्मज्ञान अपार कूटस्थ नित्य पारमार्थिक है; उसकी निवृत्ति किससे हो, किसीसे नहीं; इसलिए शून्यवादकी भी शङ्का नहीं हो सकती। यद्यपि वार्तिकसारकी आदर्श प्रतिमें 'अनन्यमम्' ऐसा पाठ है, पर वह अशुद्ध है । 'अनन्यगम्' ऐसा पाठ होना चाहिए, इसका अर्थ है—चैतन्यविषयत्वायोग्यम् । अनात्मपदार्थ चैतन्यके विषय होते हैं, इसलिए वे चैतन्यग कहे जाते हैं । चैतन्य विषयी है विषय नहीं, अतः अनन्यग है । स्वात्मनि कर्मकर्तृविरोध ही विषय-भावमें बाधक है ॥ १६३ ॥

'यत्र हि द्वैतमिव' इत्यादि श्रुति ।

शङ्का—तब क्यों कहते हैं कि 'प्रेत्य संज्ञा नास्ति' अर्थात् खिल्यभावके समान जीवभावके निवृत्त होनेपर संज्ञा नहीं है ।

समाधान—सुनो, यतः अविद्याकल्पित कार्यकारणसंघातोपाधिजनित विशेषात्मामें द्वैतके समान (वस्तुतः अद्वैत ब्रह्ममें द्वैतके समान) तथा अभिन्नमें

पश्यति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते, तदितर इतरं विजानाति, यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाऽभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कꣳ शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयाद्येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥ १४ ॥

इत्युपनिषदि द्वितीयाये चतुर्थं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

भिन्नके समान अपनेसे अन्य वस्तु लक्षित होती है, इसलिए अन्य अन्यको देखता है, यह सम्बन्ध विवक्षित है ।

शङ्का—इवशब्द उपमानका सूचक है । द्वैतका अद्वैतके साथ उपमानोपमेयभावका बोधन करनेसे द्वैतको सत्य ही मानना चाहिए, जैसे 'चन्द्र इव मुखम्' यहाँपर उपमान चन्द्र और उपमेय मुख दोनों वास्तविक पदार्थ हैं । अतएव 'वन्ध्यापुत्र इव देवदत्तः' ऐसा नहीं कहा जा सकता, कारण कि उपमान वन्ध्यापुत्र ही जब है नहीं, तब देवदत्त उसका उपमेय कैसे कहा जा सकता है, इसलिए द्वैत सत्य है, यही श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

समाधान—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि अनेक श्रुतियोंसे आत्मा ही परमार्थ सत्य है । उससे अन्य संसार उसमें कल्पित है; यह असकृत् श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध कर चुके हैं, अतः प्रकृतमें द्वैतदशामें प्रतीयमान व्यावहारिक सत्यको लेकर उक्त श्रुतिकी प्रवृत्ति है । जिस अवस्थामें द्वैतके समान प्रतीत होता है, उस अवस्थामें दूसरा—जैसे चन्द्रसे दूसरा जलमें चन्द्रप्रतिबिम्ब है, वैसे ही परमात्मासे भिन्न शरीराद्युपाधिक जीव—इतरसे—घ्राणेन्द्रियसे—घ्राणयोग्य गन्धका आघ्राण करता है। जीव घ्राणसे गन्धका ग्रहण करता है । 'इतरः इतरम्' इस प्रकार कर्तृकर्मकारकका उपादान कारकमात्रमें उपलक्षक है एवं 'जिघ्रति' शब्द क्रिया और उसके फलका बोधक है । जैसे उठा उठाकर कुठारको लकड़ीपर गिराना और छेद्य काष्ठका विभाग—ये दोनों उद्यम्यनिपातन और द्वैधीभाव एक ही 'छिनत्ति' पदसे कहे जाते हैं, वैसे ही 'जिघ्रति' आदि पदसे भी दो अर्थोंका अभिधान होता है । फल होनेपर क्रिया समाप्त होती है, अतः फल क्रियावसान कहा जाता है । क्रियाके बिना फलोपलब्धि नहीं होती । इतरः—घ्राता, इतरेण—घ्राणेन, इतरं—गन्धं जिघ्रति' इसी प्रकार सर्वत्र समझना

चाहिए। पश्यति, शृणोति, अभिवदति, मनुते, विजानाति—इन सब वाक्योंमें इतर याने अन्य इतरका अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए। यह अविद्या-अवस्थाका समाचार है। जिस अवस्थामें ब्रह्मविद्यासे अविद्या नष्ट हो जाती है, उस अवस्थामें आत्मासे अन्यका अभाव होता है। जिस अवस्थामें ब्रह्मवेत्ताके सब नाम, रूप आदि आत्मामें ही प्रविलापित हो जाते हैं, सब आत्मा ही हो जाते हैं, उस अवस्थामें कौन किससे किसको देखे ? क्रियाकारकफलका अभाव हो जाता है, जैसे सुषुप्ति अवस्थामें सकल व्यवहारोंकी निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही मुक्तिदशामें भी समझना चाहिए, अतः अविद्यादशामें ही क्रियाकारकफलका व्यवहार होता है, ब्रह्मवेत्तामें उक्त व्यवहार नहीं हो सकता। उसके कारणके अभावसे सब आत्मा ही हो गये हैं, अतः उससे व्यतिरिक्त कारक क्रिया या उसका फल कुछ भी नहीं है। यहाँपर इस बातपर अवश्य ध्यान देना चाहिए कि अनात्म पदार्थ यदि वास्तविक होते, तो ब्रह्मज्ञान होनेपर वे आत्मा कैसे हो जाते ? यह तो आप खूब जानते हैं कि घट, पट ये दोनों पदार्थ परस्पर भिन्न हैं और कोई भी कितना निपुण कारीगर क्यों न हो दोनोंको एक नहीं कर सकता, फिर श्रुति ब्रह्मज्ञान होनेपर निखिल जगत्को ब्रह्मस्वरूप बतलाती है। श्रुतिमें अविश्वास करनेका भी कोई कारण नहीं है। इस अर्थकी उपपत्ति श्रुति स्वयं करती है। इससे यह सिद्ध होता है कि संसार अज्ञानजनित है। जबतक अज्ञान है, तबतक अनेक अनात्म पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं। ज्ञान होनेसे अज्ञान और उसके कार्यकी निवृत्ति हो जाती है और परमार्थ अद्वैत ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि परमार्थात्मैकत्वप्रत्यय होनेपर क्रियाकारकफलप्रत्यय नहीं हो सकता। ब्रह्मवेत्ताके प्रति क्रिया और उसके साधनकी अत्यन्त निवृत्ति ही सिद्ध होती है। केन, किम् ये वचन आक्षेपार्थक हैं। अर्थात् किं शब्द प्रकारान्तरकी सर्वथा अनुपपत्ति दिखलानेके लिए है, प्रश्नार्थक नहीं है। किं शब्द प्रश्नार्थक वहां होता है; जहाँ प्रकारान्तरका संभव हो, जैसे आप ग्रामको पैदल जायँगे या घोड़ेसे ? यहाँ दोनों प्रकार हो सकते हैं। यहाँ क्रियाकर्तृभाव भेद ही प्रकारमें हो सकता है, अभेद नहीं हो सकता। 'सर्वमात्मैवाभूत्' इस वाक्यसे सब आत्मा हो गया, इस प्रकार अभेदबोधनसे भेद और तन्निबन्धन क्रियाकर्तृभावका अभाव स्फुट होनेसे प्रकारान्तरका अभाव स्पष्ट है; अतः किंशब्द आक्षेपार्थक है अर्थात् क्रिया-कर्तृभावके निषेधार्थ है; प्रश्नार्थ नहीं है। कोई किसीसे किसीको किसी तरह नहीं सूंघ सकता, यह तात्पर्य है और जहाँ (अविद्यावस्थामें) दूसरा दूसरेको देखता है, वहाँ भी

ऐकात्म्यं यदविज्ञातं तद्द्वैतमिव विभ्रमात् ।
स्याद्यत्र तत्र पुंसोऽसौ कर्तृकर्मादिभेदधीः ॥ १६४ ॥

विचार करनेपर जिससे इन सबको जानता है; उसको किससे जाने । जिससे जानता है उस कारणका किसमें विनियोग हुआ है, क्योंकि ज्ञाताकी जिज्ञासा ज्ञेयमें ही होती है, आत्मामें नहीं । अग्निका दाह्य विषय जैसे अग्नि ही नहीं हो सकती, किन्तु काष्ठादि ही होते हैं, वैसे ही आत्माका विषय आत्मा नहीं है, किन्तु तद्भिन्न घटादि हैं । ज्ञाताका ज्ञान अविषयमें नहीं होता, अतः जिससे इस सब संसारको जानता है, उस विज्ञाताको किस करणसे कौन जानेगा; फिर जिस समय परमार्थविवेकी ब्रह्मवित्के प्रति विज्ञाता ही केवल अद्वितीय है दूसरा कोई है नहीं अरे उस विज्ञाताको किससे जानेगा ? किसीसे नहीं । इस प्रकार महर्षिका स्वस्वरूपविशेषापेक्ष विज्ञानघनत्व वचन है और विशेषविज्ञानापेक्ष संज्ञा-भाववचन है । इसलिए आपाततः प्रतीयमान विरोध बोद्धाके प्रज्ञापराधसे है, वास्तविक दोनों वचन व्यवस्थित हैं ॥ १४ ॥

'ऐकात्म्यम्' इत्यादि जिस अवस्थामें आत्मैकत्व अज्ञात रहता है, उसी अवस्थामें भ्रमसे सद्वितीयके समान होता है और उसी अवस्थामें इतर (घ्राता) घ्राणसे घ्रातव्य गन्धका ग्रहण करता है, वहींपर कर्तृकर्मादिभेद बुद्धि होती है । जिस समय अविद्योपहितबुद्धि आत्मा अपने स्वरूपको नहीं देखता, तभी वह द्वैतदर्शी होता है ।

शङ्का—प्रपञ्च है या नहीं ? प्रथम पक्षमें अविद्याका उपयोग ही नहीं है, क्योंकि अविद्याके बिना भी वह है, इसलिए प्रतीत होगा ही । द्वितीय पक्षमें खपुष्पके समान असत्को अविद्या भी कैसे दिखलायेगी ।

समाधान—प्रमाण और उसके आभासके स्वभावको समझकर उत्तरपर ध्यान दीजिये, प्रमाण सत्का अभिव्यञ्जक होता है और आभास असत्का अभिव्यञ्जक होता है, ये दोनोंके स्वभाव हैं । अतएव रज्जुमें असत् ही सर्पका भान होता है अन्यथा प्रमाण और तदाभास अभिन्न हो जायँगे ।

शङ्का—तब खपुष्पका अविद्यासे भान क्यों नहीं होता ?

समाधान—वह अत्यन्त असत् है, यद्रूपसे अविद्याका परिणाम नहीं होता वह अत्यन्तासत है । जगद्रूपसे अविद्याका परिणाम होता है, इसलिए जगत्

ननु द्वैतमिवेत्येतदुपमानं कथं भवेत् ।
उपमेयद्वैतवस्तुराहित्यादिति चेच्छृणु ॥ १६५ ॥
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ।
इत्यादावुपमा दृष्टा स्वस्य स्वेन तथेष्यताम् ॥ १६६ ॥
यद्वा लोके चन्द्रभेदः कल्पितत्वेन सम्मतः ।
जगद्भेदोपमाऽसौ स्यान्मिथ्यात्वं तेन सिध्यति ॥ १६७ ॥

अन्त्यन्तासत् नहीं है । अपरोक्ष प्रतीति ही इसमें प्रमाण है । शुक्तिरजतके समान दृश्यत्वहेतुसे जगत् आविद्यिक है, यह वेदान्तसिद्धान्त है ॥ १६४ ॥

'ननु द्वैत०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि सब आत्मा ही है, उससे अतिरिक्त वस्तु नहीं है, यह श्रुतिका अर्थ है, तो द्वैतमिव यह उपमान कैसे होगा ? उपमानोपमेयभाव द्वैतमें ही होता है, अद्वैतमें नहीं होता । उपमेय द्वैत वस्तुसे रहित आत्मा है, यह आपका सिद्धान्त है ।

समाधान—सुनो,

'रामरावणयो०' इत्यादि । राम और रावणका युद्ध राम और रावणके युद्धके समान ही हुआ इत्यादि स्थलमें अपनेमें अपना उपमानोपमेयभाव देखा जाता है । भेदमें ही उपमानोपमेयभाव होता है, अभेदमें नहीं, ऐसा नियम नहीं है । अतएव 'दिगिव आकाशो भाति' यह भी प्रयोग होता है । आकाशसे अतिरिक्त दिक् नहीं है, ऐसा भी विद्वानोंका मत है । विचार करनेपर यही सिद्धान्त समुचित प्रतीत होता है । नव्य नैयायिकोंका भी यही मत है । विस्तारके भयसे इसका विचार नहीं किया है ॥ १६६ ॥

शङ्का—आपने रामरावणयुद्धके बारेमें जो कहा कि एकमें भी उपमानोपमेय-भाव होता है, सो ठीक नहीं है, कारण कि उक्त श्लोकमें रामरावणयुद्धके सदृश राम और रावणका युद्ध था, यह अर्थ विवक्षित नहीं है, किन्तु कविको यह अर्थ विवक्षित है कि राम और रावणका युद्ध अनुपम था, अतः एकमें उपमानो-पेमयके प्रतिपादनके लिए उक्त उदाहरण युक्त नहीं है । इसी अनुपपत्तिको हृदयमें रखकर आलङ्कारिक विद्वानोंका कहना है कि ऐसे स्थलपर अनन्वय अलङ्कार माना

समस्तव्यस्तरूपत्वं यो वक्तीहाऽऽत्मनः श्रुतेः ।
तत्पक्षस्य निषेधाय द्वैतमिथ्यात्ववर्णनम् ॥ १६८ ॥

जाता है, उपमा नहीं । उपमा नियमसे भेदघटितमें ही होती है, अभेदमें कभी नहीं होती ।

समाधान—'यद्वा लोके' इत्यादिसे । जैसे लोकमें 'एकश्चन्द्रः सद्वितीयवत् भवति' इत्यादिक स्थलमें अर्थात् अङ्गुलि द्वारा आंख चिपटी करनेसे नेत्ररश्मिके दो प्रवाह स्वतन्त्ररूपसे जब चन्द्रमाका ग्रहण करते हैं, तब दो चन्द्रमा आकाशमें दीख पड़ते हैं । दो में एक ही परमार्थ सत्य है, दूसरा कल्पित ही माना जा सकता है । कल्पितका अकल्पितके साथ उपमानोपमेयभाव मानकर ही उक्त प्रयोग हो सकता है, अन्यथा नहीं । एवं प्रकृतमें भी कल्पित द्वैतको लेकर उपमा हो सकती है । अतएव स्वप्नमहेन्द्रजालादिमें स्वप्नमायादि द्वारा एक ही कर्ता दो कर्ताके समान प्रतीत होता है ।

शङ्का—स्वप्नादि द्वैत मिथ्या है, अतः मिथ्या द्वैत परमार्थ सत् आत्माका दृष्टान्त कैसे होगा ?

समाधान—क्यों नहीं होगा । यह सत्य मिथ्याके समान प्रतीत होता है, ऐसा लोकमें कहा जाता है । वहां लोग मिथ्या सत्यका उपमान कहते ही हैं एवं 'मिथ्यार्थः सत्यवद्भाति' यह भी प्रयोग होता है ।

शङ्का—जो देख पड़ता है, वह सत्य ही है, मिथ्या नहीं । रामानुज आदिके सिद्धान्तमें शक्तिरूप्य मिथ्या नहीं माना जाता है, शुक्तिमें भी रजतारम्भक अवयव रहते हैं । भ्रान्तिसमयमें तबतक तदारब्ध रजत रहता है, जबतक उसका भान होता है । इसलिए वह मिथ्या नहीं, अतः मिथ्या दृष्टान्त या उपमा नहीं हो सकता ।

समाधान—भ्रान्ति और बाध ही मिथ्या पदार्थके सद्भावमें प्रमाण हैं । यदि शुक्तिरूप्य सत् होता, तो बाजारके रजतके समान उसका बाध न होता और यदि सर्वथा न होता, तो खपुष्पवत् प्रतीत नहीं होता, इसलिए प्रतीतिकाल तक है पश्चात् नहीं, इसीसे प्रतीति समकालिक प्रतीतिमात्रशरीर मिथ्या पदार्थ माने जाते हैं प्रतीतिबाधान्यथानुपपत्ति ही उनके सद्भावमें प्रमाण है ॥ १६७ ॥

'समस्त०' इत्यादि ।

ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपं प्रायः स्वप्ने मृषा यथा ।
एको व्यवहरत्येवमज्ञो व्यवहरेन्मृषा ॥ १६९ ॥

शङ्का—'यत्र हि द्वैतमिव भवति' इस वाक्यसे पूर्वके वाक्योंसे ही तत्त्वोपदेश हो चुका, क्योंकि 'न प्रेत्य संज्ञास्तीति' यहाँ तकके वाक्य ही तत्त्वोपदेशके उपयोगी हैं। अनन्तरवाक्योंका प्रकृतमें क्या उपयोग है ?

समाधान—'एष हि द्रष्टा' और 'सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि श्रुतियोंसे कहीं जगत्से अतिरिक्त आत्मा है, ऐसी प्रतीति होती है और कहीं 'सर्वमात्मा' इत्यादिसे सम्पूर्णविश्व आत्मा ही है, ऐसी प्रतीति होती है। इसलिए यह जिज्ञासा होती है कि आत्माका वास्तविक स्वरूप क्या है ? इस विषयमें शरीरशरीरि-भावादिवादी कहते हैं कि समस्त प्रपञ्चात्मक भी आत्मा है और उससे अतिरिक्त भी आत्मा है। 'देवदत्तो गच्छति' (देवदत्त जाता है) यहाँपर शरीरविशिष्ट आत्मा देवदत्तशब्दका अर्थ है, क्योंकि शरीरके बिना आत्माका गमन नहीं हो सकता, इसलिए समस्त (शरीर आदिसे विशिष्ट) आत्मा उक्त पदका अर्थ है। 'देवदत्तो जानाति' यहाँपर व्यस्त (शरीरसे अतिरिक्त) आत्मा देवदत्तशब्दका अर्थ है, कारण कि ज्ञान आत्मधर्म है, शरीरधर्म नहीं है। 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्····यस्य पृथिवी शरीरम्' इत्यादि श्रुतियोंसे यह सिद्ध होता है कि समस्त जगत् परमात्माकी देह है, अतः समस्तके तात्पर्यसे 'सर्वमात्मा' ऐसा श्रुतिका निर्देश है और व्यस्तके तात्पर्यसे उससे अतिरिक्त 'एष हि द्रष्टा' इत्यादि आत्मबोधक श्रुति है, ऐसा जो मानते हैं, उनके मतका खण्डन करनेके लिए अग्रिम श्रुति है। यहांपर प्रश्न यह होता है कि ब्रह्मकी समस्तरूपताको अवास्तविक मानते हो या वास्तविक ? प्रथम पक्षमें तो दो श्रुतियोंमें कोई विरोध ही नहीं आ सकता। द्वितीय पक्षमें, अविद्यादशामें ही द्वैतका दर्शन श्रुति कहती है, विद्यादशामें नहीं, यह श्रुतिविरोध अपरिहार्य्य है, क्योंकि वास्तविककी निवृत्ति नहीं हो सकती। फिर अविद्यादशामें ही द्वैत है, विद्यादशामें नहीं यह कैसे ? इससे द्वैतमिथ्यात्व स्पष्ट होता है। सारांश यह कि उभयविध आत्मश्रुतिसे उभयस्वरूप आत्मा है, ऐसा जो मानते हैं, उनके मतका खण्डन करनेके लिए अग्रिम श्रुतिसे द्वैतमिथ्यात्वका वर्णन किया है। ज्ञाननिवर्त्यत्वरूप मिथ्यात्वमें प्रकृत श्रुतिका तात्पर्य है ॥१६८॥

'ज्ञातृज्ञान०' इत्यादि। स्वप्नमें बाह्य ज्ञानेन्द्रियाँ प्राणमें लीन हो जाती हैं, केवल मात्र मनका आत्माके साथ सम्बन्ध रहता है। मन भीतर रहकर स्वतन्त्ररूपसे

यस्यामविद्यावस्थायां भेदभ्रान्तिस्तदा पुमान् ।
घ्रातृघ्राणघ्रेयसंज्ञामाप्नोत्यन्यां तथा त्रिधाम् ॥ १७० ॥

सब विषयोंका ग्रहण करता है। केवल बाह्य तत्-तत् विषयोंका ग्रहण करनेके लिए तत्-तत् विषयोंकी अपेक्षा मनमें मानी जाती है, इस तात्पर्यसे 'बहिर्न स्वतन्त्रं मनः' यह नियम है। जहाँपर ऐसा स्वप्न हो कि मैं घ्राणसे गन्धका ग्रहण कर रहा हूँ, वहाँपर घ्राण तो लीन है, उससे गन्धका ग्रहण नहीं हो रहा है। फिर यह स्वप्न कैसा ? ऐसे स्वप्नकी उपपत्तिके लिए विषयके समान करण भी तावत्-कालके लिए अनिर्वचनीय माना जाता है। ज्ञाता—स्वाश्रिक शरीरविशिष्ट—, ज्ञान, ज्ञेय गन्ध आदि। जैसे स्वप्नमें बाह्य गन्ध आदिके साथ सन्निकर्ष न होनेके कारण अनिर्वचनीय गन्धादि ज्ञेय माने जाते हैं, अतएव घ्राणसे मैं गन्धका ग्रहण करता हूँ, इत्याकारक मृषा स्वप्नकी उपपत्ति होती है, वैसे ही अविद्यादशामें भी एक ही अज्ञात्मा अज्ञानोपहित होकर ज्ञेयादि भेदकी कल्पना करके मैं घ्राणसे गन्धका ग्रहण करता हूँ, ऐसी मिथ्या प्रतीति करता है ॥ १६९ ॥

'यस्याम०' इत्यादि। जिस अविद्यावस्थामें एक ही आत्मामें अज्ञ पुरुषको भेदकी भ्रान्ति होती है, उस अवस्थामें वह घ्राता, घ्राण और घ्रेय—इन तीन संज्ञाओंको प्राप्त करता है। यद्यपि वास्तविक एक ही आत्मा है तथापि अविद्यासे उसीमें कर्तृ, कर्म और क्रिया आदि भेद दीखता है।

शङ्का—'इतर इतरम्' इत्यादि श्रुतिमें कर्ता, कर्म और क्रियार्थक पदोंका ही श्रवण है, पर 'घ्राणेन' इत्यादि भाष्यनिर्देशका क्या तात्पर्य है ?

समाधान—'इतर इतरम्' यह श्रुतिनिर्देश कारकमात्रका उपलक्षण है अर्थात् योग्य कारकमात्रमें उक्त श्रुतिका तात्पर्य है, अतएव विद्यादशामें कर्ता, कर्म आदिके प्रतिक्षेपके साथ करणका भी प्रतिक्षेप किया गया है—'केन कं पश्येत्' इत्यादि। अन्यथा अप्रसक्तप्रतिषेधापत्ति दोष हो जायगा।

शङ्का—तो भी फलका अभिलाप नहीं हो सकता, कारण कि उसका वाचक पद नहीं हैं।

समाधान—'जिघ्रति'का निर्देश क्रिया और उसके फलके लिए है अर्थात् क्रियावाचक जिघ्रतिपद उसके फलका भी उपलक्षक है। उत्तर वाक्योंमें भी इसी प्रकार योजना करनी चाहिए। ग्राहकादि सब आत्माके अज्ञानसे उत्थित हैं, वास्तविक नहीं हैं ॥ १७० ॥

अविद्यायां विनष्टायां घातृघ्राणादिभेदधीः ।
विनश्यतीत्यभिप्रेत्य संज्ञा नाऽस्तीति वर्णितम् ॥ १७१ ॥
अभिज्ञोऽप्यज्ञवद्भेदं घातृघ्राणादिलक्षणम् ।
विजानातीति चेन्मैवं विद्यायां तदसम्भवात् ॥ १७२ ॥
यस्यां तु विद्यावस्थायामात्मैवाऽस्य भवेज्जगत् ।
तदा कः केन कं जिघ्रेद्द्वैतपरवस्तुनि ॥ १७३ ॥

'अविद्यायाम्' इत्यादि । अविद्याके नष्ट होनेपर तन्निबन्धन घ्राता, घ्राण आदि भेदबुद्धि भी नष्ट हो जाती है, इस अभिप्रायसे संज्ञा नहीं रहती, यह कहा है । जैसे काठिन्य-संयोगके नष्ट होनेपर खिल्यपदार्थ नष्ट हो जाता है और उसके बाद जलात्मना नमक स्वाभाविकरूपसे रहता है, क्योंकि औपाधिक संज्ञा-निमित्तका नाश होनेपर औपाधिक संज्ञाकी निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही प्रकृतमें तत्-तत् संज्ञानिमित्त अविद्याका नाश होनेपर संज्ञाका भी अभाव हो जाता है, यह महर्षिका अभिप्राय है ॥ १७१ ॥

'अभिज्ञो०' इत्यादि ।

शङ्का—अज्ञ संसारीके समान अभिज्ञ (आत्मतत्त्वज्ञानी) भी घ्राता, घ्राण आदि रूप भेदको यदि जानेगा, तो संज्ञा क्यों नहीं हो सकेगी ?

समाधान—विद्याका उदय होनेपर उक्त भेदका ही जब असम्भव है, तब उसका ज्ञान कैसे होगा ? विद्या अविद्याकी निवर्तिका है । अविद्याके निवृत्त होनेपर उसका कार्य भी निवृत्त ही हो जाता है । फिर उक्त भेदको आत्मज्ञ कैसे जान सकता है ? यद्यपि जीवन्मुक्तिदशामें तत्त्वज्ञानीको भी उक्त भेदका भान होता है, तथापि प्रकृत शङ्काका समाधान विदेहकैवल्यके तात्पर्यसे किया गया है, यह अग्रिम श्लोकमें स्फुट है ॥ १७२ ॥

'यस्यां तु' इत्यादि । शास्त्र और आचार्यके उपदेश द्वारा जनित भास्वद्भास्कर-दीधितिके समान तत्त्वज्ञानसे सम्पूर्ण अविद्या भस्म हो जाती है, उस समय तत्त्व-ज्ञानीके लिए सारा जगत् आत्मा हो जाता है अर्थात् आविद्यिक भेदके निवृत्त होनेपर ज्ञानीको एक आत्मा ही प्रतीत होता है । तब कौन कर्ता किस करणसे किस विषयका ग्रहण करेगा ? ग्राह्यग्राहकभेद अविद्या समुत्थ है, अतएव वह

पष्ठगोचरवत्सर्वं कार्यकारणवज्जगत् ।
ध्वस्तात्मान्ध्यस्य विदुषः सम्यग्ज्ञानोदये भवेत् ॥ १७४ ॥
ग्राहकादिविभागोऽत्र नाऽस्ति तद्धेत्वसम्भवात् ।
चिन्मात्रस्य स्वतःसिद्धैर्विज्ञानघनतेरिता ॥ १७५ ॥

अविद्यादशामें ही रहता है । विद्यादशामें तो निमित्ताभावसे ग्रहणाद्यभाव न्याय-प्राप्त है ॥ १७३ ॥

'पष्ठगोचरवत्' इत्यादि ।

शङ्का—यदि तत्त्वज्ञानके बाद सम्पूर्ण जगत् ज्ञानीका आत्मा ही हो जाता है तो जगत्का अभाव नहीं कह सकते, किन्तु उसकी, आत्माके समान, पारमार्थिक सत्ता ही मानना उचित है, फिर भेद और उस भेदसे जायमान विशेष संज्ञाकी निवृत्ति कैसे होगी ?

समाधान—कार्यकारणरूप सम्पूर्ण जगत् षष्ठ प्रमाणगोचरके (अभावके) समान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय हैं, इनके ग्राहक श्रोत्र, त्वक् नेत्र, रसन और घ्राण—ये पाँच इन्द्रियाँ हैं । छठी न इन्द्रिय है और न उसका विषय है । जो इन पाँचोंमें से किसी इन्द्रियका विषय नहीं है, वह है ही नहीं, जैसे सप्तम रस, कूर्मरोम, नरशृङ्ग आदि । आत्मा इन पाँचोंमें से किसी इन्द्रियका विषय नहीं है, किन्तु विषयी है । ऐसा होनेपर भी कूर्मरोमादिके समान उसे असत् नहीं कह सकते, कारण कि वह स्वयं-प्रकाश और स्वतःसिद्ध है । जगत् जड़ है, अतः प्रमाणसे ही उसकी सिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं । निवृत्ताविद्य तत्त्वज्ञानीको ज्ञानोदय होनेपर आत्मव्यतिरिक्त किसी पदार्थकी उपलब्धि ही नहीं होती । उपलब्धि हो कैसे ? ग्राह्यग्राहकका भेद भी नहीं है, इसलिए जगत् षष्ठ प्रमाण गोचरके समान असत् है, केवल अधिष्ठानभूत आत्मा ही सत् है । बाधामें सामानाधिकरण्य मानकर सब आत्मा है, ऐसा श्रौत निर्देश है ॥ १७४ ॥

'ग्राहकादि०' इत्यादि ।

शङ्का—प्रमाताके बिना प्रमाणसिद्धि नहीं हो और प्रमाणके बिना प्रमेयसिद्धि नहीं होती, इस नियमके अनुसार बाह्य प्रपञ्च आत्ममात्ररूपसे लीन हो जाता है, ऐसा ज्ञानोदयसमयमें मानते हैं। यहांपर प्रश्न यह होता है कि आत्मसिद्धि भी तो प्रमाणके

मुक्तस्य व्यवहारस्तु भ्रान्तिवासनया कृतः ।
भ्रान्तिनाशेऽपि संस्कारानुवृत्तिर्दृश्यते खलु ॥ १७६ ॥
वासनामात्रसंज्ञां तु देहे सति न वार्यते ।
वस्तुत्वभ्रान्तिसंज्ञैव प्रबुद्धस्याऽत्र वार्यते ॥ १७७ ॥

बिना नहीं हो सकती, उसके लिए प्रमातृत्वको यदि मानेंगे, तो विज्ञानघनोक्ति कैसे सङ्गत होगी ?

समाधान—अविद्याके निवृत्त होनेपर तन्निमित्तक ग्राह्यग्राहकका भेद भी निवृत्त हो जाता है, अतः प्रमातृत्व आदिके सद्भावकी सम्भावना नहीं है। चिन्मात्र आत्मा स्वतःसिद्ध है, इसलिए उसमें साधककी अपेक्षा नहीं है। अतएव वह विज्ञानघन कहा गया है; विज्ञानमात्र ही अवशिष्ट रहता है। उससे अन्य सबकी निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि वे जड़ हैं, उनका साधक प्रमाण नहीं है और आत्माके समान वे स्वयंसिद्ध भी नहीं हैं ॥ १७५ ॥

'मुक्तस्य' इत्यादि ।

शङ्का—तत्त्वज्ञानके बाद स्वप्रकाश चिन्मात्रसे अतिरिक्त किसी वस्तुका स्फुरण नहीं होता। यदि ऐसा आप मानते हो, तो जीवन्मुक्तिकालिक बोधके साथ स्पष्ट विरोध होगा, कारण कि जीवन्-मुक्तको संसारका भान होता है। यदि ऐसा न माना जाय, तो उसकी जीवनमात्रोपयोगी कार्योंमें प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी और जिज्ञासुजनोंको तत्त्वोपदेश भी नहीं मिल सकेगा, कारण कि जो तत्त्वज्ञ है, उसको द्वैतदर्शन ही जब नहीं है, तो कहेगा किससे ? कहनेके साधन शरीरादि भी नहीं हैं। और जो अतत्त्वज्ञ है, उसको साधन आदि हैं, पर वह स्वयं ही तत्त्वको नहीं जानता, फिर उपदेश कैसे करेगा ? अज्ञात विषयका तो उपदेश हो नहीं सकता ?

समाधान—ठीक है, मुक्त पुरुषका व्यवहार भ्रान्तिवासनासे होता है। भ्रान्तिका नाश होनेपर तदीयवासना रहती है जैसे स्वाम्निक बुद्धि नष्ट होनेपर भी तदीयवासनासे उसका व्यवहार (तदभिधान आदि व्यवहार) जाग्रत्कालमें होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ १७६ ॥

'वासनामात्र०' इत्यादि। देहके रहते रहते वासनामात्र संज्ञाका वारण नहीं कर सकते, देहकी अनुवृत्तिकी कारण वासना है। वासनाके निवृत्त होनेपर देहभी निवृत्त हो जाता है, किन्तु तत्त्वज्ञानीमें वस्तुतत्त्वभ्रान्तिरूप संज्ञाका यहाँ

ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा न संज्ञा विद्यते यथा ।
प्रतीच्यपि तथा संज्ञा प्रबुद्धस्य न विद्यते ॥ १७८ ॥

वारण है। संसारी पुरुषको द्वैतमें वस्तुतत्त्वकी (पारमार्थिकत्वकी) भ्रान्ति रहती है; अर्थात् वह द्वैतको परमार्थ सत् मानता है, वस्तुतः उसकी यह बुद्धि भ्रमात्मक है, जीवन्मुक्तमें यह भ्रमात्मक बुद्धि नहीं रहती । शास्त्राचार्यापदेश द्वारा द्वैतमें मृषात्वबुद्धि निश्चयात्मक हो जाती है, इसलिए वस्तुभ्रान्ति संज्ञाका यहांपर वारण है अर्थात् निषेध है । वार्त्तिकसारकी आदर्श प्रतिमें 'कार्यते' यह पाठ मुद्रणदोषसे हुआ है । 'वार्यते' यह पाठ साधु है ।

शङ्का—जीवन्मुक्तको तत्त्वज्ञान है या नहीं ? प्रथम पक्षमें तम और प्रकाशके तुल्य विद्या और अविद्याका परस्पर विरोध है, इसलिए विद्याधिकरणमें अविद्याकी स्थिति दुर्घट है । अन्यथा विरोधका ही भङ्ग हो जायगा । आत्मा एकरस है, अतः उसका ज्ञान भी एक ही प्रकारका हो सकता है, अतएव उसका फल (मोक्ष) निरतिशय माना गया है । अन्यथा ज्ञानोत्कर्षनिकर्ष प्रयुक्त उत्कर्ष और निकर्ष मोक्षमें भी हो जायगा । प्रकृतमें व्यभिचारके दर्शनसे विद्यामें अविद्यानिवर्तकत्व ही सिद्ध नहीं होगा इत्यादि अनेक दूषण हैं । द्वितीय पक्षमें जीवन्मुक्तिप्रतिपादक शास्त्रविरोध, मोक्षोपायप्रदर्शनानुपपत्ति, उक्त मोक्षोपायमें श्रद्धादिके अभावसे प्रवृत्त्याद्यनुपपत्ति इत्यादि बहुविध दूषण हैं । विस्तारके भयसे सबका यहाँ निर्देश नहीं किया गया है।

समाधान—प्रथम पक्ष मान्य है । विद्या संस्काररूप अविद्यासे अतिरिक्त अविद्याकी निवर्त्तिका है । भोगजनक अदृष्ट प्रतिबन्धक है । भोगके समाप्त होनेपर संस्कारका भी लोप हो जायगा । प्रतिबन्धकके सद्भावमें व्यभिचारदर्शन कार्यकारणभाव, निवर्त्यनिर्वर्तकभाव आदिमें प्रतिबन्धक होता है; अतएव प्रतिबन्धकदशामें दाहादिके न देखनेपर भी अग्निमें दाहकारणत्वग्रह होता है; प्रतिबन्धकाभावदशामें कहीं व्यभिचार दृष्ट नहीं है, इत्यादि संक्षेपतः विचार कर विरत होते हैं ॥ १७७ ॥

'ज्ञातृज्ञान०' इत्यादि । संसारी पुरुषको एक ही आत्मामें अविद्या द्वारा भेदबुद्धि मानकर ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय इत्यादि संज्ञा होती है, विद्यासे अविद्याकी निवृत्ति होनेपर तत्त्वज्ञानीको वह संज्ञा जैसे नहीं होती, कारण कि उसमें तत्तत् संज्ञानिमित्त अविद्याकृत भेद नहीं रहा, वैसे ही प्रत्यक् आत्मामें भी उक्त संज्ञा नहीं होती ।

ज्ञानोत्पत्तौ न संज्ञाऽस्तीत्यास्तां तावदिहाऽऽत्मनि ।
अपि सत्यामविद्यायां न संज्ञाऽस्त्यात्मनीदृशी ॥१७९॥
ग्राहकादिजगत्सर्वं येन कूटस्थसाक्षिणा ।
लोकः सर्वं विजानाति जानीयात् केन तं वद ॥ १८० ॥

शङ्का—जैसे सुषुप्ति अवस्थामें संज्ञा नहीं रहती, उसका कारण अज्ञान आत्मामें लीन हो जाता है, किन्तु जाग्रदादिमें फिर संज्ञाका लाभ होता है, वैसे ही संज्ञाकारण अविद्यादि विद्वान्के प्रति लीन हो गये हैं, अतः समयपर फिर संज्ञा होगी ।

समाधान—सुषुप्तिमें भोगहेतु अविद्याका ज्ञान द्वारा लय नहीं है, इसलिए पुनः संज्ञादिका उत्थान होता है । यहाँपर भोग समाप्त है, अतएव तत्त्वज्ञानसे समूल अविद्याकी निवृत्ति हो गई है, इसलिए उक्त शङ्का प्रकृतमें अयुक्त है ॥१७८॥

'ज्ञानोत्पत्तौ' इत्यादि । ज्ञानोत्पत्ति होनेपर विद्वान्में संज्ञा नहीं रहती इसको रहने दो, वह तो कैमुतिकन्यायसिद्ध अर्थ है, उसके साधनका प्रयास ही व्यर्थ है । अविद्यादशामें जब कि संज्ञासाधनसामग्रीकी संभावना है, उसी दशा-में यदि आत्मामें संज्ञा नहीं रहती, तब जिस समयमें उक्त कार्यकी सामग्री ही नहीं है, उस समयमें उसका आपादन सुतरां अशक्य है ॥ १७९ ॥

'ग्राहकादि०' इत्यादि । ग्राहकादि अर्थात् ग्राह्यग्राहकात्मक संपूर्ण जगत्को जिस कूटस्थ साक्षीसे लोक जानता है उसको किससे जानेगा ? अर्थात् किसीसे नहीं ।

शङ्का—जैसे कूटस्थ साक्षीको स्वयं सिद्ध मानते हो, वैसे ही जगत्को स्वयं-सिद्ध क्यों नहीं मानते; दोनोंमें क्या विशेष है ?

समाधान—विशेष यह है कि जगत् जड़ है और कूटस्थ साक्षी चित् है । स्वयंप्रकाश होनेसे चित्की स्वतःसिद्धि है और पराधीनप्रकाश होनेसे जगत्की सिद्धि दूसरेके अधीन है ।

शङ्का—ज्ञान चिद्रूप स्वयंप्रकाश है, यह जो आपने कहा, सो ठीक नहीं है, कारण कि पुरुषान्तरज्ञानका भी तो उक्त ही रूप है, परन्तु उसका ग्रहण करनेके लिए पुरुषान्तरज्ञानकी अपेक्षा देखते हैं, उसके बिना पुरुषान्तरज्ञान पुरुषान्तरसे गृहीत नहीं होता ।

समाधान—ठीक है, परन्तु जहाँ ग्राहक है और जहाँ ग्राहकान्तर

बोद्धृत्वालोचने नापि न संज्ञा प्रत्यगात्मनि ।
न बोद्धा गृह्यतेऽन्येन बोधेन विषयेण वा ॥ १८१ ॥
व्यावहारिकसंज्ञाऽसौ संसारिण्यपि दुर्लभा ।
किमु विध्वस्तनिःशेषसंसारानर्थकारणे ॥ १८२ ॥

नहीं है, वहां स्वयं ग्रहणके बिना उपायान्तर नहीं है, अन्यथा अनवस्था दोष हो जायगा, अर्थात् जिस-जिसको ग्राहक कहियेगा उस-उसका ग्रहण अन्य ग्राहकसे कहियेगा, इस प्रकार अनवस्था स्पष्ट है। अन्तिम ग्राहकका अग्रहण माननेपर आमूल अग्रहण हो जायगा। इसलिए निरुपाधिक चित्तकी सिद्धिके लिए अन्यकी अपेक्षा नहीं है, यही मानना होगा, इसके बिना निस्तार नहीं है। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता' इत्यादि श्रुतिसे चेतन एक ही है, अनेक नहीं, यह स्फुट है, अतः अविद्यादशामें भी आत्मामें ग्राहकभेदधी नहीं हो सकती। यथार्थात्मज्ञानरूप सूर्यका उदय होनेके अनन्तर ग्राहकज्ञानाभावके विषयमें कहना ही क्या है? क्योंकि भेद-ज्ञानका अभाव कैमुतिकन्यायसे सिद्ध है ॥ १८० ॥

'बोद्धृत्वा०' इत्यादि। 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इस श्रुतिमें विज्ञाता शब्दका अर्थ प्रमाता है। प्रमाताकी अपेक्षासे भी ग्राहकादिभेद भी नहीं है, साक्षीमें तो वह कैमुतिकन्यायसे सिद्ध है। कैमुतिकन्यायका स्वरूप पूर्वमें कह चुके हैं और वह अतिस्पष्ट तथा प्रसिद्ध है। विज्ञाताके ग्राहकका अभाव व्यतिरेकमुखसे कहते हैं—न इत्यादिसे। बोद्धाका—प्रमाताका—अन्यबोध या विषयसे ग्रहण नहीं होता। यद्यपि विषयमें ज्ञानग्राहकता नहीं है, किन्तु ज्ञानग्राह्यता है, इससे विषयसे उसका निषेध अयुक्त है, तथापि ज्ञानका निरूपण विषयनिरूपणाधीन है, विषयके बिना ज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं होता, इस तात्पर्यसे विषयसे उसका निषेध किया गया है ॥१८१॥

उक्त अर्थको अतिस्फुट करनेके लिए पुनः अभिधान करते हैं—**'व्यावहारिक०'** इत्यादिसे।

संसारी पुरुषमें भी व्यावहारिक संज्ञा दुर्लभ है, अज्ञानसे ही प्रमातामें विशेष संज्ञा लोग करते हैं, विचार करनेपर उक्त संज्ञा दुर्लभ है। सम्पूर्ण संसाररूप अनर्थका कारण जिसमें नष्ट हो गया है, ऐसे ज्ञानीमें विशेष संज्ञाका सम्भव कहाँ? सांसारिक जन्म, मरण, जरा, दुःख आदि सब जिहासित होनेके

इत्येवमपरायत्तबोधेनाऽऽत्यन्तिको लयः ।
निदिध्यासनरूपोऽत्र फलभूतः प्रकीर्तितः ॥ १८३ ॥

इति वार्तिकसारे द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

—०—

कारण अनर्थ कहे जाते हैं । सचेता पुरुष उनकी कामना नहीं करता, किन्तु सदा जिहासा ही करता है । अनर्थ्यमान होनेसे वे अनर्थ कहलाते हैं, उनकी कारण अनादि अनिर्वचनीय अविद्या है । जिस पुरुषधौरेयने अविद्याकी निःशेष निवृत्ति कर दी है, उसमें विशेष संज्ञाकी सम्भावना कहाँ ? ॥ १८२ ॥

प्रकृतार्थका उपसंहार करते हैं—'**इत्येवम०**' इत्यादिसे ।

अपरायत्त बोधकी व्याख्या पूर्वमें कर चुके हैं । उक्त बोधसे आत्यन्तिक लय होता है । प्रलयमें संसारका जो लय है, वह कारणमें शक्त्यात्मना अवस्थानरूप है, अतः फिर संसारका अविर्भाव होता है । परन्तु उक्त बोधसे तो आत्यन्तिक अर्थात् पुनरनुत्पत्तिलक्षण लय होनेके कारण फिर संसार नहीं होता । निदिध्यासन दो प्रकारका है—एक ध्यानापरपर्य्याय उपायस्वरूप और दूसरा फलभूत, जो सकृत् श्रुत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे होता है । प्रकृतमें 'सर्वमात्मा' इत्यादिसे जो सर्वात्मविषयक ज्ञान होता है, वही मोक्षका साधन है, उसका पूर्णरूपसे निरूपण हो चुका और यह निष्कर्ष निकला कि अविद्या-दशामें ही भेदव्यवहार होता है, विद्यादशामें नहीं ।

म० म० पं० श्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिविरचितवार्तिकसारभाषानुवादमें
द्वितीय अध्यायका चतुर्थ ब्राह्मण समाप्त ।

—०—

अथ पञ्चमं ब्राह्मणम्

श्रुतिः—इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु ॥

पञ्चम ब्राह्मण

जो केवल कर्मनिरपेक्ष मोक्षका साधन है, उसको यहां कहना है, इसलिए मैत्रेयीब्राह्मणका आरम्भ है। मोक्षका साधन आत्मज्ञान है, जो सर्वसंन्यासरूप अङ्गसे विशिष्ट है। आत्माके जाननेपर यह सब जगत् ज्ञात हो जाता है। आत्मा सबसे प्रिय है, अतः आत्माका दर्शन करना चाहिए। 'वह श्रोतव्य है—सुननेके योग्य है, मनन करनेके योग्य है, निदिध्यासितव्यः—ध्यानके योग्य है' इस प्रकार उसके दर्शनके उपाय कहे गये हैं। 'आचार्य और आगमसे सुनना चाहिए, तर्कसे मनन करना चाहिए' यहाँपर तर्क यह कहा गया है कि 'यह सब जगत् आत्मा ही है। प्रतिज्ञात अर्थकी सिद्धिके लिए यह हेतुवचन है—आत्मैकत्व-सामान्यत्व, आत्मैकोद्भवत्व और आत्मैकप्रलयत्व। इसमें हेत्वसिद्धिकी शङ्का होती है, उसकी निवृत्तिके लिए इस ब्राह्मणका आरम्भ करते हैं। यह संपूर्ण जगत् यतः परस्परोपकार्योपकारकभूत है और जो लोकमें परस्परोपकार्य्योपकारकभूत है, वह स्वप्नके समान एककारणपूर्वक, एकसामान्यात्मक और एकप्रलयक दृष्ट है, अतः यह जगत् परस्परोपकार्योपकारकभूत होनेसे एककारणजन्य होना चाहिए; इसी अर्थका इस ब्राह्मणमें प्रतिपादन किया जायगा।

अथवा आत्मा ही यह सब है, इस प्रतिज्ञात अर्थमें आत्मोत्पत्ति, आत्मस्थिति और आत्मलयरूप हेतुको कहकर फिर आगमप्रधान मधुब्राह्मणसे प्रतिज्ञात अर्थका निगमन करते हैं। निगमन भी प्रतिज्ञात अर्थका साधक होता है, इसमें—'हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्' यह न्यायसूत्र प्रमाण है। 'पर्वतो वह्निमान्' यह प्रतिज्ञा है, 'धूमात्' यह हेतु है। 'यो यो धूमवान् स स वह्निमान्' यह उदाहरण है, 'वह्निव्याप्य-धूमवांश्चाऽयम्' यह उपनय है, 'तस्मात् पर्वतो वह्निमान्' यह निगमन है। जैसे एक-बार 'पर्वतो वह्निमान्' यह कहकर फिर व्याप्तिविशिष्ट हेतुका पक्षमें निर्देश कर अनन्तर 'पर्वतो वह्निमान्' इस प्रकारका निगमन तार्किक लोग किया करते हैं और

उस निगमनको प्रतिज्ञातार्थका साधक भी मानते हैं, वैसे ही प्रकृतमें भी 'इदं सर्वं ब्रह्म' यह कहा गया है।

भर्तृप्रपञ्चके मतसे इस ब्राह्मणके आरम्भका प्रकार यों है—'आत्मा द्रष्टव्यः' यहांसे लेकर दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तपर्यन्त आगमवचन श्रवणविधिका निरूपण करनेके लिए है और दुन्दुभिदृष्टान्तसे लेकर मधुब्राह्मणके पहले तकके आगमवचन उत्पत्तिप्रतिपादन द्वारा 'मन्तव्यः' इस वाक्यसे विहित मननका निरूपण करनेके लिए हैं। अवशिष्ट रहा निदिध्यासन, उसका व्याख्यान करनेके लिए इस ब्राह्मणका आरम्भ है। परन्तु यह प्रकार भगवान् भाष्यकार शङ्कराचार्यजीको सम्मत नहीं है।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—श्रवणादिमें विधिका निरास पूर्वमें कर चुके हैं।

शङ्का—तो श्रवणादिकी पुरुषकी प्रवृत्ति कैसे होगी ?

समाधान—अन्वयव्यतिरेकसे श्रवणमें प्रवृत्त पुरुषका पहले श्रवण हो जानेपर अर्थतः मननमें प्रवृत्ति हो जायगी, इसलिए मननमें भी विधिकी आवश्यकता नहीं है, इसका सविस्तर निरूपण पूर्वमें हो चुका है। जैसा आगमसे अर्थका अवधारण हो, वैसा ही तर्कसे मनन करना चाहिए, उससे विपरीत नहीं, अतएव 'तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्' ऐसा अभियुक्तोंका वचन है। 'नैषा मतिस्तर्केणापनेया' इस श्रुतिका भी यही अर्थ है। जैसा तर्कसे निश्चित हो, वैसा ही निदिध्यासन करना चाहिए, अतः निदिध्यासनमें अलग विधि व्यर्थ है। यह भगवान् भाष्यकारका अभिप्राय है, अतः भर्तृप्रपञ्चोक्त पृथक् प्रकरणविभाग निरर्थक है। अतः दो अध्यायोंमें उक्त अर्थका इस ब्राह्मणमें उपसंहार करना ही अभीष्ट है।

'इयं पृथिवी सर्वेषां' इत्यादि श्रुति। यह प्रसिद्ध पृथिवी सब भूतोंकी मधु है अर्थात् ब्रह्मादिसे लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियोंकी मधु है। मधुका अर्थ कार्य है। 'मधु इव मधु' अर्थात् मधुसदृश। कार्यत्वसे सादृश्य विवक्षित है—जैसे मधु कार्य है; वैसे पृथिवी भी कार्य है। जैसे एक मधुका छत्ता अनेक मधुमक्खियों द्वारा निर्मित हैं, वैसे ही यह पृथिवी अनेक भूतोंसे निर्मित है। जैसे पृथिवी सब भूतोंकी मधु है, वैसे ही सब भूत पृथिवीके मधु हैं अर्थात् कार्य हैं। किञ्च, पृथ्वीमें जो यह चिन्मय, प्रकाशमय, अमृतमय और अमरणधर्मा पुरुष है एवं जो यह अध्यात्म (शरीरमें रहनेवाला) पूर्ववत् तेजोमय और

पञ्चमब्राह्मणे विद्याफलं सार्वात्म्यलक्षणम् ।
अभिव्यञ्जयितुं वस्तुसर्वात्मत्वं प्रपञ्च्यते ॥ १ ॥
यो जन्मस्थितिनाशाख्यो हेतुः सार्वात्म्य ईरितः ।
तस्याऽसिद्धिर्वार्यतेऽत्रेत्येवं भाष्यकृतो जगुः ॥ २ ॥

अमृतमय पुरुष है, वह लिङ्गाभिमानी एवं सब भूतोंका उपकारक होनेसे मधु है । और सब भूत उक्त पुरुषके मधु हैं ।

शङ्का—प्रथम वाक्यमें दो बार मधु शब्दका श्रवण है, अतः पृथिवी और भूतोंमें परस्पर दो मधुकी कल्पना ठीक है, परन्तु उत्तर वाक्यमें जब मधुशब्दका श्रवण ही नहीं है, तब उनमें परस्पर मधुकी कल्पना करनेमें क्या बीज है ?

समाधान—'च' शब्द अनुक्तसमुच्चयार्थक है, अतः उत्तर वाक्यमें अनुक्त मधुका समुच्चय इष्ट ही है । अन्यथा चकारका प्रयोग प्रकृतमें व्यर्थ हो जायगा । इसलिए पृथिवी, सब भूत, पार्थिव पुरुष, और शारीर—ये चारों एक दूसरेके मधु हैं । मधु शब्दार्थको स्फुट करते हैं—सब पृथिवी भूतोंकी कार्य है और सब भूत पृथिवीके कार्य्य हैं, अतः इनमें एककारणपूर्वकत्व है । जिस एक कारणसे ये सब उत्पन्न हुए हैं, वही एक परमार्थ ब्रह्म है, इतर कार्य्य वाचारम्भणविकारनामधेय है, यह संक्षेपसे सब मधुपर्य्यायोंका अर्थ है । यही वह है, जो 'सर्वं यदयमात्मा' इससे प्रतिज्ञात है । यह अमृत है, अर्थात् मैत्रेयीके लिए मोक्षके साधनभूत जिस आत्मज्ञानको महर्षिने कहा है, यही वह अमृत है। यही वह ब्रह्म है, जो 'ब्रह्म ते ब्रवाणि ज्ञपयिष्यामि' (ब्रह्म तुमसे कहें, ब्रह्मका ज्ञापन कराऊँगा) इत्यादिसे अध्यायके आदिमें प्रकृत है, यद्विषक विद्या ब्रह्मविद्या कही जाती है और जिस ब्रह्मविज्ञानसे सर्वात्मक हो जाता है ॥ १ ॥

'पञ्चम०' इत्यादि । सार्वात्म्य (सर्वतादात्म्यत्वलक्षण) विद्याफलको पञ्चम ब्राह्मणमें अभिव्यक्त करनेके लिए सर्वात्मवस्तुका विस्तार करते हैं । चतुर्थ ब्राह्मणमें 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादिसे जो आत्मविद्याका फल सर्वात्मत्वकी प्राप्ति कहा था, वही विद्याविषय वस्तु सर्वात्मा है, उसीको प्रपञ्च द्वारा स्पष्ट करते हैं ॥१॥

'यो जन्मस्थिति०' इत्यादि । सार्वात्म्यमें (सर्वतादात्म्यमें) जगज्जन्मस्थितिनाशरूप (ब्रह्मसामान्यसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और नाशरूप) जो हेतु कहा है, उससे

प्रतिज्ञायाऽथवैकात्म्यं पूर्वमेवोपपादितम् ।
निगमायोत्तरो ग्रन्थ इति चाऽऽहुरमी पुनः ॥ ३ ॥

जगत् ब्रह्मसामान्यात्मक है, तदतिरिक्त नहीं है, यह ज्ञात होता है। जिस सामान्यसे जो विशेष उत्पन्न होते हैं, वे उस सामान्यसे भिन्न नहीं होते। जैसे दुन्दुभ्यादि-विशेष दुन्दुभ्यादिसामान्यसे उत्पन्न होते हैं, अतः वे उनके सामान्यसे भिन्न नहीं होते, वैसे ही जगत् भी ब्रह्मसामान्यसे भिन्न नहीं है।

शङ्का—ब्रह्ममें जगज्जन्मस्थितिलयहेतुत्व ही असिद्ध है, कारण कि चित्में सामान्यविशेषभाव ही नहीं है, वह तो सैन्धवघनके समान एकरस है। इसलिए सामान्यविशेषोभयात्मक प्रधानसे जगत् उत्पन्न होता है, ऐसा सांख्यवादी मानते हैं। उनका मत ठीक भी है, क्योंकि अद्वैतवेदान्तवादीके मतकी—चित्से जगत् उत्पन्न होता है, इसकी—उपपत्ति ही असम्भव-सी प्रतीत होती है, कारण कि वे लोग चित्को कूटस्थस्वरूप, असङ्ग और अद्वय मानते हैं।

समाधान—ठीक है, पर इस विकल्पका उत्तर दो कि क्या आप वास्तविक सामान्यविशेषभाव चित्में नहीं है, यह कहते हैं या अवास्तविक भी नहीं है? प्रथम पक्ष तो ठीक ही है, क्योंकि ऐकात्म्यसिद्धिके लिए हेत्वादिकी विवक्षा है, वास्तविक नहीं। द्वितीय पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि अज्ञात ब्रह्ममें चित्सामान्य-विशेषका सम्भव है। ब्रह्मज्ञान होनेपर ही सामान्य-विशेषका प्रतिषेध श्रुति-सम्मत है।

शङ्का—यदि ज्ञानके पहले ब्रह्ममें सामान्यविशेषभाव मानते हैं, तो हेत्व-सिद्धिकी शङ्का ही नहीं हो सकती, अतः उसका वारण करनेके लिए उत्तर ब्राह्मण ही असङ्गत है।

समाधान—अभ्युपेत्यवाद मानकर अर्थात् हेत्वसिद्धिको मानकर उक्त शङ्काका निरास करनेके लिए उत्तर ब्राह्मण है ॥ २ ॥

दूसरी भी सङ्गति कहते हैं—'प्रतिज्ञायाऽथवै०' इत्यादि।

ऐकात्म्यका पूर्वमें ही उपपादन कर चुके हैं। निगमनके लिए उत्तर ब्राह्मण है। तात्पर्य यह है कि 'पर्वतो वह्निमान्' के समान 'सर्वमात्मा' ऐसी प्रतिज्ञा करके 'धूमात्'के समान जगज्जन्मस्थितिनाशकारणत्वरूप हेतुका अभिधान किया। तदनन्तर जैसे सहेतु प्रतिज्ञाका पुनरभिधानरूप निगमन तार्किक लोग किया करते हैं—

फलं निगमनं वाऽस्तु सार्वात्म्यं ब्रह्मणः स्फुटम् ।
विभाति हेत्वसिद्धिस्तु पुंवाक्य इव नाऽऽगमे ॥ ४ ॥
तथापि मन्दाः शङ्कन्त आत्मनानात्वदर्शिनः ।
एकात्मनो जगज्जन्मेत्यादिहेतोरसिद्धताम् ॥ ५ ॥

'तस्मात् पर्वतो वह्निमान्' इत्यादि, वैसे ही प्रकृतमें भी उत्तर ब्राह्मणसे निगमन किया जाता है । निगमनको भी साधनाङ्ग वादी लोग मानते हैं ॥ ३ ॥

'फलं निगमनम्' इत्यादि । पञ्चम ब्राह्मणका फल निगमन हो किंवा ब्रह्ममें स्पष्ट सर्वात्मकत्व हो, परन्तु पुरुषोक्त वाक्यके समान आगमरूप वेदवाक्यमें हेत्वसिद्धिका ज्ञान नहीं होता है ।

शङ्का—आप अनेक सङ्गतियां कहते हैं, परन्तु किस सङ्गतिको प्रकृतमें वास्तविक मानना चाहिए ।

समाधान—श्रौत अर्थमें विप्रतिपत्ति न हो, इसलिए जितने संबन्धोंकी उपपत्ति हो सके, उन सबको मानना चाहिए ।

यदि शङ्का हो कि हेत्वसिद्धिका निवारण करनेके लिए उत्तर ब्राह्मण है, यह पक्ष तो समुचित प्रतीत नहीं होता, कारण कि वेदोक्त अर्थमें शङ्का सर्वथा अनुचित है । भ्रमादि दोषोंकी संभावनासे पौरुषेय वाक्यमें शङ्का हो सकती है, पर अपौरुषेय वेदवाक्यमें दोषाभावसे शङ्का ही अयुक्त है, तो ठीक है, इसका उत्तर अग्रिम श्लोकमें देखो ॥ ४ ॥

'तथापि' इत्यादि। तर्करूपी घोड़ेकी पीठ पर आरूढ़ जो मन्दमति हैं, उनको वेदार्थमें भी सन्देह होता है । उनकी यह समझ है कि 'जगत् अनेकात्मजन्यम्, विचित्रकार्यत्वात्, प्रासादादिवत्' इस अनुमानको लेकर प्रासाद आदि विचित्र कार्य जैसे अनेक शिल्पी मिलकर करते हैं, वैसे ही यह विचित्र जगत् एकात्मकृत नहीं हो सकता । विचित्र कार्यका तात्पर्य अनेकजातीय कार्यमें है । ईंटा, लोहा, पत्थर आदि कार्य एक मनुष्य नहीं करता, किन्तु तत्-तत् कार्यके कर्ता भिन्न भिन्न मनुष्यलोकमें प्रसिद्ध हैं । प्रासादमें तत्-तत् कार्य हैं, अतः वह जैसे अनेकात्मजन्य है, वैसे ही जगत् भी है । अतः एकात्मजन्यत्व हेतु असिद्ध है । इस शङ्काकी व्यावृत्तिके लिए उत्तर ब्राह्मण है ॥ ५ ॥

जगदेकस्य कार्यं स्यादेकमातृजपुत्रवत् ।
परस्परोपकारित्वादिति हेतुः समर्थ्यते ॥ ६ ॥
निदिध्यासनविध्यर्थं केचिद्ब्राह्मणमूचिरे ।
असत्तदपरायत्तबोधत्वेनाऽस्य वर्णनात् ॥ ७ ॥
परस्परोपकारित्वं पृथिव्याः प्राणिनामपि ।
यत्तन्मधुत्वं विज्ञेयमुपकारस्तु सर्जने ॥ ८ ॥
जन्तुभिः पृथिवी सृष्टा स्वकर्मफलभुक्तये ।
पृथिव्याऽप्यात्मभोगार्थं सृष्टाः सर्वेऽपि जन्तवः ॥ ९ ॥

'जगदेकस्य' इत्यादि । एक माताके अनेक पुत्र जैसे एकमातृज हैं, वैसे ही जगत् परस्परोपकारी होनेसे एकात्मज हैं, इस प्रकार हेतुका समर्थन करते हैं । मधुब्राह्मणसे परस्परोपकारित्व स्पष्ट करते हैं । 'विमतम् एकात्मजम्, परस्परोपकारित्वात्, स्वप्नवत्' यह अनुमान भी उक्त अर्थमें प्रमाण है ॥ ६ ॥

'निदिध्यासन०' इत्यादि । भर्तृप्रपञ्चका मत है कि 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादि वाक्यसे श्रवणादित्रयका विधान कर श्रवण और मननके स्वरूपका पूर्वमें व्याख्यान किया गया है, अब निदिध्यासनका व्याख्यान करनेके लिए यह पञ्चम ब्राह्मण है । लेकिन यह मत युक्त नहीं है, कारण कि जो अर्थ आगमसे श्रुत और तर्कसे समर्थित है, वही निपुणतया निश्चित अर्थ निदिध्यासन कहलाता है ।

शङ्का—निदिध्यासन तो ध्यान कहलाता है ।

समाधान—पूर्वमें यह कह चुके हैं कि निदिध्यासन दो प्रकारका है—एक ध्यानस्वरूप कर्तृतन्त्र और दूसरा फलस्वरूप अपरायत्त बोध अर्थात् वस्तुतन्त्र ज्ञान । प्रकृतमें अन्तिम अपरायत्त बोधरूप निदिध्यासनका वर्णन है, ध्यानका नहीं । अतः भर्तृप्रपञ्चोक्त व्याख्यान ठीक नहीं है ॥ ७ ॥

'परस्परोप०' इत्यादि । पृथिवीमें और प्राणियोंमें मधुत्व परस्परोपकारित्वस्वरूप है । पृथिवी प्राणियोंकी उपकारक है, इसलिए प्राणियोंकी मधु है और प्राणी पृथिवीके उपकारक हैं, इसलिए वे पृथिवीके मधु हैं ।

शङ्का—भूतोंसे पृथिवीका क्या उपकार होता है ?

समाधान—भूतोंके भोगार्थ पृथिवीकी सृष्टि है ॥ ८ ॥

'जन्तुभिः' इत्यादि । प्राणियोंने अपने-अपने शुभाशुभ कर्मजन्य सुख-दुःख

पार्थिवानि शरीराणि भुज्यन्ते जन्तुभिस्तथा ।
पृथिव्याऽपि धरित्रीत्वं भुज्यते जन्तुधारणात् ॥ १० ॥

आदिरूप फलके भोगके लिए पृथ्वीकी सृष्टि की है । अदृष्ट और प्रयोजनके बिना किसी पदार्थकी सृष्टि नहीं होती, यह सब विद्वानोंका सिद्धान्त है । इसलिए स्वभोग-जनक अदृष्ट द्वारा भूतमात्र पृथिवीकी उत्पत्तिमें कारण हैं; एवं भोग्य पृथिवीकी सृष्टि भोक्ताओंके लिए है, अन्यथा भूतोंकी उत्पत्ति ही असम्भव है, कारण कि शरीर, इन्द्रिय आदि भौतिक हैं, भूतोंके बिना शरीर, इन्द्रिय आदिका निर्माण एवं स्थिति आदि असम्भव ही हैं, इसलिए पृथिवी भी भूतोंकी उत्पत्तिमें कारण स्पष्ट ही है । यही परस्परोपकार्यत्वरूप दोनोंमें मधुत्व है ॥ ९ ॥

'पार्थिवानि' इत्यादि । यहाँ पृथिव्यादिशब्दसे तत्-तत् अभिमानी देवता विवक्षित हैं । पृथिव्यभिमानी देवता पृथिवीशब्दका अर्थ है, ऐसा माननेपर अचेतन-स्थूलशरीरप्रधान पृथिवी प्राणियोंके प्रति भोग्य है, और चेतनांशप्रधान भोक्ता है, इसी तरह प्राणी भी स्थूलशरीरप्राधान्यसे पृथिवीके प्रति भोग्य हैं और चेतनके प्राधान्यसे भोक्ता हैं । यद्यपि प्राणियोंके शरीर पाञ्चभौतिक हैं, तथापि पृथिवीका अंश अधिक होनेसे पार्थिव कहे जाते हैं । इस श्लोकका यह अर्थ वार्तिकसारकी टीकाके अनुसार है, परन्तु यह अर्थ श्लोकसे नहीं निकलता, इसलिए मैं इसका अर्थ यह करता हूँ—पृथिवी इस प्रकार भूतोंकी भोग्य है—जन्तुओंके शरीर पार्थिव हैं, इसलिए वे पृथिवी ही हैं, दूसरे जन्तु दूसरे जन्तुओंका भक्षण करते ही हैं, इसलिए पृथिवी प्राणियोंकी भोग्य है, इसमें सन्देह नहीं, अतएव 'जीवो जीवस्य जीवनम्' यह कहा जाता है । व्याघ्रादि केवल मांसाशी ही हैं ।

शङ्का—भूत पृथिवीके भोग्य कैसे ?

समाधान—पृथिवी भूतोंको धारण और पालन करती है, इसलिए भूत पृथिवीके भोग्य हैं । 'धरा धरित्री धरणी' इत्यादि कोशसे धरित्री पृथिवीका नाम है । नाम अन्वर्थ है । 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' इस पाणिनीय धातुपाठसे भुजधातुके पालन और भक्षण ये दोनों अर्थ हैं । द्वितीय अर्थसे पृथिवी भूतोंकी भोग्य है, क्योंकि पार्थिव शरीरोंका भक्षण भूत करते ही हैं । प्रथम अर्थसे भूत पृथिवीके भोग्य हैं । 'पृथिव्या भूतानि भुज्यन्ते' । उसमें हेतु है—'जन्तुधारणात्' । भुज्यन्ते पाल्यन्ते, इसमें भी हेतु है—धरित्रीत्व । इसलिए उत्तरार्द्ध यों होना चाहिए—

श्रुतिः—यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चाय-मध्यात्मꣳ शारीरस्तेजोमयोऽमृतयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृत-मिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ १ ॥

अस्यां पृथिव्यां यो भास्वानामोक्षमविनश्वरः ।
लिङ्गात्मा मध्वसौ सर्वभूतानां तानि तस्य च ॥ ११ ॥
अध्यात्मं यश्च शारीरो लिङ्गात्मा पार्थिवांशगः ।
स चाऽपि मधु सर्वेषां सर्वभूतानि तस्य च ॥ १२ ॥
साध्यात्मं साधिदैवं च साधिभूतमिदं जगत् ।
एकैकस्याऽऽत्मनः कृत्स्नं भोग्यत्वेनाऽवतिष्ठते ॥ १३ ॥
सर्वं सर्वस्य कार्यं स्यात् सर्वः सर्वस्य भोजकः ।
इत्येषा मधुविद्याऽत्र वैषम्यक्लेशहारिणी ॥ १४ ॥

'पृथिव्याऽपि धरित्रीत्वाद्भुज्यन्ते जन्तुधारणात्' । इसमें विद्वानोंको जो अभिमत हो, उसका ग्रहण करें । निष्कर्ष यह हुआ कि पृथिवी और भूतोंका परस्पर कार्यकारण-भाव तथा भोक्तृभोग्यभाव है, इसलिए वे एकात्मजन्य हैं ॥ १० ॥

'अस्यां पृथिव्याम्' इत्यादि । श्रुतिमें उक्त तेजोमयका व्याख्यान है—भास्वान् (दीप्तिमान्) । इस पृथिवीमें जो दीप्तिमान् तथा आमोक्ष अविनाशी अर्थात् जबतक मोक्ष नहीं हो, तबतक अविनाशी [इससे आत्यन्तिक अमृतत्वका निरास इष्ट है । पुरुषशब्द क्षेत्रज्ञपरक है । इस शङ्काकी व्यावृत्तिके लिए लिङ्गात्मा कहा गया है] लिङ्गात्मा पुरुष है, वह सब भूतोंका मधु है और वे सब भूत लिङ्गात्मा पुरुषके मधु हैं ॥ ११ ॥

'अध्यात्मम्' इत्यादि । और जो अध्यात्म शारीर पुरुष पार्थिवांशग अर्थात् पार्थिव अंशमें है, जिसको लिङ्गात्मा कहते हैं, वह भी सब भूतोंका मधु है और सब भूत उसके मधु हैं ॥ १२ ॥

'साध्यात्मम्' इत्यादि । साध्यात्म, साधिदैव और साधिभूत यह सम्पूर्ण जगत् एक-एक आत्माका भोग्य है ॥ १३ ॥

'सर्वं सर्वस्य' इत्यादि । सब सबका कार्य है और सब सबका भोजक है; इस प्रकार यहाँ प्रतिपादित मधुविद्या समस्त वैषम्यात्मक क्लेशका अपहरण करती है । तात्पर्य यह है कि यह इसका कारण है, और यह

भूतानि भूमिर्लिङ्गे द्वे इत्युक्तं यच्चतुर्विधम् ।
मध्वविद्याकृतं तस्य वस्तुतत्त्वमथोच्यते ॥ १५ ॥

इसका कार्य है, तथा यह इसका भोजक है और यह इसका भोज्य है, इस प्रकार जो कार्यकारण और भोज्यभोजकका वैषम्य है, उससे क्लेश होता है, क्योंकि कार्य और भोज्यकी अपेक्षा कारण और भोजक प्रशस्त माने जाते हैं। इसलिए भोज्य और कार्यको यह स्वाभाविक दुःख होता है कि हम इसके भोज्य हैं, भोजक नहीं हैं। इसी दुःखको मधुविद्या हरण करती है, कारण कि अचेतन शरीरादि द्वारा सब सबके कार्य और कारण दोनों हैं। अदृष्ट द्वारा पृथिवी आदि पाँच भूतोंके प्रति सब भूत (प्राणी) कारण हैं। सबके शरीर, इन्द्रिय आदि पार्थिवादि ही हैं, इसलिए स्व (भूत) कार्य-रूप पृथिव्यादिके कार्य भूतोंके शरीर आदि हैं। इस परम्परासे सब सबके कारण एवं सब सबके कार्य भी हैं, यह स्पष्ट है। एवं सब भोज्य और सब भोजक भी हैं। चेतनांशको लेकर ही उपभोग होता है, चेतनांश लिङ्गात्मामें है ही। भक्ष्य द्वारा पालन आदि होनेसे सबमें भोजकभाव स्फुट है; अतः वैषम्यप्रयुक्त दुःख मधुविद्या-वेत्ताको नहीं हो सकता। इतर विद्याकी अपेक्षा इस विद्यामें यह वैलक्षण्य प्रशस्त है। इससे भाव यह निकला कि सब भूत सब भूतके कारण तथा कार्य होनेसे सब सर्वात्मक हैं। कार्य और कारणका अभेद वेदान्तमें सिद्ध कर चुके हैं। जैसे परमात्मा सबका कारण है; अतः सर्वात्मक है, वैसे ही भूतोंका भी वास्तविक भेद नहीं है; इससे 'सर्वमात्मा' यह निगमन उचित ही किया गया है ॥ १४ ॥

'भूतानि' इत्यादि। भूत, पृथिवी और अधिदैवत पृथिवीमें और अध्यात्म शरीरमें उक्त तेजोमय दो प्रकारके लिङ्गात्मा—इन चारोंका, जो कि मधुकी अविद्यासे जन्य हैं, प्रतिपादन किया गया। अब उनका तत्त्व कहते हैं अर्थात् कार्य, कारण, भोग्य और भोक्ता ये जो चार कहे गये हैं, उनका तत्त्व अब कहते हैं।

शङ्का—आत्मा स्वार्थ है, अतएव विभागके योग्य नहीं है, फिर उसका विभाग क्यों हुआ ?

समाधान—आत्मा स्वकीय अविद्यासे चतुष्टयात्मना अवस्थित है, अतः उसका चार प्रकारसे विभाग कहा गया है। विभाग वास्तविक नहीं होता।

अयमेव स इत्यत्र मधुरूपश्चतुर्विधः ।
प्रपञ्चोऽयमिति प्रोक्तः स इत्यात्मोच्यते परः ॥ १६ ॥
अयमेव स इत्युक्त्या सामानाधिकरण्यतः ।
प्रत्यङ्मात्रैकयाथात्म्यं प्रपञ्चस्याऽवबोध्यते ॥ १७ ॥
स इत्यनेन निर्दिष्टमतीतग्रन्थवर्णितः ।
योऽयमित्यादिभिर्वाक्यैश्चतुर्भिः स्मार्यते परः ॥ १८ ॥
आत्मा द्रष्टव्य इत्युक्तममृतं चेति वर्णितम् ।
नेति नेत्युदितं ब्रह्म तत्सर्वमभवच्चिति ॥ १९ ॥

उक्त हेतु वास्तविक विभागके विरोधी हैं । उक्त चार आत्माके विवर्त हैं, अतएव आत्मार्थ हैं । इसलिए चारोंमें भोक्ता आत्मा ही तत्त्व है ॥ १५ ॥

इस उपनिषद्-वाक्यमें जो 'अयम्' शब्द श्रुत है, उसका अर्थ कहते हैं—'**अयमेव स**' इत्यादिसे ।

चार प्रकारका मधुरूप प्रपञ्च जो पूर्वमें कहा गया है, वही 'इदम्' शब्दका अर्थ है । उक्त चारोंसे विलक्षण अपरोक्षरूपसे प्रतीयमान साक्षी 'अयम्' शब्दका अर्थ है । साक्षी ही पर आत्मा है ॥ १६ ॥

'**अयमेव**' इत्यादि । 'अयमेव सः' इससे अर्थात् सामानाधिकरण्यके (अभेदके) बोधक समानविभक्तिक (अयं और सः) इन दो पदोंसे भोक्ता भोग्य, कार्य और कर्ता एतच्चतुष्टयात्मक प्रपञ्चकी प्रत्यङ्मात्र ही यथार्थरूपसे आत्मा है, यह बोध कराया गया है । भाव यह है कि पृथिवी आदिमें आन्तर और बाह्य भेदसे अर्थात् आधाराधेयभावसे जिसका व्याख्यान किया गया है, उसीको आत्मा समझना चाहिए । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस वाक्यसे जिस आत्माका निर्देश करनेकी इच्छा है, वही उक्त चारोंकी आत्मा है, जिसे कि याज्ञवल्क्य महर्षिने स्वभार्या मैत्रेयीके प्रति अमृत कहा है ॥ १७ ॥

'योऽयमात्मा' इत्यादिका तात्पर्य कहते हैं—'**स इत्यनेन**' इत्यादिसे ।

पूर्व ग्रन्थसे वर्णित जो 'स' इससे निर्दिष्ट है, उसी परमात्माका 'योऽयम्' इत्यादि चार वाक्योंसे फिर स्मरण कराया गया है, उसका अपूर्व कथन नहीं है ॥ १८ ॥

'**आत्मा०**' इत्यादि । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस वाक्यसे आत्म-

आत्मामृतब्रह्मसर्वशब्दैः प्राक् प्रतिपादितम् ।
वस्त्वस्य मधुनस्तत्त्वमिति वाक्यार्थ ईरितः ॥ २० ॥

दर्शनको कर्तव्यत्वरूपसे कहा । और आत्मा ही अमृत है, इसका मैत्रेयीके प्रति वर्णन किया । मूर्तामूर्तब्राह्मणमें 'नेति नेति' इस वाक्यसे ब्रह्मको कहा । 'तत्सर्वमभवत्' इस वाक्यसे भी ब्रह्म ही कहा । यहाँपर श्रुतियोंकी योजना ऐसी करनी चाहिए— 'आत्मा द्रष्टव्यः' इस वाक्यसे जो आत्मा दर्शनविषयत्वेन प्रकृत है, वही यह चार प्रकारका मधु है, तदतिरिक्त नहीं है। 'जिससे मैं अमृत न हो सकूँगी' इत्यादिसे अमृतत्वका साधन जो मैत्रेयीने श्रीयाज्ञवल्क्य महर्षिसे पूछा था, उसके उत्तरमें अमृतत्वसाधन आत्मज्ञानका उपदेश करते हुए महर्षि श्रीयाज्ञवल्क्यजीने मैत्रेयीके प्रति जिस ब्रह्मको अमृत कहा था, वही यह मधुचतुष्टय ब्रह्मरूपी अमृत है। 'ब्रह्म ते ब्रवाणि व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामि' इत्यादि वाक्यसे अध्यायके आदिमें प्रस्तावकर मूर्त्तामूर्तब्राह्मणमें 'नेति नेति' इस वाक्यसे जिस निर्विशेष ब्रह्मको कहा था, वही यह मधुचतुष्टय है । 'इदं सर्वम्' इसका अर्थ यह है कि जिसके स्वरूपज्ञानसे सम्पूर्ण जगद् ब्रह्म होता है, वही यह मधुचतुष्टय है ॥ १९ ॥

'आत्मामृत०' इत्यादि । आत्मा, अमृत, ब्रह्म और सर्व-इन चार शब्दोंसे पूर्वमें प्रतिपादित परमार्थ सत् वस्तु ब्रह्म उक्त मधुका तत्त्व है। यह वाक्यार्थ पूर्व वाक्योंमें कहा गया है, पूर्वश्लोककी व्याख्या भी हो चुकी है । रह गया सामानाधिकरण्यके विषयमें कुछ वक्तव्य, उसको यहाँ स्फुट कर देते हैं । यहाँ नीलोत्पलके समान सामानाधिकरण्य विवक्षित नहीं है, कारण कि नीलोत्पलमें नील और उत्पलरूप दो पदार्थोंके अभेदरूप संसर्गका भान होता है । यहाँ अद्वैतश्रुतिके अनुसार सामानाधिकरण्य बाधामें है । 'योऽयं स्थाणुः स पुमान्' अर्थात् जो पूर्वमें दूरसे स्थाणु प्रतीत होता था, वह समीपमें आनेपर अवान्तर कर-चरणादिरूप विशेषके दर्शनसे पुरुष प्रतीत हुआ। यहांपर आपाततः प्रतीत स्थाणुत्वका बाध कर वस्तु-स्वभावानुसार पुरुषका ज्ञान होता है। यही ज्ञान समीचीन माना जाता है, इससे बाधित होनेसे पूर्व स्थाणुज्ञानको मिथ्या मानते हैं । इसमें ज्ञानके साथ विषय भी बाधित होता है । एवं प्रकृतमें भी विषयोंका उनके ज्ञानके साथ बाध होता है । श्रौता-द्वितीयात्मज्ञान भावनापरिपाकसे होता है । इसी तात्पर्यसे 'इदं सर्वमात्मा' इत्यादि सामानाधिकरण्यका निर्देश है ॥ २० ॥

उत्तरेष्वपि वाक्येषु मधुरूपमिदं जगत् ।
ब्रह्माऽपि मधुनस्तत्त्वं योजयेदुक्तवर्त्मना ॥ २१ ॥

श्रुतिः—इमा आपः सर्वेषां भूतानां मध्वासामपां सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं रैतसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥२॥

अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं वाङ्मयस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ३ ॥

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन् वायौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ४ ॥

'उत्तरेष्वपि' इत्यादि । 'इयं पृथिवी' इत्यादि स्थलमें जो अर्थ किया गया है, वही अर्थ 'इमा आपः' इत्यादि उत्तर वाक्योंका भी समझना चाहिए, क्योंकि हेय अथवा उपादेयसे अन्य अर्थान्तर है ही नहीं । ब्रह्म हेय या उपादेय हो नहीं सकता, क्योंकि वह व्यापक और नित्य प्राप्त है। वस्तुतः द्वितीय अर्थ ही नहीं है, जो हेयोपादेय हो सके । संपूर्ण जगत् मधुरूप है । पूर्ववत् अग्निमें मधुका भी तत्त्व ब्रह्म ही है, यह योजना भी उक्त मार्गसे समझनी चाहिए ॥ २१ ॥

'इमा आपः' इत्यादि श्रुति । ये जल सब भूतोंके मधु हैं और इन जलोंके सब भूत मधु हैं । जो जलमें यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म रैतस तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है, जो यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥ २ ॥

'अयमग्निः' इत्यादि श्रुति । यह अग्नि सब भूतोंकी मधु है और इस अग्निके सब भूत मधु हैं । जो यह अग्निमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म वाङ्मय तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है, जो यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥ ३ ॥

'अयं वायुः सर्वेषाम्' इत्यादि श्रुति । यह वायु सब भूतोंका मधु है और सब भूत इस वायुके मधु हैं । जो यह इस वायुमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म प्राण तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है, जो यह आत्मा है,

अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मध्वस्यादित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं चाक्षुपस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ५ ॥

इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशाꣳ सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमासु दिक्षु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ।६।

अयंश्चन्द्रः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिꣳश्चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥७॥

यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है। अध्यात्म प्राण भूतोंके शरीरका आरम्भक होनेसे उपकारक है, अतएव उसमें मधुत्व है। तदन्तर्गत तेजोमयादिमें करणरूपसे उपकारक होनेसे मधुत्व है, ऐसी श्रुति भी है—तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निः ॥४॥

'अयमादित्यः' इत्यादि श्रुति। यह आदित्य सब भूतोंका मधु है और इस आदित्यके सब भूत मधु हैं। जो यह इस आदित्यमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म चाक्षुष तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है, जो यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥ ५ ॥

'इमा दिशः सर्वेषाम्' इत्यादि श्रुति। ये दिशाएँ सब भूतोंकी मधु हैं तथा इन दिशाओंके सब भूत मधु हैं। जो यह इन दिशाओंमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म श्रौत्र प्रातिश्रुत्क तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है, जो यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है। प्रतिश्रवणवेलामें जो सन्निहित पुरुष है, वह प्रातिश्रुत्क है। श्रोत्र आकाशात्मक है, अतएव सदा सन्निहित रहता है ॥ ६ ॥

'अयं श्चन्द्रः' इत्यादि श्रुति। यह चन्द्रमा सब भूतोंका मधु है और इस चन्द्रके सब भूत मधु हैं। जो यह इस चन्द्रमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म मानस तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है, जो यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥ ७ ॥

इयं विद्युत्सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां विद्युति तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ८ ॥

अयꣳ स्तनयित्नुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य स्तनयित्नोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्स्तनयित्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ शाब्दः सौवरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ९ ॥

अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याकाशस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ हृद्याकाशस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ १० ॥

अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन् धर्मे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धार्मस्तेजोमयो-

---

'इयं विद्युत्सर्वेषाम्' इत्यादि श्रुति । विद्युत् सब भूतोंकी मधु है और सब भूत इस विद्युत्के मधु हैं । जो यह इस विद्युत्में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म तैजस तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है, जो यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥८॥

'अयं स्तनयित्नुः सर्वेषाम्' इत्यादि श्रुति । यह स्तनयित्नु (मेघ) सब भूतोंका मधु है और इस स्तनयित्नुके सब भूत मधु हैं । जो यह इस स्तनयित्नुमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म शाब्द सौरव तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥ ९ ॥

'अयमाकाशः सर्वेषाम्' इत्यादि श्रुति । यह आकाश सब भूतोंका मधु है, और सब भूत इस आकाशके मधु हैं । और जो यह इस आकाशमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म हृदयाकाश तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥१०॥

'अयं धर्मः सर्वेषाम्' इत्यादि श्रुति । यह धर्म सब भूतोंका मधु है और इस धर्मके सब भूत मधु हैं और जो यह इस धर्ममें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म धार्म तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है, जो

ऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ११ ॥
इदꣳ सत्यꣳ सर्वेषां भूतानां मध्वस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु

यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है। पृथिवीसे लेकर आकाश पर्यन्त भूतगण और देवगण कार्यकारणसङ्घातात्मा होते हुए परस्परोपकारकत्वरूपसे मधु होते हैं। हर-एक शरीरियोंके लिए यह कहा गया है। जिसके द्वारा शरीरियोंसे सम्बद्ध भूतगण तथा देवगण परस्परोपकारक होते हैं, वह वक्तव्य है, इसलिए उसका आरम्भ करते हैं। यद्यपि धर्म अप्रत्यक्ष है, इसलिए उसका निर्देश 'इदम्' शब्दसे नहीं होना चाहिए, कारण कि 'इदमः सन्निकृष्टे' इत्यादि शास्त्रसे प्रत्यक्ष विषयमें ही इदंशब्दका प्रयोग किया जाता है, परोक्षमें नहीं, तथापि धर्मकार्य पृथिव्यादि प्रत्यक्ष हैं और कार्यकारणका अभेद वेदान्तसिद्धान्तसे सिद्ध ही है, इसलिए कार्यगत प्रत्यक्षका औपचारिक प्रयोग कारणमें किया गया है। कार्य प्रत्यक्ष है, इसलिए उसके कारण धर्मको प्रत्यक्ष मानकर 'अयम्' यह श्रौत निर्देश है। धर्मका व्याख्यान श्रुति और स्मृतियोंमें किया गया है। मनुष्योंका नियन्ता क्षत्रिय राजा होता है और राजाका भी नियन्ता धर्म ही है। एवं जगत्-वैचित्र्यका निदान धर्म ही है तथा पृथिव्यादि परिणामका हेतु और प्राणियोंसे अनुष्ठीयमान भी धर्म है, इस कारणसे 'अयं धर्मः' इस प्रकार प्रत्यक्षसे व्यवहार किया गया है। सत्य और धर्मका श्रुतिमें अभेदेन निर्देश किया गया है।

शङ्का—तृतीयाध्यायमें 'यो वै स धर्मः सत्यं वैतत्' इस प्रकारके वचनसे सत्य और धर्म एक ही हैं, ऐसा प्रतीत होता है, अतः यहाँ सत्य और धर्मका अलग अलग उपादान करना अनुचित है।

समाधान—एक होनेपर भी यहाँ भेदेन निर्देशका अभिप्राय यह है कि दृष्टरूपसे और अदृष्टरूपसे कार्यका आरम्भक होनेके कारण धर्म दो रूपसे कार्यका कारण है, इसलिए दो रूपसे उसका निर्देश किया गया है। जो अदृष्ट (अपूर्व) नामक धर्म है, वह सामान्य और विशेषरूपसे कार्यका आरम्भक होता है। सामान्य-रूपसे पृथिव्यादिका प्रयोजक होता है और विशेषरूपसे अध्यात्म शरीरेन्द्रियादिका। पृथिव्यादिप्रयोजक धर्ममें 'यश्चायमस्मिन्धर्मे तेजोमयः' इत्यादि प्रयोग है और अध्यात्म कार्यकरणसङ्घातप्रयोजकमें 'धार्म' यह प्रयोग है ॥११॥

'इदꣳ सत्यꣳ सर्वेषाम्' इत्यादि श्रुति। यह सत्य सब भूतोंका मधु है और

यश्चायमस्मिन्सत्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं सात्यस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥१२॥

इदं मानुपꣳ सर्वेषां भूतानां मध्वस्य मानुपस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानुपस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥१३॥

इस सत्यके सब भूत मधु हैं। जो यह इस सत्यमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म सात्य तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है, जो यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है। दृष्ट आचाररूपसे अनुष्ठीयमान आचार भी धर्म ही है। इसमें—

'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनाम्..... ॥'

इत्यादि वचन प्रमाण हैं। धर्म दो प्रकारका है—एक सामान्य और दूसरा विशेष। सामान्यरूप धर्म पृथिव्यादिमें समवेत (कारणत्वरूपसे अनुगत) है। और विशेषरूप धर्म शरीरेन्द्रियादिसङ्घातमें समवेत है। उसमें—वर्तमानक्रियारूप पृथिव्यादिसमवेत सत्यमें तथा अध्यात्म कार्यकरणसङ्घातसमवेत सत्यमें—उत्पन्न सात्य कहलाता है। सत्यमें 'सत्येन वायुरावाति' इत्यादि श्रुतिप्रमाणसे पृथिव्यादिसमवेतत्व सिद्ध होता है॥ १२॥

'इदं मानुपꣳ सर्वेषाम्' इत्यादि श्रुति। यह मानुष सब भूतोंका मधु है और इस मानुषके सब भूत मधु हैं। यह जो इस मानुषमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है, जो यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है। धर्म और सत्यसे यह कार्यकरणसङ्घात बना है। यह सङ्घातविशेष जिस जात्यादिविशेषसे सम्बद्ध होता है, वही मानुषादि जातिविशेष यहां विवक्षित है। मानुषादिजातिविशिष्ट ही प्राणिसमुदाय परस्परोपकार्योपकारकभावसे देखा जाता है; अतः मानुषादि जाति भी सब भूतोंकी मधु है। इसमें मानुषादि जातिका भी बाह्य और आध्यात्मिकभावसे दो प्रकारसे निर्देश करना योग्य ही है॥ १३॥

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ १४ ॥

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानाꣳ राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः ॥१५॥

साधारण्यविशेषाभ्यां धर्मो भोगप्रदो द्विधा ।
अधिदैवं तथाऽध्यात्ममित्यत्राऽसौ विभज्यते ॥ २२ ॥

'अयमात्मा सर्वेषाम्' इत्यादि श्रुति । यह आत्मा सब भूतोंकी मधु है और इस आत्माके सब भूत मधु हैं । जो यह इस आत्मामें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह आत्मा अमृतमय तेजोमय पुरुष है, यही वह है, जो यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ।

जो कार्यकरणसङ्घात मानुषादिजातिविशिष्ट है, वह सब भूतोंका मधु है ।

शङ्का—यह तो शारीरशब्दसे निर्दिष्ट है, इसलिए पृथिवीका पर्याय ही है ।

समाधान—पार्थिवांशका ही वहां ग्रहण है । यहाँ तो अध्यात्म, अधिभूत आदि सब विशेषोंसे रहित, सब भूत और देवतागणसे विशिष्ट कार्यकरणसंघातरूप सर्वात्मा 'सोऽयमात्मा' से कहा गया है । इस आत्मामें तेजोमय, अमृतमय, अमूर्तरस, एवं सर्वात्मक पुरुषका निर्देश है । एकदेशसे पृथिव्यादिमें जो निर्दिष्ट है, उसका यहाँपर, अध्यात्मविशेषका अभाव होनेसे, निर्देश नहीं करते हैं । जो परिशिष्ट विज्ञानमय आत्मा है, जिसके लिए देहलिङ्गसङ्घात है, वही 'यश्चायमात्मा' से कहा जाता है ॥ १४ ॥

'स वा अयमात्मा सर्वेषाम्' इत्यादि श्रुति । वही यह आत्मा सब भूतोंका अधिपति है, सब भूतोंका राजा है । जैसे रथकी नाभिमें और रथकी नेमिमें सब अर लगे रहते हैं, वैसे ही इस आत्मामें सब भूत, सब लोक, सब देव, सब प्राण तथा ये आत्माएँ स्थित हैं ॥ १५ ॥

'साधारण्य०' इत्यादि । सुख-दुःख आदिका साक्षात्कारस्वरूप ही भोग है । उसका कारण धर्म है । वह दो प्रकारका है—एक साधारण और दूसरा विशेष । इसीका विभाग अधिदैवादिसे किया गया है । अधिदैव साधारण धर्म है और अध्यात्म

सत्यमानुषयोरेवं विभागं योजयेद् द्विधा ।
पृथिव्याद्या मनुष्यान्ता विराडंशा उदीरिताः ॥ २३ ॥
अयमात्मेति निर्देशो विराजोऽभिमतोंऽशिनः ।
हिरण्यगर्भस्तत्रत्य उक्तस्तेजोमयोक्तितः ॥ २४ ॥

विशेष धर्म है । साधारण धर्मके कार्य पृथिव्यादि हैं और विशेष धर्मके कार्य शरीर, इन्द्रिय आदि हैं। साधारण धर्मसे उत्पन्न पृथिव्यादि सर्वप्राणिसाधारण भोगके जनक हैं । और विशेषधर्मजन्य शरीर, इन्द्रिय आदि तत्-तत् प्राणिगत असाधारण सुख, दुःख आदिके जनक हैं, इसीलिए जिसके अदृष्टसे उपार्जित जो शरीरादि हैं, वे उसीके भोगके जनक होते हैं, ऐसा नियम तार्किक आदि मानते हैं और उचित भी है । आत्मा व्यापक होनेसे सब शरीरोंमें समानरूपसे है । पर भोग अपनी-अपनी देहसे ही होता है, अन्य प्राणीकी देहसे नहीं । भोगजनक सामग्रीका वैकल्य नहीं कह सकते, क्योंकि शरीरादि दृष्ट सामग्री समान है । इसलिए अदृष्टरूप सामग्रीके एकदेशका अभाव ही उसमें कारण कहना होगा, इसलिए विशेषभोगजनक विशेष धर्म है, यह सर्वमान्य मार्ग है ॥ २२ ॥

'सत्यमानुषयो०' इत्यादि । उसी प्रकार सत्य और मानुषके दो विभागोंकी योजना करनी चाहिए । पृथिव्यादिमनुष्यान्तग्रन्थसे विराट्के अंश कहे गये हैं । समस्त प्रपञ्च विराट्का शरीर है । पृथिवी, जल आदि एक-एक विराट्के अंश (अवयव) हैं । सामान्य और विशेषके भेदसे सत्य दो प्रकारका है । सामान्यप्रयुक्त कार्य है—हिरण्यगर्भ और विराट्का शरीर । विशेषप्रयुक्त कार्य हैं—अपने-अपने शरीरादि । मानुषादि जाति भी बाह्य और आध्यात्मिकभेदसे धर्मादिके समान दो प्रकारकी है । मानुष शब्द सब जातिमें उपलक्षण है, अतः सकल तत्-तत् जाति-विशिष्ट मानुषपदसे विवक्षित हैं । यह साधारण है, जो 'यश्चायमस्मिन्' इत्यादिसे बोधित है और 'अध्यात्मम्' इत्यादिसे विशेष कहा गया है; अतः धर्मवत् सत्य और मानुषका भी सामान्यविशेषभावसे दो प्रकारका विभाग समझना चाहिए ॥ २३ ॥

'अयमात्मेति' इत्यादि । 'अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मधु' इस वाक्यसे जो आत्मा सब भूतोंका मधु कहा गया है, वह आत्मा अंशी विराड्स्वरूप है । और जो 'अस्मिन्' इत्यादि सप्तम्यन्त आत्मशब्दार्थमें तेजोमय अमृतमय पुरुष कहा गया है, वह प्रथमान्त आत्मशब्दार्थ हिरण्यगर्भ है । विराट्के अभ्यन्तर

विराड्धिरण्यगर्भाख्यः स्थूलसूक्ष्मशरीरगः ।
चिदाभासोऽत्र यश्चायमात्मेत्युक्त्याऽभिधीयते ॥ २५ ॥
अपूर्वानपरामध्यप्रत्यग्याथात्म्यवित्तये ।
स वा इत्यादिको ग्रन्थः सदृष्टान्तोऽभिधीयते ॥ २६ ॥
ननूक्तं मधुनस्तत्त्वमयमेव स इत्यतः ।
वचनाद्बहुपर्यायैर्भूयोऽप्येतद् दृढीकृतम् ॥ २७ ॥

तेजोमय लिङ्गात्मा ही विवक्षित है । सारांश यह है कि प्रथम 'अयमात्मा' यहाँ आत्मा विराट् विवक्षित है । और 'अस्मिन् आत्मनि' इस सप्तम्यन्त आत्मशब्दसे भी विराट् ही कहा गया है और विराट्के अभ्यन्तर जो आत्मा प्रथमान्तपदसे कहा गया है, वह हिरण्यगर्भ है । तेजोमय आदिशब्दसे लिङ्गात्मा हिरण्यगर्भ ही कहा गया है ॥ २४ ॥

'**विराट्**' इत्यादि । स्थूल शरीरगत विराट् और सूक्ष्म शरीरगत हिरण्यगर्भ नामक चिदाभास (शरीरद्वयप्रतिबिम्बित चैतन्य) जीव है, वह यहां 'यश्चायमात्मा' से कहा गया है। वह स्वप्रकाश होनेसे तेजोमय और नित्य होनेसे अमृतमय है॥२५॥

'**अपूर्वानपरा०**' इत्यादि । 'स वा अयमात्मा परः' इसमें जिससे कोई पूर्व नहीं है और कोई पर नहीं है, वह आत्मा है। पूर्व और पर न होनेसे उसका मध्य भी नहीं है । एवंभूत जो प्रत्यगात्मा है, उसके बोधके लिए 'स वा' इत्यादि ग्रन्थ है । उसका दृष्टान्तके साथ व्याख्यान करते हैं । उस आत्मामें अविद्याकी निवृत्ति होनेपर खिल्यदृष्टान्तके अनुसार विज्ञानात्माका प्रवेश होता है ॥ २६ ॥

शङ्का—'**ननूक्तं मधुनः**' इत्यादि । 'इयं पृथिवी' इत्यादिग्रन्थसे पृथिवी मधु है, यह कहकर 'अयमेव स' इत्यादि ग्रन्थसे मध्वात्मक प्रपञ्चकी प्रत्यक्सत्तासे अतिरिक्त सत्ता नहीं है, यह अनेकबार कहा गया है । इसीसे आदि, मध्य और अवसानसे शून्य ब्रह्मतत्त्व है; यह निश्चय होता है । फिर ब्रह्मतत्त्वका प्रतिपादन करनेके लिए उत्तर ग्रन्थकी क्या आवश्यकता है ? शब्दका प्रयोग अर्थके निर्णयके लिए होता है; अर्थके निर्णीत होनेपर फिर शब्दका प्रयोग व्यर्थ होता है । व्यर्थ ही नहीं, किन्तु पुनरुक्तत्वादि दोषसे दूषित भी होता है, अतएव 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' इत्यादि गौतमसूत्रके अनुसार पुनरुक्तत्व अप्रामाण्यका प्रयोजक होनेसे हेय माना गया है । उक्त अर्थका दार्ढ्य भी अनेक जलादिदृष्टान्तोंसे हो ही जाता है । अतः तदर्थ भी नहीं कह सकते ॥ २७ ॥

बाढमेतावता वस्तुसार्वात्म्यं स्यात् प्रपञ्चितम्।
तदेवाऽभिव्यज्यतेऽथ विदुषः फलरूपतः ॥ २८ ॥
स एव मधुतत्त्वाख्य आत्माऽयं तत्त्ववित्मतः ।
आधिपत्यं च राजत्वं विदुष्यविदुषोऽधिकम् ॥ २९ ॥
अत्राऽधिपतिशब्देन स्वातन्त्र्यमभिधीयते ।
स्वार्थः प्रत्यक्तदर्थत्वात्सहेतोर्जगदात्मनः ॥ ३० ॥

समाधान—'बाढमेतावता' इत्यादि । हां, अनेक पर्यायवाची शब्दोंसे यद्यपि ब्रह्मका तत्त्व निर्णीत हो जाता है, तथापि ब्रह्मवेत्ताको जो यह सब प्रपञ्च ब्रह्मसत्ताक ही है, उससे अतिरिक्त सत्तावाला नहीं है, इस प्रकार जो वेदान्तज्ञानका फल है, उसीका उत्तर ग्रन्थसे प्रपञ्च किया गया है । ब्रह्मीभूत पुरुषको सब आत्मस्वरूप ही प्रतीत होता है । जैसे भ्रमदशामें रज्जुमें सर्पादिकी प्रतीति होती है, किन्तु रज्जुतत्त्वका साक्षात्कार होनेपर सर्पकी तत्सत्तासे अतिरिक्त सत्ता प्रतीत नहीं होती, 'सर्पः सन्' यह प्रतीति रज्जुसत्ताको ही लेकर होती है; वैसे ही प्रकृतमें तदनुभवका प्रपञ्च किया गया है ॥ २८ ॥

'स वा अयमात्मा—इन पदोंका अर्थ कहते हैं—'स एव' इत्यादिसे ।

वही मधुतत्त्वाख्य यह आत्मा तत्त्ववित् माना गया है ।

शङ्का—परमात्मा होनेपर तत्त्ववित् कैसे सर्वाधिपति और सबका राजा होता है, क्यों ? क्या अनुपपत्ति है ? अनुपपत्ति यह है कि ब्रह्मवेत्ताको आत्मव्यतिरिक्त वस्त्वन्तरका अभाव जब निश्चित हो गया, तब राजत्व तथा सर्वाधिपतित्वका सम्भव कैसे होगा ?

समाधान—जीवन्मुक्तिदशाके तात्पर्यसे ऐसा कहते हैं । उस दशामें प्रारब्धकर्मवश विक्षेपकी अनुवृत्ति रहती है, इसलिए उसमें उक्त विशेषणोंकी उपपत्ति हो सकती है । अविद्वान्की अपेक्षा विद्वान्में उक्त विशेष है अर्थात् अविद्वान् पुरुषके प्रति राजा तथा अधिपति प्रसिद्ध ही है, उन प्रसिद्धोंकी अपेक्षा ब्रह्मवेत्तामें उक्त धर्म अधिक हैं, क्योंकि वह ब्रह्मके समान है ॥ २९ ॥

'अत्राऽधिपति०' इत्यादिसे ।

शङ्का—राजा और अधिपति—ये दोनों पद एक ही अर्थके वाचक हैं, अतः दोनोंके उपादानसे पुनरुक्त दोष स्फुट है ।

राजत्वं राजनाद्भास्वदविलुप्तात्मदर्शनात् ।
ब्रह्माऽस्मीतिपरिज्ञानध्वस्तध्वान्तत्वकारणात् ॥ ३१ ॥
योऽसावविद्यया देही संसारीवाऽप्यभूत्पुरा ।
स एव विद्यया ब्रह्मेत्यतोऽस्मिन्जगदर्पितम् ॥ ३२ ॥
चक्रस्याऽरा यथा सर्वे नाभिनेम्योः समर्पिताः ।
सजीवा निखिला देहा ब्रह्मविद्यर्पितास्तथा ॥ ३३ ॥

समाधान—यहाँ अधिपतिशब्द स्वतन्त्रार्थक है, अतः उक्त दोषकी शङ्का अयुक्त है, एवं राजशब्द भी राजनवान् यानी दीप्तिमान्का वाचक है । सो आगे स्फुट होगा ।

शङ्का—आत्मा स्वतन्त्र कैसे है ?

समाधान—सम्पूर्ण सहेतु जगत् आत्मार्थ है । भोग्य भोक्ताके लिए होता है । जैसे शयन, आसन आदि भोग्यजात भोक्तार्थ है, वैसे ही जगत् आत्मार्थ है और आत्मा स्वार्थ है, वह दूसरेके लिए नहीं है, इसलिए स्वतन्त्र है ॥ ३० ॥

'राजत्वम्' इत्यादि । ज्ञानसे अज्ञानका निरास होनेपर अप्रतिबद्ध स्व-स्वरूपका स्फुरण (भान) होता है, अतः ब्रह्मज्ञानी राजाके समान दीप्तिमान् (सुशोभित) होता है । ध्वान्त याने अज्ञान है, उसके नाशमें हेतु 'ब्रह्माऽस्मि' ऐसा विज्ञान है । आत्मा यद्यपि स्वयंप्रकाश है, तथापि अविद्यासे स्वयंप्रकाशत्व लुप्त (तिरोहित) रहता है । अविद्यानिवर्तक उक्त ज्ञानसे तदीय प्रकाश अविद्याकी निवृत्ति द्वारा अविलुप्त हो जाता है, इसलिए राजाके समान शोभता है ॥ ३१ ॥

'योऽसाव०' इत्यादि । जो देही स्वकीय अविद्यासे पुरा (तत्त्वज्ञानसे पूर्व) संसारीके सदृश था । वस्तुतः उस समयमें भी संसारी नहीं है, किन्तु अपनेको संसारीके समान अज्ञानसे मानता है। जैसे मलीन दर्पणमें मुख देखनेसे स्वमुख मलिन-सा प्रतीत होता है और अज्ञानी पुरुष उस मालिन्यको वस्तुतः अपने मुखमें समझकर दुःखी होता है और विवेक होनेपर यह समझता है कि यह मालिन्य दर्पणगत है मुखगत नहीं है, वैसे ही संसारी पुरुष मनोगत सुख, दुःख आदिको आत्मगत मानकर संसारीके समान होता है । वही पुरुष विद्या होनेपर यानी 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक बोध होनेपर ब्रह्म हो जाता है, इसलिए सब जगत् उसमें अर्पित है—उसमें स्थित है ॥ ३२ ॥

'चक्रस्यारा' इत्यादि । कार्यकारणात्मक प्रपञ्च ब्रह्मावसान है, इस अर्थको

ब्रह्मविच्चाद्वामदेवः प्रागहं मनुरीदृशम् ।
सार्वात्म्यं प्रतिपेदे यत्तदेवाऽत्र निरूपितम् ॥ ३४ ॥
सोपाधिर्निरुपाधिश्च द्वेधा ब्रह्मविदुच्यते ।
सोपाधिकः स्यात् सर्वात्मा निरुपाख्योऽनुपाधिकः ॥ ३५ ॥

अति स्फुट करनेके लिए यह दृष्टान्त श्रुति देती है—जैसे चक्रमें (रथके पहियेमें) एक नाभि है, जिसके बीचमें छिद्र रहता है और उसमें धुरी रहती है और नेमि ऊपरका चक्का कहलाता है, जिसमें रबड़ भी लगता है तथा वही सड़कसे संयुक्त रहता है । नाभि और नेमिके बीचमें जो छोटे-छोटे काष्टके टुकड़े लगे रहते हैं, वे अर कहलाते हैं, वे ही प्रकृतमें दृष्टान्त हैं । जैसे अर रथकी नाभिमें लगे रहते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण सदेह जीव ब्रह्मविद्में अर्पित (आश्रित) हैं ॥ ३३ ॥

'ब्रह्मविच्चा०' इत्यादि । 'तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवम्' इस श्रुतिका अर्थ यह है कि प्रबुद्ध वामदेव ऋषिने यह समझा कि मैं ही मनु हुआ और सूर्य हुआ । ब्रह्मज्ञानी जब अपनेको ब्रह्म समझता है और ब्रह्म ही वस्तुतः मनु ओर सूर्य है, तो अपनेको तद्रूप समझना उचित ही है । इस प्रकार तत्त्वज्ञानोत्तर वामदेवजीको जो सार्वात्म्यप्राप्ति हुई है, उसीका यहाँ निरूपण किया गया है ॥ ३४ ॥

'सोपाधि०' इत्यादि । सोपाधि और निरुपाधिभेदसे ब्रह्मवेत्ता दो प्रकारका कहा जाता है—सोपाधिक सर्वात्मा होता है और अनौपाधिक निरूपाख्य कहा जाता है । भाव यह है कि मुक्ति दो प्रकारकी है—एक जीवन्मुक्ति और द्वितीय परम मुक्ति । जीवनमुक्तिमें उपाधिभूत सूक्ष्म अविद्या रहती है, अतएव मिथ्याभूत जगत्का मिथ्यारूपसे भान होता है । अपनेको ब्रह्मस्वरूप देखता हुआ तत्त्ववेत्ता निखिल कल्पित जगत्में भी ब्रह्मके तत्त्वका ही अनुभव करता है । कल्पित अधिष्ठानात्मक होता है, इसलिए ब्रह्मको सर्वात्मक समझ कर ब्रह्माभिन्न स्वको भी उचित ही सर्वात्मक समझता है । निरुपाधिक ब्रह्म भी देहपातके अनन्तर होता है, उस समय कल्पना-निमित्तोपाधिके अभावसे कल्पित जगत्का भी अभाव न्यायप्राप्त है, अतएव अनौपाधिक होकर निरुपाधि कहलाता है । यही विदेहकैवल्य है । विदेहकैवल्यमें अपनेमें सर्वात्मकत्वका भान नहीं होता, क्योंकि जब सब पदार्थ ही उस अवस्थामें नहीं हैं, तब सर्वात्मकत्वका भान कैसे होगा ? ॥ ३५ ॥

जक्षन्क्रीडन् रतिं प्राप्त इति सोपाधिकस्य तु ।
सार्वात्म्यात्सर्वभोगाप्तिश्छान्दोग्ये स्पष्टमीरिता ॥ ३६ ॥
अहमन्नं तथाऽन्नादः श्लोककार्यप्यहो अहम् ।
इति तत्त्वविदः सामगाने सर्वात्मता श्रुता ॥ ३७ ॥
अत्राऽपि चक्रदृष्टान्तात् सोपाधिस्तत्त्वविच्छ्रुतः ।
अपूर्वानपराद्युक्त्या श्रोष्यते निरुपाधिकः ॥ ३८ ॥
भर्तृप्रपञ्च आहाऽत्र समस्तव्यस्तसिद्धये ।
नाभिरात्मा वपुर्नेमिररा इन्द्रियदेवताः ॥ ३९ ॥

'जक्षन्' इत्यादि। छान्दोग्य-उपनिषद्में मुक्त पुरुष ब्रह्मके साथ हँसता और खेलता है, ऐसा स्पष्ट निर्देश किया गया है। निरुपाधि ब्रह्ममें तो हँसने और खेलनेका सम्भव नहीं है, अतः सोपाधिक ब्रह्मका ही वहाँ ग्रहण है और 'जो जो कामना करता है, सो सो पाता है' इत्यादिसे कहा गया है कि सब अभिलषित फलोंको पाता है। यह कामनादि सोपाधिकमें ही हो सकती है, इसलिए सर्वतादात्म्य और सर्वफलप्राप्ति सोपाधिक ब्रह्मोपासक और सोपाधिक मुक्तको ही होती है, इसलिए जीवन्मुक्ति श्रुतिसंमत है ॥ ३६ ॥

'अहमन्नम्' इत्यादि। मैं अन्न हूँ, अन्नाद हूँ तथा स्तुतिकर्ता भी मैं हूँ, इस प्रकार तत्त्ववेत्ता सर्वात्मा है, यह तैत्तिरीय श्रुतिमें भी श्रुत है अर्थात् अनेक श्रुतियोंमें सर्वभावापत्तिफल श्रुत है, अतः जो जीवन्मुक्ति नहीं मानते, उनका मत श्रुतिविरुद्ध है ॥ ३७ ॥

'अत्राऽपि' इत्यादि। यहाँ भी चक्रदृष्टान्तसे तत्त्ववेत्ता सोपाधिक श्रुत है। अपूर्वानपरादि उक्तिसे निरुपाधिक भी सुनते हैं। जैसे नाभिमें अर समर्पित हैं, वैसे ही तत्त्ववेत्तामें सब प्राण, सब लोक, सब देवता आदि अर्पित हैं। इस कथनसे सोपाधिक सर्वभावापत्ति स्पष्ट है। यदि अविद्या नहीं रहती, तो तत्कृत प्राण, लोक, देव आदिकी स्थिति नहीं होती फिर तत्तत्स्वरूपानुप्रवेश तत्त्ववेत्तामें कैसे होता ? रही निरुपाधिक ब्रह्मभावप्राप्ति, सो आगे अपूर्वानपरा इत्यादि वाक्यसे श्रुति सुनावेगी। इसकी व्याख्या भी वहां ही होगी ॥ ३८ ॥

'भर्तृप्रपञ्च' इत्यादि। स्वमतानुसार समस्त और व्यस्तस्वरूप ब्रह्म है, इसकी सिद्धि होनेके लिए भर्तृप्रपञ्च (व्याख्याकारविशेष), आत्मा नाभि है, और वपु

प्रत्येकं प्राणिनां ब्रह्मचक्रमव्यक्तमस्ति हि ।
तद्व्यक्तये निदिध्यासेत् तद्भावाविष्टधीः सदा ॥ ४० ॥
तप्तलोहवदेकत्वं प्राप्य ध्यानादयं पुमान् ।
अविद्यातिमिरान्धानां ध्येयत्वमुपगच्छति ॥ ४१ ॥

(शरीर) नेमि है, इन्द्रिय और देवतागण अर हैं, ऐसा व्याख्यान करते हैं । भाव यह है कि यह आत्मा सप्रपञ्च है, यह प्रतिज्ञा 'इदं सर्वं यदयमात्मा' यहांपर की गई है । इसकी सिद्धिके लिए अन्यथा व्याख्यान है । 'तत्त्वमसि' इत्यादि जीवात्मैक्यबोधक श्रुतिसे जीव परमात्मासे अभिन्न है, अतः अपनेको अक्षर परमात्मामें एक कर चक्रनाभिस्थानीय स्वआत्मामें चक्रनेमिस्थानीय पञ्चभूतात्मक देहके एवं आत्मामें और भूतोंमें अरस्थानीय देवता आदि जगत्के अर्पणकी कल्पना कर इस काल्पनिक अर्थमें बुद्धिको स्थिर कर सदा ध्यान करे । इस अवस्थामें प्राप्त होकर ध्याता और ध्यानका परित्याग कर क्रमशः केवल ध्येयमात्रविषयक वृत्तिसे ध्यातृत्वांशका त्याग कर ध्याता ध्येयस्वरूप हो जाता है ।

शङ्का—ध्येय क्या है ?

समाधान—जिसको जानकर मुक्त पुरुष फिर संसारमें नहीं आते, साधारण बुद्धिसे अचिन्त्य, ज्ञानियोंका अयन एवं स्वप्रकाशानन्दचिद्घन ब्रह्म ध्येय है ॥३९॥

'प्रत्येकम्' इत्यादि । प्रत्येक प्राणियोंके हृदयमें अव्यक्त ब्रह्मनामक चक्र है, यह श्रुति, स्मृति और न्यायसे सिद्ध है। उनमें 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' इत्यादि श्रुति है, 'केनापि देवेन हृदि स्थितेन', 'यो मां पश्यति सर्वत्र', 'सर्वभूतस्थितं यो माम्' इत्यादि स्मृति है और न्याय है सर्वव्यापकत्वादि ।

शङ्का—अव्यक्त क्यों है ?

समाधान—अज्ञानसे । अतः पुरुष तद्भावसे आविष्टबुद्धि होकर ब्रह्मचक्रकी अभिव्यक्तिके लिए निदिध्यासन करे अर्थात् ध्यान करे ॥ ४० ॥

'तप्तलोह०' इत्यादि । जैसे अनेक लोहेके टुकड़ोंको आगमें तपाकर ढालनेसे एक लोहा हो जाता है, वैसे ही पुरुष ध्यानसे ध्येय ब्रह्मस्वरूप हो जाता है । तदनन्तर वह अविद्यारूपी तिमिरसे जो अन्ध हैं यानी अविद्याके आवरणसे स्वस्वरूपाभिन्न ब्रह्मचक्रका जिनको प्रकाश नहीं है, उनका ध्येय होता है । अर्थात् अज्ञानी अज्ञाननिवृत्तिकी कामनासे जब ब्रह्मका ध्यान करते हैं, तब ब्रह्मीभूत वह ज्ञानी भी उन पुरुषोंका ध्येय हो जाता है ॥ ४१ ॥

श्रुत्यक्षरबहिष्टत्वान्न साध्वी चक्रकल्पना ।
उपास्यं यन्न तद् ब्रह्मतत्त्वमित्येष डिण्डिमः ॥ ४२ ॥

उक्त कथनका खण्डन करते हैं—'श्रुत्यक्षर०' इत्यादिसे ।

यह ब्रह्मचक्रकी कल्पना श्रुतिके अक्षरसे बहिर्भूत है यानी श्रुत्यर्थ नहीं है । अतः यह कल्पना समीचीन नहीं है । 'नेदं यदिदमुपासते' इस श्रुतिसे जो उपास्य है, वह ब्रह्म नहीं है, यह अर्थ डंकेकी चोट स्पष्ट प्रतीत होता है ।

शङ्का—दृष्टान्तकी सामर्थ्यसे मदिष्ट अर्थ श्रुतिसंमत ही है, बाह्य नहीं है; कारण यह है कि दृष्टान्तमें नाभि और नेमिका उपादान है । दार्ष्टान्तिकमें नाभिस्थानापन्न केवल आत्मा ही है, नेमिका समावेश नहीं है, इसलिए दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकका वैषम्य है । मेरी ब्रह्मचक्रकी कल्पनामें नाभिस्थानापन्न आत्मा और नेमिस्थानापन्न शरीर—इन दोनोंमें इन्द्रिय एवं देवतागण अर्पित हैं, ऐसा माननेसे वैषम्य नहीं होता ।

समाधान—हां, दृष्टान्तकी सामर्थ्यसे आपका अभिप्रेत अर्थ हो सकता है, पर वस्तुतः है नहीं ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—श्रौत अर्थ वही माना जाता है, जो श्रुतिके पदोंसे प्रतीत होता हो। जो अर्थ श्रुतिके पदोंसे प्रतीत नहीं होता, सामर्थ्यबलसे उसके उपस्थित होनेपर भी वह मान्य नहीं होता । श्रुतिमें चक्रादिवाचकपद नहीं है, आत्मा भी अनेकरस इष्ट नहीं है एवं जो अर्थ अर्थतः प्रतीयमान होता है, वह आर्थिक कहा जाता है, शाब्द नहीं ।

शङ्का—चक्रादि पद नहीं है, तो कल्पना कर लीजिये ।

समाधान—प्रमाण होनेपर कल्पना हो सकती है, प्रमाणके बिना अणुमात्रकी भी कल्पना असह्य होती है । श्रुत्यक्षरसे ब्रह्मचक्र प्रतीत नहीं होता और न 'निदिध्यासेत्' पद इस ब्राह्मणभरमें है ।

शङ्का—तो दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें साम्य कैसे होगा ?

समाधान—सर्वथा साम्यमें दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभाव नहीं होता, किन्तु विवक्षित अंशसे साम्य अपेक्षित होता है, सो प्रकृतमें आत्मा और नाभिका है । आपके मतमें चक्रनाभिस्थानीय आत्मा एवं नेमिस्थानीय देहात्मक भूतोंमें

समाप्ता ब्रह्मविद्येयं कैवल्यावाप्तयेऽखिला ।
यथोक्तब्रह्मविद्यायाः स्तुत्यर्थाऽऽख्यायिकोच्यते ॥ ४३ ॥

देवतादि जगत् अरके तुल्य (आरागजके समान) अर्पित है, ऐसा अर्थ होता है, परन्तु यह ठीक नहीं है, कारण कि श्रुतिमें प्राणादि जगत्का आत्मामें अर्पण सुना गया है, भूतादिमें देवतादिका नहीं, अब आप भूतादिमें देवतासहित जगत्का अर्पण किस प्रमाणसे कहते हैं ? प्रत्युत श्रुतिविरुद्ध होनेसे यह अर्थ सर्वथा उपेक्ष्य है । किञ्च, ब्रह्मैकात्म्य फल केवल अज्ञानमात्रसे व्यवहित है । अतः उसके लिए केवल अज्ञानकी निवृत्तिकी आवश्यकता है । अज्ञाननिवृत्ति द्वारा उक्त फलकी प्राप्तिमें केवल विद्याकी अपेक्षा है; निदिध्यासन आदिकी नहीं । किञ्च, प्रकृत आत्मा ध्यानके योग्य भी नहीं है, क्योंकि 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते', 'यन्मनसा न मनुते····तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' इत्यादि श्रुतियोंसे वह अनुपास्य कहा गया है । उक्त रीतिसे उपास्य माननेमें उक्त श्रुतिके साथ विरोध स्पष्ट है ।

शङ्का—जो उक्त निषेध किया गया है, वह असंस्कृत वाणी तथा असंस्कृत मनके अभिप्रायसे किया गया है । अतएव 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या', 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यादि श्रुतियोंसे संस्कृत वाक् और मनके विषयत्वाभिधान द्वारा उपास्यत्वमें उक्त श्रुतिका तात्पर्य है ।

समाधान—विद्याप्राप्तिमें हेतुभूत मनःशुद्धिके तात्पर्यसे उक्त वाक्य है, अथवा सगुण ब्रह्मोपासनाके लिए उक्त वाक्य है ॥ ४२ ॥

'समाप्ता' इत्यादि । मोक्षप्राप्तिके लिए स्वभार्या मैत्रेयीके प्रति याज्ञवल्क्य महर्षिने जो विद्या कही थी, वह ब्रह्मविद्या सम्यक्-रूपसे समाप्त हो गई । उसमें कुछ भी वक्तव्यविशेष शेष नहीं रहा, अब उसकी स्तुतिके लिए आख्यायिका कही जाती है ।

शङ्का—स्तुतिसे क्या प्रयोजन ?

समाधान—स्तुति पुरुषप्रवृत्तिकी कारण है, अतः उक्त विद्यामें पुरुषोंकी प्रवृत्ति हो, इसलिए स्तुति करते हैं ।

शङ्का—फलेच्छा होनेसे प्रवृत्ति हो जायगी, उसके लिए स्तुति अनावश्यक है ।

समाधान—हाँ, फलेच्छासे भी प्रवृत्ति होती ही है । अतएव सब कर्मोंकी

स्तुति नहीं की गई है, किन्तु जहाँ स्तुति है, वहाँके लिए यह भी कहा जा सकता है कि यह स्तुति प्रवृत्तिके लिए है।

शङ्का—जब स्तुतिके बिना भी प्रवृत्ति होती है, जैसा कि आप कहते हैं, तब स्तुति प्रवृत्तिमें कारण नहीं हो सकती? कारण तो नियतपूर्ववर्त्ती ही कहा जाता है।

समाधान—हाँ ठीक है, किन्तु कारण दो प्रकारके होते हैं—एक साक्षात् और दूसरा प्रतिबन्धके अपनयन द्वारा, जैसे दाहमें साक्षात् कारण अग्नि है, किन्तु प्रतिबन्धक मणि, मन्त्र आदिसे प्रतिबद्ध अग्नि दाहजनक नहीं होती; उस दशामें प्रतिबन्धको प्रतिबद्ध करनेके लिए उत्तेजक मणि, मन्त्र आदिकी आवश्यकता होती है। उनके समवधानसे फिर दाह होने लगता है, इसलिए वे भी उक्त कार्यमें परम्परया कारण माने जाते हैं। वैसे ही प्रकृतमें जो पुरुष आलस्य आदिसे प्रतिबद्ध होकर कर्ममें प्रवृत्त नहीं होता, उसकी प्रवृत्तिके लिए स्तुति आवश्यक है। विशेष फिर कहेंगे।

उस आख्यायिकाके संक्षिप्त अर्थका प्रकाश वक्ष्यमाण दो मन्त्रोंसे होता है। इस प्रकार मन्त्र-ब्राह्मणसे स्तुत होनेके कारण अमृतत्व और सर्वप्राप्तिकी साधन ब्रह्मविद्या है, यह प्रकट किया याने गलीसे सड़कपर आ गये। जैसे सूर्य भगवान् उदयकालमें रात्रिके अन्धकारको दूर कर देते हैं, वैसे ही यह विद्या भी है। और इस प्रकार स्तुत यह ब्रह्मविद्या इन्द्र राजासे रक्षित थी, अतएव देवोंको भी दुष्प्राप्य थी। जिस कारणसे स्वर्गलोकके देवताओंके वैद्य अश्विनी-कुमारोंने इन्द्र द्वारा रक्षित यह विद्या बड़ी कठिनतासे प्राप्त की थी यानी उन्होंने ब्राह्मणका सिर काटकर, अश्वका सिर जोड़कर और इन्द्र द्वारा उक्त सिरके काटे जानेपर फिर उसके सिरको जोड़कर ब्राह्मणके सिरसे उक्त अशेष ब्रह्मविद्या सुनी थी, इस कारणसे मधुविद्यासे अन्य कोई भी पुरुषार्थसाधन उत्तम न हुआ और न होगा, वर्तमानमें तो सुतरां नहीं है। इससे बढकर अधिक स्तुति क्या हो सकती है? अपि च, इस प्रकार भी ब्रह्मविद्याकी स्तुति होती है—सब पुरुषार्थोंका साधन कर्म ही है, यह लोकमें सुप्रसिद्ध है। वह कर्म वित्तसाध्य है। कर्म या वित्तसे मोक्ष मिलनेकी आशा भी नहीं हो सकती, फिर मिलना तो दूर रहा, क्योंकि यह मोक्ष कर्मनिरपेक्ष केवल आत्मविद्यासे ही मिलता है। यद्यपि कर्म-प्रकरणमें इसके कहनेका अवसर था तथापि कर्मप्रकरणको छोड़कर प्रवर्ग्य-प्रकरणमें कर्मसे विरुद्ध होनेके कारण केवल संन्याससहित यह विद्या मोक्षकी

श्रुतिः—इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् ।

तद्वां नरा सनये दꣳस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिं दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाचेति ॥ १६ ॥

सिद्धिके लिए कही गई है। इसलिए इससे उत्तम दूसरा कोई पुरुषार्थका साधन नहीं है। अपिच, इस प्रकारसे भी ब्रह्मविद्याकी स्तुति की गई है—सब लोग जोड़ेसे सन्तुष्ट होते हैं, अकेला कोई रमण (विहार) नहीं कर सकता, अतः प्रजापति भी अकेला रमण नहीं कर सका, यह श्रुतिमें स्पष्ट है। श्रीयाज्ञवल्क्य महर्षि लोकसाधारण होनेपर भी आत्मज्ञानके बलसे भार्य्या, पुत्र, वित्त आदि संसारमें रतिका परित्याग कर ब्रह्मज्ञानसे तृप्त होकर आत्माराम हुए। अपिच, इस प्रकार स्तुत ब्रह्मविद्या है कि साधारण मार्गसे हटते समय श्रीयाज्ञवल्क्य महर्षिजीने प्रियभार्य्याके प्रति प्रीत्यर्थ ही इसका उपदेश दिया था। प्रियभाषण करती हो, आओ, बैठो इत्यादि शब्दोंसे यह आशय स्फुट है ॥४३॥

शङ्का—जो यह स्तुत्यर्थ आख्यायिका कही है, वह कौन है ?

समाधान—सुनो कहते हैं—**'इदं वै तन्मधु'** इत्यादि श्रुति।

इदंशब्द अनन्तर पूर्व निर्दिष्ट 'इयं पृथिवी' इत्यादि मन्त्रस्थ इदमर्थका परामर्शक है, क्योंकि बुद्धिसन्निहित वही है। सन्निहितका ही परामर्श उक्त शब्दसे होता है। 'वै' शब्दका स्मरण अर्थ है। तत् शब्दका अर्थ है—आख्यायिकासिद्ध प्रकरणान्तरमें (प्रवर्ग्यप्रकरणमें) कथित परोक्ष। उसका वैशब्दसे स्मरण कराते हुए यहाँ कहते हैं—जो प्रवर्ग्यप्रकरणमें केवल सूचित किया गया है, प्रकट नहीं किया गया है, वह यही मधु है, जो 'इयं पृथिवी' इत्यादि अनन्तर पूर्व मन्त्रसे निर्दिष्ट है।

शङ्का—कैसे प्रकरणान्तरमें सूचित हुआ है ?

समाधान—'दध्यङ् ह वा आभ्यामाथर्वणो मधु नाम ब्राह्मणमुवाच' इत्यादिसे। यह मधु दोनों अश्विनीकुमारोंका प्रीत्यास्पद था, अतएव उनके द्वारा प्रार्थित ब्राह्मणने उक्त मधु दोनोंसे कहा। इन्द्रने उक्त ब्राह्मणसे यह कहा था कि इस विद्याको यदि दूसरेसे कहोगे, तो तुम्हारा सिर काट देंगे, इसलिए ब्राह्मणने उनसे कहा कि इन्द्रकृत शिरश्छेदनके भयसे मैं तुम दोनोंको उक्त विद्याका उपदेश नहीं दे सकता,

क्योंकि मैं डरता हूँ। हाँ, यदि वह सिर न काटे, तो आप लोगोंको शिष्य बनाऊँगा। उन दोनोंने कहा कि हम दोनों आपकी रक्षा करेंगे।

शङ्का—कैसे तुम हमारी रक्षा करोगे? इन्द्र राजा है, अतएव बलवान् है, उसके विपरीत तुम लोग हमारी रक्षा कैसे कर सकोगे?

समाधान—जब आप हम दोनोंको शिष्य बनावेंगे, तो आपका सिर काटकर अन्यत्र छिपाकर रख देंगे, उसके बाद घोड़ेका सिर ले आकर आपके धड़से जोड़ देंगे। उसी घोड़ेके सिरसे आप हम दोनोंको उपदेश देंगे। आपके उपदेश देनेपर जब इन्द्र आपका सिर काट देंगे, तब आपका सिर जो अन्यत्र रक्खा है, उसे ले आकर हम फिर आपके धड़से जोड़ देंगे। उन्होंने यह बात मान ली और दोनोंको शिष्य बनाया। उनका सिर काटकर अन्यत्र रख दिया गया, उसके स्थानपर घोड़ेका सिर लाकर जोड़ दिया गया। घोड़ेके सिरसे उन दोनोंको उक्त विद्याका उपदेश ब्राह्मणने दिया। जब उस विद्याका उपदेश उनको दिया, तब इन्द्रने आकर पूर्वप्रतिज्ञानुसार उसका सिर काट दिया। फिर अश्विनीकुमारने अपनी पूर्वप्रतिज्ञानुसार उसका अन्यत्र सुरक्षित सिर लाकर उसके धड़से जोड़ दिया। जितना प्रवर्ग्यकर्माङ्गभूत मधु था, उतना ही अश्वके सिरसे कहा। कक्ष्य (श्रेष्ठ) आत्मज्ञान अश्वके सिरसे नहीं कहा, यह आख्यायिका वहाँपर कही गई है। यह यहाँ स्तुतिके लिए फिर प्रदर्शित की गई है। अथर्वाके पुत्र दध्यङ् नामक ऋषिने इस मधुविद्याका विस्तारपूर्वक अश्विनीकुमारोंको उपदेश दिया। ऋषिशब्द यहां मन्त्रबोधके लिए प्रयुक्त हुआ है। मन्त्र भी ऋषि कहा जाता है; ऋषिने (मन्त्रने) उस कर्मको देखते हुए कहा। 'दंस' कर्मका वाचक है, वह दंस कैसा है? उग्र (क्रूर) है। वां याने युवयोः अश्विनीकुमारयोः। 'नरा' यह अश्विनीकुमारोंका सम्बोधन है।

शङ्का—वे तो देवता हैं, मनुष्य नहीं, फिर 'नरा' यह सम्बोधन क्यों?

समाधान—हाँ, वे देवता हैं, किन्तु उनका आकार मनुष्यके सदृश है। इसलिए 'नरा' यह विशेषण समुचित है। 'नरा' इसका 'नरत्वजातिविशिष्टाः' यह अर्थ नहीं है, किन्तु 'हे नराकाराः' यह अर्थ है। अश्विनीकुमार नराकृति हैं। क्रूर कर्म क्यों किया गया? लाभके लिए। लोभीजन क्रूर कर्म भी लाभके लिए करते हैं, यह लोकमें प्रसिद्ध है, वैसे ही ये लोग भी देखे गये हैं, उस कर्मको प्रकट करते हैं—जो एकान्तमें आप लोगोंने किया था।

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यꣳ शिरः प्रत्यैरयतं स वां मधु प्रवोचदृतायन् त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपि कक्ष्यं वामिति ॥ १७ ॥

शङ्का—कैसे ?

समाधान—तन्यतुर्न वृष्टिम् । जैसे पर्जन्य याने मेघ वृष्टिको प्रकाशित करता है वैसे । 'न' का यहाँ सादृश्य अर्थ है, अर्थात् इवार्थक नञ् है ।

शङ्का—नकारके प्रतिषेध आदि अर्थ होते हैं, उपमा अर्थ तो नकारका नहीं होता ।

समाधान—'अश्वं न गूढमश्विना' यहाँपर नञ् उक्तार्थक ही है; अश्वमिव, ऐसा अर्थ लिखा है । जैसे मेघ गरज कर वृष्टिको प्रकाशित करता है, वैसे ही मैं आप दोनोंके दारुण कर्मको प्रकाशित करता हूँ ।

शङ्का—इन मन्त्रोंसे अश्विनीकुमारकी स्तुति कहाँ प्रतीत होती है ? प्रत्युत निन्दाकी ही प्रतीति होती है ?

समाधान—नहीं, निन्दा प्रतीत नहीं होती, किन्तु स्तुति ही प्रतीत होती है, क्योंकि गुरुशिरश्छेदनरूप दारुण कर्म करनेवाले अश्विनीकुमारका बाल भी बाँका नहीं हुआ । इसलिए इस विद्याके प्रभावसे उनकी स्तुति ही कही गई है, यद्यपि स्वरूपसे निन्दाकी प्रतीति होती है, तथापि वह स्तुतिमें परिणत हो जाती है, एवं स्तुति भी निन्दामें परिणत होती है, इनका उदाहरण व्याजस्तुतिमें देखिए । दध्यङ् नामक आथर्वण । 'ह' यह अनर्थक निपात है । जिस आत्मज्ञानलक्षण श्रेष्ठ मधुका आप दोनोंको घोड़ेके सिरसे उपदेश दिया । 'ईम्' यह अनर्थक निपात है ॥ १६ ॥

'इदं वै तन्मधु' इत्यादि श्रुति । एवं अन्य मन्त्र भी उसी आख्यायिकाका अनुसरण करते हैं । आथर्वण दध्यङ्नामा [आथर्वण अन्य भी है, इसलिए विशेषण देते हैं—दध्यङ्नामा दधीच आथर्वणके लिए है] अश्विनौ यह मन्त्रद्रष्टाका वचन है । ब्राह्मणके सिरके छिन्न होनेपर घोड़ेका सिर काटकर, ऐसा अति क्रूर कर्म करके अश्वका सिर ब्राह्मणमें लगाया । उस अथर्वाने आप दोनोंको मधुविद्याका उपदेश दिया, जिसने पहले प्रतिज्ञा की थी कि तुमसे कहेंगे ।

शङ्का—उस ऋषिने जीवनसन्देहपर आरूढ़ होकर क्यों ऐसा कहा ?

समाधान—पूर्वप्रतिज्ञात सत्यके परिपालनकी कामनासे ऐसा किया । जीवनसे भी सत्यधर्मका परिपालन गुरुतर है, यह भी इसमें लिङ्ग है ।

दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच द्विविधं मधु ।
प्रवर्ग्याङ्गं रविध्यानं ब्रह्मध्यानमिति द्वयम् ॥ ४४ ॥

तं वृत्तान्तमृषिः पश्यन्प्राब्रवीदश्विनौ प्रति ।
वृत्तान्तमब्रवीद्दृग्भ्यामृग्भ्यां च ब्रह्मवेदनम् ॥ ४५ ॥

शङ्का—कौन मधु है, जो कहा है ?

समाधान—त्वाष्ट्र, त्वष्टा नाम आदित्यका है । तत्संबन्धि यज्ञका छिन्न सिर सूर्य हुआ 'यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत ते देवा अश्विनावब्रुवन् भिषजौ वै स्थ इदं यज्ञस्य शिरः प्रतिधत्तम्' इत्यादि अन्य श्रुतिमें प्रसिद्ध है ?

शङ्का—प्रवर्ग्यकर्ममें ऐसा हुआ, तो इस विज्ञानमें इसका क्या संबन्ध है ?

समाधान—प्रवर्ग्यकर्माङ्गभूत जो विज्ञान है, वही त्वाष्ट्रमधु है। यज्ञका शिरश्छेदनप्रतिसंधानादिविषयक जो दर्शन है वह त्वाष्ट्र मधु है। हे दस्रौ, दस्रका तात्पर्य परपक्षका क्षय करनेवालेमें है अथवा शत्रुके हिंसकमें है। अपि च, कर्मसम्बन्धि त्वाष्ट्र मधु ही आप दोनोंसे नहीं कहा, किन्तु कक्ष्य (गोप्य) रहस्य परमात्मसंबन्धी जो विज्ञान मधु है, मधुब्राह्मणोक्त और अध्यायद्वयमें प्रकाशित है, सो भी आप दोनोंसे कहा । प्रवोचत्का यहाँ भी सम्बन्ध है ॥ ४३ ॥

'दध्यङ्ङाथ०' इत्यादि । अथर्वाके पुत्र आथर्वण, आथर्वण और भी हैं, अतः उनकी व्यावृत्तिके लिए दध्यङ् नामका निर्देश किया । उक्त नामक ऋषिने अश्विनीकुमारोंसे दो प्रकारका मधु कहा । एक प्रवर्ग्यकर्माङ्गभूत रविध्यान और दूसरा ब्रह्मध्यान—ये ही दो मधु कहे ॥ ४४ ॥

'तं वृत्तान्तम्' इत्यादि । ऋषिशब्दका अर्थ है—मन्त्रद्रष्टा । वृत्तान्त यानी प्रकृत शिष्याचार्यसंबद्ध कर्म—गुरुके सिरका छेदन, अश्वके सिरका संस्थापन मधुविद्याध्ययन, इन्द्रकर्तृक सिरका छेदन एवं पुनः गुरुस्वशिरःस्थापन आदि । प्रकृतमें वृत्तान्त कहा गया है, इसको धर्मोत्कर्षके प्रभावसे मन्त्रद्रष्टाने साक्षात्कार करके मन्त्र द्वारा अश्विनीकुमारोंके प्रति कहा ।

शङ्का—कितने मन्त्रोंसे कहा ?

समाधान—दो ऋचाओंसे वृत्तान्त कहा और दो ऋचाओंसे ब्रह्मवेदन कहा ॥ ४५ ॥

अश्विनौ युवयोरुग्रं लाभाय गुरुमारणम् ।
आविष्करोमि लोकेऽस्मिन्मेघो वृष्टिं यथा तथा ॥ ४६ ॥
दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्वस्य शिरसा युवयोर्मधु ।
यत्प्रोवाच तदप्यत्र जानन्नाविष्करोम्यहम् ॥ ४७ ॥
छित्वा गुरोः शिरोऽन्यत्र निक्षिप्याऽश्वस्य यच्छिरः ।
तदाहृत्य गुरोः कण्ठे प्रतिष्ठापयतो युवाम् ॥ ४८ ॥

'अश्विनौ' इत्यादि । हे अश्विनीकुमार, लाभके लिए तुम दोनोंके उग्र (क्रूर) गुरुमारणरूप (मस्तकछेदनरूप) कर्मको प्रकट करता हूँ। जैसे लौकिक पुरुष स्वलाभके लिए अनुचित कर्म करते हैं, यह लोकमें प्रसिद्ध है, वैसे ही आप लोगोंने भी लोभी पुरुषके समान मधुविद्याके लाभके लिए गुरुके सिरका छेदनरूप जो क्रूर कर्म किया है, उसको मैं मेघ जैसे गर्ज कर वृष्टिका प्रकाश करता है, वैसे ही प्रकाशित करता हूँ, यानी स्फुट करता हूँ ॥ ४६ ॥

'दध्यङ्ङाथर्वणो०' इत्यादि । दध्यङ् आथर्वण ऋषिने घोड़ेके सिरसे आप दोनोंको जिस मधुविद्याका उपदेश दिया है, उसको भी मैं जानता हूँ, अतएव उसे भी प्रकाशित करता हूँ ॥ ४७ ॥

'छित्वा गुरोः' इत्यादि। यदि इस मधुविद्याका उपदेश अन्य किसीको दोगे, तो तुम्हारा सिर काट देंगे, इस प्रकार इन्द्रकी प्रतिज्ञासे भीत होकर उक्त ऋषि अपनी पूर्वप्रतिज्ञासे—तुम दोनोंको इस विद्याका उपदेश देंगे, इस प्रतिज्ञासे—जब विरत हुए, तब तुम दोनोंने कहा कि आपका सिर काटकर अन्यत्र रख देंगे और अश्वका सिर जोड़ देंगे, अश्वके सिरसे ही प्रकृत विद्या आपसे सुनेंगे, इन्द्र द्वारा सिर काटे जानेपर फिर आपका अन्यत्र रखा हुआ सिर लाकर आपके धड़से जोड़ देंगे, इस उपायसे हम आपकी रक्षा करेंगे । यज्ञका सिर हम जोड़ चुके हैं, यह आप जानते ही हैं, अतः इस कार्यके सम्पादनमें हम लोगोंकी निपुणतामें सन्देह करनेका अवकाश भी नहीं है । इससे निर्भय होकर उक्त ऋषिने दोनोंको मधुविद्याका उपदेश दिया । तदनन्तर पूर्वप्रतिज्ञाके अनुसार इन्द्रने उक्त ऋषिका सिर जब काट दिया, तब अश्विनीकुमारोंने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार अन्यत्र रक्खा हुआ गुरुका सिर लाकर फिर गुरुके धड़से जोड़ दिया, यह सब मैं प्रकाशित करूँगा ॥ ४८ ॥

सत्यप्रतिज्ञः स गुरुः सोढ्वाऽप्येतादृशीं व्यथाम् ।
मधुद्वयमुवाचेति कथितोऽर्थ ऋचोर्द्वयोः ॥ ४९ ॥
नन्वेतयाऽऽख्यायिकया कथं विद्या स्तुता भवेत् ।
शृण्वायासेन महता लब्धेति श्रूयते ह्यसौ ॥ ५० ॥
मधुविद्यामिमामिन्द्रो गोपायितुमिदं जगौ ।
अन्यस्मै चेदिमां ब्रूयाः शिरश्छिन्द्यामितीदृशम् ॥ ५१ ॥

'सत्यप्रतिज्ञः' इत्यादि ।

शङ्का—माना कि अश्विनीकुमारोंमें यह सामर्थ्य है, पर सिरके काटनेमें, फिर उसके जोड़नेमें एवं पुनः काटने और जोड़नेमें जो व्यथा हुई होगी, वह तो गुरुको सहनी ही पड़ी होगी, ऐसी व्यथा सहकर उक्त विद्योपदेशसे उनको क्या लाभ हुआ ?

समाधान—और लाभ न भी सही, पर यह लाभ तो अवश्य हुआ कि उक्त ऋषिकी प्रतिज्ञाकी रक्षा हो गई । महान् लोग जीवनकी बाज़ी लगाकर अपनी प्रतिज्ञाकी रक्षा करते हैं । उनके सिद्धान्तसे जीवनकी अपेक्षा सत्य बढ़कर है । इसलिए प्राण देकर भी सत्यकी रक्षा करनी चाहिए । व्यथाका सहन तो कोई विशेष वस्तु नहीं है, अतः उक्त सिरके छेदनादिसे उत्पन्न व्यथाको न सहकर मधुद्वयका उक्त अधिकारीके प्रति उपदेश दिया । यही दोनों ऋचाओंमें अर्थ कहा गया है ॥४९॥

'नन्वेतयाऽऽख्यायिकया' इत्यादि ।

शङ्का—इस आख्यायिकासे विद्याकी स्तुति कैसे हुई, विद्याका गुणगान तो इसमें कुछ है नहीं ।

समाधान—सुनो यह बड़े प्रयत्नसे प्राप्त की गई है, ऐसा सुना जाता है ॥५०॥

'मधुविद्या०' इत्यादि । सम्पूर्ण पुरुषार्थको प्राप्त करनेवाले त्रैलोक्यके अधिपति इन्द्रने जिस विद्याकी रक्षाके लिए इतनी कड़ी प्रतिज्ञा की थी कि यदि अन्य किसीसे इस विद्याको कहोगे, तो तुम्हारा सिर काट देंगे, अतः वह विद्या साधारण नहीं हो सकती । साधारणकी रक्षाके लिए महापुरुषकी इतनी कड़ी प्रतिज्ञा नहीं हो सकती, इस प्रतिज्ञासे यह स्फुट है कि त्रैलोक्यकी सारभूता उक्त विद्या है । दूसरा महत्त्वका कारण यह भी है कि अश्विनीकुमार स्वर्गके वैद्य हैं, उनको इस विद्याका ग्रहण करनेके लिए कितना आयास और कितना दुष्कर कर्म—गुरुके सिरका छेदन, अश्वके सिरका स्थापन आदि—करना पड़ा ।

तथाऽश्वीयं शिरश्छित्वा छिन्नो तस्मिन् पुनः स्वकम् ।
शिरः संस्थाप्य विद्याऽसौ लब्धेत्यायास ईरितः ॥ ५२ ॥
प्रवर्ग्याध्याययोरेवमृग्भ्यां तात्पर्यमीरितम् ।
उत्तराध्याययोरेवमृग्भ्यां तात्पर्यमीर्यते ॥ ५३ ॥
ऋचां चतसृणां सृत्या प्रत्येकमवतारणम् ।
आदरायेति विज्ञेयमर्थाधिक्यं न किञ्चन ॥ ५४ ॥

जिस कर्मको साधारण मनुष्य भी करनेमें संकोच करता है फिर उसे वे क्यों करें, वे तो देवता हैं। देवताओंकी प्रवृत्ति स्वतः साधु कर्ममें ही होती है। विशेष कारणवश ही कहीं असाधु कर्ममें प्रवृत्ति होती है। प्रकृतमें सब पुरुषार्थोंमें मोक्ष सर्वोत्तम पुरुषार्थ है। अतएव यह मधुविद्या सब पुरुषार्थ-साधनोंका उत्तम साधन है। साध्यके गौरवसे साधन भी गुरु माना जाता है ॥ ५१ ॥

जो आयास पूर्वमें कहा गया है, उसीका यहां निर्देश करते हैं—**'तथाऽश्वीयम्'** इत्यादिसे।

अश्वका सिर काटकर गुरुके धड़में जोड़ना और उससे पूर्व गुरुके सिरको काटकर अन्यत्र सुरक्षित रखना, विद्योपदेशके अनन्तर अश्वके सिरको, जो गुरुके धड़में लगा था और इन्द्रके मना करनेपर भी जिससे दूसरेको उपदेश दिया था, इन्द्रके काटनेपर गुरुके सिरको फिर गुरुके धड़में जोड़ना इत्यादि आयास विद्याके लाभके लिए किया गया है। साधारण वस्तुके लिए महापुरुषोंका इतना आयास नहीं होता ॥ ५२ ॥

'प्रवर्ग्या०' इत्यादि। दो ऋचाओंसे जैसे प्रवर्ग्याध्यायका तात्पर्य कहा, वैसे ही दो ऋचाओंसे उत्तराध्यायका (तृतीय और चतुर्थ अध्यायका) तात्पर्य कहते हैं ॥५३॥

'ऋचां चतसृणाम्' इत्यादि।

शङ्का—चारों ऋचाओंका अवतरण 'इदं वै तन्मधु' इत्यादि मार्गसे किया गया है। उसमें प्रश्न यह होता है कि चारों ऋचाओंके अवतरणमें जो 'इदं वै तन्मधु' इसका जो चार बार पाठ आया है, इसमें कुछ अर्थभेद है या नहीं? प्रथम पक्षमें अर्थभेद क्या है? यदि नहीं है, तो उक्त अर्थका पुनः प्रयोग पुनरुक्त दोषके लिए स्पष्ट है।

समाधान—यद्यपि अर्थका भेद नहीं है, तथापि पुनः पुनः उसका उपादान

ईशो मनुष्यपश्वादिदेहांश्चक्रे पुरा ततः ।
स पक्षी लिङ्गरूपेण भूत्वा तान् प्राविशत् पुनः ॥ ५५ ॥
योऽयं पुरुषशब्दोऽस्मिन्मन्त्रे तस्य निरुक्तितः ।
जीवब्रह्मैक्यतात्पर्यं मन्त्रस्याऽस्योपवर्ण्यते ॥ ५६ ॥

आदरके लिए है। जैसे लोकमें आदरका सूचन करनेके लिए आइये, आइये, बैठिये, बैठिये इत्यादिका प्रयोग किया जाता है, वैसे ही वेदमें भी मधुविद्याका आदर करनेके लिए पुनः पुनः उसका उपादान किया गया है। जहाँ आदरादिका सूचन करनेमें तात्पर्य नहीं है और अर्थभेद भी नहीं है, वहां पुनरुक्त दोष होता है, यह विद्वानोंका सिद्धान्त है ॥ ५४ ॥

'पुरश्चक्रे' इत्यादि मन्त्रस्थ पदोंका व्याख्यान करनेके लिए कहते हैं— **'ईशो'** इत्यादि ।

ईशने (ईश्वरने) यानी सृष्टिके कर्ताने पहले मनुष्य, पशु आदिके (आदिसे पक्षी आदिके) शरीरोंका निर्माण किया। द्विपद उपलक्षण है यानी जिसको दो पैर होते हैं, ऐसे मनुष्य तथा पक्षी आदि। चतुष्पाद् यह भी चार पैरवालोंमें उपलक्षण है ।

शङ्का—कूटस्थ आत्माने शरीरका निर्माण कैसे किया ?

समाधान—मायासे। माया द्वारा शरीर आदिके उत्पादनसे कूटस्थताकी क्षति नहीं होती। वही आत्मा पक्षी होकर (पक्षीका अर्थ सूक्ष्म भागवान् है) लिङ्ग द्वारा उन शरीरोंमें प्रविष्ट हुआ ।

शङ्का—वह तो व्यापक है; प्रथम भी वहाँ था ही, फिर प्रविष्ट हुआ, यह कैसे ?

समाधान—जलचन्द्रप्रतिबिम्बवत् प्रवेश समझना चाहिए, इसका निरूपण पूर्वमें हो चुका है। विशेष जिज्ञासा हो, तो वहीं देखिए ॥ ५५ ॥

'स वा अयम्' इस ग्रन्थका अवतरण करते हैं—**'योऽयम्'** इत्यादिसे ।

इस मन्त्रमें जो पुरुषशब्द है, उसकी निरुक्ति अवयवव्युत्पत्तिसे स्पष्ट प्रतीत होती है कि यह मन्त्र जीवब्रह्मैक्यतात्पर्यपरक है। इसीका इस श्लोकसे वर्णन करते हैं। तात्पर्य यह है कि श्रुति स्वयं पुरुषशब्दका निर्वचन करती है। 'पुरि शेते' इति इस निर्वचनका प्रकृतमें क्या तात्पर्य है ? ऐसा प्रश्न होनेपर

पुरि शेते यतस्तस्मात् पुरुषो जीव उच्यते ।
सर्वं पूरयतीत्येवं पुरुषो ब्रह्म भण्यते ॥ ५७ ॥
अनेन ब्रह्मणा किञ्चिद्बहिर्नाऽनावृतं क्वचित् ।
नाऽस्त्यसंवृतमन्तश्च पूरणात् पुरुषस्ततः ॥ ५८ ॥

उत्तर देते हैं—जीव और ब्रह्मके ऐक्यका बोधन करनेके लिए निर्वचन किया गया है, सो आगे स्पष्ट होगा ॥ ५६ ॥

'पुरि शेते' इत्यादि। सर्वपुरमें याने सब शरीरोंमें शयन करता है यानी वर्तमान है, इसलिए जीव पुरुष कहलाता है और सब चराचरको पूर्ण करता है, इसलिए ब्रह्म पुरुष कहलाता है। व्युत्पत्तिके भेदसे जीव और ब्रह्म दोनों पुरुष-शब्दके अर्थ हैं।

शङ्का—एकशब्दवाच्य होनेसे यदि अर्थका अभेद माना जाय, तो हरिशब्द-वाच्य अश्व और सिंहका भी अभेद होना चाहिए।

समाधान—पुरुषशब्दवाच्य ब्रह्म ही है, अतिरिक्त नहीं है, इस सिद्धान्तको मानकर पुरुषशब्दका प्रयोग जीवमें किया गया है। यदि जीव ब्रह्मसे भिन्न माना जाय, तो उसमें पुरुषका प्रयोग श्रुति न करती। श्रुतिने जीवमें पुरुषशब्दका प्रयोग किया है, इसलिए जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, यह श्रुतिको अभीष्ट है ॥ ५७ ॥

'अनेन' इत्यादि। इस ब्रह्मसे न कोई बाहर है और न कोई अनावृत ही है अर्थात् सब जगत् ब्रह्ममें ही है और ब्रह्मसे असंवृत नहीं है, किन्तु प्रोत-तन्तुवत् ब्रह्मसे संवृत ही है। सबको पूरण करनेसे पुरुष है।

शङ्का—अनावृत और असंवृतका तात्पर्य व्याप्तिमें है। वह तो एक ही पदसे प्रतीत होती है, पुनः पदान्तरोपादान क्यों ?

समाधान—वाच्यार्थ दोनोंका भिन्न है—'न अनावृतं किन्तु आवृतम्' अर्थात् आच्छादित और असंवृतका अर्थ है—अननुप्रवेशित अर्थात् आत्माने सबको अपने भीतर प्रवेशित किया है। इन दोनोंसे एवं अक्षराधिकरणन्यायसे (ओत-प्रोतत्वसे) सब जगत् आत्मव्याप्त है, यह फलितार्थ है। अथवा आवृतका अर्थ है, सबको ज्ञान द्वारा आत्म-सा करना और संवृतका अर्थ है जो अनात्मा प्रतीत होते हैं, वे सब प्रतिषिद्ध हैं। इस अर्थमें पुनरुक्तिदोषकी शङ्काका लेश भी

श्रुतिः—इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङार्थवणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः । पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशदिति । स वा अयं सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किञ्चनानावृत्तं नैनेन किञ्चनासंवृतम् ॥ १८ ॥

श्रुतिः—इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङार्थवणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत । रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो

नहीं है । ऐसा कोई कारण या कार्य्य नहीं है, जिसको ब्रह्माने न अपनाया हो एवं ऐसा कोई कार्य या कारण नहीं है; जिसका ब्रह्मने अपह्नव न किया हो ॥ ५८ ॥

'इदं वै तन्मधु' इत्यादि श्रुति । 'इदं वै तन्मधु' इसका अर्थ पूर्ववत् ही समझना चाहिए उक्त दोनों मन्त्र प्रवर्ग्यसंबन्धि आख्यायिकाके उपसंग्राहक हैं। दोनों प्रवर्ग्यकर्मार्थक अध्यायोंका अर्थ आख्यायिकाभूत दो मन्त्रोंसे कहा । ब्रह्मविद्यार्थक दो अध्यायोंका अर्थ उत्तर ऋचाओंसे प्रकाशित करना है, अतः यह प्रवृत्ति है । जिस कक्ष्य मधुका आथर्वणने तुम दोनोंको उपदेश दिया, उसे भी कह चुके । वह मधु कौन है ? कहते हैं—पुरश्चक्रे पुरः—पुराणि । पुरका अर्थ यहाँ शरीर है । जिससे यह अव्याकृतव्याकरणप्रक्रिया अर्थात् सृष्टि हुई उस परमेश्वरने अव्याकृत-नामरूपका व्याकरण करते हुए प्रथम 'भूर्भुवः' इत्यादि लोकोंकी सृष्टि कर द्विपद (दो पैरवाले) मनुष्यशरीर एवं पक्षिशरीरकी उत्पत्ति की, तदन्तर चार पैरवाले पशुशरीरों-की उत्पत्ति की । वह ईश्वर पक्षी (लिङ्गशरीर) होकर शरीरोंमें प्रविष्ट हुआ । 'पुरुष आविशत्' इसका अर्थ श्रुति करती है, सो यह पुरुष सब शरीरोंमें शयन करता रहता है । पुर (शरीर) में रहनेसे पुरुष कहा जाता है । कोई भी वस्तु इससे अनाच्छादित नहीं है, किन्तु सब आच्छादित है । तथा कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसको इसने अपने भीतर न किया हो, सबको भीतर कर लिया है । बाह्यभावसे एवं अन्तर्भावसे अनावृत नहीं, किन्तु आवृत ही है । एवं वही नामरूपसे, अन्तर्बहिर्भावसे तथा कार्यकारणरूपसे व्यवस्थित है । 'पुरश्चक्रे' इत्यादि मन्त्र संक्षेपसे आत्मैक्यको कहते हैं अर्थात् अद्वैत ब्रह्मके प्रकाशक हैं ॥१८॥

'इदं वै तन्मधु' इत्यादि श्रुति। 'इदं और वै' इत्यादिका पूर्ववत् अर्थ समझना चाहिए । प्रत्येक मन्त्रके अवतरणमें उनका आदरार्थ प्रयोग है। 'रूपं रूपं प्रतिरूपो' अर्थात् प्रति उपाधिमें रूपान्तर (प्रतिबिम्ब) हुआ । जैसे एक ही मुखका

मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादशेत्ययं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम् ॥ १९ ॥

इत्युपनिषदि चतुर्थाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥ ५ ॥

मणि, दर्पण, कृपाण आदि उपाधिके भेदसे अनेक प्रकारका प्रतिबिम्ब होता है, क्योंकि तत्-तत् उपाधिके अनुरूप प्रतिबिम्बभेद लोकमें दृष्ट है एवं देव, असुर, मनुष्य, अश्व आदि उपाधिभेदसे तत्-तत् उपाधिके अनुरूप एकरस आत्माका प्रतिबिम्ब होता है अथवा प्रतिरूपका अर्थ अनुरूप है। जिस संस्थानके माता और पिता होते हैं तत्संस्थान (तदनुरूप) पुत्र होता है, यह नहीं देखा जाता कि माता और पिता चतुष्पाद हों और उनकी संतान द्विपाद हो। यदि अपूर्वके विपर्य्ययसे कहीं ऐसा हो भी तो वह जीवित नहीं रह सकता, क्योंकि सृष्टिनियमके विपरीत है। इसी प्रकार द्विपादसे चतुष्पाद भी नहीं होता, वही परमेश्वर नाम और रूपका व्याकरण करता हुआ रूप रूपके प्रति प्रतिरूप हुआ।

शङ्का—परमात्माका प्रतिरूप आगमन क्यों होता है ?

समाधान—अपने नामरूपको जनानेके लिए। यदि नामरूपका व्याकरण न किया जाता, तो इस आत्माका निरुपाधिक रूप जो प्रज्ञानघनाख्य है, उसका प्रकाशन न होता। जब कार्यकारणरूपसे नाम-रूप व्याकृत होते हैं; तब इसके रूपका प्रकाश होता है। इन्द्र—परमेश्वर—मायासे (अज्ञानसे) अथवा नाम-रूप-कृत मिथ्याभिमानसे न कि परमार्थतः बहुरूप कहा जाता है यानी एक ही प्रज्ञानघन पुरुष अविद्याप्रज्ञासे बहुविध कहा जाता है।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—रथमें जुते घोड़ेके समान विषयप्रकाशनके लिए इस आत्माकी दस और सौ इन्द्रियाँ हैं। विषयं हरन्ति प्रापयन्ति इति हरयः इन्द्रियाणि अर्थात् विषयदेशमें हरण करनेसे इन्द्रियाँ 'हरि' कहलाती हैं।

शङ्का—इन्द्रियाँ दस तो हैं, पर सौ कहां हैं ?

समाधान—एक प्राणीके तात्पर्यसे सौ नहीं हैं, किन्तु पुरुषभेदसे सौ कही गई हैं। वस्तुतः सौ भी उपलक्षण है, आगे हजार भी कहा है, अनन्तमें तात्पर्य है। प्राणियोंके आनन्त्यसे इन्द्रियोंमें भी आनन्त्य है। इन्द्रियविषयबाहुल्यसे तत्-तत् विषयप्रकाशनके लिए इन्द्रियाँ हैं, आत्मप्रकाशनके लिए नहीं। आत्मा तो एक ही है।

यदि आत्मप्रकाशनके लिए इन्द्रियाँ हों, तो एक ही इन्द्रियसे आत्मप्रकाशन सिद्ध हो जाता ऐसी अवस्थामें इतर इन्द्रियाँ व्यर्थ हो जायँगी। यदि इन्द्रियाँ विषयप्रकाशनके लिए हैं, यह पक्ष है, तो भिन्न विषयोंके प्रकाशनार्थ अनेक इन्द्रियोंकी आवश्यकता उचित ही है। अतएव *'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः'* यह काठक श्रुति है। इसका यह अर्थ है कि स्वयभूः ब्रह्मा खानि इन्द्रियाणि व्यतृणत् हिंसितवान्—परागविषयोंकी ग्राहक बनाकर ब्रह्माने इन्द्रियोंकी हिंसा की, इसलिए इन्द्रियाँ पराग्-विषयकी ग्राहिका होती हैं, आत्माकी नहीं। इससे विषयस्वरूप इन्द्रियोंसे ही आत्मा बहुरूप प्रतीत होता है, प्रज्ञानघनैकरस स्वस्वरूपसे नहीं।

शङ्का—ऐसी परिस्थितिमें इन्द्रियाँ भिन्न हैं और आत्मा भिन्न है, यह सिद्ध होता है, परन्तु ऐसा माननेपर अद्वैतक्षति होगी ?

समाधान—तत्-तत् इन्द्रियादिस्वरूपसे आत्माका भान जो होता है, वह अविद्यासे होता है, क्योंकि 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतिसे वास्तविक इन्द्रियसम्बन्ध आत्मामें नहीं है। इन्द्रियाँ और उनका संबन्ध—ये दोनों कल्पित हैं। कल्पितका अधिष्ठान ही तत्त्व होता है, इस तात्पर्यसे 'अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि च बहूनि चानन्तानि च' यह श्रुति सङ्गत होती है। प्राणी अनन्त हैं, इसलिए इन्द्रियोंको अनन्त कहना ठीक ही है। बहुत कहाँतक कहें, प्रकृत ब्रह्मका निरूपण श्रुतियोंने यों किया है—यह आत्मा ब्रह्म अपूर्व जिसका पूर्व कारण नहीं वह 'अपूर्व' कहलाता है। जब ब्रह्मका कोई कारण नहीं है, तब पूर्वमें रहेगा कौन? अनपरं पर नाम कार्यका है। न परं यस्य तदनपरं ब्रह्मका कोई कार्य नहीं है, यदि उसका कार्य होता, तो वह पर कहा जा सकता, पर ऐसा है नहीं, इसलिए 'अनपरम्' यह कहा। बीचमें कोई जात्यन्तर नहीं है, इसलिए 'अनन्तर' और बाहर भी कोई नहीं है, इसलिए वह 'अबाह्य' कहा गया है।

शङ्का—अच्छा, तो निरन्तर ब्रह्म कौन है ?

समाधान—अयमात्मा।

शङ्का—आत्मा कौन है ?

समाधान—जो 'द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा विज्ञाता सर्वानुभूः' सर्वात्मना सबका अनुभव करता है, वह आत्मा है। सर्वानुभू यह सब वेदान्तोंका अनुशासन है। सब वेदान्तोंका उपदेश है, यही सब वेदान्तोंका उपसंहृत अर्थ है। यही अमृत है, अभय है। प्रकृत शास्त्रका अर्थ समाप्त हुआ ॥१९॥

रूपं रूपं प्रविष्टः सन् प्रतिविम्बो भवत्ययम् ।
तदस्य प्रतिविम्बत्वं प्रत्यग्याथात्म्यवित्तये ॥ ५९ ॥
चैतन्यात्मादयः शब्दा व्युत्पन्नाः प्रतिविम्बके ।
लक्षयन्ति चिदात्मानं तेन याथात्म्यवेदनम् ॥ ६० ॥

प्रतिदेहमें प्रविष्ट होकर यह प्रतिविम्ब होता है, जैसे जलाशयमें चन्द्रमाका प्रतिविम्ब पड़ता है। विम्ब एक है, किन्तु जलाशयादिके भेदसे प्रतिविम्ब अनेक होता है और उपाधिधर्म प्रतिविम्बमें ही होते हैं। विम्बसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। तरङ्गगत चञ्चलत्वादि प्रतिविम्बमें ही देखे जाते हैं, विम्बमें नहीं, अतएव उपाधिधर्मा प्रतिविम्बपक्षपातिनो भवन्ति' ऐसी विद्वानोंकी संमति है। एवं प्रकृतमें देहाद्यनुरूप ही प्रतिविम्ब आत्माका पड़ता है। देहादिभेदसे प्रतिविम्ब अनेक होते हैं। देहादिगत सुख-दुःखादिका भान प्रतिविम्बरूप जीवात्मामें ही होता है, विम्बस्थानीय आत्मामें नहीं। शरीरादिके विनाशसे तत्प्रतिविम्ब ही अदृश्य (अप्रतीत) होता है, प्रतिविम्बान्तर नहीं।

शङ्का—परमात्माने प्रतिविम्बात्मना बहुत रूप धारण क्यों किये ?

समाधान—मायाकृत रूपप्रतिविम्बके बिना शास्त्राचार्योपदेशसे भी साक्षात् आत्मतत्त्वज्ञान अशक्य है ? इसलिए मनुष्योंके हितके लिए अनेक रूप धारण किये। तदनन्तर शास्त्राचार्य भी तद् द्वारा आत्मज्ञान करानेमें समर्थ होते हैं।

शङ्का—आत्माके बहुभवनमें निमित्त क्या है ?

समाधान—मिथ्याज्ञान। हरिशब्दवाच्य इन्द्रियां अज्ञानज और अज्ञानसे ही आत्मसंबद्ध होती हैं। और उसीसे प्रतिविम्ब द्वारा आत्माका बहुभवन होता है। आत्मतत्त्व-ज्ञान होनेपर अज्ञान और तदुत्थ इन्द्रियोंकी निवृत्ति हो जाती है। तदनन्तर उपाध्यभावसे प्रतिविम्बकी निवृत्ति यानी विम्बरूपसे अवस्थान होता है ॥५९॥

'चैतन्यात्मादयः' इत्यादि।

शङ्का—प्रतिविम्ब आत्मतत्त्वज्ञानका हेतु कैसे होता है ?

समाधान—शुद्ध विम्बभूत आत्मा तो न प्रमाणका विषय है और न व्यवहारका विषय है, अतः उसमें किन्हीं शब्दोंकी व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) नहीं हो सकती, अतएव 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' ऐसा श्रुति कहती है। आचार्य शास्त्र द्वारा उसी अर्थका उपदेश दे सकते हैं, जिस अर्थमें श्रोता व्युत्पन्न हो,

मिथ्याभिमानैः साभासबुद्ध्यादिपरिकल्पितैः ।
द्रष्टा श्रोताऽहमित्यादिबहुरूपो विचेष्टते ॥ ६१ ॥

इसलिए चैतन्य आत्मशब्दादिकी व्युत्पत्ति व्यवहारविषय ब्रह्ममें है नहीं, अतः उन शब्दोंसे भी श्रोता ब्रह्मको नहीं समझ सकता । अविद्याकृत देहादिमें प्रतिबिम्ब होनेसे बिम्बके समान ही प्रतिबिम्ब होता है । इस नियमसे प्रतिबिम्ब भी चैतन्यात्मक प्रतीत होता है । प्रथम चैतन्यात्मक प्रतिबिम्बमें आत्मचैतन्यादिकी शक्ति गृहीत होती है । संसारदशामें प्रतिबिम्बके लिए उक्त शब्द बार-बार प्रयुक्त होते हैं । तदनन्तर जिज्ञासुको यह समझाया जाता है कि वास्तविक यह आत्मा नहीं है । यह तो परिछिन्न शरीरादिधर्माभिमानी सांसारिक जन्म, जरा मरण आदि अनेक धर्मोंसे उपप्लुत प्रतीत होता है । और वेदान्तशास्त्र कहता है कि आत्मा अपरिछिन्न आनन्द उदासीन चिद्घन स्वरूप है, इसलिए तुम अज्ञानसे संसारी तथा दुःखादिमान् हो श्रवणादि उपायसे उसका साक्षात्कार होनेपर इस दुःखसे मुक्त हो जाओगे ।

शङ्का—वास्तविक आत्मा तो शब्दगोचर नहीं है, फिर उसमें शब्दकी व्युत्पत्ति कैसे होगी ? व्युत्पत्तिके बिना शब्द बोधक होता नहीं ?

समाधान—हां, शक्तिग्रह नहीं है; परन्तु लक्षणावृत्तिसे शब्द द्वारा उसका बोध माना जाता है । शब्द दो प्रकारसे अर्थका बोधक होता है । शक्तिसे तथा लक्षणासे । लक्षणा जैसे बोधक होती है, उसका अन्यत्र विस्तार किया गया है, इसलिए इस विषयको यहाँ छोड़ देते हैं ॥ ६० ॥

'मिथ्याभिमानैः' इत्यादि । 'इन्द्रो मायाभिः पुरूप ईयते' इस श्रुतिके अनुसार इन्द्र—परमेश्वर—अर्थात् साभास जो चित्प्रतिबिम्ब है, वह बुद्ध्यादिसे परिकल्पित मिथ्याभिमानसे अपनेको द्रष्टा—देखनेवाला—श्रोता—सुननेवाला—मैं हूँ इत्यादि अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ करता है, जैसे स्वप्नावस्थामें सुख, दुःख आदिके जनक बाह्यविषयका वस्तुतः समवधान नहीं है, तो भी आत्मा स्वाभिक देह, इन्द्रिय और विषयोंकी अज्ञानसे कल्पना कर और उनके सम्बन्धकी अपने साथ कल्पना करके सुखी, दुःखी, मुग्ध और भीतके समान अपने स्वरूपकी कल्पना करता है, एवं दुःखजनक वस्तुओंकी जिज्ञासासे उनके त्यागकी चेष्टा करता है, तथा सुखजनक वस्तुओंकी उपादित्सासे उनकी प्राप्तिकी चेष्टा करता है और उनके प्रतिकूल

सन्त्यस्य हरयोऽक्षाख्या हरणाद्विषयान् प्रति ।
प्राणिभेदादनन्तास्ते तैस्तु संसरतीश्वरः ॥ ६२ ॥
मन्त्रोक्ता हरयोऽध्यस्तास्तत्संख्या च प्रकल्पिता ।
एतेषां तत्त्वमात्मैवेत्याह ब्राह्मणमादरात् ॥ ६३ ॥

पुरुषोंसे विद्वेष भी करता है, परन्तु जागनेपर वे शरीर, इन्द्रिय और विषय बाधित हो जाते हैं और निश्चय होता है कि यह स्वप्न था, मिथ्याभानमात्र था वस्तुतः उस अवस्थामें अकेला मैं ही था और कोई नहीं था, कल्पित वस्तुओंसे वस्तुतः मेरा उपकार कुछ भी नहीं है, एवं संसारदशामें मनुष्यादि निखिल जीव कल्पित शरीर, इन्द्रिय और विषयोंसे इष्टानिष्ट भोग पा रहे हैं, जागर-ज्ञानके समान तत्त्वज्ञान होनेपर न आत्मा द्रष्टा है, न श्रोता है, न बोद्धा है और न अहमर्थ ही है । यही वेदान्तका मुमुक्षुओंके प्रति वक्तव्य है और यही प्रकृत मधुब्राह्मणका रहस्य है ॥६१॥

'**सन्त्यस्य**' इत्यादि । इस भोक्ता संसारी आत्माके इन्द्रियरूपी अश्व हैं ।

शङ्का—इन्द्रियाँ हरि क्यों कही गईं ?

समाधान—विषयदेशमें उसे ग्रहण करनेके लिए शरीररूपी रथको ले जाती हैं, 'हरणाद् हरयः' इस व्युत्पत्तिसे इन्द्रियाँ 'हरि' हैं, इन्द्रियोंकी संख्या नियत नहीं है, कारण कि प्राणी अनन्त हैं, अतः तत्कल्पित इन्द्रियाँ भी अनन्त हैं । इन्हीं कल्पित इन्द्रियोंसे ईश्वर संसारी, जन्म, जरा, मरण आदि संसारके धर्मोंसे युक्त होता है । विचार करनेपर इन्द्रियादिका स्वरूप तथा आत्माके साथ सम्बन्ध तात्त्विक नहीं ठहरता । जो आदि और अन्तमें नहीं है, केवल मध्यमें कुछ समयतक प्रतीत होता है, वह मरीचिकाजल, शुक्तिरजत आदिके समान मिथ्या है । अद्वय आत्मामें बुद्धिकी कल्पना कर बोद्धा, मनकी कल्पना कर मन्ता, श्रोत्रकी कल्पना कर श्रोता, चक्षुकी कल्पना कर द्रष्टा, अहङ्कारकी कल्पना कर अहं ऐसा व्यवहार करता है । आदिसे घ्राण आदि इन्द्रियोंकी कल्पना कर अपनेको घ्राता मानता है, इत्यादि समझना चाहिए, यह पूर्व श्लोकका निचोड़ अर्थ है ॥ ६२ ॥

'अयं वै हरयः' इस वाक्यका अर्थ स्फुट करते हैं—'**मन्त्रोक्ता**' इत्यादिसे ।

मन्त्रोक्त इन्द्रियाँ और उनकी दश, शत आदि संख्या आत्मामें कल्पित है; इन कल्पित इन्द्रिय एवं संख्याओंका तत्त्व अधिष्ठानभूत आत्मा ही है, यही बात आदरसे ब्राह्मण (वेदभाग) कहता है । भाव यह है कि इन्द्रिय आदि यदि पृथक् तत्त्व हों,

निःशेषमधुकाण्डस्य तदेतदिति वाक्यतः ।
सारः संक्षिप्यते साक्षात्करविन्यस्तबिल्ववत् ॥ ६४ ॥
अज्ञातं संशयज्ञातं मिथ्याज्ञातमिदं जगत् ।
तदेतदित्यनूद्याऽत्र तत्त्वं ब्रह्मेति बोध्यते ॥ ६५ ॥

तो 'अयं वै हरयः' यह उपनिषत् वाक्य असङ्गत हो जायगा, क्योंकि 'अयमेव घटः पटः' ऐसा नहीं कहा जाता, कारण कि घट और पट दोनों पृथक् तत्त्व हैं, 'रजतत्वेन प्रतीता शुक्तिरेव' इस तात्पर्यसे 'शुक्तिरेव रजतम्' यह प्रयोग माना जाता है । प्रकृतमें 'अयं वै हरयः' इस वाक्यसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है । आत्मा भी इन्द्रियाँ है, यह कथन तभी सङ्गत हो सकता है, जब आत्मामें इन्द्रिय और उनकी संख्याओंका अध्यास माना जाय । श्रुतिने यह कहा है कि इन्द्रियाँ आत्मा ही हैं, इसलिए उक्त अध्यासमें यह श्रुति प्रमाण है, अतः अविद्यासे इन्द्रियादि-रूपसे आत्मा ही कल्पित है और कल्पितका तत्त्व अधिष्ठान ही होता है, इस तात्पर्यसे 'अयमेव सः' इत्यादि श्रौत निर्देश है ॥ ६३ ॥

'तदेतद्ब्रह्म' इत्यादि अग्रिम वाक्यका अवतरण करते हैं—**'निःशेष०'** इत्यादिसे ।

'तदेतत्' इत्यादि वाक्यसे सम्पूर्ण मधुकाण्डके सारका संक्षेप करते हैं । जैसे हाथमें स्थित बिल्वका अनायास साक्षात्कार हो जाता है, वैसे ही सम्पूर्ण काण्डका निचोड़ अर्थ थोड़े शब्दोंसे स्पष्ट करते हैं । श्रमभीरु जिज्ञासु जन थोड़े श्रमसे सिद्धान्त अर्थके पूर्ण अभिज्ञ हो जायँ यह श्रुतिकी मुमुक्षुओंपर दया है ॥६४॥

'अज्ञातम्' इत्यादि । कार्यकारणात्मक अनुभूयमान यह जगत् अधिकारी पुरुषके भेदसे तीन प्रकारका है—अज्ञात, सन्दिग्ध और मिथ्याज्ञात । सद्गुरुसे जिसने अद्वैत वेदान्तका श्रवणादि नहीं किया है, उसके लिए वास्तविक मिथ्यास्वरूपसे अज्ञात है । जो प्रपञ्चका असली स्वरूप है, उस रूपसे उसको जब कभी ठीक ठीक सुना ही नहीं, तब उस रूपसे अज्ञात भी कहा जायगा और जो जिज्ञासु हैं, अतएव जिन्होंने कभी द्वैतमतसे कभी अद्वैतमतसे संसार सुना है और अवान्तर विशेषका प्रारब्धवश भान नहीं हुआ, उनके लिए संसार संदिग्ध है; वे अभी तक निश्चय नहीं कर सके कि यह प्रपञ्च वस्तुतः सत्य है या मिथ्या। व्यवहार-दशा तथा द्वैतपारमार्थिकत्व-प्रतिपादक शास्त्र, युक्ति आदि श्रवणवेलामें जगत् सत्य प्रतीत होता है और अद्वैतस्थापक शास्त्र, युक्ति आदि श्रवणवेलामें मिथ्या प्रतीत होता है

निष्कारणं तन्निष्कार्यं निश्छिद्रं बाह्यवर्जितम् ।
पारोक्ष्यप्रतिषेधार्थमात्मा ब्रह्मेति भण्यते ॥ ६६ ॥

दोनों कोटियाँ समान हैं जिन्हें एकतर कोटिमें प्रामाण्यनिश्चय नहीं, उनके प्रति संदिग्ध है और जिनकी द्वैतमतमें ही निष्ठा है, वे लोग प्रपंचको सत्य ही मानते हैं। मिथ्यात्वप्रतिपादक आगम आदिको अर्थवाद मानते हैं। उनके प्रति मिथ्या ज्ञात है। रूपान्तरसे विद्यमान अर्थ रूपान्तरसे ज्ञात होनेपर मिथ्या ज्ञात कहलाता है। मिथ्यारूपसे विद्यमान प्रपंचको जो सत्यरूपसे विद्यमान मानते हैं, उनके प्रति मिथ्या ज्ञात संसार कहलाता है। इस प्रकारसे त्रिविध इस जगत्का 'तदेतत्' इत्यादिसे अनुवाद कर प्रपंचका तत्त्व ब्रह्म है, ऐसा श्रुति बोधन कराती है।

शङ्का—जगत् जड़ तथा विकारी है, इसका तत्त्व ब्रह्म कैसे ?

समाधान—हां, ठीक है, पर श्रुति कहती है। श्रुतिका कथन जिस प्रकार उपपन्न हो वैसा करना आस्तिकमात्रका कर्तव्य है। यदि ब्रह्म और प्रपञ्च दोनों परमार्थ सत् माने जायँ, तो प्रपञ्चका तत्त्व ब्रह्म है; यह श्रौतार्थ कभी उपपन्न नहीं हो सकता; इसलिए बलात् यही कहना होगा कि जगत् ब्रह्ममें कल्पित है। कल्पितका तत्त्व अधिष्ठान होता है; यह रज्जुसर्पादि स्थलमें उभयसंमत है, श्रुतिका तत्त्वमें पक्षपात आस्तिकमात्रसे छिपा नहीं है। यह श्लोक वार्तिकका है। इसका सारमें निर्देश किया गया है। पर छापेके दोषसे आदर्श प्रतिमें 'अज्ञानं संशयज्ञानम्' इत्यादि हुआ है। वास्तविक स्वरूप 'अज्ञातं संशयज्ञातम्' इत्यादि है। अतएव मैंने शुद्ध पाठ ही लिखा है ॥ ६५ ॥

'अपूर्वमनपरम्' इत्यादि पदोंका क्रमसे व्याख्यान करते हैं—**'निष्कारणम्'** इत्यादिसे।

'न पूर्वं यस्य तदपूर्वम्' कार्यसे पूर्व कारण रहता है, ब्रह्म अकार्य है, अतएव अपूर्व है। 'न परं यस्य तदपरम्' कारणसे पर कार्य होता है, ब्रह्म किसीका कारण नहीं है, अतः अनपर है। न अन्तरं यस्य तदनन्तरं अन्तर (अवकाश) तच्छून्य खोखला नहीं। अबाह्य (बाह्यवर्जित) है, परोक्षत्वके प्रतिषेधार्थ 'अयम्' यह है। 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिसे अपरोक्षस्वरूप आत्मा माना जाता है, केवल श्रुति ही से नहीं अनुभवसे भी आत्मा अपरोक्ष है। यदि परोक्ष होता तो उसमें कभी अज्ञान, संशय और विपर्यय भी होता जैसे घटादि विषयोंमें होता है,

सर्वानुभव एवाऽयं यतः सर्वानुभूस्ततः ।
कात्स्न्यात् सर्वो भवेदेष चिन्मात्रत्वात्तथाऽनुभूः ॥ ६७ ॥

परन्तु आत्मामें कभी किसीको अज्ञान—'मैं नहीं हूँ, मैं हूँ या नहीं' इत्यादि—नहीं होता, किन्तु उसका सदा प्रकाश ही रहता है। इसलिए अपरोक्षस्वरूप है। वास्तवस्वरूप निर्देशके लिए ब्रह्मपदका उपादान है। इससे ब्रह्मत्व ज्ञानसे होता है, अतः ज्ञानसाध्यफल ब्रह्मत्व सबका तत्त्व कैसे हो सकता है? इस शङ्काका अवसर ही नहीं, ज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व भी सब ब्रह्म ही हैं। सामानाधिकरण्यश्रुतिसे ब्रह्मत्व ज्ञानका फल नहीं, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। अन्यथा पूर्व श्रुत सामानाधिकरण्यकी सर्वथा अनुपपत्ति हो जायगी। अथवा ब्रह्म निःसामान्य है, एतदर्थ 'अनन्तर' पद है। अन्तरका अर्थ है—भेद। भेद रहनेपर समान्य माना जाता है। जैसे अनेक घटोंमें घटत्व सामान्य माना जाता है। आकाशत्व जाति नहीं है, कारण कि आकाश एक ही है, भेद नहीं है। वैसे ही ब्रह्म भेदरहित होनेसे सामान्यशून्य है एवं ब्रह्म निर्विशेष है। इसके लिए 'अबाह्य' कहा। सामान्य और विशेषका निषेध करनेपर एकरस ब्रह्म सिद्ध होता है।

शङ्का—अपूर्व, अनपर आदि ब्रह्म हो, किन्तु आत्मामें इससे क्या अर्थ सिद्ध होता है?

समाधान—अपूर्व आदि आत्मामें ही हो सकते हैं। अन्यत्र नहीं, यदि ब्रह्ममें वे धर्म हैं, तो अवश्य ब्रह्म आत्मा ही है, इस प्रकारसे जीव ब्रह्मका अभेद सिद्ध होता है। जो वेदान्तका वास्तविक सिषाधयिषित है और यही बुबोधयिषित है ॥ ६६ ॥

'सर्वानुभव' इत्यादि। यतः सर्वानुभव सर्वाधिष्ठान चैतन्यस्वरूप जो ब्रह्म है, तद्रूप आत्मा है, इसलिए आत्मा भी सर्वानुभूः (सर्वानुभवस्वरूप) है, अर्थात् सर्वाधिष्ठान चैतन्यस्वरूप है।

शङ्का—परब्रह्ममें कैसे परत्व तथा अनुभवत्व है?

समाधान—'एष परमात्मा कात्स्न्यात् सम्पूर्णत्वात्' सम्पूर्णत्वसे सब है और चिन्मात्र होनेसे अनुभवस्वरूप है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'सर्वं तम्परादाद्योऽन्यत्रात्मनः पश्येत्' इत्यादि श्रुति तथा मधुकाण्डसे कारणसामान्यात्मक कार्य है। अतिरिक्त नहीं है, इसकी सिद्धिके लिए ही दुन्दुभ्यादि अनेक दृष्टान्त

कर्त्तव्यमेतद्विज्ञानमिति वेदानुशासनम् ।
अस्याऽतिलङ्घने दोषः संसारानर्थसङ्गतिः ॥ ६८ ॥

दिये गये हैं, तत एव ब्रह्ममें सर्वत्व सिद्ध हो चुका है। चैतन्यात्मक होनेसे अनुभवत्व भी सिद्ध ही है। तदभिन्न आत्मा है, ऐसा श्रुति कहती है; इसलिए आत्मामें सर्वत्व और अनुभवत्व है; अतः सर्वानुभवस्वरूप आत्मा है, इसमें सन्देह नहीं है। 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः यहाँपर 'आत्मा ब्रह्म' और 'ब्रह्म अयमात्मा' ऐसा अन्वय करना चाहिए। श्रुतिने तन्त्रसे 'अयमात्मा ब्रह्म' कहा है।

शङ्का— क्यों ?

समाधान—ब्रह्ममें परोक्षत्वका प्रतिषेध करनेके लिए ब्रह्म आत्मा ही है। आत्मा सबको अपरोक्ष है, अतः तत्स्वरूप ब्रह्म भी अपरोक्ष है, ऐसा कहनेसे ब्रह्ममें परोक्षत्वका प्रतिषेध स्फुट होता है और 'आत्मा ब्रह्मैव' (आत्मा ब्रह्म ही है) ऐसा कहनेसे ब्रह्म संसारी नहीं है, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। वैसे ही यदि आत्मा है, तो आत्मामें संसारित्व नहीं है; इस प्रकार संसारधर्मका प्रतिषेध आत्मामें स्पष्ट सिद्ध होता है, इसलिए उक्त रीतिसे अन्वय कर दोनों अर्थ मान्य हैं, परोक्षत्व ब्रह्ममें और संसारित्वादि आत्मामें वास्तविक नहीं, अन्यथा चैतन्यके समान उसकी निवृत्ति न हो सकेगी, किन्तु अज्ञानज है, अतः उक्त ज्ञानसे उसकी निवृत्ति होती है, तदर्थ उभयविध अर्थ आवश्यक है ॥ ६७ ॥

'कर्तव्यमेतत्' इत्यादि। एतद्विज्ञानका—जीवब्रह्मात्मैक्यविज्ञानका—श्रवण, मनन आदि द्वारा अवश्य सम्पादन करना चाहिए, ऐसा वेदका अनुशासन (आज्ञा) है। इस अनुशासनका उल्लङ्घन करनेमें दोष कहते हैं—संसाररूपी जो अनर्थ है, उसकी सङ्गति (प्राप्ति) होती है। तात्पर्य यह है कि केवल वेदकी आज्ञा-मात्रसे विधिमें प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु इष्टसाधनताज्ञानसे पुरुषकी प्रवृत्ति होती है; अतएव—

पुसां नेष्टाभ्युपायत्वात् क्रियास्वन्यः प्रवर्तकः ।
प्रवृत्तिहेतुं धर्मञ्च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम् ॥

इत्यादि शास्त्रकारका वचन है। इसका अर्थ स्पष्ट है एवं आज्ञाके उल्लङ्घनसे पुरुषकी निवृत्ति स्वतः नहीं होती कि शास्त्रकी वह आज्ञा है, इसलिए इसका उल्लङ्घन करे। किन्तु तदुल्लङ्घनमें जो दोष है, अर्थात् अनिष्ट है, उससे पुरुष

कुर्वतस्तु महान् लाभः स्वात्मनः कृतकृत्यता ।
मधुकाण्डर्षिसर्वस्वमित्थं श्रुत्योपसंहृतम् ॥ ६९ ॥

इति वार्तिकसारे द्वितीयाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥

—०—

निवृत्त होता है, अतः उल्लङ्घनमें निवृत्तिके लिए दोषाविधान आवश्यक है। इसलिए अनर्थसङ्गति यह दोष कहा ॥ ६८ ॥

'कुर्वतस्तु' इत्यादि। अब शास्त्रकी उक्त आज्ञाके पालनमें इष्टप्राप्ति कहते हैं, क्योंकि आज्ञामात्रसे प्रवृत्ति शास्त्रीय कर्ममें नहीं होती; किन्तु इष्ट-साधनताज्ञानसे होती है, यह कह चुके हैं, अतः उक्त आज्ञाका पालन करनेसे महान् लाभ है। आपके आत्माकी कृतकृत्यता (कृतं कृत्यं येन स तद्भावः कृत-कृत्यता) जब तक आत्मज्ञान नहीं होता, तबतक कर्तव्यकी समाप्ति नहीं होती। एक कर्म करनेपर भी कर्मान्तर अवशिष्ट रहते हैं। आत्मज्ञान होनेपर कोई कर्म कर्तव्यत्वरूपसे अवशिष्ट नहीं रहता, कारण कि फलकामीके लिए कर्म हैं, आत्म-ज्ञानीको किसी फलकी कामना नहीं रहती, इसलिए वह कृतकृत्य हो जाता है। मधुकाण्डस्थ मन्त्रोंके सर्वस्व ऋषिमन्त्रका श्रुतिने इस प्रकार उपसंहार किया ॥६९॥

म० म० पं० श्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिविरचित वार्तिकसारभाषानुवादमें द्वितीया-ध्यायका पञ्चम ब्राह्मण समाप्त ।

श्रुतिः—अथ वंश्यः पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥ १ ॥

अग्निवेश्यादाग्निवेश्यः शाण्डिल्याच्चानभिम्लाताच्चानभिम्लात आनभिम्लातादानभिम्लात आनभिम्लाता दानभिम्लातो गौतमाद्गौतमः सैतवप्राचीनयोग्याभ्यां सैतवप्राचीनयोग्यौ पाराशर्यात्पाराशर्यो भारद्वाजाद्भारद्वाजो भारद्वाजाच्च गौतमाच्च गौतमो भारद्वाजाद्भारद्वाजः पाराशर्यात्पाराशर्यो वैजवापायनाद् वैजवापायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥ २ ॥

घृतकौशिकाद् घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पराशर्यायणः पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चासुरायणः स्त्रैवणेः स्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आत्रेयादात्रेयो मान्टेर्मान्टिर्गौतमाद् गौतमो गौतमाद् गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्या-

---

'अथ वंश्यः पौतिमाष्यो' इत्यादि श्रुति। ब्रह्मविद्यार्थक मधुकाण्डका वंश ब्रह्मविद्याकी स्तुतिके लिए कहा जाता है। यह मन्त्र स्वाध्याय और जपके लिए है। स्वाधीन उच्चारणके योग्य अध्यापन स्वाध्याय है और प्रतिदिन मन्त्रावृत्ति जप है, वंशशब्द वेणुवाची है। यहांपर सादृश्यात् उसका गौण प्रयोग है—वंश इव वंशः। बाँसमें जैसे पर्व (पोर) होते हैं, और वह पोर पोरसे भिन्न होता है, वैसे ही अग्रभागसे लेकर मूलप्राप्तिपर्यन्त यह वंश है। चार अध्यायोंका (दो अध्याय मन्त्रभागके और दो अध्याय इस उपनिषद्भागके इस संकलनासे चार अध्याय हुए; बृहदारण्यक उपनिषत्के दो ही अध्याय हैं पर इस वंशपरम्परामन्त्रभागके दो अध्यायोंके साथ इस उपनिषत्के दो अध्यायोंको मिलाकर चार अध्याय कहते हैं, उनका) आचार्यपरम्पराक्रम वंश कहलाता है। इसमें प्रथमान्त (प्रथमाविभक्त्यन्त) शिष्य हैं और पञ्चम्यन्तपदवाच्य आचार्य हैं। परमेष्ठी और ब्रह्मा एक ही अर्थके वाचक हैं, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए परमेष्ठिशब्दका विराट् यह अर्थ किया है। ब्रह्मासे (हिरण्यगर्भसे) पूर्व आचार्यपरम्परा नहीं है।

शङ्का—तो हिरण्यगर्भको विद्याप्राप्ति कैसे हुई? यद्यपि ब्रह्मस्वरूप ही वेद हैं और ब्रह्मके नित्य होनेसे उसको कारणकी अपेक्षा नहीं है, तो भी ज्ञानार्थ अध्यापककी आवश्यकता है।

च्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वꣳसनान्मृत्युप्राध्वङ्सनः प्रध्वꣳ सनात्प्रध्वꣳ सन एकऋषेरेकऋषिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयम्भुब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥

इत्युपनिषदि चतुर्थाध्याये षष्ठं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

उच्यते मधुकाण्डार्थविद्यागुरुपरम्परा ।
स्तुत्यर्थं ब्रह्मविद्यायाः स्तुत्या च स्यात् प्ररोचना ॥ १ ॥

समाधान—पूर्वजन्ममें अधीत वेदका ईश्वरके अनुग्रहसे कल्पके आदिमें आविर्भूत ब्रह्माकी बुद्धिमें अपने तपःप्रभावसे स्वयं भान हुआ। जैसे सुप्तप्रबुद्धको पूर्वभात विषयोंका भान होता है, वैसे ही हिरण्यगर्भको वेदोंका स्वतः भान हो गया, इसलिए उनको अध्यापककी आवश्यकता नहीं हुई । आदि और अन्तमें जिन ग्रन्थोंमें मङ्गल रहता है, उनका अधिक प्रचार होता है; इसकी सूचनाके लिए अन्तमें 'ब्रह्मणे नमः' ऐसा कहा; यह इष्टदेवतानमस्कारात्मक मङ्गल है ॥३॥

'उच्यते' इत्यादि । ब्रह्मविद्याकी स्तुतिके लिए मधुकाण्डकी अर्थभूत विद्याकी गुरुपरम्परा कही जाती है ।

शङ्का—प्रयोजनके बिना केवल स्तुतिसे श्रोता तथा वक्ताको क्या लाभ ? 'न कुर्याच्च वृथा चेष्टाम्' इत्यादि मनुवचनसे निष्फल कर्म करनेका निषेध किया गया है । प्रयोजन दृष्टादृष्ट कोई भी हो, इसमें विशेष आग्रह नहीं है कि दृष्ट ही प्रयोजन होना चाहिए । अदृष्ट भी कालान्तरमें दृष्टार्थक हो जाता है ।

समाधान—नहीं, उसका दृष्ट प्रयोजन है और वह यह कि स्तुतिसे प्ररोचना होती है । जिस कर्मकी स्तुति की जाती है, उस कर्ममें प्रवृत्ति उत्साहपूर्वक होती है । एवंभूत महात्माओंकी इसमें प्रवृत्ति हुई, तो इस अति उत्तम कर्मको हमें अवश्य करना चाहिए ।

शङ्का—वंशपरम्पराके कथनसे विद्याकी क्या स्तुति हुई ?

पुंबुद्धिकल्पनाशङ्कानुत्यर्थमथवोच्यते ।
ब्रह्म स्वयंभ्विति प्रोक्ता वेदस्याऽपौरुषेयता ॥ २ ॥

समाधान—बड़े बड़े महर्षियोंने इसका परिग्रह किया है, इसलिए यह विद्या धन्य है। स्तुतिसे पुरुष प्रोत्साहित होकर प्रकृत कर्ममें प्रवृत्त होता है, इसलिए स्तुति आवश्यक है ॥ १ ॥

वंशपरम्पराका प्रयोजनान्तर भी कहते हैं—'पुंबुद्धि०' इत्यादिसे।

शङ्का—क्या पूर्व प्रयोजनमें अरुचि है, इसलिए दूसरा प्रयोजन कहते हैं?

समाधान—नहीं, अरुचिसे ही प्रयोजनान्तर कहा जाता है, ऐसा नियम नहीं है। हां, अरुचिसे भी कहीं प्रयोजनान्तर कहा जाता है, पर यहां ऐसा नहीं है। किसीके दो या इससे भी अधिक प्रयोजन होते हैं। यदि उसका एक ही प्रयोजन कहा जाय, तो प्रयोजनके वक्तामें न्यूनता हो जायगी, उसके परिहारके लिए सब प्रयोजनोंका कथन आवश्यक है, इसलिए प्रयोजनान्तर कहते हैं। किसीको यह सन्देह हो सकता है कि यह पौरुषेय वाक्य है, पुरुषमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा और करणापाटव—ये चार दोष होते हैं, अतः उससे उक्त वाक्यमें असंदिग्ध प्रामाण्यग्रह नहीं हो सकता। चार दोषोंमें से कोई भी एक दोष अवश्य हो सकता है और उसीसे वाक्य अप्रमाण होता है, इसलिए प्रामाण्यग्रहके बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती। प्रामाण्यग्रह प्रामाणान्तरके संवादसे हो अथवा शिष्टोंके परिग्रहसे हो, यह दूसरी बात है। इस सन्देहको दूर करनेके लिए वंश-परम्परा कही गई है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह पौरुषेय वाक्य नहीं है। पुरुषबुद्धिप्रभव वाक्य पौरुषेय माना जाता है, यह नित्य ब्रह्म-स्वरूप है। कल्पादिमें जगत्सृष्टिक्षम ज्ञान हिरण्यगर्भको प्राप्त हो, इस भगव-दिच्छासे हिरण्यगर्भकी बुद्धिमें वेदोंका स्वयं भान हुआ और वे ही आदि आचार्य हैं, उन्हींसे संप्रदायका प्रारम्भ है। जिस क्रमसे ऋषियोंको प्राप्त हुआ वही क्रम वंशपरम्परा है। वेद जिसका अनुशासन है, उस ब्रह्मकी प्रतिपत्तिके लिए पौतिमाष्यादिक ग्रन्थ श्रुतिसे कहा गया है।

शङ्का—ब्रह्ममें 'स्वयंभू' विशेषण देनेका क्या प्रयोजन है? 'स्वयंभूश्चतु-राननः' इस अमरकोशसे दोनों शब्द एकार्थवाची हैं, यह स्पष्ट है।

समाधान—ब्रह्म वेद द्वारा सूत्रभावापन्न हुआ है, इसका प्रकृत विज्ञान हम

यस्मादपरतन्त्रोऽयं वेदात्मा ब्रह्मशब्दितः ।
मनोवाक्कर्मभिस्तस्माद्भक्त्या तस्मै नमो नमः ॥ ३ ॥
नमोन्तत्वेन लिङ्गेन जप्योऽयं वंश इष्यते ।
विद्याप्रकरणे पाठाद्विद्याहेतुर्जपो मतः ॥ ४ ॥
शतानि पञ्च श्लोकानां ततो द्वानवतिस्तथा ।
चतुर्थाध्यायसारस्य तावद्भिः सङ्ग्रहः कृतः ॥ ५ ॥

॥ ५९२ ॥

इति वार्तिकसारे द्वितीयाध्याये षष्ठं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

—०—

लोगोंके समान भिन्नाचार्यप्रयुक्त है, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए 'स्वयंभू' यह विशेषण दिया गया है । 'स्वयं भवति, न तु कर्मवशाद् भवति' इस व्युत्पत्तिसे वह स्वयं ही होता है, कर्मवश नहीं । हिरण्यगर्भ ब्रह्मस्वरूप ही है । अनवस्थाभयसे आचार्यपरम्परा यहाँतक ही है और विश्वमात्रका गुरु स्वयं ब्रह्म है, उसका गुरु अन्य कौन हो सकता है ? अतः अपौरुषेय होनेसे वेदके स्वतःप्रामाण्यमें कोई सन्देह नहीं है ॥ २ ॥

'यस्माद०' इत्यादि । ब्रह्मशब्दवाच्य वेदात्मा यतः अपरतन्त्र यानी स्वतन्त्र है, पुरुषबुद्धिप्रभव नहीं है, अतः मन, वाणी और कायकर्मसे यानी मानसिक, वाचिक और कायिक कर्मों द्वारा भक्तिसे ब्रह्मको प्रणाम है ॥ ३ ॥

'नमोन्तत्वेन' इत्यादि । अन्तमें नमः पद है, इस लिङ्गसे यह मन्त्र जप करनेके लिए है । इस जपका फल ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति है । नमःके योगमें चतुर्थी विभक्ति होती है । चतुर्थी देवताबोधक है । इस प्रकार नमःसे मन्त्रकी प्रतीति होती है ॥ ४ ॥

'शतानि' इत्यादि । प्रथम ब्राह्मणके २११, द्वितीय ब्राह्मणके १६, तृतीय ब्राह्मणके १०८, चतुर्थ ब्राह्मणके १८३, पञ्चम ब्राह्मणके ६९, षष्ठ ब्राह्मणके ५ कुल मिलाकर ५९२ श्लोकोंसे द्वितीय अध्यायके सारका संग्रह किया गया है ॥ ५ ॥

द्वितीय अध्यायका षष्ठ ब्राह्मण समाप्त

—०—